प्रो० वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ

फूल मरै पै मरै न बासू

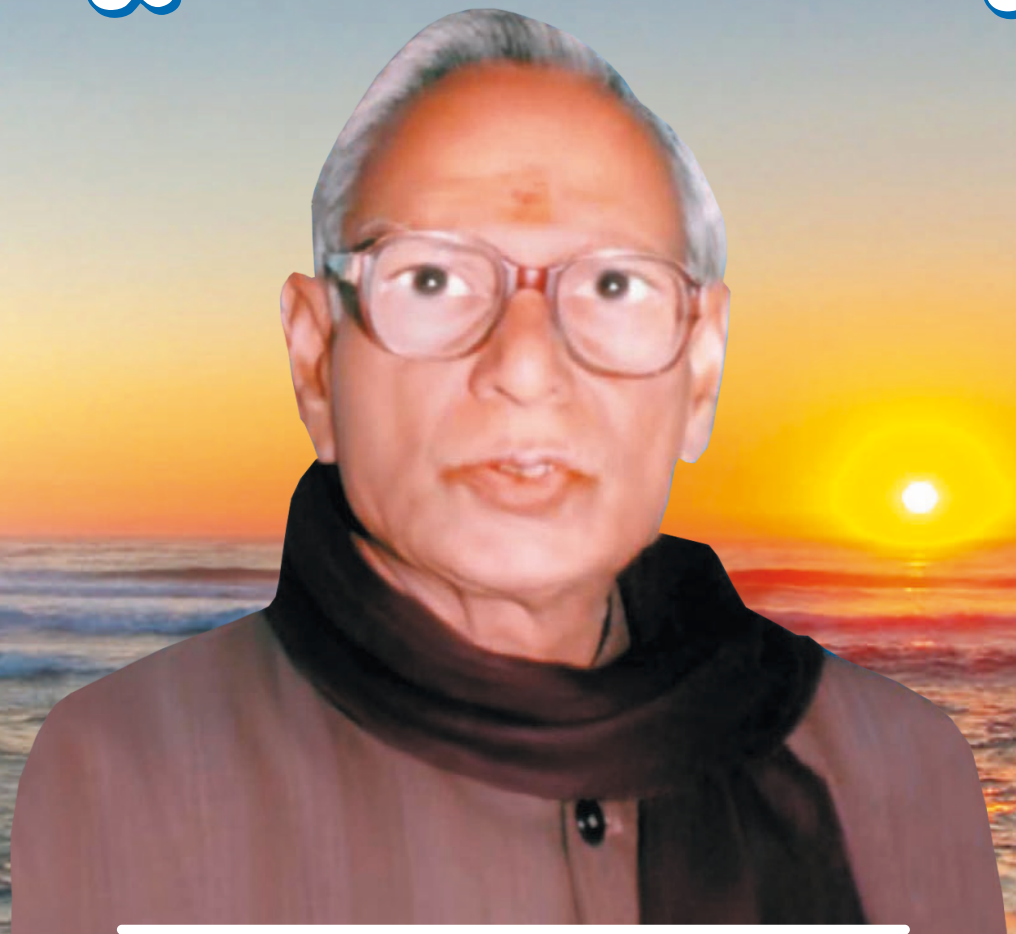

श्री वासुदेवसिंहाय सारस्वतसुगन्धकः।
विदुषे कीर्ति शेषाय दीयते सुमनोऽञ्जलिः।।
तस्य पुण्यतिथौ काश्यां स्मारिकेयं प्रकाशिता।
सत्सङ्कल्पमनःसूता हेतुभूता चिरस्मृते ।।

—प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

आविर्भाव : १० अक्टूबर, १९३३ तिरोधान : २७ जनवरी, २००७

प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ

फूल मरै पै मरै न बासू

।। प्रणामाञ्जलिसमर्पणम् ।।

यत्सारस्वतभैभवं सुवितततं काश्याः किमप्यद्भूतं।
गङ्गापुण्यपयःप्रवाहविशदं शम्भोश्शिवं केतनम् ।।
अक्षुण्णं लभते तदत्र सततं प्रोल्लासवृद्धिं परां ।
यैस्तेभयः कृतिपूतभूतिमद्भ्यस्तनुते प्रणामाञ्जलिः।।
हिन्दीसेवासततनिरतः श्रीवासुदेवसिंहः सुधीः।
साहित्याङ्गणमध्यवेदिलसितस्ताम्बूलरागाधरः।।
कीर्तिर्जीवति यस्य तस्य सदने प्राप्ता तृतीयाऽऽकुला।
ह्येषा पुण्यतिथिस्तदात्मसविधे प्राप्नोतु श्रद्धाञ्जलिः।।
काश्या विभूतिसत्त्वानां वासुदेवस्य धीमतः।
समर्प्यते पदाब्जेषु सैषा 'स्मृति-पुस्तिका' ।।

—प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ

फूल मरै पै मरै न बासू

प्रधान *संरक्षक*

सुधांशु शेखर सिंह

सम्पादक

प्रो. श्रद्धा सिंह

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

प्रकाशक

प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास (पंजीकृत)

प्रेम सदन, सी ३३/१४७-३२ ए, आचार्य नरेन्द्रदेव नगर

चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी-२२१००२, उत्तर प्रदेश

संवाद-सेतु : ९४१५९८४९८३, ९४१५५३०५८७, ८४१८०७८१२३, ८८०८५५८१२३

ई-मेल : *himanshusinghkvp@gmail.com / shraddhahindi@gmail.com*

फेसबुक : *Prof Vasudev Singh Smriti Nyas*

प्रथम संस्करण :
श्रावण पूर्णिमा, सन् २०२२ ई.

ISBN : 978-81-89463-58-8

मूल्य : ८००.००

© प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास, वाराणसी

प्रकाशक :
प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास, वाराणसी

वितरक :
(i) कला मन्दिर
१६८७, नई सड़क, दिल्ली-११०००६
(ii) संजय बुक सेण्टर
के. ३८/६, गोलघर, वाराणसी-२२१००१

शब्द-संयोजक :
श्री विमल चन्द्र मिश्र
पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१०१०

मुद्रक :
श्री सरल पाण्डेय
डॉट क्रियेशन, रामबाग, प्रयागराज

संरक्षक
श्री सुधांशु शेखर सिंह
संस्थापक व मुख्य कार्यकारी अधिकारी
ह्यूमैनिटेरियन एण्ड इण्टरनेशनल
द्वारका, नई दिल्ली

सम्पादक मण्डल
प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित– लखनऊ
प्रो. एम. विमला– कर्नाटक
प्रो. आनन्द वर्धन शर्मा– बल्गारिया
प्रो. सदानन्द शाही– वाराणसी
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत– सागर, म.प्र.
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी– इग्नू, नई दिल्ली
प्रो. उमापति दीक्षित– आगरा
प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह– लखनऊ
प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी– म.प्र.
प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह– प्रयागराज
प्रो. विनोद कुमार मिश्रा– त्रिपुरा
प्रो. प्रभाकर सिंह– वाराणसी
डॉ. रामसुधार सिंह– वाराणसी
प्रो. अमर ज्योति सिंह– वाराणसी

न्यास-मण्डल
श्री शैलेन्द्र सिंह– पूर्व प्रबंधक, ग्रामीण बैंक, हरदोई
डॉ. भारती सिंह– एम.ए. (समाजशास्त्र तथा हिन्दी), पी-एच.डी.
डॉ. दिनेश कुमार सिंह– गणित विभाग (अ.प्रा.), राजकीय महाविद्यालय, लखनऊ
डॉ. पद्मजा सिंह– प्राध्यापिका, नई दिल्ली
श्रीमती आरती सिंह– प्रधानाध्यापिका, वाराणसी

अनुकम

प्रो. वासुदेव सिंह की वंश-बेलि		*xi*
प्रो. वासुदेव सिंह : एक साहित्यिक परिचय		*xiii*
प्रो. वासुदेव सिंह विरचित ग्रन्थ		*xii*
उपोद्घात		*xv*
प्रथम सोपान : शुभकामना-सन्देश		*xvii*
द्वितीय सोपान : सुमनाञ्जलि		१
१. नमन	– डॉ. हिमांशु शेखर सिंह	३
२. श्रद्धासुमन	– डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा	४
३. मेरे मन वास करें गुरु 'वासुदेव' सदा	– डॉ. आशुतोष कुमार तिवारी	५
४. जैसा था नाम अनोखा, वैसे थे सत्य सनातन	– डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा	६
५. हे सरस्वती के वरद् पुत्र!	– प्रो. चम्पा सिंह	७
तृतीय सोपान : सदन		
६. आँखों देखी : कानों सुनी	– सुधांशु शेखर सिंह	११
७. स्मृति-शेष पिता को 'नमन' करते हुए	– डॉ. श्रद्धा सिंह	१४
८. मेरे पिता जी	– डॉ. भारती सिंह	१७
९. क्या भूलूँ-क्या याद करूँ	– डॉ. दिनेश कुमार सिंह	१८
१०. यादों के झरोखों से	– प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत	२०
११. तनय मातु पितु तोषन हारा	– कुँवर दिवाकर सिंह	२२
चतुर्थ सोपान : संस्मरण		
१२. ऐसे थे वासुदेव सिंह	– संत विवेकदास आचार्य	२७
१३. संत प्रकृति के थे प्रो. वासुदेव सिंह	– प्रो. यू. पी. सिंह	३३
१४. प्रो. वासुदेव सिंह : एक आदर्श अध्यापक	– प्रो. शरत कुमार सिंह	३४
१५. एक कर्मयोगी : प्रो. सिंह	– प्रो. आर. पी. सिंह	३५
१६. पुण्यात्मा पुरुष : प्रो. वासुदेव सिंह	– प्रो. सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा	३६
१७. वासुदेव भाई	– प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित	३७
१८. मित्र के मित्र सखा बसुधा के	– सागर सिंह 'एडवोकेट'	३८
१९. स्मृति-शेष डॉ. वासुदेव सिंह	– प्रो. चन्द्रबली सिंह	४०

२०. संतों! उड़ि गा हंस अकेला	– डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल	४२
२१. प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति	– डॉ. रणजीत सिंह	४५
२२. डॉ. वासुदेव सिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	– डॉ. हरिहर सिंह शास्त्री	४८
२३. प्रो. सिंह : मेरी दृष्टि में	– प्रो. लक्ष्मीशंकर गुप्त	५१
२४. प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति	– पं. विश्वम्भरनाथ द्विवेदी	५२
२५. स्मृति-शेष डॉ. साहब	– प्रो. महेन्द्र प्रताप सिंह	५३
२६. स्मृति के झरोखे से	– प्रो. रमाशंकर शुक्ल	५४
२७. सभी सुखों के स्वामी	– प्रो. युगेश्वर	५५
२८. विद्वत्ता और मानवीयता के पूँजीभूत रूप	– प्रो. सर्वजीत राय	५६
२९. प्रखर चिन्तक एवं कुशल वक्ता	– प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय	५७
३०. धुरिप्रतिष्ठ आचार्य प्रो. वासुदेव सिंह	– प्रो. रामकुँवर राय	५८
३१. 'मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा' के विग्रह	– डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय	६०
३२. डॉ. वासुदेव सिंह की यादें	– प्रो. राधेश्याम दूबे	६८
३३. प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति	– प्रो. वी. के. कुमरा	७०
३४. आदर्श शिक्षक एवं साहित्य-समीक्षक	– प्रो. परमानन्द सिंह	७१
३५. अग्रज को स्मरण करते हुए	– प्रो. महेन्द्र नाथ राय	७२
३६. प्रोफेसर वासुदेव सिंह की याद	– डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र	७३
३७. प्रो. सिंह की कृतियों से अभिप्रेरणा की सुगंध आती रहेगी	– प्रो. श्यामधर सिंह	७५
३८. कृति साहित्यकार	– डॉ. विजय नारायण सिंह	७७
३९. श्रद्धार्पण	– प्रो. रामजी शर्मा	७९
४०. हिन्दी के श्रेष्ठ विद्वान् एवं प्राध्यापक	– डॉ. विश्वनाथ प्रसाद	८०
४१. डॉ. वासुदेव सिंह को नमन	– डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय	८३
४२. बाबू जी के मार्फत प्रो. वासुदेव सिंह को जानना	– प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	८४
४३. स्मृतियों में प्रो. वासुदेव सिंह	– प्रो. विजय बहादुर सिंह	८९
४४. काशी के सीमन्त की सौभाग्य-रेखा	– डॉ. कामेश्वर उपाध्याय	९०
४५. स्मरण के बहाने	– डॉ. उदय प्रताप सिंह	९२
४६. काशी विद्यापीठ के गौरव	– डॉ. सुरेन्द्र बहादुर सिंह	९४
४७. कबीर-साहित्य के अनन्य अध्येता	– प्रो. सदानन्द शाही	९५
४८. श्रीमठ की नजर में	– दयासिन्धु शर्मा	९८
४९. समर्पित साहित्य-सेवी	– डॉ. रामसुधार सिंह	१००
५०. स्मृतियों के झरोखों में बसी वेदना	– डॉ. बलवीर सिंह	१०२
५१. सरलता की प्रतिमूर्ति प्रो. साहब	– डॉ. लक्ष्मी सिंह	१०४
५२. मेरे शिक्षक एवं सहयोगी	– विनोद कुमार सिंह 'एडवोकेट'	१०५
५३. सहजप्रज्ञ शिक्षाविद् एवं वाणी के वरदपुत्र	– प्रो. (डॉ.) रमेश चन्द्र सिंह	१०७
५४. फूल मरै पै मरै न बासू	– डॉ. सत्यनारायण सिंह	११०

५५. गुरुवर को शत्-शत् नमन – डॉ. मुनीन्द्र तिवारी ११२
५६. श्रद्धेय गुरु जी – डॉ. रामेश्वर दत्त शुक्ल ११४
५७. सद्गुरु के सदके करूँ... – प्रो. अवधेश सिंह ११५
५८. तेरी सीरति हाट बिकइहैं – प्रो. शिवकुमार मिश्र ११६
५९. संकल्प-शक्ति के धनी – आ. नरेन्द्र कुमार सिंह ११७
६०. तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक – डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र १२०
६१. सौम्य व्यक्तित्व के धनी – डॉ. जगदीश सिंह 'दीक्षित' १२२
६२. अक्षुण्ण स्मृतियाँ – डॉ. भारती सिंह १२३
६३. काशी की ज्ञान-परम्परा और प्रो. वासुदेव सिंह – प्रो. विनोद कुमार मिश्र १२५
६४. स्मृति के वातायन से – डॉ. मधु सिंह १३०
६५. मेरी स्मृतियों में प्रो. वासुदेव सिंह – डॉ. (श्रीमती) आशा यादव १३३
६६. अरे! तुम इतनी बड़ी हो गयीं – डॉ. सविता भारद्वाज १३५
६७. स्मृतियों के वातायन से – प्रो. अंशुमान खन्ना १३६
६८. स्मरण करते हुए – प्रो. अनुराग कुमार १३७
६९. कर्म का अभ्यास – डॉ. रामाश्रय सिंह १३८
७०. प्रो. वासुदेव सिंह : मूल्यांकन और मूल्यांकन – डॉ. शशांक शुक्ल १४०
७१. परमात्म ज्ञानी गुरु जी – डॉ. राधेश्याम शर्मा १४२
७२. स्मृति के शब्द-सुमन : गुरुदेव को करते नमन – डॉ. आशुतोष कुमार तिवारी १४४
७३. संकल्प का कोई विकल्प नहीं – डॉ. रमाकान्त मिश्र १४६
७४. हिन्दी-जगत् के तेज-निर्माण की बेदी ठण्डी पड़ गयी – डॉ. सीता सिंह १४८

पंचम सोपान : समीक्षा

७५. हिन्दी-शोध के प्रतिमान : प्रो. वासुदेव सिंह – प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी १५३
७६. प्रो. वासुदेव सिंह की शोध-कृति अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद – डॉ. अवधेश सिंह १५८
७७. हिन्दी साहित्य का उद्भव काल : एक विवेचन – प्रो. युगेश्वर १६१
७८. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : प्रो. वासुदेव सिंह की दृष्टि – डॉ. विनोद कुमार सिंह १६३
७९. प्रो. वासुदेव सिंह का हिन्दी साहित्येतिहास लेखन : दृष्टि और सम्भावनाएँ – प्रो. आनन्द वर्धन शर्मा १६७
८०. साहित्येतिहास की सम्यक् दृष्टि – डॉ. रामसुधार सिंह १७१
८१. प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्येतिहास-दृष्टि – डॉ. श्रद्धा सिंह १७३
८२. प्रो. वासुदेव सिंह की इतिहास-दृष्टि – डॉ. रमाकान्त मिश्र १७८
८३. डॉ. वासुदेव सिंह कृत 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' – डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि' १८०

८४. मध्यकालीन काव्य के मौलिक चिन्तक ('मध्यकालीन काव्य-साधना' के आलोक में) – डॉ. कन्हैया सिंह १८२
८५. हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन – पं. केशरीनाथ त्रिपाठी १८७
८६. हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन – प्रो. श्यामधर सिंह १८९
८७. हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य – डॉ. उदय प्रताप सिंह १९२
८८. प्रो. वासुदेव सिंह का समाज-दर्शन – डॉ. सविता भारद्वाज १९४
८९. कबीर-मूल्यंकन की परम्परा और काशी – डॉ. हिमांशु शेखर सिंह १९७
९०. कबीर की आलोचना-परम्परा में डॉ. वासुदेव सिंह का योगदान– डॉ. फहीम अहमद २०३
९१. कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन (एक समीक्षा-दृष्टि)– प्रो. ब्रह्मदेव मिश्र २११
९२. कबीरदर्शी प्रो. वासुदेव सिंह – डॉ. लक्ष्मी सिंह २१५
९३. कबीर वाङ्मय : सिंहावलोकन – प्रो. श्रद्धा सिंह २१८
९४. 'कबीर वाणी पीयूष' और डॉ. वासुदेव सिंह की रचना-दृष्टि– प्रो. रामकली सराफ २२१
९५. कबीर की 'रमैनी' में अभिव्यक्त पौराणिक सन्दर्भ और अन्तर्कथाएँ (जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित 'रमैनी' के सन्दर्भ में)– डॉ. शगुफ्ता नियाज २२५
९६. सगुण-निर्गुण और रमैनी : प्रो. वासुदेव सिंह की दृष्टि में – डॉ. इंदीवर २४१
९७. कोश-लेखन-परम्परा और प्रो. वासुदेव सिंह – डॉ. हिमांशु शेखर सिंह २५१
९८. कबीर-साहित्य-विधा के पारखी ('कबीर काव्य कोश' के आईने में)– प्रो. सुमन जैन २५५
९९. कबीर काव्य कोश : साधना का रहस्यलोक – डॉ. बृजबाला सिंह २५७
१००. साहित्येतिहासकार एवं व्याख्याकार ('अयोध्याकाण्ड भाष्य' के विशेष सन्दर्भ में) – डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल २६२
१०१. अयोध्याकाण्ड भाष्य : एक मूल्यांकन – डॉ. रणजीत सिंह २६६
१०२. वासुदेव सिंह का 'अयोध्याकाण्ड भाष्य' – प्रो. अवधेश प्रधान २६८
१०३. सुन्दरकाण्ड भाष्य : एक विवेचन – डॉ. मधु सिंह २७२
१०४. उत्तरकाण्ड भाष्य : एक समीक्षण – प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी २७४
१०५. उत्तरकाण्ड-भाष्यकार : प्रो. वासुदेव सिंह – प्रो. शिवकुमार मिश्र २७९
१०६. तुलसीदास और विनय-पत्रिका – प्रो. उमापति दीक्षित २८२
१०७. सूर-सुधा : एक मूल्यांकन – डॉ. सुमन तिवारी २८५
१०८. सूर : सन्दर्भ और दृष्टि – प्रो. उमापति दीक्षित २९१
षष्ठ सोपान : संग्रहणीय पत्र २९३
सप्तम सोपान : स्मृति चित्र ३०३

●●●

प्रो. वासुदेव सिंह की वंश-बेलि

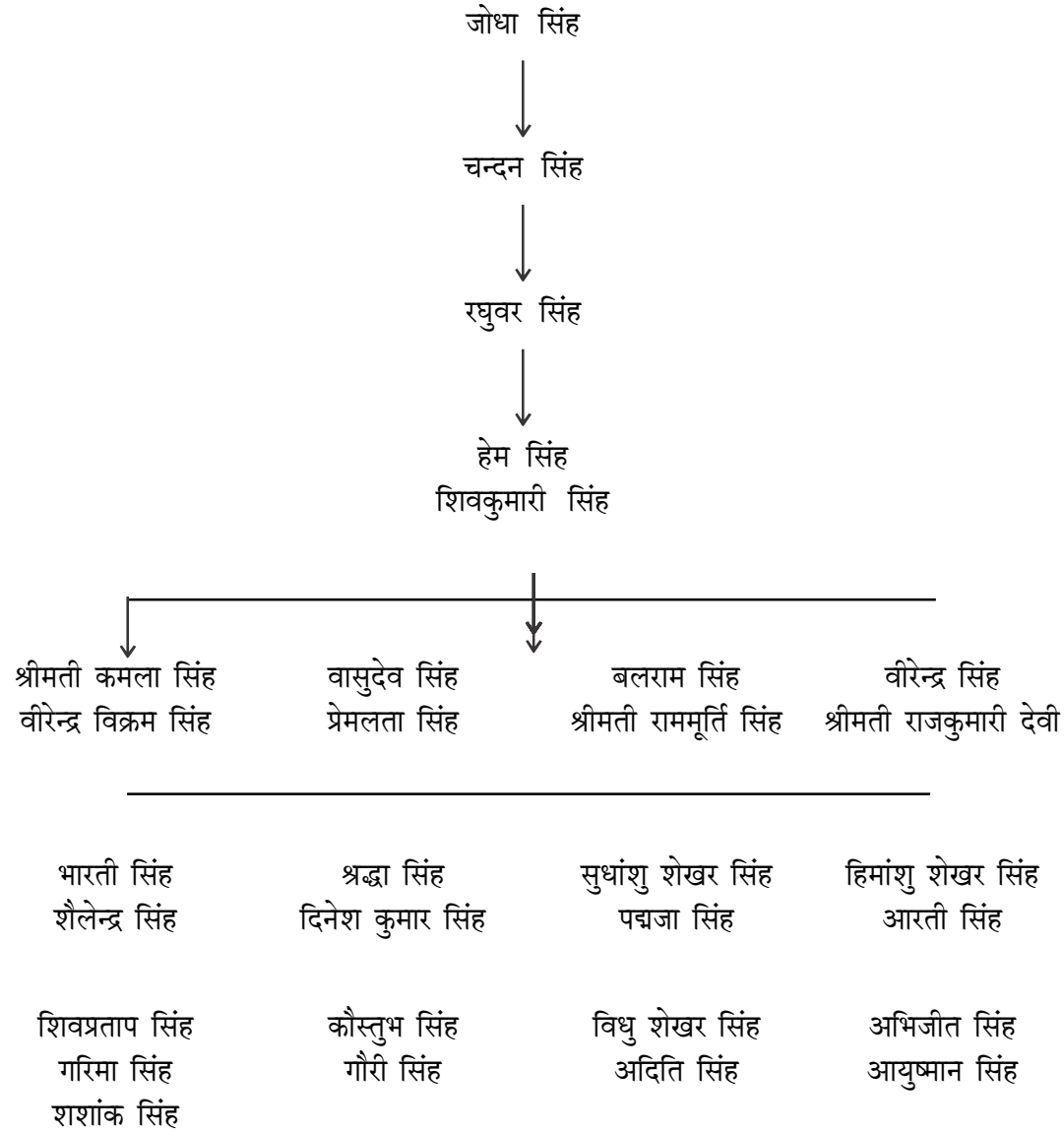

'श्रद्धा' संग 'भारती', करती हैं नित 'आरती'
शोक से 'आलोक', 'अनुराग' भरा मन है।
'प्रेम' की 'लता' से बँधे, 'आयूष' 'पीयूष' बन्धु,
तुम बिना बचपन, सूना उपवन है।।

'हेम' के हे नन्दन-'वासुदेव' तेरी वाटिका में
तेरे स्नेहाशीष से सुरभित हर सुमन है।
आशीष-आकांक्षी आजीवन 'आशुतोष' तेरा,
श्रद्धा भरी अंजलि से अर्पित नमन है ।।

—डॉ. आशुतोष कुमार तिवारी
(विनीत वातायन)

प्रो. वासुदेव सिंह : एक साहित्यिक परिचय

संसार में किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके कृतित्व के आधार पर निर्मित होता है। जब कृतित्व उदात्त हो, तब व्यक्तित्व असाधारण हो जाता है। प्रो. वासुदेव सिंह साहित्य-जगत् में अपने कृतित्व के लिए जाने जाते हैं, जिसकी आधारभूमि निर्मित होती है– कबीर एवं मध्यकालीन सन्त साहित्य सम्बन्धी गहन चिन्तन एवं अध्ययन से।

वासुदेव सिंह का जन्म सीतापुर जनपद के एक छोटे से गाँव पीतपुर के सामान्य मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन मध्य रात्रि में पैदा होने के कारण इनका नाम 'वासुदेव' रखा गया। बाल्यावस्था से ही ये अत्यन्त मेधावी थे। इन्होंने इण्टरमीडिएट की परीक्षा सीतापुर से उत्तीर्ण की। इसके बाद लखनऊ विश्वविद्यालय से बीए प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। १९५६ में एम.ए. (हिन्दी) में आगरा विश्वविद्यालय से सर्वोच्च अंकों एवं स्वर्ण पदक के साथ प्रथम स्थान प्राप्त किया। तदुपरान्त उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। इसी दौरान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इनका सम्पर्क आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. भोला शंकर व्यास, डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. केदारनाथ सिंह, डॉ. शुकदेव सिंह, डॉ. त्रिभुवन सिंह आदि से हुआ। इन्होंने 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर अपना शोध-कार्य किया। १९६२ में आप सीतापुर के आरएमपी डिग्री कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए, तीन साल बाद पुनः काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता के रूप में आए और आजीवन यहीं साहित्य-सेवा करते रहे।

अपने साहित्यिक अवदान के रूप में इन्होंने 'हिन्दी साहित्य का उद्भव काल' साहित्येतिहास ग्रन्थ की रचना की, जिसके अन्तर्गत इन्होंने नौ शीर्षकों में साहित्य के उद्भव की विवेचना प्रस्तुत की। 'मध्यकालीन काव्य-साधना' में मध्यकालीन कवियों पर अत्यन्त गवेषणात्मक आलेख प्रस्तुत किया। 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' के अन्तर्गत अब तक के सभी प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करते हुए प्रत्येक काल का सुबोधपूर्ण विभाजन किया। 'कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन' आपकी शोधपरक समीक्षा-पुस्तक है। 'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' नामक पुस्तक में कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा प्रस्तुत की। सन्त साहित्य के सामाजिक महत्त्व को आलोकित करते हुए इन्होंने 'हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक की रचना की। डॉ. जयदेव सिंह के साथ आपने कबीर वाङ्मय का साखी, सबद और रमैनी– तीन भागों में सम्पादन करते हुए सम्पूर्ण टीका प्रस्तुत की। इन्हीं के साथ 'कबीर वाणी पीयूष' और बाद में 'कबीर काव्य कोश' जैसे ग्रन्थों की रचना की। भक्तिकाल के समीक्षक के रूप में इन्होंने 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' तथा 'तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि' ग्रन्थ का सम्पादन किया। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के साथ मिलकर आपने 'राधाकृष्ण भक्त कोश' (पाँच खण्डों में) और 'श्रीराम

विश्व कोश' का निर्माण किया। मानस के अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड एवं विनय पत्रिका की भी बेहद उत्कृष्ट टीका प्रस्तुत की। इस प्रकार, आपने साहित्येतिहास-लेखक, आलोचक, इतिहास-अध्येता, दार्शनिक चिंतक, समाजशास्त्रीय समीक्षक, कोशकार एवं टीकाकार आदि की महत्त्वपूर्ण बहुआयामी भूमिका के साथ हिन्दी साहित्य की भरपूर सेवा की। आपकी साहित्यिक कृतियाँ मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य हैं, जिसमें अनुसंधान की विपुल सम्भावनाएँ मौजूद हैं। आपके साहित्यिक अववदान का संरक्षण, अनुरक्षण, संवर्धन करना साहित्य-जगत् का पुनीत कर्तव्य है। वासुदेव सिंह जी के कृतित्व की सूची यहाँ दी जा रही है।

प्रो. वासुदेव सिंह विरचित ग्रन्थ

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद (शोध-प्रबन्ध)
२. कबीर वाङ्मय : भाग-१ रमैनी, भाग–२ साखी, भाग–३ सबद
३. कबीर काव्य कोश
४. कबीर (आलोचनात्मक)
५. कबीर (सम्पादित)
६. हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन
७. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
८. मध्यकालीन काव्य-साधना
९. अयोध्याकाण्ड भाष्य
१०. सुन्दरकाण्ड भाष्य
११. उत्तरकाण्ड भाष्य
१२. तुलसीदास और विनय पत्रिका
१३. तुलसीदास (सम्पादित)
१४. सूरदास (समीक्षा एवं भाष्य)
१५. हिन्दी साहित्य का उद्भव काल (उ.प्र. हिन्दी संस्थान से पुरस्कृत)
१६. सूर : सन्दर्भ और दृष्टि
१७. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि
१८. राष्ट्रवाणी
१९. राधाकृष्ण भक्तकोश– उप-सम्पादक (पाँच खण्डों में)
२०. श्रीराम विश्व कोश– उप-सम्पादक
२१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास– नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित, सोलह खण्डों में से तीसरे खण्ड का सम्पादन, प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी द्वारा मार्च, १९८३ में सम्मानित
२२. कबीर : साहित्य, साधना और पंथ
२३. संत काव्य धारा (सम्पादित)
२४. निबन्ध निकष (सम्पादित)
२५. कबीर वाणी पीयूष

उपोद्घात

नमनं वासुदेवाय नमनं ज्ञानराशये।
नमनं प्रीतिकीर्त्तिभ्यां नमनं सर्वभूतये।

× × ×

''माँ ने लगाये तुलसी के बिरवे दो
पिता ने लगाया है बरगद छितनार
मैं अपना नन्हा गुलाब कहाँ रोप दूँ?....''

(केदारनाथ सिंह)

अक्टूबर, १९३५ को उत्तर प्रदेश के सीतापुर जनपद के पीतपुर ग्राम में जन्में वासुदेव सिंह का अध्यापकीय जीवन उदय प्रताप महाविद्यालय, वाराणसी से प्रारम्भ हुआ और कालान्तर में वे काशी विद्यापीठ, वाराणसी में हिन्दी विभागाध्यक्ष रहे। अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, मध्यकालीन काव्य-साधना, कबीर वाङ्मय (भाग-१ : रमैनी), (भाग-२ : सबद), (भाग-३ : साखी), कबीर काव्य कोश, कबीर : साहित्य, साधना और पंथ, सूर : सन्दर्भ और दृष्टि, तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि, राष्ट्रवाणी आदि आपके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। रामचरित मानस के मात्र तीन काण्डों (अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड और उत्तर काण्ड) के भाष्य एवं विनय-पत्रिका की समीक्षा के कार्य ही आप पूर्ण कर पाये थे, तत्पश्चात् दिनांक २७ जनवरी, २००७ को आपका गोलोकवास हो गया। आपके ही साहित्य-कर्म को पुष्पित-पल्लवित करने हेतु पहले 'नमन' पत्रिका का सम्पादन, तदुपरान्त 'स्मृति-ग्रन्थ' का सम्पादन किया जा रहा है।

स्मृति इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि जिसे याद किया जाये, उसके अधूरे कार्यों को, स्वप्नों को पूरा किया जाए, प्रेरणा ग्रहण की जाए– यही सार्थक स्मृति है। किसी भी साहित्य-सेवी की स्मृतियों को सँजोने के दो तरीके हो सकते हैं– एक, उसे जड़ मानकर तथा दूसरा, उसे प्रवहमान मानकर। स्मृति को प्रवहमान करने के उद्देश्य से 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की स्थापना की गयी। 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' का मानना है कि किसी की स्मृति को ताजा करने के लिए उसके द्वारा की गई साधना, विमर्श व उसके सूत्रों को पुष्पित व पल्लवित किया जाय। न्यास प्रथमतया प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृतियों को सँजाने-सँवारने का कार्य तो कर ही रहा है, साथ ही; भारतीय चिन्तन-परम्परा और उसके क्रान्तिकारी सन्त-काव्य को समझने, विश्लेषित करने और उसे अग्रगति देने के लिए भी कृत संकल्प है। न्यास यह मानता है कि कोई भी आलोचना-कर्म, विश्लेषण व विमर्श-सन्दर्भ अन्तिम नहीं होता। स्मृतियाँ जड़ मात्र नहीं होतीं, बल्कि उसकी परम्परा को पुनर्जीवित करने में निहित होती हैं। इसलिए 'न्यास' साहित्य-साधना को समकालीन सन्दर्भों के

साथ जोड़कर प्रो. वासुदेव सिंह की परम्परा को विकसित करने के लिए प्रतिबद्ध है और इस दिशा में सार्थक पहल की शुरूआत हुई– 'नमन' पत्रिका के सम्पादन से। २७ जनवरी, सन् २००८ को पत्रिका का पहला अंक प्रकाशित हुआ। धीरे-धीरे प्रगति-पथ पर बढ़ते-बढ़ते पत्रिका ने यू. जी. सी. की 'केयर सूची' में स्थान प्राप्त कर लिया है। जीवन भर विशुद्ध अकादमिक चिन्ताओं और संघर्षों से जूझने वाले पिता (प्रोफेसर वासुदेव सिंह) की स्मृति को अकादमिक विमर्श के माध्यम से आगे बढ़ाने से उत्तम और क्या होगा? फलत: हमने 'नमन' पत्रिका को अकादमिक विमर्श की पत्रिका का रूप देने का निश्चय किया। निश्चित ही; यह अकादमिक विमर्श देश-काल-समाज से युक्त अपने समय के जरूरी सवालों पर अकादमिक विमर्शों को आगे बढ़ाने का माध्यम है।

पुन: 'स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन के रूप में 'स्मृति न्यास' ने इस दिशा में दूसरा सार्थक कदम उठाया है। प्रस्तुत 'स्मृति-ग्रन्थ' को प्रो. वासुदेव सिंह की पन्द्रहवीं पुण्यतिथि (२७ जनवरी, सन् २०२२) पर ही लोकार्पित करने का संकल्प था, लेकिन अकस्मात् २१ दिसम्बर, २०२१ को मातेश्वरी श्रीमती प्रेमलता सिंह के दु:खद अवसान तथा कोरोना महामारी के बढ़ते संक्रमण के कारण ऐसा सम्भव न हो सका। प्रत्येक वर्ष २७ जनवरी को आयोजित होने वाली राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी भी औपचारिक रूप से मात्र आभासी (ऑनलाइन) माध्यम से ही सम्पन्न करनी पड़ी। दैव-प्रकोप से प्रभावित यह संकल्पना अब एक वर्ष के अन्तराल पर पूर्ण हो रही है।

ग्रन्थ में कुल सात सोपान हैं– १. शुभकामना-सन्देश
२. सुमनाञ्जलि ३. सदन
४. संस्मरण ५ समीक्षा
६. संग्रहणीय पत्र ७. स्मृति-चित्र

सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और शैक्षणिक विभूतियों की मंगलकामना और शुभेच्छा से परिपूरित शुभकामना-सन्देशों से समृद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ काव्यात्मक सुमनाञ्जलि के माध्यम से भी श्रद्धा-सुमन अर्पित किए गए हैं। 'सदन' नामक सोपान में पारिवारिक सदस्यों की भावाञ्जलि अभिव्यक्त हुई है। तत्पश्चात् 'संस्मरण' नामक सोपान में स्वनामधन्य अनेकानेक विद्वत्जनों व शुभ-चिन्तकों ने अपने संस्मरण साझा किए हैं। समीक्षात्मक सोपान के अन्तर्गत रचनाधर्मी प्रो. वासुदेव सिंह की कृतियों पर वरिष्ठ और मान्य विद्वत्जनों ने सारगर्भित समीक्षाएँ लिखी हैं। 'स्मृति-चित्र' नामक सोपान में वासुदेव सिंह के जीवन की विविध उपलब्धियों, स्मृति-व्याख्यानों तथा अन्य सम्बन्धित चित्रों का समावेशन है। अन्तिम; सप्तम् सोपान में विद्वानों, गुरुजनों, मित्रों तथा विद्यार्थियों के कतिपय बहुमूल्य पत्रों का भी प्रस्तुतीकरण किया गया है।

हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार प्रोफेसर वासुदेव सिंह की साहित्यिक सेवाओं के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए 'स्मृति-ग्रन्थ' को प्रस्तुत करते हुए न्यास परिवार और सम्पादक-मण्डल को अपार हर्ष हो रहा है। ग्रन्थ का सम्पादन और प्रस्तुतीकरण अनेक सहयोगियों और शुभचिन्तकों के श्रम का सुफल है। सुखद यह है कि स्मृति-ग्रन्थ अपने आप में वासुदेव सिंह की पुण्य स्मृति को नमन करते हुए अन्त में एक समीक्षात्मक कृति का रूप भी लेता दिखाई दे रहा है।

इति शम्स।

प्रथम सोपान
शुभकामना-सन्देश

- श्रीमती आनंदीबेन पटेल : महामहिम राज्यपाल, उ.प्र.
- प्रो. ईश्वर सिंह चौहान : पूर्व राजदूत– फिजी तथा पूर्व कुलपति–बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल एवं पूर्व कुलपति– भोज मुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल, म. प्र.
- डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' : सांसद (हरिद्वार) लोकसभा–पूर्व शिक्षा मंत्री, भारत सरकार
- श्री कौशल किशोर : माननीय सांसद एवं आवासन और शहरी कार्य राज्य मन्त्री, भारत सरकार
- प्रो. रीता बहुगुणा जोशी : संसद सदस्य (लोक सभा)
- श्री शशि प्रकाश सिंह : अपर महासॉलिसिटर जनरल, भारत सरकार
- श्री राघवेन्द्र सिंह : महाधिवक्ता (पूर्व)– उ. प्र. तथा पूर्व संसद सदस्य
- श्री केशव प्रसाद मौर्य : माननीय उप मुख्यमन्त्री, उत्तर प्रदेश
- डॉ. दिनेश शर्मा : माननीय उप मुख्यमन्त्री (पूर्व), उत्तर प्रदेश
- प्रो. धीरेन्द्र पाल सिंह : शिक्षा सलाहकार– माननीय मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश
- प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी : अध्यक्ष– उ. प्र. राज्य उच्च शिक्षा परिषद, लखनऊ
- श्री रवींन्द्र जायसवाल : राज्य मंत्री (स्वतन्त्र प्रभार) स्टाम्प एवं न्यायलय शुल्क पंजीयन विभाग उत्तर प्रदेश
- श्री दयाशंकर मिश्र 'दयालु' : माननीय विधान परिषद सदस्य एवं मन्त्री

- श्री उमेश द्विवेदी : माननीय विधान परिषद सदस्य, लखनऊ
- डॉ. अवधेश सिंह : माननीय विधानसभा सदस्य, लखनऊ
- श्रीमती मृदुला जायसवाल : महापौर– नगर निगम, वाराणसी
- डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र : पूर्व विधान परिषद् सदस्य एवं प्रदेशीय मन्त्री
- प्रो. बीना शर्मा : निदेशक– केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
- डॉ. उदय प्रताप सिंह : अध्यक्ष– हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयागराज
- प्रो. नागेश्वर राव : कुलपति– इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- प्रो. संजीव कुमार शर्मा : कुलपति– म.गाँ. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी, बिहार
- प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी : कुलपति– इ.गाँ. राष्ट्रीय जनजातीय वि.वि., अमर कण्टक, म. प्र.
- प्रो. खेमसिंह डहेरिया : कुलपति– अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल, म. प्र.
- प्रो. विजय कुमार शुक्ल : कार्यवाहक कुलपति (पूर्व)– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- प्रो. अशोक सिंह : कुलपति– संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय, सरगुजा, छत्तीसगढ़
- प्रो. सदानंद शाही : कुलपति–श्री शंकराचार्य प्रोफेशनल विश्वविद्यालय, भिलाई, झारखण्ड
- प्रो. आशा शुक्ला : कुलपति– डॉ. बी.आर. आम्बेडकर सामाजिक विज्ञान वि.वि. इन्दौर, म. प्र.
- प्रो. आलोक कुमार राय : कुलपति– लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
- प्रो. निर्मला एस. मौर्य : कुलपति– वीर बहादुर सिंह पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ. प्र.
- प्रो. आनंद कुमार त्यागी : कुलपति– म. गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ. प्र.
- प्रो. कल्पलता पाण्डेय : कुलपति– जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय, बलिया, उ. प्र.
- प्रो. अखिलेश कुमार सिंह : कुलपति– प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- प्रो. सीमा सिंह : कुलपति– उ. प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- प्रो. संजय कुमार श्रीवास्तव : कुलपति– नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- प्रो. हरिकेश सिंह : पूर्व कुलपति– जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार
- प्रो. वी. के. सिंह : पूर्व कुलपति– दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उ. प्र.
- प्रो. योगेन्द्र सिंह : पूर्व कुलपति– जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय, बलिया, उ. प्र.
- डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय : पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची
- डॉ. हरेन्द्र कुमार राय : सदस्य– उ. प्र. माध्यमिक शिक्षा सेवा चयन बोर्ड, प्रयागराज
- डॉ. संत कुमार सिंह : प्राचार्य– उदय प्रताप स्वायत्तशासी महाविद्यालय, वाराणसी
- डॉ. उदयन मिश्र : प्राचार्य– ला. ब. शास्त्री पी.जी. कॉलेज, दीनदयाल उपाध्याय नगर, चन्दौली
- प्रो. लालिमा सिंह : प्राचार्या– एस. एस. खन्ना महिला महाविद्यालय, प्रयागराज

●●●

आनंदीबेन पटेल
राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

सत्यमेव जयते

राज भवन
लखनऊ-२२६ ०२७

३० नवम्बर, २०२१

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास, वाराणसी द्वारा हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, चिन्तक एवं समीक्षक प्रो. वासुदेव सिंह पर 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रो. वासुदेव सिंह वरिष्ठ साहित्यकार होने के साथ-साथ आदर्श शिक्षक एवं कुशल प्रशासक भी थे। सन्त-परम्परा और भक्ति साहित्य पर उनका कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके दो दर्जन से अधिक ग्रन्थ तथा पचास से अधिक गम्भीर शोधपरक लेख हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं, जो हिन्दी साहित्य-प्रेमियों के लिये उपयोगी होंगी।

मैं 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन हेतु अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करती हूँ।

आनंदीबेन

(आनंदीबेन पटेल)

दूरभाष : ०५२२-२२३६४९७ फैक्स : ०५२२-२२३९४८८ ईमेल : hgovup@nic.in वेबसाइट : www.upgovernor.gov.in

Prof. Ishwar Singh Chauhan
Former High Commissioner of India in Fiji
Former Vice-Chancellor
Barkatullah University Bhopal, M.P.
Former Vice-Chancellor
Bhoj Open University, Bhopal, M.P.

Res Add :
4, Rishi Nagar, Char Imali
Bhopal-462016
M-9425030336
E-mail- Is14chauhan@gmail.cm

Ref. ..... Date : 26.10.2021

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक, उत्कृष्ट समीक्षक और अनुसंधायक के रूप में ख्यात् रहे हैं। प्रो. सिंह मध्यकालीन साहित्य के आलोचक मात्र नहीं थे, वस्तुत: उन्होंने सन्त और भक्ति साहित्य का विशद् विवेचन और विश्लेषण भी किया था।

प्रसन्नता का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा ऐसे मनीषी साधक की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ न केवल प्रो. सिंह के समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रकाश में लाएगा, अपितु शोधार्थियों और विद्यार्थियों के लिए भी आलोक-स्तम्भ की भूमिका का निर्वहन करेगा।

इस शुभ कृत्य के लिए मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(प्रो. ईश्वर सिंह चौहान)

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक'
Dr. Ramesh Pokhriyal 'Nishank'
सांसद, हरिद्वार (लोक सभा)
पूर्व शिक्षा मंत्री, भारत सरकार
पूर्व मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

Member of Parliament, Haridwar (Lok Sabha)
Former Education Minister, Government of India
Former Chief Minister, Uttarakhand

सत्यमेव जयते

20, तुगलक क्रिसेंट, नई दिल्ली–110011
20, Tughlak Crescent, New Delhi-110011

दूरभाष : 0111-21430588
Telephone: 011-21430588
E-mail : drrameshpokhriyal@gmail.com
Website : www.drrpnishank@com

सन्देश

मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हो रही है कि **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'** हिन्दी साहित्य जगत् के देदीप्यमान नक्षत्रों में एक प्रोफेसर वासुदेव सिंह की हिन्दी साहित्य साधना को नमन करते हुए उनकी स्मृति में एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहा है। इसके लिए न्यास परिवार को मेरी ढेर सारी शुभकामनाएँ और साधुवाद।

कलम के धनी प्रोफेसर वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकारों में प्रतिष्ठित रहे हैं। मूलत: उनकी मौलिक और सारगर्भित शोधपरक रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अनमोल धरोहर हैं। अध्यापकीय कौशल में उन्हें महारत हासिल थी। उसी कुशलता और कर्त्तव्यनिष्ठा से उनका काशी विद्यापीठ के शैक्षणिक व प्रशासनिक पदों की जिम्मेदारियों का निर्वहन अनुकरणीय और अभिनंदनीय है।

हिन्दी साहित्य में प्रो. वासुदेव सिंह का योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता। ऐसे कर्मयोगी मनीषी साधक की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने का यह प्रयास नि:संदेह सराहनीय है। मैं पुन: **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ'** के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ और 'स्मृति न्यास' परिवार को इसके लिए बहुत-बहुत बधाई देता हूँ।

(डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक')

स्थायी निवास : 37/1, रवीन्द्र नाथ टैगोर मार्ग, विजय कालोनी, देहरादून, उत्तराखण्ड–248001 • दूरभाष : 0135-2718899
Permanent Address: 37/1, Ravindra Nath Tagore Marg, Vijay Colony, Dehradun, Uttarakhand-248001 • Telephone: 0135-2718899

कौशल किशोर
KAUSHAL KISHORE

सत्यमेव जयते

आवासन और शहरी कार्य राज्य मंत्री
भारत सरकार
Minister of State, Housing & Urban Affairs
Government of India

D.O. MoS/H&UA/VIP/LKO/53/2021

दिनांक: 08.11.2021

शुभकामना-सन्देश

प्रिय हिमांशु जी,

विश्वविश्रुत काशी की पहचान धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक और शैक्षणिक नगरी की रही है। देश-देशान्तर से विभिन्न क्षेत्रों के मनीषियों का आवागमन काशी में होता रहा है। प्रो. वासुदेव सिंह भी एक ऐसी ही विभूति थे, जिन्होंने अवध क्षेत्र से जाकर काशी में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई थी। अपनी सारस्वत-साधना से काशी की आचार्य-परम्परा को उन्होंने समृद्ध किया था।

ऐसे मनीषी विद्वान् और साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति में ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वथा सराहनीय कार्य है। एतदर्थ मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ एवं भावांजलि प्रेषित हैं।

(कौशल किशोर)
आवासन एवं शहरी कार्य राज्य मंत्री
भारत सरकार, नई दिल्ली

Office:- 202 Narmada Bhawan, Dr. Bishambar Das Marg, New Delhi-110001; Phone : 011-23312123
पत्राचार का पता : बेगरिया का खेडा, पोस्ट बरावनकलॉ (काकोरी) लखनऊ–226101

प्रो. रीता बहुगुणा जोशी
संसद सदस्य (लोक सभा)
सभापति
संसद सदस्यों के वेतन एवं भत्तों संबंधी संयुक्त समिति

सत्यमेव जयते

संयोजक
संसदीय राजभाषा समिति
सदस्य
ग्रामीण विकास मंत्रालय की संसदीय स्थायी समिति;
स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय की परामर्शदात्री समिति

शुभकामना-सन्देश

यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'** (वाराणसी) द्वारा हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकार, चिन्तक एवं समीक्षक प्रो. वासुदेव सिंह पर **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति ग्रन्थ'** का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रो. वासुदेव सिंह एक लब्धप्रतिष्ठित व वरिष्ठ साहित्यकार होने के साथ-साथ आदर्श शिक्षक एवं कुशल प्रशासक थे। हिन्दी साहित्य की सन्त परम्परा और भक्ति साहित्य पर उनके कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पचीस से अधिक ग्रन्थ तथा पचास से अधिक गम्भीर शोधपरक लेख हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं, जो हिन्दी साहित्य के पाठकों, शोधार्थियों एवं हिन्दी-प्रेमियों के लिए उपयोगी होंगी।

मैं **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ'** के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएँ देती हूँ।

प्रतिष्ठा में,
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
सचिव–प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास
जनपद-वाराणसी।

(प्रो. रीता बहुगुणा जोशी)

कार्यालय: कक्ष संख्या 211, ब्लॉक बी, संसदीय सौध विस्तार, नई दिल्ली -110 001 दूरभाष: 011-23035767, फैक्स संख्या : 011-21410280
नई दिल्ली आवास: 3, हरीश चन्द्र माथुर लेन, नई दिल्ली -110 001
प्रयागराज आवास: 20, मिंटो रोड, प्रयागराज-211 001, उत्तर प्रदेश
ई-मेल: ritabjoshioffice@gmail.com

Shashi Prakash Singh
Senior Advocate

सत्यमेव जयते

अपर महासॉलिसिटर
Additional Solicitor General of India
Ministry of Law & Justice
Department of Legal Affairs
Allahabad High Court

दिनांकः 17.10.2021

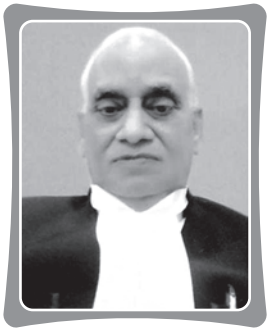

शुभकामना-सन्देश

प्रिय हिमांशु जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि आप मनीषी चिन्तक, समीक्षक तथा कबीर-साहित्य के विशेषज्ञ विद्वान् प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति में 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित कर रहे हैं। न्यास का यह कार्य स्तुत्य है। मेरा प्रो. वासुदेव सिंह से व्यक्तिगत रूप से भी अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। जब मेरे पिता जी आचार्य कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह मगध विश्वविद्यालय में थे, तब बोधगया से लखनऊ जाते और आते हुए हम लोगों का वाराणसी में आपके आवास पर विश्राम करना एक प्रक्रिया हो गई थी। उनका आतिथ्य और हम लोगों के प्रति स्नेह, हम लोगों के लिए सदैव प्रेरणास्पद रहा है।

अपने पिता जी के प्रति आपकी यह सच्ची श्रद्धांजलि है। मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए आपका और प्रो. श्रद्धा सिंह का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

धन्यवाद,

(शशि प्रकाश सिंह)
वरिष्ठ अधिवक्ता
अपर महासॉलिसिटर जनरल
भारत सरकार

Residence : 105, Brij Hari Apartment, Drumond Road, Near T.V. Tower, Prayagraj - 2110011
Tel.: 0532-4008568, Mobile : +91-9415418194, +91-7388418194
E-mail : asgspsingh@gmail.com

राघवेन्द्र सिंह
वरिष्ठ अधिवक्ता
महाधिवक्ता, उत्तर प्रदेश
पूर्व संसद सदस्य

हाईकोर्ट इलाहाबाद
(0532) 2423543 (O), (0532) 2622412 (फैक्स)
हाईकोर्ट बेंच, लखनऊ
(0522) 2722711, (0522) 2722700
ई–मेल : advocategeneralup@gmail.com

शुभकामना-सन्देश

प्रसन्नता का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' हिन्दी के शिक्षक, समीक्षक, टीकाकार और अनुसंधायक प्रो. वासुदेव सिंह पर एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन कर रहा है।

प्रो. वासुदेव सिंह का नाम न केवल हिन्दी साहित्य के, अपितु प्रतियोगी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए भी एक जाना-पहचाना नाम रहा है। इसका कारण प्रो. सिंह की साहित्य के सामान्य शिक्षार्थियों को दृष्टिगत कर इतिहास एवं कबीर पर लिखी गई समीक्षात्मक पुस्तकों के साथ ही; विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे विद्यार्थियों को ध्यातव्य कर सूर, तुलसी आदि पर गम्भीर गवेषणात्मक रूप से लिखे गये टीका-भाष्य ग्रन्थ रहे हैं। जीवन-पर्यन्त एक जिज्ञासु, तत्वान्वेषी, साधक और चिंतक की भाँति स्वधर्म-कर्मनिरत मनीषी की स्मृति में स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वथा समीचीन है।

मैं इस पुण्य कार्य में निरत सभी साहित्य-साधकों के प्रति अपना धन्यवाद ज्ञापित करते हुए सफल प्रकाशन की मंगलकामना व्यक्त करता हूँ।

दिनांक : १३/१०/२०२१

(राघवेन्द्र सिंह)

ऑफिस : 1 कालीदास मार्ग, लखनऊ, (0522) 2237871, 2239161 (फैक्स) : सचिवालय कमरा नं0 104, लखनऊ : (0522) 2238075
निवास : 4/36 विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ, फोन : 0522-2396226, मो0 : 9415048282, ई–मेल : rsingh2601@gmail.com

संख्या ...../कैम्प/पी.आई.पी./उ.मु.[illegible]

दिनांक 02.11.2021

केशव प्रसाद मौर्य

KESHAV PRASAD MAURYA

उप मुख्यमंत्री
उत्तर प्रदेश
Deputy Chief Minister
Uttar Pradesh

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा प्रो. वासुदेव सिंह जी की हिन्दी साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने हेतु एक 'स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन कर उनकी आगामी पन्द्रहवीं पुण्य तिथि के अवसर पर (२७ जनवरी, २०२३) विमोचित किये जाने का निर्णय लिया गया है।

आशा है कि न्यास द्वारा प्रकाशित एवं विमोचन किया जाने वाला स्मृति-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी प्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

आपका

(केशव प्रसाद मौर्य)

कार्यालयः कक्ष संख्या 101, विधान भवन, लखनऊ–226001, दूरभाष : 0522–2238217, 2237047 (का0): 0522–2236978 (फैक्स), 2239990 (आ0)
email: dycmkpm@gmail.com

डॉ. दिनेश शर्मा

९९-१०० विधान भवन,
लखनऊ

दिनांक : ०७/१२/२०२१

उप मुख्यमंत्री
उत्तर प्रदेश

शुभकामना-सन्देश

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा प्रो. वासुदेव सिंह जी की १५वीं पुण्यतिथि पर एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है, जिसका विमोचन २७ जनवरी, २०२२ को किया जाना प्रस्तावित है।

स्व. प्रो. वासुदेव सिंह जी हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकार, तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक, उत्कृष्ट समीक्षक और अनुसंधायक के रूप में विख्यात् रहे हैं। प्रो. वासुदेव सिंह जी मध्यकालीन साहित्य के आलोचक मात्र नहीं थे, अपितु वस्तुत: वे संत और भक्ति साहित्य के विवेचक और विश्लेषक भी थे।

स्व. प्रो. वासुदेव सिंह जी की स्मृति में 'स्मृति-ग्रन्थ' प्रकाशित करना सराहनीय ही नहीं, बल्कि साहित्यकार को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करना है। मुझे विश्वास है कि स्मृति-ग्रन्थ में रचनात्मक सामग्री का समावेश होगा, जिससे जनमानस लाभान्वित होगा एवं हिन्दी साहित्य का उत्थान होगा।

'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन हेतु कृपया मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

भवदीय

(डॉ. दिनेश शर्मा)

प्रो. धीरेन्द्र पाल सिंह
शिक्षा सलाहकार
माननीय मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश

पूर्व अध्यक्ष : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC)
पूर्व निदेशक : राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (NAAC)
पूर्व कुलपति : डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
पूर्व कुलपति : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
पूर्व कुलपति : देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर

Ref. ..... Date : 14.09.2022

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह की पहचान एक गुणी शिक्षक, समीक्षक, अनुसंधायक और टीकाकार के रूप में रही है। अध्यापकीय कौशल के साथ ही विषयवस्तु-केन्द्रित वक्तृता उनकी पहचान थी। मध्यकालीन काव्य के वे निष्णात् विद्वान् थे, जिसका प्रामाणिक परिचय उनकी कबीर, तुलसी तथा सूर सम्बन्धी काव्य-विषयक टीकाओं से मिलता है।

ऐसे मनीषी चिन्तक की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन अत्यन्त प्रशंसनीय और श्लाघनीय है। मैं प्रो. सिंह की स्मृतियों को नमन करते हुए ग्रन्थ के सफल और सार्थक प्रकाशन की मंगलकामना करता हूँ। सम्पादक-मण्डल को भी मेरा साधुवाद।

14.9.2022

(प्रो. धीरेन्द्र पाल सिंह)

प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी
अध्यक्ष

आ0शा0 : .....दिनांक.....
उत्तर प्रदेश राज्य उच्च शिक्षा परिषद,
619, इन्दिरा भवन, लखनऊ 226001
कार्या0 : 0522-2287025
मो0 : + 91 9415310739
ई-मेल : upshec@gmail.com/
girishtripathi.au@gmail.com

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह की पहचान एक लब्धप्रतिष्ठ साहित्येतिहासकार, समीक्षक और अनुसंधायक के रूप में रही है। वाराणसी के उदय प्रताप महाविद्यालय से अपना अध्यापन प्रारम्भ कर आपने म.गाँ. काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभागाध्यक्ष, मानविकी संकायाध्यक्ष, छात्र कल्याण संकायाध्यक्ष, गृहपति तथा कुलानुशासक (चीफ प्रॉक्टर) के रूप में अनेकश: शैक्षणिक एवं प्रशासनिक पदों का निष्ठा एवं कुशलतापूर्वक निर्वहन किया। इसके अतिरिक्त; कार्य परिषद, विद्या परिषद और अन्यान्य महत्त्वपूर्ण समितियों के भी आप सम्मानित सदस्य रहे। आपके दीर्घ शैक्षणिक अनुभव को दृष्टिगत कर उत्तर प्रदेश के महामहिम कुलाधिपति प्रो. विष्णुकांत शास्त्री द्वारा भी आपको विद्यापीठ के कार्य परिषद के सदस्य के रूप में नामित किया गया था।

अध्यापकीय कौशल के साथ ही प्रो. सिंह ने विद्यार्थी-हितों को ध्यातव्य कर अनेक महत्त्वपूर्ण और अछूते विषयों पर सारगर्भित तथा गम्भीर शोधपरक लेखन भी किया, जो हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

प्रसन्नता का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा ऐसे मनीषी साधक की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है। किसी कृति-पुरुष की रचनाधर्मिता को दीर्घजीवी रखने हेतु किया जाने वाला यह प्रयास स्तुत्य है।

मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ग्रन्थ के सोद्देश्यपूर्ण प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी)

रवीन्द्र जायसवाल
राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)
स्टाम्प तथा न्यायालय शुल्क एवं पंजीयन विभाग
उत्तर प्रदेश

पत्र सं. : 355 /VP
कार्यालय : कक्ष सं. : 67-68, मुख्य भवन
विधान सभा, लखनऊ-226001
दूरभाष : 0522-2213630 (कार्यालय)
0522-2238104 (फैक्स)
दिनांक : 19/1/2023

शुभकामना-सन्देश

स्मृति-ग्रन्थ किसी भी साहित्यकार की सृजनात्मकता को अक्षुण्ण रखने का सर्वोत्तम माध्यम होता है। इसके माध्यम से आने वाली पीढ़ियाँ अतीत के रचनात्मक कार्यों से सुपरिचित और लाभान्वित होती हैं।

यह अत्यन्त हर्ष और गर्व का विषय है कि काशी क्षेत्र के ऐसे ही मनीषी साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मैं इस महनीय कार्य के लिए अपनी हार्दिक मंगलकामना व्यक्त करता हूँ और सम्पादक-मण्डल के सभी सम्मानित सहयोगियों के प्रति साधुवाद निवेदित करता हूँ।

(रवीन्द्र जायसवाल)
राज्यमंत्री (स्वतंत्र प्रभार)
स्टाम्प तथा न्यायालय शुल्क एवं पंजीयन
उत्तर प्रदेश।

दया शंकर मिश्र ''दयालु''
उपाध्यक्ष
पूर्वान्चल विकास बोर्ड
उत्तर प्रदेश।

मो0: 9415343480, 8707592760
आवास : डी-59/146-डी0 501, अवध अपार्टमेन्ट,
संत रघुवर नगर कालोनी, सिगरा,
जिला-वाराणसी

दिनांक- 13.01.2022

शुभकामना-सन्देश

काशी सदियों से विद्वानों की नगरी रही है। सहस्त्रों वर्षों से यहाँ विद्वानों का आना-जाना लगा रहता था और उनमें से अनेक जीवन के अन्तिम समय तक काशी के ही होकर रह गए। प्रो. वासुदेव सिंह भी ऐसे ही मनीषी विद्वान् और यशस्वी साहित्यकार थे।

मैं विद्वत्ता की प्रतिमूर्ति प्रो. सिंह के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि व्यक्त करता हूँ और कामना करता हूँ कि स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन सफल और सार्थक हो।

(दयाशंकर मिश्र "दयालु")
उपाध्यक्ष
पूर्वान्चल विकास बोर्ड
उत्तर प्रदेश।

उमेश द्विवेदी
सदस्य विधान परिषद, लखनऊ उ.प्र.
सदस्य: प्रदेशीय विद्युत व्यवस्था संबंधी जाँच समिति
शिक्षा का व्यवसायीकरण संबंधी जाँच समिति

विधायक निवास – दारुलशफा
A ब्लाक 83 बी लखनऊ
निवास–2 : अकोढ़िया रोड, ऊँचाहार–रायबरेली
शिविर कार्यालय : लालगंज अझारा, प्रतापगढ़
E-mail : umesh.dwivedi.arkha@gmail.com
मो0 :– 8005499742, 9415956790
Whatsapp : 9140019812

पत्रांक: 39/2021-22 दिनांक: 10/10/2021

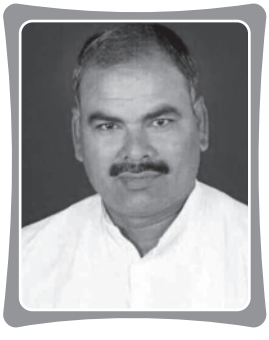

शुभकामना–सन्देश

महोदय,

मैं स्मृति-ग्रन्थ के माध्यम से सन्देश देना चाहता हूँ कि प्रो. वासुदेव सिंह जी हिन्दी जगत् के महान् साहित्यकार रहे हैं। आपका उद्देश्य पेशेवर छात्रों का उत्पादन करने के बजाय एक अच्छा नागरिक बनाना रहा है। साथ ही; श्री सिंह जी द्वारा वर्णित शब्द समाज-कल्पनाओं को उजागर करते हैं और उनके विचारों और आकांक्षाओं को जीवन देते हैं। पत्रिका में वर्णित लेख, रचना, कला-कौशल, सम्पादन, डिजाइनिंग आदि में 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' के सदस्यों और सम्पादन-टीम के कार्यों की कुशलता व निपुणता परिलक्षित हो रही है।

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' और सम्पादकीय टीम को उनकी कड़ी मेहनत और समर्पण के लिए बधाई देता हूँ और उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

(उमेश द्विवेदी)

डॉ० अवधेश सिंह
विधायक, पिण्डरा
वाराणसी

न्यू विधायक निवास–
दारूलसफा, लखनऊ, रूम नं.–502
मो0 9415202450, 8887151184

क-6 No 334758

पत्रांक पि.स्मृ.1141/21

दिनांक 30/11/2021

शुभकामना-सन्देश

भाई हिमांशु जी,

यह अत्यन्त गर्व और आनन्द का विषय है कि गुरुवर प्रो.वासुदेव सिंह की स्मृति में 'स्मृति-न्यास' द्वारा एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। वैसे तो गुरुवर की पहचान एक विद्वान् शिक्षक के रूप में रही है, किन्तु मैं उन्हें इससे इतर दृष्टि से देखता-जानता हूँ। पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर विद्वान् होना आसान है, लेकिन उस विद्वत्ता का गुरूर न होना बड़ी बात है। मुझे गर्व है कि मेरे गुरु को गुरुता का कोई गुरूर नहीं था। अपने सहकर्मियों और शिष्यों के साथ उनका व्यवहार अत्यन्त सहज और सरल था।

मैं ऐसे ज्ञानी, किन्तु निरभिमानी गुरु के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि व्यक्त करता हूँ और 'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

सादर,

भवदीय

(डॉ. अवधेश सिंह)

मृदुला जायसवाल
महापौर

अ.शा.पा.सं. .....
नगर निगम, वाराणसी
निवास : सी. 33/294-22-23, अम्बालिकापुरी कालोनी, छित्तूपुर, वाराणसी
दूरभाष : (कार्या.) 0542-2222600
(आवास) 0542-2222800, 7379881111
(फैक्स) 0542-2221702
ई-मेल : mayormridulakashi@gmail.com

पत्रांक ...नेमो/महापौर/2021-2022...

दिनांक ...15.11.2021...

शुभकामना-सन्देश

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार और मूर्धन्य विद्वान् प्रो. वासुदेव सिंह जी की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। प्रो. सिंह न केवल काशी विद्यापीठ के, अपितु सम्पूर्ण काशी की विद्वत्-परम्परा के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपनी रचनात्मकता और वक्तृत्व से काशी की आचार्य-परम्परा की श्रीवृद्धि की थी। उनकी इसी शैक्षणिक-साहित्यिक उपादेयता के कारण वाराणसी नगर निगम द्वारा एक मार्ग का नामकरण भी प्रो. सिंह के नाम से पूर्व में किया जा चुका है।

ऐसे महान् व्यक्तित्व के प्रति सादर श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए 'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल और सार्थक प्रकाशन की मंगलकामना करती हूँ।

Mridula

(मृदुला जायसवाल)
महापौर

डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र
पूर्व एम.एल.सी.
प्रदेशीय मंत्री, उ.प्र.मा.शि.संघ

9415977674, 9889234312

कार्यालय : विधान भवन, कक्ष सं. 73
लखनऊ। दूरभाष : 2239250
लखनऊ : 19, विधायक निवास-4
(रॉयल होटल) लखनऊ
फैक्स : 0522-2239430
आवास : एन. 12/340-ए. 1 के.एच. 1
शिवनगर कालोनी, बजरडीहा रोड, वाराणसी
ई-मेल : pkmishra1501@gmail.com

शुभकामना-सन्देश

अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है। प्रो. सिंह हिन्दी साहित्य-जगत् के मूर्धन्य विद्वान् के साथ ही कुशल शैक्षिक प्रशासक भी रहे। न्यास द्वारा किया जाने वाला यह कार्य, निश्चित ही; प्रो. सिंह की स्मृतियों को सँजोने का एक अद्‌भुत कार्य होगा। आशा करता हूँ कि न्यास अपने लक्ष्य को प्राप्त करता रहेगा।

प्रो. सिंह की कृतियों और स्मृतियों को सादर नमन और न्यास-मण्डल को हार्दिक साधुवाद।

(डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र)

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282 005

CENTRAL INSTITUTE OF HINDI, AGRA

(MINISTRY OF EDUCATION , GOVT. OF INDIA)
HINDI SANSTHAN MARG , AGRA-282 005

क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, भुवनेश्वर, दीमापुर, अहमदाबाद
REGIONAL CENTRES : DELHI, HYDERABAD, GUWAHATI, SHILLONG, MYSORE, BHUBANESWAR, DIMAPUR, AHMEDABAD

दिनांक : १२.१०.२०२१

शुभकामना-सन्देश

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हो रही है कि प्रो. वासुदेव सिंह जैसे साहित्य-प्रेमी की साहित्य-साधना को यादगार बनाने हेतु 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा उन पर आधारित एक स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है, जिसका विमोचन आगामी २७ जनवरी, २०२३ को (प्रो. वासुदेव सिंह की सोलहवीं पुण्यतिथि पर) किया जाना प्रस्तावित है।

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक, उत्कृष्ट समीक्षक, अनुसंधायक, संत और भक्ति साहित्य के विवेचक और विश्लेषक रहे हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में दो दर्जन से अधिक ग्रन्थ तथा पचास से अधिक गम्भीर शोधपरक लेखों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवा की है।

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन के लिए मेरी अग्रिम बधाई एवं हार्दिक शुभकामनाएँ।

(प्रो. बीना शर्मा)
निदेशक

Website : www.khsindia.org Phone : 0562-3554938 (D), 0562-3554936 (R)
E-mail : directorkhs1960@gmail.com ; registrarofficekhs1960@gmail.com

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह अकादमिक क्षेत्र के ऐसे मणिरत्न थे, जिनके ज्ञानात्मक प्रकाश से पीढ़ियाँ आलोकित होती रहेंगी। स्पष्ट विचार, बेबाक निर्णय और गहन अनुभूति से उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली बन जाता है। वाद-विवाद से दूर संवाद को उन्होंने अपने जीवन का मूलमंत्र बनाया था। आचार्य जयदेव सिंह के साथ संत कबीर की वाणियों का विशद् अध्ययन उनकी मेधाशक्ति का परिचायक था। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और इतिहास पर उनकी मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह का पिता के प्रति यह श्रद्धा-भाव तो है ही, उस ज्ञान-परम्परा का भी ज्ञापक है, जिसके लिये वे जाने जाते थे। पुस्तक के सफल प्रकाशन के लिए हिमांशु शेखर बधाई के पात्र हैं।

प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से समेकित प्रकाश्य-ग्रन्थ के प्रति मेरी अशेष शुभकामनाएँ।

(डॉ. उदय प्रताप सिंह)
अध्यक्ष
हिन्दुस्तानी अकादमी
प्रयागराज

इग्नू
जन–जन का विश्वविद्यालय
प्रो० नागेश्वर राव
कुलपति
Prof. Nageshwar Rao
Vice Chancellor
E : vc@ignou.ac.in
P : +91-11-29537484, 29537707
F : +91-11-29537933

A++ NAAC

ignou
THE PEOPLE'S UNIVERSITY

सन्देश

भारतीय चिन्तन-परम्परा में कृतज्ञता एक ऐसा पुष्प है, जो समस्त जनमानस को संस्कार के सुगन्ध से सराबोर रखती है। एक उत्कृष्ट साहित्यकार, प्रखर-विचारक, चिन्तक, समाजसेवी, मनीषी एवं साधक प्रो. वासुदेव सिंह जी के स्मृति-ग्रन्थ को जनचेतना में उतारने का संकल्प, निश्चय ही; उस युगद्रष्टा के लिए एक कृत स्मरणांजलि होगी। हमारे जैसे साहित्यप्रेमी की ओर से सर्वप्रथम पूरे न्यास को इस संकल्प को कार्यरूप देने के लिए अनेकश: शुभकामनाएँ।

एक छोटे से गाँव से पूरे विश्व-फलक पर छा जाने वाले प्रो. वासुदेव सिंह जी की जीवन-यात्रा प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेरणा और समर्पण का सन्देश देती है। प्रो. सिंह ने हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर आसीन होते हुए जिस निष्ठा एवं कार्यकुशलता से शैक्षणिक सरोकारों को अपने कर्म की तूलिका से उकेरा, वह भावी पीढ़ी के लिए सदैव प्रासंगिक रहेगा। 'कबीर वाङ्मय', 'रमैनी', 'साखी' जैसी अपनी अनेक रचनाओं के माध्यम से उन्होंने मातृभाषा-प्रेम को समाज के सामने रखा। वे भारतीय जीवन-दर्शन **'वसुधैवकुटुम्बकम्' और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** को जीवन का मूल मंत्र मानते थे।

ऐसे कालजयी व्यक्तित्व एवं मूर्धन्य साहित्यकार के समस्त जीवन-मूल्यों को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं उनके स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए प्रतिपल समर्पित 'न्यास' के सभी सदस्यों को हमारी ओर से साधुवाद एवं अग्रिम शुभकामनाएँ।

(प्रो.नागेश्वर राव)

नई दिल्ली

दिनांक : १७.१०.२०२२

कुलपति कार्यालय
Vice Chancellor's Office

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
Indira Gandhi National Open University
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110068 भारत | www.hindi.ignou.ac.in
Maidan Garhi, New Delhi-110068, INDIA | www.ignou.ac.in

महात्मा गाँधी
केन्द्रीय विश्वविद्यालय
(भारतीय संसद के अधिनियम के
अधीन स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi
Central University
(A Central University
Established by an Act of Parliament)

प्रो० संजीव कुमार शर्मा
कुलपति

Prof. Sanjeev Kumar Sharma
Vice Chancellor

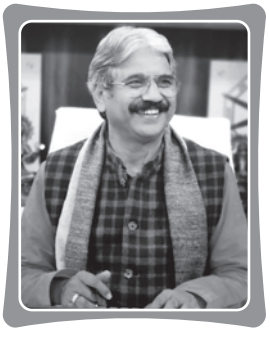

सन्देश

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी साहित्य के वृहद् आकाश में अपनी साहित्यिक प्रतिभा, आलोचना-दृष्टि, शोध-क्षमता और गहन चिन्तन के आधार पर एक देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में स्थापित स्मृति-शेष प्रो. वासुदेव सिंह की १६वीं पुण्यतिथि २७ जनवरी, २०२३ को 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की विस्तृत सामाजिक समालोचना में सिद्धहस्त और संत साहित्य और भक्ति साहित्य के वरिष्ठ विश्लेषक के रूप में प्रो. वासुदेव सिंह का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाराणसी के ख्याति प्राप्त राजर्षि उदय प्रताप महाविद्यालय से अपनी अध्यापन-यात्रा को प्रारम्भ करते हुए प्रो. सिंह महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद से वर्ष १९९६ में सेवानिवृत्त हुए। उत्कृष्ट अकादमिक योगदान और श्लाघनीय साहित्यिक अवदान के साथ-साथ विश्वविद्यालय-व्यवस्था के विभिन्न प्रशासनिक दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करते हुए प्रो. वासुदेव सिंह ने चार दशक तक विश्वविद्यालयी संरचना में अपना एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया। अनेकानेक पुस्तकों और गवेषणात्मक लेखों के प्रकाशन के साथ-साथ अपने वक्तव्यों, अभिभाषणों और विचारों से प्रो. वासुदेव सिंह एक चिन्तक और मनीषी के रूप में जाने जाते हैं।

मेरा यह परम सौभाग्य है कि हिन्दी साहित्य के ऐसे वन्दनीय साधक के सान्निध्य का सुअवसर मुझे अनेक बार प्राप्त हुआ। प्रो. सिंह की साहित्य-सेवा के लिए देशभर की विभिन्न संस्थाओं द्वारा उन्हें प्रदत्त पुरस्कारों से भी बड़ा सम्मान उनके शिष्यों, विद्यार्थियों, परिचितों, शुभचिन्तकों और मित्रों के स्मृति-कोष में उनका सादर विद्यमान रहना है।

मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' इस अद्भुत साहित्य-सेवी की प्रशस्त पुण्यकीर्ति को विस्तृत बौद्धिक समाज तक पहुँचाने में समर्थ सिद्ध होगा।

प्रो. सिंह की स्मृति को सादर श्रद्धावनत नमन और स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशक और सम्पादक-मण्डल को अशेष आभार।

(प्रो. संजीव कुमार शर्मा)
कुलपति

Office: Gandhi Bhawan, Bankat, Motihari – 845 401, District – East Champaran, Bihar (INDIA)
Email: vc@mgcub.ac.in | Mobile: +91 – 6287086666 | Website:www.mgcub.ac.in

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
Indira Gandhi National Tribal University
Inspiring Students, Empowering Society
(संसद के अधिनियम के अधीन स्थापित केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
(A Central University established by an Act of Parliament)

प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी
कुलपति

सं.-इं.गाँ.रा.जजा.विवि./कु./2022/.....
दिनांक:- 16.01.2022

शुभकामना-सन्देश

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई है कि 'प्रोफेसर वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' प्रो. सिंह जैसे हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रखर चिन्तक और विवेचक पर एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहा है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग को उन्नति के शीर्ष पर पहुँचाने का सराहनीय कार्य किया था। एक कुशल अध्यापक के रूप में वे अत्यन्त लोकप्रिय थे। इसके साथ ही; काशी की साहित्यिक गरिमा को प्रतिष्ठित करने में उनका अपूर्व लेखकीय योगदान था। जैन साहित्य के माध्यम से अपभ्रंश-काल पर रचित उनकी पुस्तक उन्हें नामवर सिंह तथा शिवप्रसाद सिंह की परम्परा में खड़ा करती है।

प्रो. वासुदेव सिंह का साहित्य-चिन्तन सदैव नवोन्मेषी बना रहा। ठाकुर जयदेव सिंह के साथ कबीर-साहित्य पर तैयार की गई उनकी पुस्तक सन्त कबीर के समस्त आयामों का विवेचन करने वाली है। इसी प्रकार, 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' भी प्रो. सिंह की बहुमुखी प्रतिभा का परिणाम है, जिसमें उन्होंने साहित्य-विवेचन के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर भी विचार किया है और साहित्य सहित भारतीय कलाओं के बीच चिन्तन की एक विचारधारा का अनुसंधान किया है। प्रो. सिंह द्वारा प्रचुर मात्रा में रचे गए साहित्य की प्रमुख विशेषता उसकी नव्यता है।

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के मनीषी चिन्तक थे। मुझे विश्वास है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के इस तत्त्व-चिन्तक विद्वान् के बहुमूल्य अवदान को यह 'स्मृति-ग्रन्थ' उद्घाटित करेगा तथा आज के युवा सर्जकों को प्रेरणा प्रदान करेगा। मैं इस अवसर पर न्यास से जुड़े समस्त विद्वानों को बधाई एवं शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ।

(प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी)
कुलपति

अमरकंटक, जिला अनूपपुर, म.प्र.–484887 Amarkantak, Dist. Anuppur, M.P.-484887
Phone : 07629269710||Fax 07629 269712|| eMail:vc@igntu.ac.in|| website : www.igntu.ac.in

अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल

(राज्य विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश अधिनियम क्रमांक 34, वर्ष -2011 द्वारा संचालित)

प्रो. खेमसिंह डहेरिया
कुलपति

दूरभाष कार्यालय : 0755-2491051
मोबाइल : +91-9424684608, 9826344608

क्रमांक : 1387/कु.प./22
दिनांक : 10/02/2022

शुभकामना-सन्देश

मुझे यह जानकारी पाकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास द्वारा हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, चिन्तक एवं समीक्षक के रूप में ख्याति प्राप्त साहित्य-साधक प्रो. वासुदेव सिंह जी की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

एक साहित्यानुरागी साधक की साहित्य-यात्रा पर उनकी स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय समाज के लिए प्रेरक ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय एकता के लिए भी आवश्यक है तथा साहित्य की अमूल्य धरोहर के साथ साहित्य व अनुसंधान के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ पठनीय व संग्रहणीय भी होगा।

अत: प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास, वाराणसी का यह प्रयास सराहनीय के साथ प्रशंसनीय भी है। 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन के लिए बधाई और अनेक शुभकामनाएँ।

(प्रो. खेमसिंह डहेरिया)
कुलपति

ग्राम मुगालिया कोट, सूखी सेवनिया, विदिशा रोड, भोपाल - 462038 (म.प्र.)
वेबसाइट : www.abvhv.edu.in अणुडाक : abvhvbpl@gmail.com, khemsingh.daheriya@gmail.com

प्रो० विजय कुमार शुक्ल
कुलगुरू एवं
कार्यवाहक कुलपति
Prof. Vijay Kumar Shukla
Rector &
Officiating Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY

Telephone : 0542-2368938
Fax : 0542-2369100
Email : vc@bhu.ac.in
rector@bhu.ac.in
Website: www.bhu.ac.in

नवम्बर ९, २०२१

शुभकामना-सन्देश

प्राचीन काल से ही काशी की पहचान विद्वानों की नगरी के रूप में रही है। यहाँ के विभिन्न शैक्षणिक-संस्थानों ने समाज को नयी दिशा देने वाले अनेक मनीषी दिए हैं। ऐसी ही विभूति थे प्रो. वासुदेव सिंह। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सुयोग्य शिष्यों में परिगणित प्रो. सिंह की पहचान हिन्दी साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल के ही नहीं, अपितु काव्यशास्त्र और साहित्येतिहास के भी विद्वान् के रूप में रही है। उन्होंने अपने चार दशक के सुदीर्घ अध्यापकीय जीवन में एक आदर्श शिक्षक, श्रेष्ठ सहयोगी, सुयोग्य प्रशासक और गम्भीर लेखक के रूप में विशिष्ट पहचान बनाई थी।

ऐसे सरस्वती-साधक की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन अत्यन्त सराहनीय और स्तुत्य कार्य है। मैं इस श्लाघनीय कार्य में सहयोगी समस्त सम्मानित सदस्यों के प्रति हार्दिक साधुवाद व्यक्त करता हूँ और स्मृति-ग्रन्थ के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(विजय कुमार शुक्ल)

BHU
आज़ादी का अमृत महोत्सव
स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय / Banaras Hindu University
वाराणसी / Varanasi- 221005
वेबसाईट / Website- www.bhu.ac.in

प्रो. अशोक सिंह
कुलपति
संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय, सरगुजा
अम्बिकापुर (छ.ग.) पिन- 497001 (भारत)
फोन : 07774-222788, फैक्स : 07774-222790
फोन : 07774-223509

Prof. Ashok Singh
Vice Chancellor
Sant Gahira Guru Vishwavidyalaya, Sarguja
Ambikapur (C.G.) Pin- 497001 (India)
Email : vcssggu@gmail.com,
Email : ashoksinghhbhu@gmail.com

क्रमांक 75 /कु.स./2021 अम्बिकापुर, दिनांक 27.10.2021

शुभकामना-सन्देश

प्रसन्नता का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' हिन्दी के सुविख्यात् समीक्षक, कोशकार, रचनाधर्मी और लोकप्रिय शिक्षक प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है।

प्रो. वासुदेव सिंह अपने विशिष्ट शिक्षण, विषय-वैदुष्य और समय-बद्धता के कारण ही नहीं, वरन् अपने सहज, सरल और सबल व्यक्तित्व के कारण भी अपनी अलग पहचान रखते थे।

मैं ऐसे सुधी साधक के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए 'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल और सार्थक प्रकाशन की कामना करता हूँ।

सद्भावनाओं सहित,

भवदीय
अशोक सिंह
(प्रो. अशोक सिंह)
कुलपति

SHRI SHANKARACHARYA PROFESSIONAL UNIVERSITY, BHILAI
Established Under Chhattisgarh Private Universities (Establishment and Operation) Act, 2005
Junwani Road, Junwani,
BHILAI - 490020
Chhattisgarh, INDIA
0788-4066810, EPABX No. 0788-4056711
registrar@shrishankaracharyauniversity.com
www.shrishankaracharyauniversity.com

Prof.(Dr.) Sadanand Sahi
(Vice Chancellor)

प्रो. (डॉ.) सदानंद साही
(कुलपति)

शुभकामना-सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक खुशी हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' स्व. वासुदेव सिंह जी की जयन्ती पर एक 'स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन कर रहा है।

अपने सुदीर्घ अध्यापक जीवन में प्रोफेसर वासुदेव सिंह ने सन्त साहित्य के विशिष्ट अध्येता के रूप में अपनी पहचान बनाई। सन्त साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन हमारे समाज के लिए बेहद जरूरी सांस्कृतिक कार्य है। जिस समाज में अलग-अलग कारणों से लोगों में भेदभाव देखने और बरतने की ब्याधि रही हो, उस समाज में कथनी और करनी की एकता को आध्यात्मिक सच्चाई की कसौटी बनाने वाले सन्तों की वाणी को सुनना और गुनना प्राथमिक सांस्कृतिक जरूरत है। प्रोफेसर वासुदेव सिंह ने अपने शैक्षणिक और लेखकीय जीवन में सन्तवाणी को गुनने की समझ विकसित की है। ऐसे आचार्य की स्मृति को सुरक्षित करने का विचार सर्वथा स्वागत योग्य है। मैं इस पुनीत कार्य के लिए स्मृति ग्रन्थ के सम्पादकद्वय प्रोफेसर श्रद्धा सिंह और डॉ. हिमांशु शेखर सिंह को बधाई देता हूँ। मुझे विश्वास है कि इस 'स्मृति ग्रन्थ' के प्रकाशन से प्रोफेसर वासुदेव सिंह की स्मृति अक्षुण्ण रहेगी और सन्त साहित्य के पाठकों की मदद होगी।

प्रो. सदानंद साही

कुलपति
श्री शंकराचार्य प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी भिलाई

Prof. Asha Shukla
Vice Chancellor

प्रो. आशा शुक्ला
कुलपति

Dr. B. R. Ambedkar
University of Social Sciences
(State University, Government of M.P.)
Dr. Ambedkar Nagar (Mhow) 453 441, Indore (M.P.), India

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर
सामाजिक विज्ञान विश्वविद्यालय
(राज्य विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश शासन)
डॉ. अम्बेडकर नगर (महू) - 453441, इन्दौर (म. प्र.), भारत

शुभकामना-सन्देश

यह हर्ष का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा हिन्दी साहित्य के अनन्य साधक और तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक प्रो. वासुदेव सिंह जी पर केन्द्रित 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

राजर्षि उदय प्रताप महाविद्यालय, वाराणसी से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत कर महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ तक के शैक्षिक एवं प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का कुशल निर्वहन सहित हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले मनीषी को इस रूप में याद किया जाना उनके प्रति सच्ची कृतज्ञता है।

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' न सिर्फ उनकी साहित्य-साधना को जीवंत रखने का निमित्त होगा, बल्कि वर्तमान और आगामी पीढ़ी के लिए भी बहुत ही उपयोगी होगा। 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा हिन्दी साहित्य की विरासत को सहेजने का जो कार्य किया जा रहा है, वह अनुकरणीय है। साहित्य को समाज के उत्थान का एक प्रभावी माध्यम माना जाता है। प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य-साधना इस कार्य की व्यापकता तथा भावबोध को चरितार्थ करती है।

प्रो. वासुदेव सिंह जी की सारस्वत स्मृति में स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्रधान संरक्षक श्रीमती प्रेमलता सिंह सहित पूरी टीम का साधुवाद। मुझे पूरा विश्वास है कि इतने समृद्ध सम्पादक-मण्डल के सहयोग एवं मार्गदर्शन में प्रकाशित 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' अकादमिक रूप से बहुत उत्कृष्ट कार्य के रूप में प्रतिष्ठित होगा। मैं इस महत्त्वपूर्ण कार्य-योजना के लिए पूरी टीम को हृदय से धन्यवाद देती हूँ।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ साहित्य-जगत् के लिए बहुत समीचीन होगा।

शुभकामनाओं सहित,

(प्रो. आशा शुक्ल)
कुलपति

100 Years 1920-2020
University of Lucknow | Centennial Celebrations
लखनऊ विश्वविद्यालय | शताब्दी उत्सव
प्रो. आलोक कुमार राय
कुलपति
Prof. Alok Kumar Rai
Vice-Chancellor

लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ–226007 (उ.प्र.) भारत
University of Lucknow
Lucknow-226007 (U.P.) India

शुभकामना-सन्देश

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति को चिरस्थायी रखने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रो. सिंह न केवल काशी अथवा काशी विद्यापीठ के, अपितु समग्र साहित्य-जगत् का गौरव थे। यह उपलब्धि उन्होंने अपनी साहित्य-साधना से अर्जित की थी। ऐसे सुधी शिक्षक, रचनाधर्मी साहित्यकार, सूक्ष्मदर्शी आलोचक और निष्णात् पाठालोचक की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन, निश्चित ही; सराहनीय और महनीय कार्य है।

इस शुभ कार्य हेतु मैं अपनी हार्दिक शुभेच्छा व्यक्त करता हूँ।

(आलोक कुमार राय)
कुलपति

॥ विद्यया प्रकाशस्य वर्षशतम् ॥ A century of leading generations to light through learning
Telephones : 0522-2740467 [O] 0522-2740462 [R] Fax: 0522-2740467 (O), 9415684935 (M), Email: vc@lkouniv.ac.in

प्रो० निर्मला एस० मौर्य
कुलपति
Prof. Nirmala S. Mourya
Vice-Chancellor

वीर बहादुर सिंह पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय
जौनपुर – 222003 (उ.प्र.)
Veer Bahadur Singh Purvanchal University
Jaunpur - 222003 (U.P.)
E-mail: vc_vbspuniversity@rediffmail.com
Tel.: (O) + 91 - 5452-252222 (F) 252344

दिनांक : ०१.१०.२०२१

सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह जैसे मनीषी साधक की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने के लिए 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' उन पर एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहा है, जो अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। भारत की पहचान और प्रतिनिधि भाषा हिन्दी के पोषकों और समर्थकों का नाम जब लिया जाएगा, प्रो. वासुदेव सिंह उनमें अग्रणी रहेंगे। प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी के साथ देववाणी संस्कृत के भी हिमायती रहे।

'स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन में लगे सभी विद्वद्जनों को साधुवाद देती हूँ और मंगलकामना करती हूँ कि 'स्मृति-ग्रन्थ' के माध्यम से जुड़े लोगों में चेतना का अभ्युदय होगा। मैं इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण सफलता की कामना करती हूँ।

अनन्त शुभकामनाओं के साथ,

01/10/2021

(प्रो. निर्मला एस. मौर्य)
कुलपति

प्रो0 आनन्द कुमार त्यागी
कुलपति
Prof. Anand K. Tyagi
Vice Chancellor

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी- 221002
Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith
Varanasi - 221002

सन्देश

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, चिन्तक, समीक्षक और अनुसंधायक प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने हेतु एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रो. सिंह मध्यकालीन साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र होने के साथ ही संत और भक्ति साहित्य के विवेचक और विश्लेषक भी थे। उन्होंने राजर्षि उदय प्रताप महाविद्यालय, वाराणसी से अपना अध्यापन प्रारम्भ किया और महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में, हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष के रूप में, १९९६ में अवकाश प्राप्त किया। अपने चार दशकों के अध्यापन-काल में वे एक कुशल शिक्षक और प्रशासक के रूप में ख्यात् रहे हैं।

चार दशकों के दीर्घ अध्यापन-काल में प्रो. सिंह ने अनेक शैक्षणिक एवं प्रशासनिक पदों का निष्ठा एवं कुशलतापूर्वक निर्वहन किया। अध्यापकीय कौशल के साथ ही; प्रो. सिंह द्वारा विरचित दो दर्जन से अधिक ग्रन्थ तथा पचास से अधिक गम्भीर शोधपरक लेख हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। आपकी इसी साहित्य-सेवा का संज्ञान लेकर उत्तर प्रदेश राज्य हिन्दी संस्थान, लखनऊ सहित विभिन्न संस्थाओं/संगठनों द्वारा समय-समय पर आपको सम्मानित और पुरस्कृत भी किया गया।

मैं 'स्मृति-ग्रन्थ' के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ तथा प्रकाशन-कार्य में लगे सभी सुधीजनों को साधुवाद देता हूँ।

मंगलकामनाओं सहित,

(प्रो. ए. के. त्यागी)
कुलपति

Tel : +91-542-2225472 (O), 2221268 (R), 2223160(Camp Off.), Fax : 2225472(O), 2221268 (R), e-mail: vcmgkvp@gmail.com

प्रोफेसर कल्पलता पाण्डेय
कुलपति
Prof. Kalplata Pandey
Vice-Chancellor

जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय
बलिया–277001, उत्तर प्रदेश
Jananayak Chandrashekhar University
Ballia-277001, Uttar Pradesh
Website : www.jncu.ac.in
E-mail : vcjncuballia@gmail.com

पत्रांक:जे0एन0सी0यू0/कु0/३३३/2021 दिनांक:30नवम्बर, 2021

शुभकामना-सन्देश

महोदय,

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा एक मनीषी साधक द्वारा की गई साहित्य-सेवा को एक 'स्मृति-ग्रन्थ' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में कार्यरत रहते हुए मैंने प्रो. सिंह की अद्‌भुत विद्वत्ता एवं कर्मठता का अनुभव किया है। ऐसे महान् साहित्य-सेवी एवं कुशल प्रशासक की स्मृतियों को सँजोने का 'स्मृति न्यास' ने जो दायित्व लिया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ भविष्य के साहित्यकारों एवं प्रशासकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनेगा।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीया

(प्रो. कल्पलता पाण्डेय)
कुलपति

डॉ० अखिलेश कुमार सिंह
कुलपति
Dr. Akhilesh Kumar Singh
Vice Chancellor

प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यालय
नैनी, प्रयागराज- 211001
Prof. Rajendra Singh (Rajju Bhaiya) University
Naini, Praygraj- 211001
Tel : +91 532 2256206
e-mail : vcprsuprayagraj@gmail.com

दिनांकः 11 दिसम्बर, 2021

सन्देश

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा एक महत्त्वपूर्ण स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह ग्रन्थ प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य-साधना को अक्षुण्ण रखने में महती भूमिका अदा करेगा।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि ऐसे लब्धप्रतिष्ठित एवं तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक की पुण्यतिथि पर प्रकाशित होने वाला यह 'स्मृति-ग्रन्थ' हिन्दी साहित्य-जगत् के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा।

मैं इस 'स्मृति-ग्रन्थ' की सफलता की कामना करता हूँ और इसके सम्पादक एवं उनके मण्डल के मंगलमय भविष्य के लिए शुभकामना प्रेषित करता हूँ।

(डॉ. अखिलेश कुमार सिंह)
कुलपति

प्रो० सीमा सिंह
कुलपति
Prof. Seema Singh
Vice Chancellor

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
U.P. RAJARSHI TANDON OPEN UNIVERSITY
Tel: +91 532 2447028 (O)
Fax: +91 532 2447032
e-mail. : vcuprtou@yahoo.co.in
: seemansh@gmail.com

दिनांक : 08 अक्टूबर, 2021

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह की पहचान न केवल हिन्दी विभाग के, अपितु सम्पूर्ण काशी विद्यापीठ के एक आदर्श शिक्षक के रूप में रही है। समय-बद्धता और अनुशासन उनकी विशिष्ट थाती थी। एक सामान्य परिवार से निकल कर शिक्षा के सर्वोच्च पद को उन्होंने अपनी लगन, कठोर श्रम और कर्त्तव्यनिष्ठा से अर्जित किया था।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि ऐसे सरस्वती-साधक की स्मृति में एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है। यह सत्संकल्प निश्चय ही; सराहनीय और अनुकरणीय है।

संकल्पित ग्रन्थ प्रो. वासुदेव सिंह के समग्र व्यक्तित्व को प्रस्तुत और प्रतिबिम्बित करने में समर्थ होगा– इसी आशा और विश्वास के साथ मैं स्मृति-ग्रन्थ के सफल प्रकाशन की कामना करती हूँ।

शुभाकांक्षी,

Seema

(प्रो. सीमा सिंह)
कुलपति

University Campus, Shantipuram (Sector-F), Phaphamau, Prayagraj -211021, U.P., India.
website : www.uprtou.ac.in

NEHRU GRAM BHARATI
(Deemed to be University)

Prof. Sanjay Kumar Srivastava
Vice Chancellor

Mob : +91 9415182100
+91 8299631713

शुभकामना-सन्देश

प्रिय डॉ. हिमांशु शेखर जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी के यशस्वी शिक्षक और स्वनामधन्य साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

जैसा कि मुझे ज्ञात है, प्रो. सिंह एक विश्वविद्यालयी अध्यापक मात्र नहीं थे, अपितु अपने गम्भीर लेखन द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य और समीक्षा को भी अत्यन्त समृद्ध किया है। स्मृति-ग्रन्थ के माध्यम से उनकी साहित्यिक धरोहर को अक्षुण्ण रखना, निश्चित ही; सराहनीय और वन्दनीय कार्य है।

इस शुभ संकल्पना हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित हैं।

20.10.21

(प्रो. संजय कुमार श्रीवास्तव)
कुलपति

Kotwa–Jamunipur–Dubawal, Prayagraj - 221505 (U.P.)- INDIA
Office Address : 104 F/3, Malviya Road, George Town, Prayagraj (U.P.) -INDIA
Residence : 13-E, Prayag Street, Prayagraj

प्रो० हरिकेश सिंह
Prof. Harikesh Singh
Ex. Vice–Chancellor
Jai Prakash University
Chapra (Saran), Bihar

Permanent Address :
Vill.+Post : Ghariha, District : Ghazipur
Uttar Pradesh
Current Address :
A-2, Heritage Housing,
Ganga Pradusan Road, Bhagawanpur
(Lanka), Varanasi-221005 (U.P.), India
E-mail : harikeshsingbhu@gmail.com
Mob. No. +91 6202213898

Ref. ..... Date : 06.10.21

शुभकामना-सन्देश

मुझे इस शुभकामना-सन्देश को लिखने हेतु एक पत्र 'प्रो. वासुदेव स्मृति न्यास' के सचिव डॉ. हिमांशु शेखर सिंह द्वारा भेजा हुआ मिला। दो दिन बाद ही इसी कार्य हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला संकाय के हिन्दी विभाग की विदुषी आचार्या श्रद्धा सिंह जी ने आग्रह किया। पत्र आते ही मैंने अपनी स्मृति पर जोर डालना शुरू किया कि मैं प्रो. वासुदेव सिंह जी के बारे में क्या जानता हूँ? इस क्रम में प्रथमत: प्रो. सिंह का सौम्य एवं गम्भीर व्यक्तित्व याद आया तथा साथ-ही-साथ; कतिपय अकादमिक संगोष्ठियों में उनके साथ प्रतिभाग करने के अवसर। प्रो. सिंह की सादगी में आचार्य नरेन्द्र देव जी की छवि प्रतिबिम्बित होती थी। कारण स्पष्ट है कि प्रो. सिंह भी आचार्य जी के मूल गृह जनपद सीतापुर (उ.प्र.) के ही निवासी थे। पुनश्च, प्रतिष्ठित साहित्यकार डॉ. रामसुधार सिंह जी से कुछ जानने की इच्छा हुई और फिर उन्हीं से यह ज्ञात हुआ कि प्रो. वासुदेव सिंह जी उदय प्रताप महाविद्यालय में डॉ. मोती सिंह जी (पूर्व प्राचार्य, पी.जी. कॉलेज, गाजीपुर एवं डॉ. सोमेश्वर सिंह जी (पूर्व प्राचार्य, आर.आर. सिंह पी.जी. कॉलेज, अमेठी, सुल्तानपुर) के साथ हिन्दी के प्राध्यापक थे। वे उदय प्रताप कॉलेज के यशस्वी प्राचार्य डॉ. राजनाथ सिंह के सर्वप्रिय प्राध्यापकों में से एक थे। प्रो. सिंह उदय प्रताप महाविद्यालय से ही काशी विद्यापीठ (अब महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ) आये थे। प्रो. वासुदेव सिंह जी पर राजर्षि उदय प्रताप सिंह जूदेव की भी छाप थी।

प्रो. वासुदेव सिंह जी महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के शैक्षिक एवं प्रशासनिक कई पदों को सुशोभित करते हुए एक आदर्श आचार्य की छाप छोड़ गये हैं। ऐसे मनीषी महान् आचार्य के सार्थक एवं कीर्तिमान व्यक्तित्व एवं कृतित्व को स्मृति-ग्रन्थ के रूप में संकलित, सुव्यवस्थित एवं सम्पादित करना, निश्चित रूप से; सर्वाधिक उपयुक्त श्रद्धांजलि होगी। प्रो. वासुदेव सिंह जी ने अपने जीवन में आचार्य बीरबल सिंह, डॉ. राजनाथ सिंह एवं ठाकुर जयदेव सिंह जी की श्रेष्ठ परम्परा का निर्वाह किया है। उनके ही समदृश एवं समधी प्रो. के.पी. सिंह (गणित विभाग, बी.एच.यू.) की स्मृति को भी प्रणाम करता हूँ तथा शुभकामना प्रकट करता हूँ कि यह स्मृति-ग्रन्थ एक नये शिल्प और नयी शैली में अनुकरणीय, पठनीय एवं संग्रहणीय साहित्य सिद्ध हो।

इति शुभम्।

(हरिकेश सिंह)

Former Dean & Head
Faculty of Education
BHU Varanasi, U.P., India

Former Head
Deptt. of Foundations of Education
NUEPA, New Delhi , India

Former President
Teacher's Association
B.H.U., Varanasi, India.

Former National
Vice-President
Acharyakul, India

प्रो. वी.के. सिंह
पूर्व कुलपति

Prof. V.K. Singh
Ex-Vice Chancellor

दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर-२७३००८ (उ.प्र.)

D.D.U. Gorakhpur University
Gorakhpur-273008

प्रिय हिमांशु जी,

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि आपके सदेच्छापूर्ण प्रयास से कृति पुरुष प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृतियों को समर्पित एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है। सर्वप्रथम इस सारस्वत कार्य हेतु हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

वैसे तो मैं साहित्य का विद्यार्थी नहीं हूँ, लेकिन आदरणीय प्रो. सिंह से मैं विगत तीन दशकों से अधिक समय से प्रत्यक्ष-परोक्ष तरीके से सुपरिचित रहा हूँ। अपने विद्यार्थियों और शोधार्थियों में अत्यन्त सम्मानित डॉ. साहब किसी भी शिक्षक के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकते हैं। जितना कठिन विद्वान् होना है, उससे कहीं अधिक दुष्कर कार्य सहज और सरल होना है। प्रो. वासुदेव सिंह में सरलता और विद्वत्ता का मणि-कांचन संयोग था, जो प्राय: दुर्लभ ही होता है।

मैं ऐसे स्वनामधन्य व्यक्तित्व की स्मृति में 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन करने के लिए न्यास-मण्डल और सम्पादक-मण्डल को अपनी बधाई देता हूँ और विश्वास व्यक्त करता हूँ कि स्मृति-ग्रन्थ अपने महदुदेश्य की पूर्ति करेगा।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित,

Vijai Krishna Singh

(प्रो. विजय कृष्ण सिंह)
पूर्व कुलपति
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर, उ.प्र.।

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह
पूर्व कुलपति
Prof. Yogendra Singh
Ex. Vice Chancellor

जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय
बलिया–277001, उत्तर प्रदेश
Jananayak Chandrashekhar University
Ballia–277001, Uttar Pradesh
मोबाइल–07905583618, 09415449378
E-mail: yogendrasinghvcjncu@gmail.com

सन्देश

प्रिय हिमांशु जी,

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार, उत्कृष्ट समीक्षक एवं मध्यकालीन साहित्य के आलोचक के साथ ही सन्त और भक्ति साहित्य के विश्लेषक स्मृति-शेष प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य-साधना को चिरस्थायी रखने हेतु 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा एक स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि इस स्मृति-ग्रन्थ में प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का पूर्ण समावेश होगा, जो विद्वत् समाज एवं हिन्दी के अध्येताओं आदि के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं इस सुकृत्य के लिए न्यास के सभी सदस्यों को साधुवाद प्रेषित करता हूँ।

(प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह)
संस्थापक कुलपति
जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय
बलिया, उत्तर प्रदेश।

डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय
एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत)
एल-एल. बी., पीएच.डी.
पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची-834008
पूर्व कॉलेज निरीक्षक (कला एवं वाणिज्य)
पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर, जोहान्स गुटेनबर्ग
विश्वविद्यालय, मेंज (जर्मनी)

'तपोवन'
लक्ष्मीनगर, पिस्का मोड़,
रातू रोड, राँची-834005
चलभाष : 9431595318, 8797687656
9386336807, 7250189839
E-main : pandey_ru05@yahoo.co.in

दिनांक : १४.१०.२०२१

शुभाशंसा

किसी सरस्वती-पुत्र की सुदीर्घ सारस्वत-साधना का आकलन करना आसान काम नहीं है, विशेषत: उस सरस्वती-पुत्र की साधना का आकलन करना तो और भी कठिन कार्य है, जिसका व्यक्तित्व एवं कृतित्व बहुआयामी हो, जिसके चिन्तन का आकाश व्यापक और विस्तृत हो और जो एक साथ कई भाषाओं में और क्षेत्रों में निष्णात् हो। ऐसे वाणी-साधक का बहिरंग जितना व्यापक होता है, अंतरंग कहीं उससे अधिक गहरा। प्रो. वासुदेव सिंह ऐसे ही वाणी-साधक और सरस्वती के वरद् पुत्र थे, जिन पर साहित्य-जगत् को नाज और ताज है।

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य-जगत् के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान्, तत्त्वाभिनिवेशी चिन्तक, उत्कृष्ट समीक्षक और श्रेष्ठ अनुसंधाता के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। प्रो. वासुदेव सिंह प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के नदीष्ण विद्वान् रहे हैं। राजर्षि उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी से अपनी अध्यापकीय यात्रा प्रारम्भ कर महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त होने वाले प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने आचार-विचार एवं संस्कार से न केवल छात्र-छात्राओं का, अपितु अपने विभागीय बन्धुओं और विश्वविद्यालयी पदाधिकारियों का भी दिल जीत लिया था। संस्कृत की सूक्ति है– 'मनस्येकं कर्मस्येकं वचनस्येकं महात्मनाम' अर्थात् जिसका मन, वचन और कर्म एक है, वही महात्मा है। मुझे यह लिखने में प्रसन्नता हो रही है कि डॉ. सिंह इस सूक्ति के साक्षात् विग्रह थे।

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' के तत्त्वावधान में ऐसे साहित्य-मनीषी और साधक के समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, यह साहित्य-जगत् के लिए गौरव का सन्दर्भ है। मैं 'वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' के सभी पदाधिकारियों, विशेषकर स्मृति-ग्रन्थ के सम्पादकद्वय डॉ. श्रद्धा सिंह और डॉ. हिमांशु शेखर सिंह को बधाइयाँ देता हूँ, जो इस पुनीत कार्य को सम्पादित कर रहे हैं। उनके लिए परमात्मा से मेरी प्रार्थना है–

मिले सदा शुभ हर्ष आपको, नहीं कभी आए अपकर्ष।
सतत् सुधा साहित्य प्रवाहित, लिखे लेखनी यश-उत्कर्ष।।

शुभैषी

डॉ. (जंग बहादुर पाण्डेय)
राँची

U.P. HIGHER EDUCATION SERVICES COMMISSION
18-A, Nyay Marg, Prayagraj-211001
उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा सेवा चयन बोर्ड, प्रयागराज

शुभकामना-सन्देश

मुझे अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा हिन्दी साहित्य के मनस्वी एवं सारस्वत साधक प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य-साधना को भावी पीढ़ी के लिए अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है। नि:सन्देह यह सत्प्रयास हिन्दी साहित्यानुरागियों के लिए सुखद एवं लाभप्रद सिद्ध होगा।

हिन्दी साहित्य के परिवार का एक सदस्य होने का पुण्यफल अयाचित रूप से मुझे अनेक बार मिल चुका है। परमादरणीय पूज्य बड़े पिता जी प्रो. पूर्णमासी राय जी के साथ प्रो. वासुदेव सिंह जी का आशीर्वाद विद्यार्थी जीवन में कई बार प्राप्त कर चुका हूँ। वह आत्मीयता, विद्वत्ता एवं सहजता आज भी मेरे मानस-पटल पर स्मृति के रूप में अंकित है।

मेरी दृष्टि में न्यास द्वारा किया जा रहा यह पुनीत कार्य प्रोफेसर वासुदेव जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

'कीर्तिरस्य स जीवति'

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की प्रो. श्रद्धा सिंह जी एवं डॉ. हिमांशु शेखर सिंह जी को कोटिश: साधुवाद, बधाई।

2.1.2021

(डॉ. हरेन्द्र कुमार राय)
सदस्य
उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा सेवा चयन बोर्ड
प्रयागराज

उदय प्रताप कालेज, वाराणसी
(स्वायत्तशासी संस्था)
नैक पुनर्मूल्यांकित 'B' ग्रेड

Udai Pratap College, Varanasi
(Autonomous Institution)
NAAC Re-accredited 'B' Grade

College with Potential for Excellence, UGC-FIST & DBT-Star College
Mob: 9450538152 Fax- 0542-2282399, email: principalupc@gmail.com, Website: www.upcollege.org

दिनांक 28.10.2021

शुभकामना-सन्देश

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, गम्भीर चिन्तक, श्रेष्ठ समीक्षक एवं मनीषी के रूप में ख्यात् रहे हैं। प्रो. सिंह हिन्दी साहित्य के सन्त एवं भक्ति साहित्य के अधिकारी विद्वान्, विवेचक एवं विश्लेषणकर्ता के रूप में समादृत रहे।

प्रो. वासुदेव सिंह ने महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में सन् १९९६ में अवकाश ग्रहण किया। इसके पूर्व आप उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी में सन् १९५६ से लेकर १९६३ तक हिन्दी प्रवक्ता के रूप में कार्यरत रहे। कॉलेज में आपने अपने व्यवहार एवं कुशल शिक्षण-कला से अपनी अमिट छाप छोड़ी थी। महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में कार्य करते हुए भी आप निरन्तर कॉलेज में आकर अपने महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों से छात्रों को लाभान्वित करते रहे। प्रो. सिंह द्वारा लिखित ग्रन्थ साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

मैं 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' हेतु विद्यालय परिवार की ओर से अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ और प्रो. सिंह की पुण्यतिथि पर नमन करता हूँ।

डॉ. (सन्त कुमार सिंह)
प्राचार्य

लाल बहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मुगलसराय-चन्दौली-232101

(सम्बद्ध - महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

web-www.lbspgcollege.ac.in, e-mail : lbspgcollege205@gmail.com

पत्रांक L.B.S.P.G.C./ /2021-22 दिनांक : 28-12-2021

शुभकामना-सन्देश

प्रसन्नता का विषय है कि 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' द्वारा हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य, मूर्धन्य विद्वान्, सुप्रसिद्ध साहित्यकार, श्रेष्ठ समालोचक, प्रखर वक्ता, सूक्ष्मदर्शी साहित्येतिहासकार और अनुशासन-प्रिय शिक्षक प्रो. वासुदेव सिंह पर एक स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का संकल्प लिया गया है। किसी विद्वान् लेखक के रचनात्मक अवदान को दीर्घजीवी रखने का यह एक उत्तमोत्तम साधन है। एतदर्थ सभी सम्बन्धितों को शाश्वत साधुवाद।

मैं प्रो. वासुदेव सिंह के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्मृति-ग्रन्थ के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(डॉ. उदयन मिश्र)
प्राचार्य

सदनलाल सांवलदास खन्ना महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद
(संघटक महाविद्यालय - इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
Accredited 'A' grade by NAAC

क्रमांक ..... दिनांक .....

03.01.2022

शुभकामना

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि साहित्य के अनन्य साधक एक सन्त साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति में एक 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन **'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'** द्वारा किया जा रहा है। न्यास द्वारा समय-समय पर प्रो. सिंह की स्मृति में अनेक कार्यक्रम आयोजित किये जाते रहे हैं। उम्मीद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा अकादमिक जगत् में प्रो. सिंह के वृहद् कार्यों के साथ ही उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का भी सम्यक् मूल्यांकन होगा।

ग्रन्थ के सफल प्रकाशन हेतु डॉ. हिमांशु शेखर सिंह को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

(प्रो. लालिमा सिंह)
प्राचार्या
Principal
S.S. Khanna Girls Degree College
Allahabad

द्वितीय सोपान

सुमनाञ्जलि

नमन

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

हे पूज्यपाद! तुझको नमन
हे पितृपाद! तुझको नमन।
.
तुम हो नहीं, ना माने ये मन,
हैं तुम्हें ढूँढ़ते रहते नयन;
आहार-विहार कि, या हो शयन
लगता नहीं, कहीं भी ये मन।
बस तेरी याद, बसे तुझमें ही मन,
हे पितृपाद! तुझको नमन।

याद जब भी करूँ तेरा गमन,
आ जाता है याद तेरा कथन-
'लगता नहीं अब मेरा ये मन
करना मैं चाहूँ, अब गमन,
अब व्यथित, थकित ये मन'
हे पूज्यपाद! तुझको नमन।

'उस लोक को ले चल पवन,
स्वीकारता हूँ अब चिर-शयन;
नभ को करूँ शाश्वत गमन
वसुधा को कर अंतिम नमन।'
कहते ये शब्द, मूँदे नयन
हे पितृपाद! तुझको नमन।

है सृष्टि का शाश्वत नियम,
मैं मानता हूँ, गमनागमन,
जीवन है जग का एक सुमन,
फिर भी न समझे मेरा ये मन।
कैसे तुम्हें पायें, यही लगन,
हे पूज्यपाद! तुझको नमन।

तेरी पुण्यतिथि का आगमन,
आ गए जैसे तेरे शुभ चरन;
अभिभूत हूँ, कर उनको नमन
'अनुराग' भरा, अनुरागित मन।
हे पूज्यपाद! तुझको नमन।
हे पितृपाद! तुझको नमन।

जो शेष था माता का तन
उनको भी भाया अनुगमन,
गृह छोड़ अपना 'प्रेम सदन'
कर गयीं वह भी महागमन,
अब शेष केवल है रुदन
करता युगल को हूँ नमन।
हे पूज्यपाद! तुझको नमन
हे मातृपाद! तुझको नमन।।

श्रद्धासुमन

डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा*

है जीवन का चित्र अनूठा
अद्‌भुत ज्ञान सिखाता है।
आने वाली समय श्रृंखला
को कुछ देकर जाता है।।१।।

सृजनवान अनवरत काल से
क्रम ऐसा कुछ जारी है।
है स्मृति साहित्य सामने
कल की वह तैयारी है।।२।।

डॉ. वासुदेव के जीवन
का अतीत अवलोकन है।
वर्तमान की बुनियादों के
संकट का वह मोचन है।।३।।

हैं प्रेरणा के स्रोत सतत् वह
संत साहित्य दिया भारी।
हिन्दी का साहित्य आपकी
विपुल कीर्ति कहता न्यारी।।४।।

शिक्षा के थे कुशल प्रशिक्षक
वर्ण-विवेचन न्यारा था।
है इतिहास साक्षी उनका
परम्परागत प्यारा था।।५।।

व्यास-सूत-शौनक की धरती
पर जिसने था जन्म लिया।
ग्राम पीतपुर, सीतापुर का
रोशन अपना नाम किया।।६।।

था असीम साहस वासुदेव में
उत्तम चिंतन वाला था।
शुभ चिन्तक लोगों का भी
सम्मानित स्नेह निराला था।।७।।

काशी विद्यापीठ विभाग में
जब हिन्दी अध्यक्ष बने।
मिली चतुर्दिक ख्याति अनूठी
ज्योतिर्मय थे जश्न घने।।८।।

शिक्षा पर अर्पित जीवन को
युग सादर कर रहा नमन।
श्रद्धा सुमन समर्पित हैं यह
'जग' के मनभावन पावन।।९।।

---

* प्रबन्धक– बाल विद्या मन्दिर विद्यालय, चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी

मेरे मन वास करें गुरु 'वासुदेव' सदा

*डॉ. आशुतोष कुमार तिवारी**

'सूर' सम स्नेह-वत्सल, 'तुलसी' सम ज्ञान-शील,
कबिरा के काव्य के विद्वान् व्याख्याता आप;
साहित्य की समग्र विधा आप में समाहित श्रद्धेय,
चिंतक विचारक, पर विनम्र ज्ञानदाता आप।

स्वयं में आकर्षण आकर्षक व्यक्तित्व-धनी,
कृतियों से उपकृत साहित्य-संसार है;
भाषा और साहित्य की सेवा ही जिनका धर्म रहा,
ऐसे महामानव का कृतित्व भी अपार है।

सौभाग्य मेरा, मुझे आपका सान्निध्य मिला,
मेरे ज्ञान-चक्षु खुले आप ही के ज्ञान से;
पथ-प्रदर्शक मेरे, आप से ही प्रेरणा पाकर,
जीवन-जीना सीखा मैंने बड़े स्वाभिमान से।

आस्था-विश्वास के आधार आप ही थे मेरे,
हित-चिंतक आप-सा न कोई आस-पास है;
आशा 'आशुतोष' की निराशा से निमग्न हुई,
देह बिना नेह की असहाय हुई श्वाँस है।

हो प्रतीत 'पुण्यतिथि' सजीव स्मृति, वीथि,
स्मृति अमर, आप भी अजर-अमर हैं;
आप के आशीष की अनुभूति बोध शीश को,
शीश पर आशीष के गुरु आप ही के कर हैं।

उर करे क्रंदन, पर वंदन-अभिनन्दन भी,
स्नेहसिक्त श्रद्धा के समर्पित सुमन हैं;
मेरे मन वास करें, गुरु 'वासुदेव' सदा
एक-एक शब्द जन्मों-जन्मों के नमन हैं।।

---

* व्याख्याता– हिन्दी, शिक्षा-विभाग, दुर्गापुर इस्पात संयत्र, दुर्गापुर, पश्चिम बंगाल

जैसा था नाम अनोखा, वैसे थे सत्य सनातन

*डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा**

गुरु जी पर १२ छन्दों की रचना मैंने इसलिए की है कि उनका नाम दश अक्षरों वाले मंत्र में वर्णित है– 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' तुलसीकृत मानस में वर्णित है कि– 'ठाड़े रहे एक पद दोऊ' अर्थात् मनु और शतरूपा ने नैमिषारण्य में, गोमती नदी में, एक पैर पर खड़े होकर इस मंत्र का १२ वर्षों तक जप किया था। गुरुवर का गाँव भी नैमिष के समीप ही है।

कर्मयोग के पथ पर
जिसने चलना सीखा था।
वह ज्ञान का दीप जलाकर
विद्या अमृत पीता था।।१।।
विश्राम नहीं करता था
आराम नहीं करता था।
वह रातों-रात किताबों
के साथ-साथ रहता था।।२।।
दीपक की भाँति जलाकर
अपने को तप्त बनाया।
हिन्दी साहित्य के रस से
जन-जन को तृप्त कराया।।३।।
अक्षय विश्वास लिये वे
जीवन पथ पर आये थे।
नूतन विचार थे उनके
सत्पथ जीवन पाये थे।।४।।
निर्बलता दुर्बलता
उनको न सता पायी थी।
अनगिनत किताबें लिखकर
साहित्य-कथा गायी थी।।५।।
थे वासुदेव सचमुच में
पर आशुदेव जागृति थी।
अँधेरा भेदन करना
उनकी प्रकाशमय कृति थी।।६।।
वे सरल सहज वाणी से
सबको आकर्षित करते।
नम्रता भरी बातों से
मन को सचमुच हर लेते।।७।।
उनका जीवन सादा था
कामों में था पर ज्यादा।
उलझन थी नहीं कहीं भी
जीवन में थी मर्यादा।।८।।
हिन्दी के परम योग्य थे
वेदान्त पकड़ थी गहरी।
थे ग्राम देवता सचमुच
काशी में थे वे शहरी।।९।।
छोटे हों बड़े सभी को
सम्मान सदा देते थे।
स्मृति थी बड़ी अनोखी
जीवन ऐसा जीते थे।।१०।।
सब साथ मगर एकाकी
पथ अन्तहीन जाना था।
भाषा सन्देश सुनाकर
व्यापकता को पाना था।।१९।।
जैसा था नाम अनोखा
वैसे थे सत्य सनातन।
श्रद्धांजलि करते हम सब
जीवन में अद्य पुरातन।।१२।।

---

* प्रबन्धक– शक्ति बाल विद्या मन्दिर, चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी

हे सरस्वती के वरद् पुत्र!

प्रो. चम्पा सिंह*

प्रो. वासुदेव सिंह से मिलने का सौभाग्य मुझे वर्ष १९८८ में उच्च शिक्षा सेवा आयोग, इलाहाबाद में प्रवक्ता पद हेतु चल रहे साक्षात्कार के समय मिला। उस क्षणिक मुलाकात में ही मैं प्रो. सिंह के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुई। ऐसे मनस्वी विद्वान्, प्रतिभाशाली रचनाकार, इतिहासविद्, संत एवं भक्ति साहित्य-मर्मज्ञ उस महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए यही कहूँगी–

हे सरस्वती के वरद पुत्र! तेरा शत्-शत् नमन
वत्सला भारती माँ के माथे का, था तू चन्दन,
कितने ही दुर्लभ रत्न निकाले हैं, मानस-मंथन से,
तू युगद्रष्टा, तू युगस्त्रष्टा, साहित्यकार जगती का,
निज मातृभूमि का अलंकार, पावन माटी का टीका,
हे वाणी के वरेण्य वैभव, सश्रम साहित्य मनीषी,
तू सरल, सौम्य, सात्विक सुन्दर, ज्यों स्वच्छ आँसुकण अनुपम।
तेरा चरित्र पारदर्शी, जैसे गंगा की धारा,
तेरा व्यक्तित्व मनोहारी, जैसे कबीर की बानी,
विश्वकोश चलते-फिरते, तुम न तनिक अभिमानी,
वाणी की पूजा की तुमने, दिक्-दिक् सुरभि लुटायी,
ज्ञानदान देने वाले, तुम सचमुच जीवनदानी
हुआ आपकी प्रतिभा से, सुरभित हिन्दी का उपवन
मंत्र प्रेरणा का देता है, हमें आप का सतत् सृजन,
हे ज्ञानवान, विद्वान् प्रखर, साहित्य-सृजन प्रतिभा अनूप,
ज्ञान पाण्डित्य अनुभव का, भरपूर खजाना हैं आप,
आप अविस्मरणीय गुरु, मार्गदर्शक, आत्मीयता की खान हैं,
जो एक बार मिले, सरलता से भूल नहीं पाता,
सरल स्वभाव, हँसमुख प्रवृत्ति, व्यक्तित्व के धनी थे आप
क्षमा, स्नेह, वात्सल्य, सहयोग, प्रेरणा, विश्वास का दान देकर
अनगिनत लोगों को, आपने उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया
हिन्दी साहित्याकाश में, चमकते-दमकते रहें आप,
हे सरस्वती के वरद पुत्र! तेरा शत्-शत् नमन।

●

* हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तृतीय सोपान
सदन

आँखों देखी : कानों सुनी

*सुधांशु शेखर सिंह**

सीतापुर जनपद का छोटा-सा गाँव पीतपुर। सामान्य मध्यवर्गीय परिवार। श्री हेम सिंह, जो गाँव में मास्टर साहब के नाम से जाने जाते थे, उनके ज्येष्ठ पुत्र वासुदेव, जिनका नामकरण श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की रात बारह बजे, रोहिणी नक्षत्र में पैदा होने के कारण, कृष्ण के ही पर्याय के रूप में पड़ा। बहुआयामी व्यक्तित्व-सम्पन्न वासुदेव बाल्यावस्था से ही अपनी मेधा का परिचय देते हुए, अपने सहपाठियों, समवयस्कों में अपनी अलग पहचान बनाते हुए, लगभग अपने जीवन की दिशा बाल्यावस्था में ही तय कर चुके थे। गाँव के सभी बालक जिन दिनों अपना समय खेल-कूद, खाने-पीने, दण्ड-बैठक लगाने आदि में व्यतीत करते, उस वक्त वे अपना समय रात्रि में लालटेन या ढ़िबरी की रोशनी में या दिन में किसी एकान्त स्थल को तलाश कर, किताब-कॉपियों के साथ मशक्कत करने में बिताते। कम रोशनी में अधिक समय तक अध्ययन करते रहने के कारण आँखों की रोशनी युवावस्था में ही प्रभावित हो गई थी। वे अध्ययन में इतना तल्लीन रहते थे कि वक्त का उन्हें पता ही न चलता था। गाँव के पीछे ही लखनऊ से काठगोदाम की तरफ जाने वाली रेलवे लाईन थी। वहाँ से जब रात्रि के एक बजे वाली ट्रेन की धड़धड़ाहट सुनाई पड़ती, तो चौंक जाते और कॉपी-किताब सरका कर सो जाते। मुश्किल से तीन-चार घण्टे की नींद लेने के बाद पुनः भोर में ही उठकर पढ़ने बैठ जाते। उनमें और उनके एक सहपाठी में हमेशा इस बात की होड़ लगी रहती कि क्लॉस में कौन फर्स्ट आएगा। सीतापुर से इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय से उन्होंने बी.ए. की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी व प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करते ही उनका विवाह हो गया। विवाह के दौरान, शिष्टाचार की रस्म के अवसर पर, उनकी मुलाकात माँ के फूफा कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह से हुई, जो उस समय युवराज दत्त महाविद्यालय, लखीमपुर खीरी के हिन्दी विभागाध्यक्ष थे। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित हुए। पिता जी ने पहले लखनऊ विश्वविद्यालय में ही एल.एल.बी. में एडमीशन लिया, लेकिन उनको दिशा तो दूसरी ही मिलनी थी, अतएव मन न लगा। लखीमपुर चले आये और फिर वहीं से कुँवर जी के निर्देशन में, १९५६ में, एम.ए. की परीक्षा दी और आगरा विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया, जो उस समय उत्तर प्रदेश का एकमात्र महाविद्यालयों को सम्बद्धता प्रदान करने वाला विश्वविद्यालय था। इस उपलब्धि हेतु उन्हें 'गोल्डमेडल' प्रदान किया गया।

एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करते ही उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हो गई,

* संस्थापक तथा मुख्य कार्यकारी अधिकारी, ह्यूमैनिटेरियन ऐड इण्टरनेशनल, द्वरका, नई दिल्ली

जहाँ डॉ. केदारनाथ सिंह, बाबू सोमेश्वर सिंह, डॉ. मोती सिंह, त्रिलोकीनाथ सिंह आदि से घनिष्ठता हुई। सन् ५६ से ६१-६२ तक यू.पी. कॉलेज में कार्य किया। यू.पी. कॉलेज में रहते हुए अपने भाईयों को भी शिक्षा के उद्देश्य से ले आए।

इसी बीच, बी.एच.यू. में भी उनका सम्पर्क आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिव प्रसाद सिंह, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. बच्चन सिंह, भोला शंकर व्यास आदि से हो गया। आ. द्विवेदी के निर्देशन में ही पी-एच.डी. का पंजीकरण हो गया, जिसके लिए उन्होंने जयपुर जाकर कड़ी मेहनत से सामग्री को संकलित किया। १९६२ में वे सीतापुर आर.एम.पी. डिग्री कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर चले गए।

तीन साल बाद पुन: काशी विद्यापीठ में प्रवक्ता के पद पर आ गए। इसके बाद का सारा जीवन यहीं पर व्यतीत हुआ। यहीं उनका कर्मक्षेत्र था, जिसे उन्होंने बखूबी निभाया और राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाई।

पिता जी की अध्यापन में रुचि निरन्तर बढ़ती रही। किताबें संकलित करना व पढ़ना-पढ़ाना ही उनका शौक था, जो प्राणों से भी प्रिय था। किसी भी प्रसंग पर चर्चा चल जाती, तो घण्टों चलती रहती। हम सब भाई-बहनों से भी किसी भी प्रश्न पर पूछ देते, मालूम न होने पर बैठ कर बताते। छुट्टियों में गाँव जाते, तो वहाँ पर भी शाम को बड़े-बुजुर्ग और बच्चे उनको घेरकर बैठ जाते और घण्टों किसी न किसी प्रसंग के माध्यम से रामायण, महाभारत, कबीर या तुलसी पर चर्चा होती रहती। बड़े-छोटे सभी प्यार व सम्मान देते।

लखीमपुर खीरी में, एम.ए. में अध्ययन के दौरान ही, उन्हें कबीर-काव्य में वर्णित दार्शनिक शब्दावलियों आदि को लेकर कुछ गहराई से जानने की इच्छा जाग्रत हुई। अपनी जिज्ञासा को लेकर आप कुँवर साहब के पास गए। कुँवर साहब ने सुझाव दिया कि डॉ. जयदेव सिंह– जो एक साथ दर्शनशास्त्र, संगीत, अंग्रेजी, संस्कृत आदि के विशेषज्ञ हैं– के पास जाओ। किन्तु, लखीमपुर कॉलेज में प्राचार्य पद पर कार्यरत, ठाकुर साहब से बातचीत के लिए समय मिलना मुश्किल है, इसलिए जिस वक्त डॉ. साहब टहलने के लिए निकलें, उसी वक्त उनका साथ पकड़ो और अपने सवालों को रखो। तब से आप नित्यप्रति सायंकाल ठाकुर साहब के टहलने के समय उनका साथ पकड़ लेते और एक-एक जिज्ञासाओं का समाधान करते रहते। किन्तु ये जिज्ञासाएँ समाप्त होने का नाम ही नहीं ले रही थीं। तभी मन में यह भाव जगा कि– 'काश! कभी ऐसे मनीषी के साथ कबीर पर काम करने का अवसर मिलता।' ईश्वर ने उनकी यह मनोकामना पूर्ण की। कालान्तर में; बनारस में आपकी भेंट संयोगवश पुन: ठाकुर जयदेव सिंह जी से हुई, जहाँ उन्होंने पुन: अपनी कबीर-वाणी सम्बन्धी जिज्ञासाओं को रखा। तब डॉ. जयदेव सिंह ने कहा कि कबीर-वाणी से सम्बन्धित जिज्ञासाओं को इतनी आसानी से शान्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए साधना करनी पड़ेगी। ऐसा करो, सप्ताह में एक दिन तुम मेरे आवास (सिद्धगिरि बाग, छोटी गैबी) में आओ। दो-चार घण्टे देंगे, तभी कुछ हो सकता है। इस प्रकार, शुरू हो गया कबीर वाङ्मय का डॉ. जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह के अध्ययन का सिलसिला। लगभग दस वर्षों तक चलता रहा यह अध्ययन-मनन-चिन्तन का सिलसिला। कबीर-वाणी को निकट से जानने के लिए कभी दोनों व्यक्ति जुलाहे के घर जाते; तो कभी बुनकरों के यहाँ, कभी किसानों के यहाँ; तो कभी झुग्गी-झोपड़ी। ऐसा सब कुछ होते हम लोग देखा करते। कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप कबीर वाङ्मय (साखी, सबद व रमैनी) का सृजन हुआ। तीनों खण्ड कबीर-वाणी की व्याख्या के लिए आज सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। इसी बीच; १९८६ ई. में डॉ. जयदेव सिंह का निधन हो गया। इसके पश्चात् पिताजी ने 'कबीर' नाम से कबीर के व्यक्तित्व व कृतित्व पर एक समीक्षात्मक कृति एवं

'कबीर काव्य कोश' का भी प्रणयन किया। कबीर वाङ्मय पर अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त मध्यकालीन काव्य-मर्मज्ञ पिता जी ने अन्य अनेक पुस्तकों का भी प्रणयन किया। अध्यापकीय जीवन में हमेशा से सगुण भक्ति काव्य को पढ़ाने वाले डॉ. साहब आज हिन्दी जगत् में कबीर-मर्मज्ञ के नाम से जाने जाते हैं। एक आदत, जो उनको सफल बनाने में सबसे अधिक सहयोगी बनी, वह थी– समय की पाबन्दी। उनका हर काम घड़ी देखकर होता था। नियत समय पर उठना, नहाना-धोना, नाश्ता-पानी, नियम से अपने कक्ष में चौकी रखकर पहले सारी चिट्ठियों का जवाब लिखना और पुन: स्वाध्याय में निरत हो जाना। नियत समय पर अध्यापन के बाद भोजन-शयन और फिर शाम को विद्यार्थियों से घिरा उनका ड्राइंगरूम, जहाँ शाम से लेकर रात्रि आठ बजे तक तमाम प्रकार की साहित्यिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक चर्चाएँ-परिचर्चाएँ, ठीक रात के नौ बजे खाना, फिर टहलते हुए मुँह का पान खतम करके; मुँह धोकर समय से सो जाना। उनकी समय की पाबन्दी को कई बार डॉ. जयदेव सिंह जी ने अपने वक्तव्यों में उद्धृत भी किया था।

इस प्रकार, एक साधारण परिवार में जन्म लेने वाले डॉ. साहब आज काशी के गौरव, कबीर वाङ्मय के पारखी, कुशल अध्यापक, कुशल पथ-प्रदर्शक के रूप में मान्य हुए।

मेरे ख्याल में कठोर परिश्रम, लगन व समय का सदुपयोग– ये तमाम चीजें ऐसी हैं, जो पिता जी के जीवन से अनुकरणीय हैं।

●

स्मृति-शेष पिता को 'नमन' करते हुए

*डॉ. श्रद्धा सिंह**

निराला ने 'सरोज स्मृति' लिखी। हिन्दी साहित्य की पहली कविता बेटी की स्मृति में। निराला कवि थे। सरोज के 'नि:शब्द अधरों का भास' और 'मौन संगीत' समझ सकते थे, लिख सकते थे। बाद में सर्वेश्वर ने लिखा, केदारनाथ सिंह ने लिखा– 'बिटिया के लिए'– बिटिया के नाम की तलाश में। गत वर्ष भर से सोचती रही हूँ– क्या सरोज 'निराला-स्मृति' लिख सकती थी? शायद नहीं। तब मैं? विगत वर्षों हिन्दी साहित्य में 'पिता' को लेकर दर्जनों कहानियाँ और कविताएँ लिखी गई। काफ्का से लेकर दिनेश कुशवाह तक। ज्ञानरंजन, उदय प्रकाश, अमरकान्त जैसे बड़े रचनाकारों की कृतियों में पिता की आवाजाही बनी रही। लेकिन मेरे लिए वह सारा कुछ कहना, लिखना, जीना, फिर से– अत्यन्त पीड़ादायी और प्रेरणास्पद– दोनों है। मैं न कवि हूँ, न लेखिका। एक अध्यापिका– हिन्दी साहित्य की अदना विद्यार्थी। फिर भी; बेटी हूँ और आज पिता को याद कर रही हूँ। अपनी समझ भर और क्षमता भर। आप से निवेदन कर रही, कुछ ऐसे सन्दर्भ, ऐसे प्रसंग, जो आप सबके लिए कैसा भी हो, मेरे लिए 'अपने ही बिम्बित आँसुओं में अपना मुख देखने जैसा' है।

मैंने जब होश सँभाला, तो मेरा घर सिद्ध-साधकों से भरा हुआ था। ठा. जयदेव सिंह, डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, डॉ. उदयभानु सिंह, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. रघुवंश, डॉ. राजेन्द्र कुमार वर्मा और पिता की स्मृति एक साथ घर के वजूद की तरह बनी हुई थी। शब्द-विमर्श, भाष्य-टीका-टिप्पणी के बीच पिता साधनारत थे और मैं कबीर से परिचित हो रही थी। पिता नियमित तनख्वाह से अपने पिता को मनीआर्डर करते और कबीर में, विद्यार्थियों में, अध्यापन में और हममें डूबे रहते। मैं साहित्य-समाज से अपरिचित हूँ, लेकिन बड़े-बड़े आचार्यों को अपने विकलांग बच्चों के लिए बैशाखी गढ़ते देखा है। हम सारे भाई-बहन पढ़ते-पूछते और बहुत सारा देखकर सीखते बड़े हुए। इस बीच, सबसे बड़ी बात जो आज समझ में आती है, यह कि हम चारों बेटी-बेटा के सतही विभाजन से ऊपर थे। मैं कभी दूसरे दर्जे की मेम्बर, खासकर 'बेटी' या 'स्त्री' होने के नाते, कभी नहीं थी। कभी मेरे जीवन में 'नहीं' या 'यह तुम्हारे योग्य नहीं' या 'तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए'– ऐसे शब्द-वाक्य, जो घर-आँगन, देहरी के भीतर या क्लॉस, दोस्तों या व्यापक सन्दर्भों से बाहर के लिए एक बेटी-स्त्री के जीवन में निषेध बनकर आते-जाते हैं, मेरे हिस्से नहीं आया। शायद इसीलिए मेरे करीबी मित्र मुझे स्त्री होने की कुण्ठाओं से ऊपर देखते हैं और सराहते हैं। यह मेरे लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, मैं शायद नहीं जानती। लेकिन आज, जब तुलना करती हूँ, तो पिता का यह विश्वास भरा स्नेह, जिससे मेरी बिरादरी अपरिचित है, पिता के उस उद्‌भुत व्यक्तित्व का एक सन्दर्भ मात्र नहीं, बल्कि उनकी गहरी दृष्टि का परिचायक है।

* आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अस्तु; घर में पिता को हँसते, ताश खेलते, पान-सुपारी कुतरते, हर शब्द-मर्म की व्याख्या में उलझते, एक खिंचाव और तनाव, अर्थ खुलने के बाद विजयी मुस्कान लिए कागज पर टाँकते सलमा-सितारों की तरह देखा। उन्हें पढ़ा और जाना। हर तनाव को समन्वय और सन्तुलन में पहुँचा देना– जैसे उनकी कला थी। आज यदि उनकी कृतियों की नहीं, उनके जीवन की मैं व्याख्या करूँ, तो एक वाक्य में– समन्वय, सन्तुलन और उसकी साधना– केन्द्रीय विचार बनेगा। कई बार असहमत होने के बावजूद, मैं जोर देकर कहना चाहूँगी कि बहुत सारा लेखन भाई-भतीजों, विद्यार्थियों को रचने-गढ़ने और व्यवस्थित करने में लगा। यह उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू था। यह अलग बात है कि इस सारे कर्म में 'कबीरा आप ठगाईए, और न ठगिए कोय' या मुक्तिबोध के शब्दों में– 'अपने को दिए-दिए फिरता हूँ' और इसमें बार-बार ठगा जाता हूँ'– ही जीवन का प्रतिफल था। देना या छोड़ देना– जैसे उनका प्रिय खेल था। लेकिन बिना किसी तनाव के, सन्तुलन और समन्वय के साथ। मेरे लिए २१वीं शताब्दी की हिन्दी भाषा में एक इन्सान के पूरे जीवन में निरन्तर ठगे जाने की अनवरत प्रक्रिया और उसमें सन्तुलन बनाये रखने के अभूतपूर्व कौशल के लिए कोई ठीक-ठाक शब्द नहीं है– जिसका मैं यहाँ प्रयोग करूँ, क्योंकि कोई भी शब्द उनकी सहजता-सादगी-समन्वय-साधारणता के भाव को व्यञ्जित नहीं करते, बल्कि उनको कुछ महान, बड़ा और देवत्व की ओर ढकेल देते हैं।

पिता सबसे ज्यादा आकर्षक तब लगते, जब उनके ठगे जाने के बाद 'मन में बैठा मूर्ख चित्त मत्त' हो रहा होता था। अम्मा बताती थीं और वे हँसते थे। फिर बैठ जाते थे– अगले दिन ठगाने के लिए– तत्पर और तैयार। अपना स्नेह भौतिक और आध्यात्मिक– दोनों रूपों में लुटा देने के बाद प्राप्तकर्ता के मुँह फेर लेने पर शायद ही कभी उनको मैंने विचलित देखा। प्रसंग आने पर इधर-उधर टाल देने की कला उन्हें खूब आती थी। शायद वे हम लोगों या प्रश्नकर्ता को नहीं, अपने को भी टाल देना चाहते थे।

साहित्य की राजनीति और उसकी गुट-गिरोह-पार्टीबन्दी की रणनीति और रणकौशल न उनसे सधा, न उसे वे कभी साधने गये। विद्वानों की दारू-पार्टियों में उनकी निन्दा कब हुई और कितनी पूजा हुई या मूर्खता पर चर्चा– न इसकी उनको परवाह थी, न उसमें कभी ध्यान दिया। हाँ, अपनी बैठक को निन्दारस से कभी कलुषित नहीं होने दिया।

आज एक अभूतपूर्व तर्क या आप्त वचन प्रकट हुआ है कि जो अमेरिका के साथ नहीं है, वह लादेन के साथ है। जो हमारे साथ नहीं है, वह गलत है और पता नहीं क्या-क्या वादी है। हिन्दी के प्रतापी घरानों, श्रुतिवाचिक परम्परा या लिखत परम्परा– दोनों के पूर्व निश्चित कोरस गायन में सुर मिलाने पिता कभी नहीं गये। इस विश्वास के साथ– उनके भाव-संगीत को आज नहीं, तो कल समझा जायेगा। शायद उन्हें पता नहीं, उन्हें समझने के प्रयास के लिए आज भी घरानों की अनुमति या प्रशस्ति-पत्र की आवश्यकता है। ऐसे समय में जब साधना और बैठकबाजी, नैतिकता और पाषण्ड, निरन्तर कर्म-चिन्तन और चमचागिरी में प्रथम पद अप्रासंगिक तथा द्वितीय पद ही महत्त्वपूर्ण हो उठा है, तब ऐसे सवालों पर सोचना ही बेकार है।

भारतेन्दु ने शपथ ली थी कि 'लक्ष्मी ने मुझे खाया है, मैं इसे खाकर दिखलाऊँगा।' उन्होंने इसे सार्थक किया, लेकिन एक पीड़ा बनी रही– 'जिनका मैं सहयोग जिस रूप में करना चाहता हूँ, कर नहीं पाता।' पिता के यहाँ सहयोग के अधिकार कम होने के साथ 'अर्थी' लोग क्रमशः विदा होते गये।

वे थे, उनकी साधना थी और था कुछ करने का निरन्तर उत्साह। अपने पूरे जीवन काल में पिता जी को कभी भी हम लोगों ने सर्दी-जुकाम से अधिक अस्वस्थ होते नहीं देखा था। पहली बीमारी में जब मैं मिली, तो जैसे शब्द-अर्थ-भाष्य की प्रक्रिया में हल्का तनाव ढीला पड़ गया था। हेरिटेज हॉस्पिटल में कम लोग देखने वाले थे। वे ही, जो उनके जैसे थे या जिन्होंने उनसे यही ग्रहण किया था। उनके हाथ के स्पर्श और पहली बार उनके माथे पर मेरी हथेली, उन्हें आश्वस्त कर रही थी और मुझे भी 'घबड़ाओ नहीं, मैं ठीक हूँ। अपनी अम्मा को देखो।' धीरे-धीरे वे लौट आये बीमारी पर विजय पाकर। हम थोड़े आश्वस्त हुए कि पुन: हालत बिगड़ी। अबकी बार हम लोग आपस में बदल गये थे। 'ईदगाह' कहानी के अन्त में प्रेमचन्द लिखते हैं– 'बूढ़ी अमीना ने बच्ची अमीना और बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट अदा किया।' इस बदलाव का क्या कारण था? क्या उनकी अनुपस्थिति में मेरे काशी लौटने का योग या कुछ और? चेहरे पर हल्का तनाव और उसे छुपा लेने का प्रयास, चोरी पकड़ी जाने पर हल्के से समन्वय-साधना की मुस्कान। आज हम सारे लोग– जो उनके शिष्य हैं, मित्र हैं, बेटा हैं, बेटी हैं, स्वजन, परिजन, साहित्यिकजन हैं– मैं उनसे पिता की कृतियों के मूल्यांकन का आह्वान नहीं कर रही हूँ। मैं आपको याद दिलाना चाहती हूँ– अब यह प्रजाति दुर्लभ होती जा रही है। आज जब सब कुछ फायदे-नुकसान की गणित से आच्छादित है, तब ऐसे स्पर्श, ऐसी मुस्कान और ठगाये जाने की दुर्लभ खुशी का मोल जानने वाले कम हो गये हैं। मुझे तो पिता की यही विरासत मिली है। आप बस इसे जानिये। अपनाने के लिए निवेदन करने का साहस मुझमें नहीं है।

●

मेरे पिता जी

*डॉ. भारती सिंह**

एक महान् व्यक्तित्व, जिन्होंने हमेशा एक संघर्षमय जीवन जिया। अपने जीवन में जो कुछ भी अर्जित किया, स्वअर्जित किया। एक महान् व्यक्तित्व, सीतापुर के छोटे से ग्राम पीतपुर में भाद्रपद की अष्टमी अर्थात् श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन एक चमकते हुए सितारे के समान अवतरित हुए। इसी कारण उनका नाम वासुदेव पड़ा। सामान्य परिस्थितियों में, अभावों के बीच में, विद्यार्जन करते हुए, विकास के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रहे और एक समय ऐसा आया, जब हिन्दी साहित्याकाश में सूर्य की किरणों के समान चहुँ दिशा में प्रकाशमान हुए।

मेरे पापा ने स्वअर्जित किया और भ्रातृ-बन्धुओं में ही अपना सब कुछ दान कर दिया। विपरीत परिस्थितियों में भी अपने कुटुम्ब की जिम्मेदारियों का सहर्ष निर्वाह किया।

साहित्य-जगत् में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए अनेक अविस्मरणीय साहित्यिक रचनाएँ लिखीं। कबीर-वाणी के मान्य व्याख्याता होने के साथ उन्होंने तुलसीदास पर भी गम्भीर अध्ययन एवं लेखन किया। अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड व उत्तरकाण्ड पर भाष्य भी लिखा और अनेक जानी-मानी विभूतियों– श्रीमती इन्दिरा गाँधी, विष्णुकान्त शास्त्री, श्री चेन्नारेड्डी जैसे अनेक महानुभावों से अनेक बार सम्मानित किये गये।

साहित्य-जगत् में अपनी रचनाओं के द्वारा नई मिसाल पेश की और साहित्याकाश की नई बुलन्दियों को छुआ। वे साहित्य-जगत् के ध्रुव तारे के समान हमेशा प्रकाशमान रहेंगे।

अपने जीवन के ७३ बसन्त पार करने के बाद, २७ जनवरी २००७ को, हम लोगों को रोता-बिलखता छोड़कर, इस नश्वर संसार से विदा हो गये। वो पल मेरे जीवन का सबसे दु:खदायी पल था। मैं उस पल को कभी भी नहीं भूल सकती। वो पल मेरे अन्त:करण को असहनीय पीड़ा देता है। काश! अगर ईश्वर मुझसे कहे कि अपने जीवन का वो कौन-सा क्षण है, जो तुम चाहोगी कि वो पल रुक जाये, मैं यही कहूँगी कि काश! वो पल रुक सकता, जब मैं उनकी अस्वस्थता जानकर अस्पताल देखने गयी। जैसे ही आई.सी.यू. में दाखिल हुई और वो वही निर्मम क्षण था, जब वो हम लोगों को छोड़ कर इस संसार से विदा हो रहे थे और मैं अपने पापा के साथ दो क्षण बात भी नहीं कर पायी। वो मुझे अन्तिम क्षणों तक याद करते रहे। मैं ईश्वर के इस क्रूर मजाक को कभी भूल नहीं सकती। शायद मेरे जीवन की यही बिडम्बना है और मैं ईश्वर के और अपनी किस्मत के इस क्रूर मजाक को कभी नहीं भूल सकती।

●

* ३४७, धर्मशाला रोड, हरदोई (उ.प्र.)

क्या भूलूँ-क्या याद करूँ

*डॉ. दिनेश कुमार सिंह**

इतने महिमामय, गुरु-गम्भीर, भावुक हृदय, नारिकेल फल की भाँति ऊपर से कठोर, किन्तु भीतर से उतने ही मृदु व स्नेही पितृ तुल्य डॉ. साहब के विषय में मैं कुछ भी लिखना अत्यन्त दुरूह कार्य समझता हूँ। भाव भाषा की परिधि में समाने में असमर्थ है। मन में तमाम अनुभूतियों के उमड़ने-घुमड़ने के बावजूद उसे एकसाथ समेटकर कुछ पंक्तियों में व्यक्त करना– सूरज को दीपक दिखाना है। अति संक्षेप में; मैं उन्हें जितना व्यक्त कर सकता हूँ, वह यह कि एक अच्छे अध्यापक के रूप में उन्हें बनारस में जाना जाता है। काशी विद्यापीठ में शोध करने वाले विद्यार्थी जब बाहर शोध-निर्देशक के रूप में डॉ. साहब का नाम लेते थे, तो उनको अपने निर्देशक का नाम बताने पर गर्व की अनुभूति होती थी। मैं जब भी डॉ. साहब के पास बैठ जाता था, तो घण्टों-घण्टों सिर्फ उनको सुना करता था। इतना प्रभावशाली वक्तव्य, सिलसिलेवार तिथियों-घटनाक्रमों का बिन्दुवार विवरण, कब दोपहर से शाम, शाम से रात हो जाया करती थी, पता ही नहीं चलता था। जब वे बोलना शुरू करते, तो घण्टों-घण्टों लोग उन्हें सुना करते थे। कोई कितना भी दु:खी या परेशान हो, उनसे बात करने के बाद प्रसन्न होकर लौटता था। इतिहास, पुराण, राजनीति, साहित्य, कला और संस्कृति की इतनी सारी बातें उन्हें जबानी याद रहती थीं कि कोई एक प्रसंग छेड़ देने भर की देर होती थी कि फिर शुरू हो जाता था– विभिन्न कथाओं-घटनाओं का विवरण।

डॉ. साहब के व्यक्तित्व के विषय में यदि मुझे कुछ कहना ही है, तो संक्षेप में; मैं कहना चाहूँगा कि वे प्रबल इच्छा के दावेदार थे। अपने विद्यार्थी जीवन में कबीर की व्याख्या करने की जो इच्छा थी, उस इच्छा को उन्होंने समाप्त नहीं होने दिया और अनुकूल अवसर मिलते ही उसे क्रियान्वित किया। साथ ही; वे सम्बन्धों का निर्वाह बखूबी करते थे। अपने सभी भाईयों को, भतीजों-भतीजी को पढ़ाया- लिखाया। कोई न कोई रिश्तेदार उनके यहाँ बना ही रहता था। खाने-पीने के शौकीन होने के साथ-साथ खिलाने-पिलाने के भी शौकीन थे। आए दिन बाबू जी (प्रो. के.पी. सिंह) को अपने यहाँ बुलाकर घण्टों-घण्टों दोनों समधी लोगों में सत्संग हुआ करता था और सात्विक भोजन के बाद पुन: कब मिलेंगे– इसकी निश्चितता के बाद विदाई। मैं होता था पिता जी के साथ डॉ. साहब के सत्संग का भागीदार। संत-समागम डॉ. साहब को इतना अधिक प्रिय था कि हमेशा कभी बाबू जी, डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, डॉ. त्रिभुवन सिंह, डॉ. उदयभानु सिंह आदि से घिरे रहते। बाबू जी से तो उनका इतना लगाव था कि २००३ में उनकी मृत्यु के बाद बनारस में खुद को अकेला महसूस करने लगे। बाबू जी और डॉ. साहब का आपसी लगाव और प्रेम देखकर कभी-

* अवकाश प्राप्त आचार्य– गणित विभाग, सुभाष चन्द्र बोष राजकीय महाविद्यालय, लखनऊ

कभी मैं कह पड़ता था कि लगता है कि मेरी और श्रद्धा की कुण्डली मिलाकर शादी नहीं हुई, अपितु प्रो. के.पी. सिंह व डॉ. वासुदेव सिंह की कुण्डली मिलाई गई है– प्रेम उन दोनों का, विवाह हम दोनों का। पितृभक्ति-मातृभक्ति में तो डॉ. साहब अद्‌भुत थे ही, साथ ही; मित्र-धर्म का निर्वाह करने में भी लाजबाव थे। सन् १९५६ में यू.पी. कॉलेज में सोमेश्वर सिंह जी से पहली मुलाकात के बाद से एक बार बड़ा भाई माना, तो जीवन भर उन्हें बड़े भाई की तरह ही माना। आज भी लोग पूछते हैं कि सोमेश्वर सिंह जी से कौन-सी रिश्तेदारी है? इस भ्रातृत्व की व्याख्या करने पर लोगों को आश्चर्य होता है। ऐसा सम्बन्ध-निर्वाह बहुत कम देखने को मिलता है।

मित्र-धर्म का आजीवन निर्वाह करने वाले डॉ. साहब ने कभी भी मित्रता का लाभ निजी स्वार्थ हेतु उठाने का प्रयास नहीं किया। जब उनके मित्र आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी उ.प्र. के गवर्नर पद पर आसीन हुए, तो मैंने उनसे गवर्नर के पास बायोडाटा भेजकर कुलपति पद की दावेदारी के लिए सुझाव दिया। बाद में; मुझे अपने इस सुझाव पर शर्मिन्दा होना पड़ा, जब उन्होंने कहा कि– 'नहीं! मैं सुदामा वाली मित्रता नहीं करता।'

एक तो पिता के न रहने का दु:ख, उसके बाद पितृ तुल्य डॉ. साहब के न रहने के बाद आज मैं अपने को बिल्कुल असहाय-अकेला महसूस करता हूँ। मेरे लिए ये दोनों अपूरणीय क्षतियाँ हैं। बनारस में कहीं अब वह सत्संगति का माहौल नहीं मिल पाता। सब कुछ खाली-सा लगता है।

●

यादों के झरोखों से

प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत *

काशी! बाबा विश्वनाथ का धाम!!

वैसे तो सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड ही काशी विश्वनाथ का है, पर अभी काशी के कमण्डल में समाये कुछ अनमोल बूँदों को याद कर रहे हैं।

जीवन भी कैसा है? कभी यादों में, तो कभी बातों में जीवन्त हो जाता है और कभी यादों के झरोखों में खो जाता है।

कुछ ऐसी ही यादों का झोंका आया आज, जब भाई अनुराग जी ने 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन के विषय में बात की। अनुराग जी, जो बहुतों के लिए/ आधिकारिक तौर पर डॉ. हिमांशु शेखर सिंह हैं, पर बहुतों के लिए अपने मधुर व्यवहार, सरस संवाद और अनुरागी व्यक्तित्व के कारण अनुराग जी ही हैं। और अनुराग जी ऐसे ही अनुरागी नहीं हैं, उनमें संत कबीर के उपासक, साहित्य-साधक प्रोफेसर वासुदेव सिंह के सहज, किन्तु महाग्रन्थीय अविवेचित व्यक्तित्व के अंश अक्श बनकर उभरते हुए नजर आते हैं।

प्रोफेसर वासुदेव सिंह! साहित्य-जगत् में एक ऐसा नाम, जो बहुत सहज है, किन्तु एक ऐसे महाग्रन्थ की तरह है कि पढ़ते जाओ-पढ़ते जाओ, लेकिन उसका कोई अंत नहीं। ऊपर से हम तो ठहरे समाजशास्त्र के विद्यार्थी! साहित्य को समझ पाना भला हमारे वश की बात कैसे हो सकती है? फिर भी; मौसा जी कुछ इस तरह चर्चा करते हुए बातों में रस घोलते थे कि बस 'सुनते जाओ' - यही मन करता था। मौसा जी? हाँ! यह एक सामाजिक रिश्ता भी रसमय वार्ता का आधार रहा है हमेशा। और चर्चा कब सामाजिक से साहित्यिक और शोधपरक हो जाती थी, पता ही नहीं चलता था। आरती भाभी के हाथों बनाये-परोसे गये गरम-गरम भजिया-पकौड़े के साथ अकादमिक विमर्श और भी आनन्दमय हो जाता था। संवाद की ऊष्मा में भाप उड़ाती चाय की चुस्कियों के बाद मौसी जी के पनडब्बे का पान भानुमति के पिटारे की याद दिला देता था।

यादों में चलचित्र की तरह मचल रहा है वह दृश्य, जब हम एक शोध-संगोष्ठी में सहभागिता के लिए काशी विद्यापीठ, वाराणसी की अकादमिक यात्रा-प्रवास पर थे। अपनी आदत और उसूलों के कारण हमेशा की तरह विश्वविद्यालय के 'अतिथि गृह' में ठहरे। रात को बैग-सूटकेस सहित हमारा स्थानान्तरण, या कहें बाकायदा सांस्कृतिक अपहरण किया गया और फिर चन्दुआ छित्तूपुर स्थित 'प्रेम-सदन' में काशी-प्रवास की शेष अवधि के लिए प्रेम-पाश में। फिर दो-तीन दिन लगातार साहित्य-निर्झरिणी में खूब गोते लगाये। प्रो. वासुदेव सिंह का ज्ञान अथाह था। शोध-समीक्षा की कला अद्भुत थी। समाजविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर गहन चिन्तन और सरस प्रस्तुति कुछ इस तरह कि उनको श्रेष्ठ समाजशास्त्रियों की श्रेणी में रखा जा सकता

* आचार्य- समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)

है। वैसे भी; एक अच्छा साहित्यकार समाज का बहुत बारीकी से अध्ययन करता है। कबीर पर उनका चिन्तन-मनन इतना गहन कि हमको कबीर में एक पूरा समाजशास्त्र समझ आ जाता था और तब संवाद हमको और भी रोचक लगने लगता था। वैश्वीकरण जैसे सम्प्रत्यय/अवधारणा और उसके विभिन्न पहलुओं पर दिन में विद्यापीठ में शोध-संगोष्ठी और रात में मौसा जी के साथ उन पर गहन चिन्तन और विमर्श। सच! एक महान् शिक्षाविद् का सान्निध्य था वह। और विमर्श भी ऐसा कि हमको अपने आध्यात्मिक गुरु, जैविक पिता और सामाजिक पथ-प्रदर्शक डॉ. कैलाश सिंह राजपूत जी के साक्षात् दर्शन का भान होने लगे। मानो हम तीनों बैठकर जीवन को समझने की कोशिश कर रहे हों। श्री कैलाश सिंह राजपूत, जिनसे हमने जीवन भी पाया और जीवन जीने का आधार भी। श्री कैलाश दामोदर सिंह राजपूत, जिनकी अँगुलियाँ पकड़कर हमने आसमान को छूना सीखा और जिनकी गोद में बैठकर धरती को नापने की क्षमता पायी। उनकी सीख से जो पाया, उसके कारण ही प्रो. वासुदेव सिंह के साहित्य-संवाद को समझ पाते थे हम।

एक और वाकया याद आ रहा है, जब एक अकादमिक दायित्व का निर्वहन करने के लिए हम काशी विद्यापीठ पहुँचे। हमेशा की तरह विश्वविद्यालय अतिथि गृह में ठहरे। दिन में कार्य सम्पन्न किया और शाम को विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. सुरेन्द्र सिंह ने एक कर्मचारी को भेज कर सामान सहित हमको कुलपति-निवास में बुला लिया। प्रो. सुरेन्द्र सिंह से बहुत पुराना परिचय था। अपराधशास्त्र विषय की विभिन्न शोध-संगोष्ठियों और अधिवेशनों से होते हुए लखनऊ तक विभिन्न आधारों ने अकादमिक सम्बन्धों को इतना प्रगाढ़ बना दिया कि पारिवारिक अपनत्व से ओत-प्रोत हो गये। अब दो-तीन दिन कुलपति-आवास में सामाजिक-सांस्कृतिक अकादमिक विमर्श के बीच ढेर सारी बातें। इस पूरे प्रवास के दौरान प्रो. वासुदेव सिंह जी से हुई पिछली कई मुलाकातों और चर्चाओं की यादें मानस-पटल पर झरोखों से झाँकती रहीं। प्रो. सुरेन्द्र सिंह समाजकार्य विषय के स्थापित प्रकाण्ड विद्वान् और प्रो. वासुदेव सिंह मूर्धन्य साहित्यकारों में एक। पर इस बार एकसाथ दोनों का सान्निध्य ना मिल सका।

यादों के गलियारों में एक बार की बात और याद आ गई, जब बड़ी सहजता से प्रो. वासुदेव सिंह ने कहा था कि ''सच्चे साहित्य में हमेशा एक समाज झलकता है'', और फिर बोले- ''अपराधशास्त्र विषय में प्रो. श्यामधर सिंह का अच्छा काम है। कभी उनसे मुलाकात हुई है?'' हम कुछ कहते, इससे पहले ही उन्होंने अनुराग जी से कहा कि प्रो. श्यामधर सिंह जी से मिलवाने उनके घर ले जायें हमको। प्रो. श्यामधर सिंह पड़ोस में ही रहते थे। हम उनसे मिलने गये और अपराधशास्त्र विषय पर खूब बातें हुईं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह लगी कि प्रो. वासुदेव सिंह की सोच इतनी वृहद् थी कि सबके बारे में पूरा सोचते थे। तभी उन्होंने साहित्य और समाजशास्त्र के अलावा अपराधशास्त्र, जो कि हमारे प्रिय विषयों में एक है, उस विषय पर ज्ञान-वार्ता के लिए विद्वान् प्रोफेसर श्यामधर सिंह से मुलाकात का संयोग बनाया।

ऐसी महान् विभूति के लिए प्रकाशित होने वाले स्मृति-ग्रन्थ के लिए हम कुछ लिख सकें, यह हमारी लेखन-क्षमता से परे है। यादों के झरोखों से झाँकती ढेरों स्मृतियों की गड्ड-मड्ड होती तस्वीरों को सँवारने की कला हमारे वश में नहीं। बस, उस महान् आत्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। 'वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' और 'नमन' शोध-पत्रिका परिवार को साधुवाद देते हैं कि वे प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व को सँजोने-सहेजने का स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं।

जय काशी! जय काशीवासी!!

●

तनय मातु पितु तोषन हारा

*कुँवर दिवाकर सिंह**

शौनकादि ऋषियों की तपस्थली नैमिषारण्य क्षेत्र में सीतापुर जनपद के पीतपुर ग्राम में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन जन्मे डॉ. वासुदेव सिंह (मेरे पूज्य बहनोई साहब) के बारे में गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति– **''तनय मातु पितु तोषन हारा। दुर्लभ सकल जननि संसारा।।''** उतनी ही उचित है, जितनी कि उनकी अपनी सन्तानों के प्रति।

बहनोई साहब अपने माता-पिता की सेवा नि:स्वार्थ भाव से करते थे तथा उन्हें भी अपने इस होनहार लाडले पर गर्व होता था। हो भी क्यों न? सपूत जो ठहरे। डॉ. साहब के पुत्रद्वय सुधांशु व हिमांशु भी सच्चे मायने में सपूत हैं। आज के 'गुटखा-पाउच युग' में इने-गिने परिवार के ही लड़के इस महारोग से विरत हैं। डॉ. साहब तो पान भी खाते थे, लेकिन धन्य हैं उनकी सन्तानें– दोनों पुत्र व दोनों पुत्रियाँ पान तक नहीं खाती हैं– पर्व-त्योहार पर भी नहीं। बिरला ही होगा ऐसा घर।

लक्ष्मी व सरस्वती का मणि-कांचन योग बहुत कम देखने को मिलता है, लेकिन इस परिवार में दोनों का संगम देखते ही बनता है। सुयश तो बोनस में है।

डॉ. साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। बहुधा विलक्षण विद्वानों में सांसारिक-व्यावहारिक बुद्धि की न्यूनता होती है, पर डॉ. साहब में ऐसा नहीं था। छित्तूपुर में उनके निवास को देखकर यही लगता है कि किसी कुशल इन्जीनियर की देख-रेख में इसका निर्माण हुआ होगा। आलमारियाँ, खिड़कियाँ, दरवाजे भोजनालय, शयन गृह आदि सब समुचित स्थल पर ही बने हैं।

शादी-ब्याह के अवसर पर परिवार का मुखिया भाग-दौड़ में ही व्यस्त रहता है। मैंने बहनोई साहब को उक्त अवसरों पर कभी अपने कमरे से बाहर कदम रखते नहीं देखा। बैठक से ही अपने भाइयों-शिष्यों को निर्देशित करते। इनमें से कौन-सा व्यक्ति किस प्रकार के कार्य के लिए उपयुक्त है– यह पहचानना उनकी अपनी विशिष्टता थी।

अंग्रेजी भाषा का भी आपको आधिकारिक ज्ञान था। संस्कृत भाषा पर भी आप एकबार लखीमपुर में अपने गुरु डॉ. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी से बहस कर बैठे थे। अन्त में बात आपकी ही सही निकली–उन्होंने भी अन्तत: स्वीकारा। तब मैं कक्षा १० का छात्र था।

डॉ. साहब किशोरावस्था से ही शारीरिक सौष्ठव के धनी थे। मुझे आज भी याद है कि एक भारी-भरकम लाठी (मुग्दर) गाँव में इनके अतिरिक्त केवल एक ही अन्य व्यक्ति कलाई के बल पर उठा पाता

* अवकाश प्राप्त प्रवक्ता– अंग्रेजी, गाँधी इण्टर कॉलेज, सिधौली, सीतापुर

था। स्वास्थ्य-लाभ के लिए मुग्दर चलाते हुए सन् १९५७-५९ ई. में (मैं इण्टर का छात्र था) विस्फारित नेत्रों से उनकी भुजाओं को निहारा करता था।

'सादा जीवन-उच्च विचार'– गाँधी जी की यह विचारधारा उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी थी। घर मानों एक पुस्तकालय था। दुर्लभ पुस्तकें पाकर मैं घण्टों उन्हें पढ़ा करता था। वहाँ से घर लौटने का मन ही नहीं करता। डॉ. साहब जीवनपर्यन्त स्वस्थ बने रहे, केवल अंतिम ७-८ माह में अस्वस्थ हो गये। अवस्था होने पर भी कठोर परिश्रम करते रहे–शायद यही उनके अन्त का कारण बना।

जब बहनोई साहब ने अन्तिम साँस ली, उस समय मैं तीर्थ-यात्रा पर आंध्रप्रदेश में था। दूरभाष पर सूचना मिलते ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। इतनी दूरी से न आते बनता था, न शेष अग्रिम यात्रा का ही अब आनन्द रह गया था। हाँ, इतना सन्तोष अवश्य था कि एक सप्ताह पूर्व ही बनारस से जाते समय मैं सपत्नीक उनका दर्शन करके, आशीर्वाद लेकर गया था।

कितने उदारमना थे बहनोई साहब। जाते-जाते भी नेत्र-दान कर दो लोगों के जीवन में ज्योति देकर यह दिव्य ज्योति अनन्त में विलीन हो गई। धन्य है उनका पुरुषार्थ और परोपकार।

माँ सदृशा मेरी पूजनीया बहिनजी को व मुझे भी यह देखकर हार्दिक आत्मिक तुष्टि होती है कि उनकी सन्तानें उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलकर, यश और धन अर्जित करते हुये, उनका नाम रोशन कर रही हैं। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है–

चार पदारथ करतल ताके।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ।।

शील व रूप का, गुण और सौन्दर्य का, कर्म और भाग्य का तथा धन और विद्या का ऐसा अद्‌भुत संगम विरले ही परिवारों में दृष्टिगत होता है।

पूज्य बहनोई साहब को शत्-शत् प्रणाम।

●

चतुर्थ सोपान
संस्मरण

ऐसे थे वासुदेव सिंह

*संत विवेकदास आचार्य**

गहरे पानी पैठकर किये गये अध्ययन की आभा यदि हमेशा नहीं, तो कभी-कभार व्यक्तित्त्व पर भी दीप्त हो उठती है। डॉ. वासुदेव सिंह के मामले में तो कम से कम ऐसा ही है। हिन्दी-भाषा और साहित्य पर तो उनकी पकड़ थी ही, प्राध्यापन के गौरी-शंकर को तो संस्पर्श किया ही उन्होंने, लेकिन उनकी विशेषज्ञता का सेज रहा है– प्रतीक विधान। हिन्दी साहित्य में इसकी प्रवृत्तिमूलक और उसकी अन्विति के रंगांगों के क्षेत्र में उनकी पारदर्शी समझ और अध्ययनशीलता के कारण चन्द शिखर विद्वानों में उनकी गिनती की जाती रही है। विशेषकर कविता में प्रयुक्त प्रतीक विधान का उन जैसा विशेषज्ञ उनके दौर में मिलना आसान नहीं। शायद इसलिए भी नहीं कि प्रतीकों के भँवर में उतरने के लिए जिस पानी-पानी हृदय और जिस पैनी दृष्टि के साथ ही अनुशीलन के जिस विजन की आवश्यकता पड़ती है, वह उनका स्वभाव भी रहा है और इतिहास भी।

हार्दिक तरलता, एकटक अवलोकन, सैद्धान्तिक संतति– तीनों परस्पर विरोधी चाहे न हों, लेकिन सधने-साधने के स्तर पर असम्भावना की सीमा तक दुष्कर अवश्य हैं। इस दौष्कार्य को साध पाये थे वे, इसीलिए अध्येता-अध्यापक के रूप में बहुत हद तक असम्भावनओं को भी साध पाए थे। धरती से जुड़ी आम भारतीय पृष्ठभूमि से निकलकर आने के बावजूद उन्होंने प्रखर पाण्डित्य की राजधानी में जिस तरह अपनी प्रतिभा के लोहे पर इस अर्थ में जंक नहीं लगने दी कि उनका लोहा भी माना जाता रहा– वह इसी का सबूत है।

पानी की तरह ही तरल था उनका हृदय– इतना कि पंक्ति के आखिरी आदमी के रूप में खड़े होने पर भी उनकी विनम्रता को कभी एतराज नहीं हुआ। इसीलिए तब भी उनके माथे पर चिंता की रेखाएँ, न कभी मैंने और न कभी उनके करीबी सहयोगियों ने देखीं, जब उनके जैसे अध्येता-प्राध्यापक से प्रवेश-परीक्षा सम्बन्धी लिपिक तुल्य कार्य कराया जाता था। नाम उनका वासुदेव था, जिसे उनकी विनम्रता ने चरितार्थ भी किया था। विद्यापीठ के गलियारों में उन दिनों चर्चा आम रही कि युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में जिस तरह द्वापर के वासुदेव कृष्ण को आगन्तुकों के चरण पखारने से भी गुरेज नहीं था, उसी तरह कलियुग के इस वासुदेव सिंह को भी समर्थ शिक्षक होने के बावजूद 'प्रवेश अधिकारी' की अदनी जिम्मेदारी, अतिरिक्त रूप से सम्भालने में भी, कभी आपत्ति न हुई। इसे लेकर मेरे उनके बीच जब-तब विनोदी छेड़-छाड़ भी हो जाती थी। द्वापर हो या कलियुग, वासुदेव की भूमिका कभी बदलती नहीं... हाँ! बस इतना कि द्वापर का गोपालक कृष्ण कलियुग आते-आते सिंह बन जाता है, कलियुग का शायद यही असर है।

* महन्त मूलगादी– कबीरचौरा मठ, वाराणसी

संकेतों के लक्ष्य को समझ तो खूब जाते थे वे, किन्तु उसके विनोद-भाव पर बस मुस्कुराते रहते और कहते कि 'महाराज! नामों के जरिये समय-यात्रा की ऐसी मीमांसा सीखते कहाँ से हैं आप लोग?' मैं छूटते ही बताता– 'आप ही जैसे शिक्षकों से।'

उनकी ऐसी विनम्रता का कभी-कभी गलत भी अर्थ लगाया जाता रहा। हालाँकि उनको इसकी परवाह नहीं थी, क्योंकि एक अक्खड़ सन्त भी बसता था उनके मन-मिजाज में। बसे भी आखिर क्यों न? सन्त-साहित्य पर काम जो करते थे वे। मगर उनकी इस नैसर्गिक अक्खड़ी के चलते उन्हें अक्सर बद्दिमाग और रूखा भी समझ लिया जाता था। रूक्षता की अपनी बाहरी छवि की खोल के भीतर विनम्रता की आचरण तक में उतरी कैसी कोमलता थी उनके व्यक्तित्व में, इसका पहली बार पता मुझे तब चला, जब ठाकुर जयदेव सिंह के सिद्धगिरी बाग वाले आवास पर उनसे मैं मिला था। वासुदेव जी से यह मेरी पहली मुलाकात थी। तब तक वे हिन्दी के स्वनामधन्य अध्येता-प्राध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, जबकि मैं कबीरचौरा मठ का एक सामान्य साधु, किन्तु अपनी अदम्य सक्रियता के लिए खासा चर्चित भी। एक बारगी तो मुझे भी यह देखकर झटका लगा कि उनके जैसा वरिष्ठ और स्थापित विद्वान् वहाँ ठाकुर जयदेव सिंह का डिक्टेशन ले रहा था। ठाकुर साहब विचारशील मुद्रा में कुछ बोलते जा रहे थे और वासुदेव जी किसी दक्ष स्टेनोग्राफर की तरह उसे खटाखट लिपिबद्ध करते जा रहे थे।

आदमी का मन शायद जन्मजात ही कुछ ग्रन्थियाँ पाले होता है, इसीलिए सोचता भी है, तो ऊँच-नीच की भाषा में ही सोचता है। मेरे मन ने भी उस दिन यही गलती की। सुन तो मैंने पहले से ही रखा था कि अपने बुढ़ापे के कारण ठाकुर साहब खुद लिख नहीं पाते हैं, इसीलिए वासुदेव जी का सहारा लेते हैं और वाणी तो ठाकुर साहब की होती है, किन्तु कलम वासुदेव जी की चलती है। अपने इस सुने की मुझे उस दिन प्रत्यक्ष पुष्टि होती दिखी। मगर जल्दी ही मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ, जब किसी एक मसले पर वासुदेव जी ने हठात् कलम रख दी और ठाकुर साहब के विचारों का प्रबल प्रतिवाद करते हुए उनसे खुलेआम बहस-मुबाहिसे पर आमादा हो गये। लिपिक-से लगते वासुदेव जी का यह सारस्वत-स्वरूप देखकर मैंने उनकी प्रतिभा को प्रणाम किया और अपने मन को कोसा कि कबीर साहब के रास्ते पर चलते हुए भी आखिर मैंने क्यों लेखकीय ऊँच-नीच की भावना अपने मन में पाल रखी। उसी दिन मुझे पता चला कि महाभारत के श्लोकों को बोल-बोलकर लिखवाने के कारण न तो वेदव्यास बड़े हो गये थे और न उन श्लोकों को सुन-सुनकर लिखते जाने की वजह से गणेश छोटे। यह वस्तुत: वासुदेव सिंह की पानी-पानी विनम्रता ही थी, जिसने उनमें प्रतिभा का समादर करने का संस्कार भरा था। लेकिन इसके बहाव में भी सत्य को हर हाल में प्रतिष्ठित करने का उनका लक्ष्य न डूब पाता था और न बह पाता था।

अपने लक्ष्य के प्रति अपलक दृष्टि सतत् टिकाए रखना वासुदेव सिंह की ऐसी खूबी थी, जिससे भी ईर्ष्या की जा सकती है। अर्जुन की एकटक निहारती आँख–उनके मनोमस्तिष्क में जन्मजात उगी हुई थी। परिस्थिति का झंझावात चाहे जैसा भी हो, उन्होंने एक बार जो ठान लिया, सो ठान लिया। फिर चाहे कितना भी कठिन परिश्रम करना पड़े और चाहे कितनी ही रातें आँखों में काटनी पड़ जाये, मगर वे कदम पीछे नहीं हटाते थे। जिस 'कबीर वाङ्मय' का उन्होंने ठाकुर जयदेव सिंह के साथ मिलकर प्रणयन किया था, उसके वैराट्य का अन्दाजा तो उन्हें था ही, मगर इस दौरान जिस विकट श्रम से उन्हें गुजरना पड़ा, वह उनके ही बूते की बात थी। तब के हम युवाओं को भी अचम्भा होता था कि कैसे वे इस दुष्कर को साध पाते

थे। उनकी जीवटता की वजह से ही 'रमैनी' जैसी जटिल और गम्भीरार्थवादी कबीरवाणी के निहितार्थ आज जन-जन के समक्ष उजागर हो सके हैं।

उन दिनों कबीरचौरा मठ में कबीर साहब और उनकी धारा के तमाम सन्तों से सम्बन्धित साहित्य का समृद्ध पुस्तकालय स्थापित करने की प्रक्रिया पुरजोर से चल रही थी और जहाँ-तहाँ से जुटा-जुटाकर बड़ी-छोटी सब तरह की पुस्तकों का संग्रह किया जा रहा था। इस सिलसिले में इतिहास के एक लम्बे दौर के दौरान देश-दुनियाँ में जो भी जैसा भी प्रकाशित हुआ था, उसे कबीरचौरा मठ तक लाया जा रहा था। कबीर साहब से सम्बन्धित साहित्य पर स्वभावत: विशेष जोर था और इस अभियान का मुखिया चूँकि मैं ही था, इसीलिए नयी-पुरानी ऐसी तमाम पुस्तकों और उनकी गुणवत्ता से गुजरने का मुझे सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

इसी दौरान मैंने जाना कि कबीर साहब से सम्बन्धित साहित्य को रचनाकाल की दृष्टि से तीन प्रमुख चरणों में बाँटा जा सकता है। आजादी से पहले भी कबीर-साहित्य पर आधुनिक ढंग-ढर्रे से विचार करती पुस्तकों की रचना की जा रही थी– यह पहला चरण था, जिसको मोहन सिंह, वेस्टकॉट, अहमद शाह पादरी, भण्डारकर, ठाकुर रवीन्द्रनाथ, क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानों ने अपनी प्रतिभा से समृद्ध किया और जिसके बूते कबीर-साहित्य पर गम्भीर अनुशीलन के उस स्वर्णिम दूसरे चरण की नींव पड़ी, जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. परशुराम चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, रामरवन भटनागर, रामचन्द्र शुक्ल सरीखे सरस्वती-साधकों का ऐसा सघन सान्निध्य मिला कि कबीर की धूम विश्वविद्यालयों की कक्षाओं तक सिर चढ़कर बोलने लगी। कबीर-साहित्य पर अध्ययन-अनुशीलन का यह तीसरा दौर इन्हीं विश्वविद्यालयों में पलकर सामने आया और शोध-प्रबन्धों की ऐसी झड़ी लग गयी कि उनके पुस्तकाकार प्रकाशनों की ढेर में पूर्व चरण की स्वर्णिम आभा तो हालाँकि छिप गयी, मगर इस तीसरे चरण के दौरान कबीर पर नाना कोटि की पुस्तकों के विपुल प्रकाशन ने कबीर को अध्ययन-अध्यापन का मानों युगीन फैशन ही बना दिया। इस दौर के अध्येताओं की सूची यद्यपि लम्बी है, फिर भी; इनमें प्रमुख हैं– सरनाम सिंह शर्मा, माताबदल जायसवाल, जगदीश गुप्त, नजीर मोहम्मद, भगवत प्रसाद मिश्र, सावित्री शुक्ल, राजदेव सिंह, शुकदेव सिंह, रामचन्द्र तिवारी, जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह आदि।

इन तीनों चरणों की केन्द्रीय प्रवृत्ति भी अपने-अपने हिसाब से अलग-अलग है। पहला चरण जहाँ कबीर-साहित्य पर अनुशीलन का सूत्रपात करता है, वहीं दूसरे चरण में दायरा तो हालाँकि फैला, मगर नदी में आयी उस बाढ़ की तरह, जिसमें पानी सतह पर ही दूर तक पसर जाता है। तीसरे चरण में भी प्रकाशित पुस्तकों की संख्या शोध-प्रबन्धों की तरह ही हालाँकि विपुल थी, मगर गुणवत्ता तब तक छीजने भी लगी थी। ठाकुर जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह के संयुक्त प्रयास से प्रणीत 'कबीर वाङ्मय' तीसरे दौर की इसी क्षरण-अवधि का होने के बावजूद अपने निर्धारित मूल्यों और मानकों के प्रति आग्रहीत दिखती है और दर्शन के अदृश्यों की ओर कुछ नये वातायन भी खोलती है।

आग्रहों का तकाजा अपनी कुल बेहतरी के बावजूद कबीर वाङ्मय में भी हालाँकि जहाँ-तहाँ बुदबुदा रहा है, जिस पर आपत्तियाँ भी उठायी गयीं, मगर उसके रचनाकारों की निष्ठा पर सन्देह इसलिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे सूचनाओं का टोटा जी रहे थे। उनकी गलती, उनकी नियत की नहीं, बल्कि प्रमाद की है कि हाथी के पाँव या सूँड़ को ही वे पूरा हाथी मान बैठे थे और मिली सूचनाओं या पाठ को सत्य-तथ्य की कसनी पर कसने से चूकते रहे। सदाफलदेव की जिस 'बीजक टीका' को आधार रूप में ग्रहण किया, उन्होंने उसकी बातों का फल क्या होगा और वह सदा टिकेगा या नहीं– इसकी छानबीन उनका

कभी सन्दर्भ नहीं बना। इसलिए विद्यापीठों में तो उनके कबीर वाङ्मय का समुचित प्रसार हुआ, किन्तु कबीर-पीठों में अमूमन द्वार से ही विदा कर दिया गया। मैंने खुद कम से कम तीन बार वासुदेव सिंह और दो बार ठाकुर जयदेव सिंह से व्यक्तिगत रूप से मिलकर इसकी ओर उनका ध्यानाकर्षण भी कराया था, लेकिन लक्ष्य शायद उनका कबीरमठ के साधु नहीं, बल्कि विद्यापीठ के छात्र थे। यही शायद उनके प्रकाशक पुरुषोत्तम दास मोदी के व्यावसायिक तकाजे के अनुरूप भी था, तभी तो रमैनी पर गहन विवेचना के बाद 'कबीर वाङ्मय' में आगे के विमर्श उथलाते चले गये। व्यावसायिकता को दरकिनार करते हुए वासुदेव सिंह से जब यह जानना चाहा कि बीजक के प्रामाणिक पाठों वाली तमाम टीकाओं के रहते हुए भी आखिर क्यों उन्होंने सदाफलदेव की उस टीका को आधार माना, जो न केवल साधुओं, बल्कि कबीर-मर्मज्ञों के बीच भी स्वीकृत नहीं है और जिसमें कबीर साहब की अपनी वाणी तक में हेर-फेर करके 'रामनाम' की जगह 'सत्यनाम' घुसपैठ करायी गयी–वासुदेव सिंह की सहृदयता और न्यायप्रियता ऐसी कि उन्होंने हम सन्तों की इस आपत्ति को गम्भीर माना और इसके विभिन्न पहलुओं पर ठाकुर जयदेव सिंह से करीब एक पखवारे तक अमूमन रोज ही जमकर बहस की। किसी अदालती कार्रवाई की तरह इन बहसों की खबरें भी रोज हम तक पहुँचतीं और हम अगली बहस के लिए तर्कों के तीर-तरकस में सँजोते। आखिरकार दोनों ही विद्वानों ने अपनी भूल का अहसास किया और माना कि सदाफलदेव ने निहित स्वार्थ से काम लिया है। दोनों ही लोग अगले संस्करण में इस भूल को सुधारने के लिए संकल्पित थे और मोदी जी को इस बाबत खबर भी कर दी थी।

वासुदेव सिंह का संकल्प रचनाशीलता और प्रस्तुति के प्रति हमेशा बेहतरी का रहा है। वे इस पर सदा बल देते रहे कि छात्रों को पढ़ाया तो बेहतरीन और यथासम्भव प्रभावी ढंग से जाना ही चाहिए, साथ ही; लिखा भी सदा अधिकतम सम्भव रूप से सर्वश्रेष्ठ ही जाना चाहिए। श्रेष्ठतम का उनका यह आग्रह अपनी राह से न किसी रोड़े को बरदाश्त कर पाता था और न किसी समझौते के लिए राजी ही।

कोई रचना अथवा कोई प्रस्तुति उनकी प्रिय चाहे जितनी हो, किन्तु यदि उससे बेहतर सामग्री उन्हें समय रहते दिख-मिल जाये, तो अपनी चाहत का गला घोंट कर भी उसे अपनाने में उन्हें संकोच न होता था। इस तरह के दसियों वाकियों का गवाह मैं खुद रहा हूँ। लेकिन यहाँ, जिस एक घटना का मैं जिक्र करना चाहूँगा, उसका महत्त्व इसलिए अधिक है, क्योंकि उसके दौरान बेहतरी के उनके इस अदम्य आग्रह की कुल्हाड़ी खुद उनके पाँव पर आ गिरी थी। हुआ यह था कि 'कबीर साहब' के सम्पादन के समय उनसे भी एक विशिष्ट आलेख लिखवाया गया था, जिसका विषय-क्षेत्र वही प्रतीक विधान था, जिसके कि देश भर में वह अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। प्रतीक विधान पर उनका अध्ययन चूँकि गहरे से गहरा था और कबीर का निहितार्थ भी चूँकि उनके जेहन में गूँज रहा था, अतएव जैसी आशा और अपेक्षा भी थी, उसका आलेख उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप ही निकला। 'कबीर साहब' के सम्पादन के दौरान शुकदेव सिंह का कबीरचौरा मठ लगातार आना-जाना होता रहा और वासुदेव जी भी चूँकि उन्हीं के मित्र थे, इसलिए वे भी, निरन्तर प्रत्यक्ष सम्पर्क में बने ही रहते थे। विभिन्न विषयों पर दूर-दराज तक के अधिकारी विद्वानों के आलेखों की उन दिनों आवक बनी रहती और उनके नीर-क्षीर-विवेक की सतत् चलती चर्चाओं में वासुदेव जी भी नहीं रोज, तो गाहे-बगाहे के एक स्थायी समालोचक रहे। इसी दौरान, एक दिन उनकी नज़र कबीर-काव्य में प्रतीक विधान पर आये एक लेख पर पड़ी, जिसे जोधपुर विश्वविद्यालय के डॉ. नित्यानंद शर्मा ने लिखा था। इस लेख का विषय चूँकि

उनकी अपनी विशेषज्ञता वाले क्षेत्र से सम्बन्धित था, इसलिए वे उसे एक ही बैठक में तत्काल पूरा पढ़ गये। उनके जैसे जौहरी को हीरे की परख करते देर न लगी। उनका अभिमत था कि डॉ. शर्मा का लेख उनके अपने आलेख की तुलना में कहीं अधिक तलस्पर्शी है। बस, फिर क्या था! वासुदेव जी की कुल्हाड़ी उनके अपने ही खिलाफ तन गयी। उस दिन से शुरू करके जिस दिन कबीर साहब की पाण्डुलिपि प्रेस को भेजी गयी, तब तक वासुदेव जी का आग्रह अब इस बात पर होने लगा कि उनके बजाय डॉ. शर्मा का लेख ही छापा जाय। मगर शुकदेव सिंह पहले दरजे के चुहलबाज थे। वे वासुदेव जी को गंगाजली उठाने जैसी मुद्रा में निरन्तर भरोसा दिलाते रहे कि 'कबीर साहब' में लेख छप तो उन्हीं का रहा है। इधर वासुदेव सिंह का आग्रह अपनी जगह बदस्तूर जारी रहा कि मेरा लेख कृपया न छापें, क्योंकि मुझसे बेहतर लेख उपलब्ध है और उधर शुकदेव सिंह भी अपने छद्म आश्वासन पर अटल दिखते कि लेख तो आप का ही छप रहा है, क्योंकि प्रतीक विधान को आप से बेहतर समझने की ख्याति भला और किसी की कहाँ? ऊहापोह की इसी रस्साकशी में 'कबीर साहब' की प्रतियाँ छप कर आयीं। वासुदेव सिंह ने बड़े उत्साह से एक प्रति उठायी। उनकी आँखों में तब वैसी ही चमक थी, जैसी कि किसी नये लेखक को अपना नाम छपा देखने के लिए होती है। मगर उनकी चमक इसलिए थी कि वे अपना लेख छपा न देखें। उनके आग्रह का सम्मान करते हुए 'कबीर साहब' में उनका आलेख प्रकाशित नहीं किया गया था– हालाँकि शुकदेव सिंह की विनोदप्रिय छेड़-छाड़ ने उनका आलेख उन्हें तब तक लौटाया भी नहीं था और उन्हें अँधेरे में रखे भी रहा। जीवन में पहली बार उस दिन मैंने वासुदेव जी के रूप में एक ऐसा लेखक देखा था, जो अपना लिखा छपा न देखकर खुश था। उसी दिन पहली बार जाना मैंने कि अपने ही सिद्धान्तों की कुल्हाड़ी जब अपने ही पाँव पर गिरती है, तब पीड़ा नहीं, बल्कि प्रसन्नता होती है। बाद में, उनका आलेख उन्हें ससम्मान लौटा दिया गया, जो तुरन्त ही नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में प्रकाशित होकर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित भी हुआ।

सिद्धान्तवादी भी वे अपने ढंग के अनूठे रहे। उनकी नजर में जो ठीक नहीं था, उसे करने के लिए वे कभी राजी नहीं हुए। सम्बन्ध रहे या खटास में पड़े, सिद्धान्तों की अपनी राह से विरत होना चाहे उन्हें कितना भी भारी पड़े, मगर इसकी उन्हें चिन्ता न हुई। वे टूटना स्वीकार कर सकते थे, लेकिन अपने उसूलों के लिए झुकना नहीं, क्योंकि वामिक़ जौनपुरी के इस मशहूर शेर को जीते थे वे कि–

''आहन नहीं कि चाहिए जब मोड़ दीजिये,
शीशा हूँ मुड़ तो सकता नहीं, तोड़ दीजिये।''

उनकी सिद्धान्तवादिता उनके व्यक्तित्त्व को अक्सर आहन यानी लोहे के रूप में स्थापित करती रही है, लेकिन मैंने देखा है उनके व्यक्तित्व का शीशापन भी। सिद्धान्तों के इस्पात के बावजूद उनमें मूल्यों और भवितव्यता की शुचिता की हमेशा फिक्र रही, गोया कि वह कोई शीशा हो, जो जरा-सी थपक में चिटक जाएगा। बात कोई तब की है, जब वे काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में प्रवेश-प्रभारी थे। कबीरचौरा मठ का एक साधु सत्यनाम दास वहाँ एम.ए. में दाखिला लेना चाहता था, लेकिन मुश्किल यह थी कि स्नातक परीक्षा में उसने इतने कम अंक प्राप्त किये थे कि फेल होते-होते बाल-बाल ही बचा था। अपनी हर कोशिश से हारकर वह मेरे पास आया था कि मैं वासुदेव सिंह से कहकर उसका वहाँ दाखिला करा दूँ। वासुदेव जी से मेरा आत्मीय सम्बन्ध तब तक लोगों की जानकारी में आ चुका था और एक कर्मठ कबीर वैरागी होने के कारण वे मुझे उन दिनों सम्मान भी देते थे।

सत्यनाम दास को लेकर मैं एक सुबह उनके घर गया, सारी बात कही और दाखिले के लिए आग्रह

किया। वासुदेव जी ने मुझसे कहा कि– 'मैं आपका सम्मान करता हूँ, लेकिन उसके लिए अपने उसूलों का गला नहीं घोंट सकता। ऐसे गदाई छात्र को प्रवेश देने का अर्थ होगा किसी योग्य छात्र का हक़ मारना। उनका तर्क मेरी समझ में तो आया, किन्तु प्रवेशाकांक्षी साधु के चेहरे पर गहराती हताशा को देखकर मैंने एक बार फिर उनसे इसरार किया कि आखिर कोई तो रास्ता निकालिए। मगर उन्होंने कहा– 'रास्ते तो हजार हो सकते हैं और अपने जमीर को यदि मार दूँ, तो वे खुल भी सकते हैं, लेकिन ऐसा एक रास्ता अगर खुलेगा, तो हमारे राष्ट्रीय भविष्य के लिए लाखों रास्ते बंद हो जायेंगे। अपात्रों को अवसर देकर विद्यापीठ की जो हेठी होगी, वह तो होगी ही, किन्तु उससे कहीं अधिक क्षति स्वयं विद्या की होगी। हिन्दी भी ऐसे अपात्रों से भला क्या उम्मीद कर सकेगी, जो उसकी मान-मर्यादा की भी रक्षा नहीं कर सकते? ऐसे अपात्रों को आज बढ़ावा देना, दरअसल; समाज, भाषा और राष्ट्र के भविष्य को विनष्ट करना है।'

वासुदेव सिंह के घर से उस दिन मैं तो खाली हाथ लौटा था, मगर उनकी आवाज़ में मैंने वह भर्राहट सुनी थी, मानो उनका अपना घर-परिवार ही आशंकाओं की गर्त में डूबा जा रहा हो। इतने गहरे थे उनके सिद्धान्त और इतना व्यापक था उनके मूल्यों का दायरा, जो देश-काल से भी सीमातीत था। वे प्रतीक विधान के अधिकारी विद्वान् ही नहीं थे, बल्कि मैंने देखा है कि उनका व्यक्तित्त्व भी प्रतीकों से ही निर्मित था। सामाजिक आस्था और संस्कृति के तमाम प्रतीक उनकी चेतना के हिस्से थे। प्रतीक विधान के गहन अध्ययन की आभा उनके व्यक्तित्त्व के हर रंग में दीप्त थी।

●

संत प्रकृति के थे प्रो. वासुदेव सिंह

प्रो. यू. पी. सिंह*

प्रो. के.पी. सिंह (विभागाध्यक्ष– गणित, का.हि.वि.वि.) मेरे समधी ही नहीं, मेरे गुरु भी रहे हैं और उनके समधी हैं– प्रो. वासुदेव सिंह। इस नाते मैं भी उनका रिश्तेदार हूँ। रिश्तेदारी का स्नेह तो डॉ. साहब के साथ था ही, किन्तु इस रिश्तेदारी के अतिरिक्त मेरा उनसे एक विद्वान् का सम्बन्ध भी था। जब मैं गोरखपुर विश्वविद्यालय में गणित विभागाध्यक्ष था, तो वहाँ भी डॉ. साहब प्राय: हिन्दी के विभिन्न सेमिनारों, संगोष्ठियों में आया करते थे। डॉ. साहब के प्रभावशाली वक्तव्यों से मैं (हिन्दी विषय का न होते हुए भी) अत्यन्त प्रभावित रहता था। गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में भी डॉ. साहब का नाम अत्यन्त आदर से लिया जाता था। जब मैं पूर्वांचल विश्वविद्यालय का कुलपति बना, तो वहाँ जाकर भी मैंने देखा कि हिन्दी विभाग में डॉ. साहब का प्रभावशाली व्यक्तित्व अपना विस्तार किए हुए है। कुलपति होने के बाद मेरी कई बार डॉ. साहब से मुलाकात हुई। मैं डॉ. साहब के घर भी गया हूँ। अपने विषय के पारंगत विद्वान् होते हुए भी डॉ. साहब के स्वभाव में अत्यन्त उदारता व सहजता विद्यमान थी। डॉ. साहब का हर काम समय से होता था, नियम-कानून के सख्त पाबन्द थे। मैं उनके विषय से सम्बद्ध नहीं था, फिर भी; उनका मुझसे आत्मिक लगाव था। डॉ. साहब जब भी जौनपुर आते थे, तो वहाँ मेरे एकेडेमिक कार्यों में भी सहयोग किया करते। मुझे उनसे हमेशा भाई-सा स्नेह प्राप्त हुआ।

सारांशत:, डॉ. साहब इन्सानियत की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय थे। सम्भवत: उनके हृदय की ही उदारता थी कि उनका बाह्य भी उदार था। लम्बी-छरहरी काया के स्वामी डॉ. साहब प्रसाद की इन पंक्तियों की प्रतिमूर्ति-से थे–

'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त।'

डॉ. साहब ने न केवल संत साहित्य पर गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन किया था, बल्कि स्वयं भी संत प्रकृति के थे। निष्काम कर्मयोगी-सा उनका जीवन, निश्चय ही; अनुकरणीय और वन्दनीय है।

●

* पूर्व कुलपति– वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

प्रो. वासुदेव सिंह : एक आदर्श अध्यापक

*प्रो. शरत कुमार सिंह**

प्रो. वासुदेव सिंह मेरे समकालीन थे। हम लोगों को बहुत जल्दी छोड़कर चले गये। उनकी मृत्यु से मेरी व्यक्तिगत हानि हुई। काशी विद्यापीठ की समस्याओं पर उनसे अक्सर बातचीत होती थी। विद्यापीठ की स्थिति से हम दोनों चिंतित थे और समाधान ढूँढ़ने का प्रयास करते रहते थे। वे और स्व. प्रो. रामकुमार त्रिपाठी (पूर्व कुलपति, काशी विद्यापीठ) मेरे पिताजी के पास अक्सर साथ-साथ आया करते थे। उनसे भी ये लोग विद्यापीठ की समस्याओं पर वार्ता करते थे। उस समय मेरे पिताजी, (आचार्य बीरबल सिंह) विद्यापीठ के कुलपति थे। वे इन दोनों व्यक्तियों पर बहुत विश्वास करते थे और इन लोगों की बात को ध्यान से सुनते थे। मेरे परिवार से प्रो. सिंह की बहुत निकटता थी। एक निकट के व्यक्ति के स्थायी अभाव से बहुत कष्ट होता है।

प्रो. वासुदेव सिंह एक आदर्श अध्यापक और हिन्दी के अच्छे लेखक थे। उनकी सन्त साहित्य में बहुत अच्छी पैठ थी। उनका स्व. डॉ. जयदेव सिंह से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों व्यक्तियों ने मिलकर कबीरदास पर पुस्तकें लिखी हैं, जो इन लोगों की हिन्दी साहित्य को एक अमूल्य देन है। मैं भी डॉ. जयदेव सिंह से मिलने अक्सर जाता था। वे प्रो. सिंह की मेहनत और लगन की बहुत प्रशंसा करते थे।

प्रो. वासुदेव सिंह और मेरे राजनैतिक विचारों में मतभेद था। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थक थे और मेरे विचार समाजवादी हैं। हम लोगों में कभी-कभी राजनैतिक समस्याओं पर बहस होती थी। विचारों में भिन्नता होने पर भी हम लोगों की बहस में कभी कटुता नहीं उत्पन्न होती थी।

प्रो. वासुदेव सिंह प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। मुझे अक्सर उनकी याद आती है। मैं उनकी पुण्यतिथि पर अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

●

* पूर्व कुलपति– वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर तथा
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– समाजशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

एक कर्मयोगी : प्रो. सिंह

प्रो. आर. पी. सिंह*

प्रो. वासुदेव सिंह का सान्निध्य मेरी स्मृति का सुखद अंश है। १९६३ ई. में यह चर्चा चली कि अंग्रेजी और हिन्दी विभाग में दो घनिष्ट मित्र आये हैं। वे मित्र थे प्रो. रामकुमार त्रिपाठी एवं डॉ. वासुदेव सिंह। दोनों ही अपने विषय के सहृदय विद्वान् एवं प्रभावशाली अध्यापक थे। त्रिपाठी जी की विनोदप्रियता डॉ. वासुदेव सिंह के सामने मुखर हो जाती थी, जिसका मैं प्राय: साक्षी रहता था और इन्हीं दैनिक गतिविधियों के कारण वासुदेव सिंह जी से मेरी घनिष्ठता धीरे-धीरे प्रगाढ़ होती गई। इसका एक कारण अंग्रेजी और हिन्दी विभागों का अगल-बगल होना भी था। प्राय: खाली समय में मनोरंजक साहित्य-चर्चा होती थी। वासुदेव सिंह जी भक्त कवियों के किसी प्रासंगिक उद्धरणों के माध्यम से चर्चा को गतिशील एवं सरस बना देते थे। प्रो. वासुदेव सिंह की ख्याति एक अच्छे अध्यापक के रूप में थी, जिसका एक कारण उनकी व्यापक स्मरण-शक्ति थी। अध्यापक-कक्ष में प्राय: साहित्यिक उदाहरणों द्वारा वे व्यक्तियों और समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करते थे।

प्रो. वासुदेव सिंह जी की एक विशेषता का मैं सदा प्रशंसक रहा। उनका सुबह का समय सर्वदा लेखन को समर्पित रहा। इसमें, काशी में रहते हुए, कभी भी गफलते नहीं होती थी। उनकी रचनाधर्मिता के पीछे यह अनवरत साहित्यावगाहन की आदत रही। विद्या के प्रति उनका अनुराग एवं समर्पण इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सुबह के समय वे न तो किसी से बात करना चाहते थे और न कहीं जाते थे। यदि गलती से कोई पहुँच गया, तो झट पान खिलाकर विदा कर देते थे। यदि कभी कोई आवश्यक कार्य भी होता, तो यही कहते थे कि सायंकाल आइये, तो इस पर विचार किया जायेगा अथवा यदि किसी के यहाँ चलना है, तो तभी चलेंगे। स्पष्ट था कि सुबह का समय उनके साहित्यिक अध्ययन-अभ्यास के लिये ही नियत था।

स्पष्ट है कि उनका प्रभावशाली अध्यापन एवं साहित्य-दृष्टि नियमित अध्ययन की मजबूत नींव पर आधारित थी, जिसके कारण उनके विचार स्पष्ट और तथ्यात्मक थे। इधर-उधर के शाब्दिक जाल से वे बच कर ही रहते थे। स्पष्ट विचार, स्पष्ट कथन कभी-कभी उनके उद्धत होने का संकेत करता था, हालाँकि ऐसा था नहीं। उनकी पृष्ठभूमि ग्रामीण थी, अत: वहाँ की चाल के अनुरूप सीधी बात, सीधे ढंग से कहने की उनकी आदत थी। अत्यन्त परिष्कारजन्य कृत्रिमता उनके स्वभाव का अंग नहीं था।

प्रो. वासुदेव सिंह का अभाव मेरे लिये व्यक्तिगत नुकसान है।

●

* प्राक्तन् आचार्य एवं अध्यक्ष– अंग्रेजी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

पुण्यात्मा पुरुष : प्रो. वासुदेव सिंह

*प्रो. सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा**

पुण्यतिथि! अत्यन्त छोटा यह शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। इस दिन का अपना एक विशेष महत्त्व है। इस दृष्टि से कि किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में किये गये पुण्य का प्रतिफल इस दिन देखा जा सकता है। जीवनपर्यन्त किये गये पुण्य का प्रताप इसी दिन प्रतिबिम्बत होता है।

इस सन्दर्भ में जब हम प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व का आकलन करते हैं, तो पाते हैं कि वह वास्तव में; एक पुण्यात्मा थे। सरल, सहज, निरभिमानी और बहुत कुछ अजातशत्रु। इसीलिए शिक्षा-जगत् में उनका विशेष सम्मान था। हिन्दी ही नहीं; सभी विद्यार्थियों में वन्दनीय थे।

मेरा डॉ. साहब के साथ प्रथम परिचय आदरणीय बन्धुवर प्रो. त्रिभुवन सिंह के आवास पर हुआ था। त्रिभुवन जी मेरे पड़ोसी थे और दुर्गाकुण्ड स्थित उनके पूर्व आवास पर साहित्यानुरागियों का जमघट लगा रहता था। प्रो. सिंह भी वहाँ प्राय: आते थे और साहित्यिक परिचर्चा में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते थे। वहीं पर उनकी विद्वत्ता का मैं कायल हुआ। भक्ति साहित्य पर चर्चा उन्हें विशेष प्रिय थी। रामचरित मानस प्राय: सम्पूर्ण रूप से उन्हें कण्ठस्थ था। अन्य सन्त एवं भक्त कवियों पर भी उनका असाधारण अधिकार था।

प्रो. वासुदेव सिंह का हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर समान अधिकार था। काव्य के साथ ही चाहे नाटक, कहानी, उपन्यास आदि गद्य विधाएँ हों अथवा काव्यशास्त्र या भाषाविज्ञान– सभी विषयों पर मैंने प्रो. सिंह को समान रूप से अधिकारी पाया था। प्रो. सिंह का मैं विशेष रूप से इसलिए भी सम्मान करता हूँ कि अपने अध्ययन-अध्यापन के प्रति वे एक निष्ठावान व्यक्ति थे। छात्रों की छोटी से छोटी समस्याओं का भी वे उचित प्रकार से समाधान व मार्ग-निर्देशन करते थे। विद्यार्थी-हित उनके लिए सर्वोपरि होता था।

राँची विश्वविद्यालय का कुलपति रहते हुए मैं महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के कार्य परिषद् का भी सदस्य था। प्रो. सिंह भी राज्यपाल द्वारा नामित सदस्य थे। कार्य परिषद् की विभिन्न बैठकों में मैंने देखा कि किसी भी बिन्दु पर डॉ. साहब अपनी बात बिना किसी पक्षधरता के, अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से रखते थे और इसीलिए विश्वविद्यालय-हित में कही गई उनकी बात प्राय: सभी सदस्यों द्वारा अनुमोदित कर दी जाती थी। बात को प्रभावशाली ढंग से कहने का उनका अपना एक विशेष तरीका था, जो कि किसी के लिए भी अनुकरणीय हो सकता है। बाद में, जब मैं काशी विद्यापीठ का कुलपति बना, तो विद्यापीठ के वैषम्यपूर्ण समस्याओं पर यदा-कदा प्रो. सिंह से मैं परामर्श लेता था, जिसका उनके द्वारा उचित समाधान भी सहज ही प्राप्त हो जाया करता था।

मैं ऐसे मनीषी को सादर नमन करता हूँ।

●

* पूर्व कुलपति– महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वासुदेव भाई

प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित *

अग्रजतुल्य आदरणीय प्रो. वासुदेव सिंह से मेरा नाता-रिश्ता लगभग ४०-४५ वर्ष पुराना है। वे हमारे पड़ोसी जिले के गौरव थे, हमारे विश्वविद्यालय की देन थे और कुल मिलाकर हिन्दी-जगत् के तो मान्य विद्वान् थे ही। उनके सान्निध्य में मैंने यह सीखा कि हिन्दी का प्राचीन-मध्यकालीन साहित्य, उसका इतिहास- काव्यशास्त्र और वैचारिक पक्ष अपेक्षाकृत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसका उद्धार और परिविस्तार करना हिन्दी-शिक्षकों का सर्वोपरि कर्तव्य है। प्रो. सिंह ने अपभ्रंश भाषा तथा हिन्दी जैन कवियों के रहस्यवाद पर पी-एच.डी. शोध-प्रबन्ध लिखते हुए इसी क्षेत्र को अपना प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया था। कालक्रम में संतकाव्य और कबीर-साहित्य में वे गहरे उतरे और इसके विशेषज्ञ बन गये। **'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ'**, **'कबीर काव्य कोश'**, **'कबीर काव्य का नया मूल्यांकन'** और **'कबीर ग्रन्थावली की टीका'**, विशेष रूप से **'संत काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन'** उनकी विशिष्ट उपलब्धि है।

भाई वासुदेव जी धुन के धनी थे। अद्‌भुत लगन थी उनमें। बड़ी से बड़ी शोध-योजना में मन, वचन, कर्म से जुट जाना उनका स्वभाव बन गया था। इसका उदाहरण है– पाँच खण्डों में सहसम्पादित 'राधाकृष्ण भक्त कोश', जिसमें देश की १८ भाषाओं के कृष्णभक्त कवियों का प्रामाणिक परिचय है।

कबीर पर कई विद्वानों ने लिखा है, पर प्राय: उन्हें तुलसी का प्रतिद्वन्द्वी चित्रित करते हुए। प्रो. सिंह कबीर और तुलसी– दोनों के प्रति आसक्त रहे हैं। दोनों को परस्पर पूरक और कुल मिलाकर परम प्रेरक मानते रहे हैं। उनके अनुसार–'कबीर समतावादी थे, तुलसी द्रष्टा थे और सूर सर्वोच्च स्पष्ट कवि थे।' वस्तुत: इस प्रकार की संतुलित दृष्टि आज समीक्षा-जगत् में दुर्लभ हो गयी है।

प्रो. सिंह वर्षों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के प्राधिकरणों के सम्मानित सदस्य रहे हैं। उन्होंने लगभग चार दशकों तक शिक्षण-कार्य किया। इस बीच, अपने निर्देशन में चालीस से अधिक शोधार्थियों का मार्गदर्शन किया। विद्यापीठ में उन्होंने विभागाध्यक्ष, संकायाध्यक्ष, गृहपति, कुलानुशासक आदि पदों का दायित्व निर्वाह किया और कुल मिलाकर अपना एक बहुत बड़ा मित्र-मण्डल बना लिया।

अग्रज का आतिथ्य-सत्कार मुझे कभी नहीं भूलेगा। उनका आवास वाराणसी स्टेशन के बहुत निकट था। उनके रहते कहीं अन्यत्र प्रवास करना सम्भव न था। मैंने देखा, उनके घर पर प्राय: अतिथियों की भीड़ बनी रहती थी, किन्तु असुविधा के बजाय उन्हें इसमें हर्षोल्लास का अनुभव होता था। आज उनकी अनुपस्थिति में शिक्षक आवास की ओर जाते हुए मन आहत हो उठता है।

निस्सन्देह आत्मीयता से ओत-प्रोत थे हमारे अग्रज। उनकी वार्षिकी के अवसर पर मेरी शत्-शत् श्रद्धांजलि। ●

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

मित्र के मित्र सखा बसुधा के

*सागर सिंह 'एडवोकेट'**

उदय प्रताप महाविद्यालय मेरी मातृसंस्था है और काशी विद्यापीठ मेरे जीवन के सिद्धान्त-शरणि की तपोभूमि है। इस तपस्थली में, भारत में राष्ट्रीयता से सुसज्जित लोकतांत्रिक समाजवाद का गहन चिन्तन और मनन हुआ है और वह चिंतन और मनन मेरे जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त है। ऋषितुल्य डॉ. भगवानदास जी, आचार्य नरेन्द्रदेव जी, सम्पूर्णानन्द जी की इस तपस्थली में जो लोग अपने कर्तव्यबोध से प्रेरित होकर सेवारत रहे हैं, उन सबमें उस महान् चिन्तन के स्वरूप का मुझे दर्शन होता है। यह युगल संयोग ही है कि प्रो. वासुदेव सिंह मेरी मातृसंस्था और मेरी तपस्थली काशी विद्यापीठ में अध्यापक-प्राध्यापक के रूप में कार्य किए। काशी विद्यापीठ से मेरा सम्पर्क १९४० से, आचार्य नरेन्द्रदेव जी के प्रथम दर्शन के साथ, आज तक अजस्र धारा के रूप में चला आ रहा है। आचार्य नरेन्द्र देव के उपकुलपति के कार्यकाल से लेकर आचार्य बीरबल सिंह, प्रो. राजाराम शास्त्री और रघुकुल तिलक के कार्यकाल तक विधि-परामर्शदाता के रूप में भी अविच्छिन्न रहा। वहाँ पर कार्यरत प्राध्यापकों-अध्यापकों की लम्बी कतार भी मेरी पारिवारिक संस्था के रूप में मस्तिष्क में घूमती रहती है। हिन्दी, मेरी अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रिय विषय रहा। गद्य और पद्य में मैंने हिन्दी के मंदिर में अनेक पुष्प अर्पित किए हैं। प्रो. वासुदेव सिंह वहाँ पर उदय प्रताप कॉलेज से हिन्दी के अध्यापक के बाद काशी विद्यापीठ में हिन्दी के प्रवक्ता होकर आए थे। दोनों जगह पर मैं उनकी कार्य-कुशलता का प्रत्यक्षदर्शी हूँ। मुझे यह ठीक से ज्ञात नहीं है कि वय में वे मुझसे समकक्ष थे या छोटे थे, किन्तु इतना स्मरण है कि वे मुझे बहुत ही सम्मान देते थे। मेरे द्वारा की गई अनुशंसाओं के कारण उन्होंने विद्यापीठ में अनेक हिन्दी के छात्रों के जीवन में दीप प्रज्ज्वलित कर प्रकाशित किया। ज्ञान के उनके द्वारा दिए गए प्रकाश के कारण हिन्दी में अनेक लोग कार्यरत हैं और उनकी गुरु-परम्परा की ज्योति को प्रज्ज्वलित कर रहे हैं। मैं तो सामाजिक जीवन में लोकतांत्रिक समाजवाद का वाहक बनकर चलता रहा हूँ, मगर मेरी लेखनी हिन्दी के मंदिर में अनवरत कार्यरत रही है। इस पथ पर अनेक बार मेरे मित्र हिन्दी के नवगीतकार शम्भुनाथ सिंह और समीक्षक विजय शंकर मल्ल के साथ ही साथ वासुदेव सिंह से भी सैकड़ों बार विभिन्न पहलुओं पर गहन चर्चा होती रही। सभी के विचार एक समान हों, यह कहाँ सम्भव है, किन्तु विचार-भेद के बाद भी यदि शील और सौजन्य बना रहे, तो मधुर सम्बन्धों की अजस्र शृंखला में कभी भी बाधा नहीं आती। वासुदेव सिंह के साथ हिन्दी के विभिन्न विषयों पर अनेक बार हम दोनों की गहन मंत्रणाएँ, विचार-विमर्श, बहस हुई है और उसके सकारात्मक परिणाम भी निकले

* सी २७/२१२-१ जलधि तरंग, जगतगंज, वाराणसी

हैं। इसका श्रेय वासुदेव सिंह की विनम्रता को जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत रहते हुए हम दोनों की मित्रता शृंखलाबद्ध समय-सीमा को पार करती रही, इसका भी श्रेय वासुदेव सिंह को जाता है।

हिन्दी में कार्य करने के कारण प्रो. वासुदेव सिंह की विद्वत्ता उनके द्वारा किए गए लेखन में सुरक्षित है, किन्तु मैं जिस क्षेत्र में कार्यरत हूँ, उसमें कठिन श्रम के साथ मैंने जिन सहस्त्रों नागरिकों के स्वत्व की रक्षा की है, अनेक घरों में बुझते दीपकों को जलाया है, उन श्रमसाध्य मेरी वो कृतियाँ मेरे मुख से निकलकर शून्य में विलीन हो गई हैं, इसका कोई भी स्मृति-चिह्न शेष नहीं है। यदि उन्नतिशील विज्ञान के माध्यम से महाकाश में तैरती हुयी वाणियाँ पकड़ी जा सकें, तो हिन्दी के क्षेत्र की साहित्य-सर्जना का संयोग प्राप्त हो सकता है और इस संयोग से वासुदेव सिंह की आत्मा को भी संतोष होगा। वासुदेव सिंह की निस्पृह हिन्दी सेवा और नि:स्वार्थ भाव से अपने शिष्यों का प्रशिक्षण और उनके द्वारा प्रशिक्षित शिष्यों का हिन्दी में दिया जा रहा अवदान उनकी स्थायी निधि है।

सीतापुर, जहाँ के वे निवासी थे, वहाँ के निवासी मेरे मित्र कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह भी थे। वे हिन्दी के विद्वान् और कवि भी थे। इन दोनों व्यक्तियों के कारण मेरा सीतापुर की पुण्यभूमि से पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

वासुदेव सिंह और मेरे बीच में जो समय व्यतीत हुआ है, उसका स्मरण रोमांचकारी है। अपने मित्र के सम्बन्ध में भाव विभोर होकर उनके साथ व्यतीत पुण्य अवसरों को मैं स्थायी निधि मानता हूँ और उसे अभिव्यक्ति देकर उसका अवमूल्यन नहीं करना चाहता। सरल और सहज व्यक्ति और निर्मल हृदय मित्र वासुदेव सिंह को जहाँ अनेक लोग उनके स्मरण में श्रद्धांजलियाँ अर्पित कर रहे होंगे, वहाँ उनके इस भूले-बिसरे मित्र की एक अंजलि भावातिरेक उनके चरणों में अर्पित हो।

●

स्मृति-शेष डॉ. वासुदेव सिंह

प्रो. चन्द्रबली सिंह*

डॉ. वासुदेव सिंह की पुण्यतिथि पर उन्हें याद करते हुए मैं उन्हें नमन करता हूँ। वह १९५६ ई. में एम.ए. उत्तीर्ण करने के कुछ ही दिनों बाद उदय प्रताप महाविद्यालय, वाराणसी में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में आए और हम लोग सहयोगी रहे। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी एम.ए. की परीक्षा में उस समय प्रथम स्थान प्राप्त किया था, जब इस विश्वविद्यालय की सम्बद्धता का क्षेत्र अनेक प्रदेशों तक फैला था। इस प्रकार, वह उदय प्रताप कॉलेज में अपनी प्रतिभा का परिचय देकर आए थे। लेकिन केवल प्रतिभा के बल पर कोई व्यक्ति अन्यों के स्नेह और सम्मान का पात्र नहीं बन जाता। डॉ. वासुदेव सिंह ने अपने सहयोगियों और छात्रों से स्नेह और सम्मान समान रूप से अपनी अन्यतम विशेषताओं द्वारा प्राप्त किया। शिक्षक के रूप में अपनी दक्षता और कर्त्तव्य-परायणता से उन्होंने सभी को प्रभावित किया।

उदय प्रताप कॉलेज में उस वक्त स्नातकोत्तर कक्षाएँ नहीं चलती थीं। अपनी प्रतिभा का और बेहतर इस्तेमाल करने के लिए वह सीतापुर जनपद के एक ऐसे कॉलेज में चले गए, जहाँ स्नातकोत्तर की पढ़ाई होती थी। बाद में; वहाँ से वह काशी विद्यापीठ (अब महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ) में हिन्दी-प्रवक्ता के रूप में आए, जहाँ से उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का रास्ता खुल गया। यहाँ से हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने अवकाश प्राप्त किया। लेकिन उन्हें इस रूप में नहीं, अपितु सन्त और भक्तिकालीन साहित्य के अध्येता और शोधकर्ता के रूप में याद किया जायेगा।

डॉ. वासुदेव सिंह ने डॉ. जयदेव सिंह जैसे संज्ञीतज्ञ और दर्शनशास्त्र में पारंगत व्यक्ति के साथ मिलकर कबीर की साखी, सबद और रमैनी की अप्रतिम व्याख्या की। उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अपभ्रन्श और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में डॉ. वासुदेव सिंह ने जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की–ऐसा मेरा विश्वास है। ये दोनों मनीषी भारतीय संस्कृति की मानवतावादी परम्परा के प्रतीक थे। वे भारतीय संस्कृति में प्रविष्ट अनेक प्रतिक्रियावादी, दूषित और पाषण्डपूर्ण प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त व्यक्ति थे। दोनों ही अपने विचारों में अत्यन्त उदार और ऊँचे किस्म के इंसान भी थे। डॉ. वासुदेव सिंह का जीवन उनसे प्रभावित था और वह भी उदार तथा सुसंस्कृत व्यक्ति थे। मैं बहुत से ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ, जो सन्त और भक्तिकालीन साहित्य के अच्छे अध्येता और विद्वान् थे, लेकिन उनके व्यक्तिगत जीवन पर इस साहित्य का कोई प्रभाव नहीं था। डॉ. वासुदेव सिंह ऐसे व्यक्तियों में नहीं थे। इसके

* प्रख्यात् समीक्षक एवं आलोचक

साथ ही; इस ओर अक्सर लोगों का ध्यान नहीं गया है कि डॉ. वासुदेव सिंह में अवध का अक्खड़पन भी था, जो अपने विचारों के प्रति उनकी गहरी निष्ठा में प्रतिबिम्बित होता था। उनके इन गुणों की छाप उनके पारिवारिक जीवन और दूसरों के साथ उनके सम्बन्धों में भी देखी जा सकती है।

मैं अक्सर काशी विद्यापीठ के समाजशास्त्र विषय के प्राध्यापक रमेश चन्द्र तिवारी के यहाँ जाया करता था। उनके आवास से सटा हुआ डॉ. वासुदेव सिंह का भी आवास था। मैं तिवारी जी से जब भी मिलने जाता था, तो वासुदेव सिंह के आवास पर भी पहुँच जाता था और जिस स्नेह व सम्मान के साथ डॉ. वासुदेव सिंह मेरा स्वागत करते थे, उसे मैं भूल नहीं सकता। मैं भी उनसे स्नेह करता था, उनका सम्मान करता था। वह मुझसे उम्र में काफी छोटे थे, लेकिन उनके दिवंगत हो जाने के बाद मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

●

संतों! उड़ि गा हंस अकेला

*डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल**

भक्ति साहित्य के मर्मज्ञ, अत्यन्त शालीन व्यक्तित्व के धनी और मित्रों के परममित्र डॉ. वासुदेव सिंह यद्यपि एक वर्ष पूर्व उस लोक की अगम यात्रा पर चले गये, जहाँ जाकर पुन: कोई वापस नहीं आता, लेकिन मुझे लगता है कि वे यहीं बनारसी पान का डिब्बा हाथ में लिये हुए अपनी स्निग्ध मुस्कान चतुर्दिक बिखेर रहे हैं। मेरी स्मृति में आज से लगभग छ: वर्ष पूर्व उनके साथ हुई गोवा की यात्रा सजीव रूप में अंकित है। यह हमारी उनके साथ सम्पन्न सुदूर प्रदेश की प्रथम और अंतिम यात्रा सिद्ध हुई। वस्तुत: यह यात्रा हम दोनों की गोवा के मडगाँव स्थित 'श्रीमती पार्वतीबाई चौगुले महाविद्यालय' में दि. १८-१९ फरवरी, सन् २००२ में आयोजित एक विचार-गोष्ठी में सम्मिलित होने के उपलक्ष्य में हुई थी। इस अनजाने स्थान की कष्टपूर्ण यात्रा के लिए भाई वासुदेव सिंह साहस नहीं जुटा पा रहे थे, परन्तु मैंने उनकी पीठ ठोंकी, उनके क्षत्रियत्व को जाग्रत किया और अनेक प्रकार से उन्हें आश्वस्त किया, तो वे किसी तरह तैयार हुए।

१५ फरवरी, सन् २००२ को भोर में काशी से प्रस्थान करने वाली ज्ञानगंगा एक्सप्रेस से चलकर दिनांक १७ फरवरी को प्रात: हमलोग पुणे पहुँचे। वहाँ पुलिस विभाग के एक बड़े अधिकारी और मेरे सुपरिचित ने हम दोनों का बहुत ही गर्मजोशी के साथ स्वागत-सत्कार किया। लगभग ४ घण्टे तक वहाँ रुकने और विश्राम करने के पश्चात् सायंकाल पाँच बजे निजामुद्दीन-गोवा एक्सप्रेस से हम लोगों की आगे की यात्रा आरम्भ हुई, जो दूसरे दिन प्रात: ८ बजे मडगाँव में पहुँच कर पूरी हुई। वाराणसी से मडगाँव के बीच बनारसी पान के लगभग ४० बीड़े अपने पनडिब्बे और प्लास्टिक के थैले से निकाल कर वे खा चुके थे। फिर भी; १० बीड़े बचे रह गये थे, जो आगे के दिनों के लिए सम्बल थे। अपने इसी संचित पथ्य के बल पर, अन्नमय पदार्थों को नगण्य मानकर, उन्होंने खाद्य पदार्थों का नाम मात्र ही सेवन किया था। पान ही उनके भोजन-जलपान की आवश्यकता का पूरक था।

भाई वासुदेव जी भक्ति साहित्य के ज्ञानघन थे। एक बार तत्सम्बन्धी कोई चर्चा छिड़ गई, तो वे सूर, तुलसी, कबीर, जायसी और मीराबाई आदि की कृतियों से उद्धरण पर उद्धरण इस प्रकार देते जाते थे, जैसे कि इन कवियों की कृतियाँ उन्हें कण्ठस्थ हों। फलत: आस-पास बैठे जिज्ञासु साहित्य-प्रेमी भी हम लोगों के आस-पास सिमट आते थे। मैं तो केवल कोई प्रसंग छेड़ भर देता था और फिर उनकी ज्ञानगंगा का रस-पान करने में निमग्न हो जाता था। इस प्रकार, सुषुप्तावस्था के अतिरिक्त जितना समय बचता था, वह 'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' अर्थात् 'बुद्धिमानों का काल-यापन काव्य और शास्त्र की चर्चा में

* पूर्व आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

होता है'– वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। वे यात्रा-क्रम में जलपान या भोजन–नाममात्र को ही गद्रहण करते थे और अन्न-भोग से वंचित ऊर्जा की पूर्ति वे पान-चर्वण के माध्यम से ही करते थे। यदि मैं भी पान-प्रेमी होता, तो उनका भण्डार गोवा पहुँचने के पूर्व ही समाप्त हो जाता; पर ऐसा नहीं था।

इस प्रकार, दिनांक १८ फरवरी को प्रात: हम लोग गोवा के मडगाँव स्टेशन पर पहुँच गये। वहाँ मेरे शोधछात्र और शिष्य रहे डॉ. ओमप्रकाश त्रिपाठी अपनी शिष्य मण्डली के साथ स्वागतार्थ उपस्थित थे। उनके साथ कार द्वारा हम लोग 'सिनक्रो' हेटोल में पहुँचा दिये गये। यह मडगाँव का एक उच्चकोटि का होटल है। जल्दी से नहा-धोकर और हल्का नाश्ता करने के उपरान्त हम लोग उद्घाटन सहित पुर्वनिर्धारित अन्य कार्यक्रमों में सम्मिलित होने के लिए राष्ट्रीय परिसंवाद-स्थल पहुँचा दिये गये। उद्घाटन-कार्यक्रम के मुख्य अतिथि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (पूना परिमण्डल) के संयुक्त सचिव डॉ. एन. के. जैन थे। इनके साथ ही डॉ. शिवकुमार मिश्र (पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष– सरदार पटेल विश्वविद्यालय, आणन्द, गुजरात) का प्रमुख वक्ता के रूप में दिया गया भाषण बड़ा ही प्रेरणाप्रद था। फिर; चाय-पान के संक्षिप्त विरामोपरान्त डॉ. शिवकुमार मिश्र की अध्यक्षता में पूर्वाह्न आरम्भ हुई प्रथम गोष्ठी के मुख्य वक्ता मित्रवर्य डॉ. वासुदेव सिंह का 'कबीर के अध्यात्म की सामाजिकता' विषय पर हुआ भाषण बड़ा ही ज्ञानवर्द्धक सिद्ध हुआ। प्राय: सभी प्रतिभागियों और श्रोताओं ने उनके भाषण में निहित ज्ञान की गहराई को काशी के परम्परागत वैदुष्य का प्रमाण माना। डॉ. सिंह ने अपने वक्तव्य के दौरान ऐसे अनेक तथ्यों को उजागर किया, जिसे श्रोताओं ने सर्वथा अज्ञात एवं नवीन तथ्यान्वेषण माना। इतना ही नहीं; आगे की सूर, तुलसी और जायसी पर आधारित गोष्ठियों में (प्राय: सभी में) उन्होंने अपनी भागीदारी निभाई। किसी में वे हस्तक्षेपकर्त्ता रहे, तो किसी में वक्ता के रूप में उनकी हिस्सेदारी प्रशंसित हुई। इस प्रकार, वे समूचे कार्यक्रम में छाये रहे।

उस दिन अपराह्न मेरी अध्यक्षता में सम्पन्न हुई 'लोकप्रियता और प्रगतिशीलता के निकष पर तुलसीदास' विषयक गोष्ठी के प्रमुख वक्ता डॉ. सम्पूर्णानन्द दीक्षित (पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, लखनऊ विश्वविद्यालय) थे। उनके वक्तव्य की अनेक विसंगतियों और परस्पर विरोधी तथ्यों पर डॉ. वासुदेव सिंह की टिप्पणियों ने श्रोताओं के मन में उनकी विद्वत्ता का आतंक स्थापित कर दिया। इसी प्रकार, क्रमश: सूरदास पर अगले दिन हुई गोष्ठी में डॉ. दशरथ सिंह (पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, आर.के.टी. कॉलेज, मुम्बई) के द्वारा 'सूरदास के काव्य में प्रगतिशीलता' और डॉ. रोहिताश्व (हिन्दी विभागाध्यक्ष, गोवा विश्वविद्यालय) के 'सूर की गोपियाँ और आधुनिक नारी' विषयक वक्तव्यों के कई मुद्दों पर भाई वासुदेव सिंह ने प्रश्नोत्तर-काल में अनेक आपत्तियाँ उठाईं और अनेक तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की सीख दी। जहाँ कहीं भी उन्हें मर्यादाओं पर अतिक्रमण दिखा, उन्होंने अपनी आपत्ति दर्ज कराई और उपयुक्त सुझाव भी प्रस्तुत किया।

इसी क्रम में, दूसरे दिन के द्वितीय प्रहर में सम्पन्न हुई गोष्ठी जायसी के 'पद्मावत' पर केन्द्रित थी। उसकी अध्यक्षता स्वयं डॉ. वासुदेव सिंह ने की। इस गोष्ठी में मेरे द्वारा 'पद्मावत के रूपक की सार्थकता' विषय पर दिये गये भाषण की अपने समापन भाषाण में डॉ. सिंह ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार, हम दोनों ने काशी की परम्परागत विद्वत्ता की छाप पूरे कार्यक्रम में छोड़ने में सफलता प्राप्त की। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि इस राम-लक्ष्मण की जोड़ी ने मानों दिग्विजय कर लिया।

यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि तब तक डॉ. सिंह के बनारसी पान का भण्डार समाप्त हो गया। गोष्ठी के दिनों में दो-तीन बार ही वे पान खा सके, ताकि किसी प्रकार इन दो दिनों का कार्यक्रम

पूरा हो जाय और पान की ऊर्जा बनी रहे। दोनों गोष्ठियों के सम्पन्न हो जाने पर जब हम लोग लौटकर होटल आये, तो हमारी चिन्ता पान की समस्या से टकरा गई। मेरे गोवावासी शिष्य डॉ. ओमप्रकाश त्रिपाठी बनारसी पान तो नहीं दिला सके, किन्तु किसी प्रकार 'अभावे शालिपूर्ण वा' की भाँति कुछ देर के लिए काम चलाने योग्य पान की व्यवस्था कर पाये। अन्ततः मुझे मडगाँव से लगभग ३० किलोमीटर दूर रहने वाले अपने एक सम्बन्धी श्री डी.पी. तिवारी को पान लेकर आने के लिए कहना पड़ा। रात्रि में लगभग ९ बजे वास्को से पान की व्यवस्था करके वे अपनी कार से आये और अगले दिन अपने यहाँ के लिए हमें निमंत्रित किया। इस प्रकार, दूसरे दिन हम लोग श्री डी.पी. तिवारी के निवास-स्थल पहुँच गये। श्री तिवारी गोवा के एक प्रतिष्ठित एवं धनधान्य-सम्पन्न नागरिक हैं। उन्होंने हम लोगों का भव्य सत्कार किया और तीन-चार घण्टों तक वास्को और अन्य स्थलों पर स्थित पुराने-नये चर्चों और मंदिरों का भ्रमण कराया। तत्पश्चात् उन्होंने हमें स्वयं द्वारा निर्मित **श्रीराममंदिर** का दर्शन-पूजन कराया। यह गोवा के प्रसिद्ध हिन्दू मंदिरों में से एक है। यहाँ आचार्यों और कथाव्यासों के कार्यक्रम साल भर चलते हैं। मंदिर-परिसर में ही मंदिरों का एक संकुल और विशाल धर्मशाला भी है। वटुकों को वेद-पुराण की शिक्षा प्राप्त करते देख वहाँ वाराणसी के एक लघु रूप का आभास हुआ।

उसी दिन हम लोगों ने गोवा के समुद्री तटों का भी चक्रमण किया। ऐसा लगता था कि हम लोग किसी स्वप्नलोक और दूसरी दुनियाँ में हैं। गोवा में रहकर भी हम लोगों ने बनारसी मिठाई, मलाई-रबड़ी और पान का स्वाद प्राप्त किया। अब हमारे मन में वहाँ कुछ दिन और रुकने की लालसा जोर पकड़ने लगी। लेकिन उसी दिन रात्रि में १० बजे बम्बई जाने वाली गाड़ी में हम लोगों का आरक्षण था, अतः मन मसोस कर वापसी के सिवा कोई चारा न था।

एक वर्ष पूर्व जब भाई वासुदेव सिंह का परलोकगमन का समाचार सुना, तो ऐसा लगा कि जैसे 'कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो।' मैंने अपने को लुटा-पिटा महसूस किया। मुझे तो अभी भी नहीं लगता कि वे हमारे बीच नहीं हैं। लेकिन मुझे जो भी लगता है, लगा करे। वास्तविकता तो अपनी जगह है और वास्तविकता यही है कि 'उड़ि गा हंस अकेला'। अब जो मित्र और स्वजन धरती पर हैं, वे उस अमर आत्मा के आदर्शों से प्रेरणा लेकर अपनी भी स्मृति की छाप अन्यों पर छोड़ें। यही संसार है, यहाँ शरीर तो नहीं; मगर कीर्ति अमर हो सकती है। सम्भवतः यही भाई वासुदेव सिंह का अंतिम संदेश है।

●

प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति

डॉ. रणजीत सिंह *

सम्पाद यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे न भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्।।

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त श्लोक के लेखक का नाम तो पता नहीं है, परन्तु उसके मन्तव्य के परम अधिकारी का नाम मेरी दृष्टि में प्रोफेसर स्वर्गीय वासुदेव सिंह जी का है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने वैदुष्य, त्याग, स्वाध्याय, तप और सरल आत्मीयता से 'भुवनत्रयतिलक' होने का दर्जा तो प्राप्त ही किया, वे मरकर भी अमर हो गए। जिसे सम्पत्ति प्राप्त हो और हर्ष न हो, जिस पर विपदा आए और उसे विषाद न हो, जिसे युद्ध-भूमि में ढ़केल दिया जााय और उसे डर न हो–निश्चित रूप से ऐसे विलक्षण महापुरुष डॉ. वासुदेव सिंह थे।

सन् १९७३ में जब मैं कालिकाधाम महाविद्यालय, सेवापुरी का प्रथम सेवक प्राचार्य बन कर आया, तो जैसे मेरी तकदीर ही खुल गई। सिद्धगिरी बाग में निवास कर रहे प्रोफेसर जयदेव सिंह के यहाँ विद्वान् लोग अक्सर आते रहते थे। मेरे पूज्यपाद श्वसुर ठाकुर केदारनाथ सिंह और पूज्यपाद पिताश्री ठाकुर विश्वनाथ सिंह– दोनों ही ठाकुर जयदेव सिंह के अनन्त भक्त थे। वहीं पर प्रो. वासुदेव सिंह जी आते रहते थे। मनीषीद्वय कबीर जैसे काशी के अप्रतिम सन्त पर कार्य कर रहे थे। यह देखना कितना भला लगता था, जब हम प्रतिपद पाठ पर संवाद-विवाद का सिलसिला देखते थे।

उन दिनों प्रोफेसर वासुदेव सिंह सोनिया मुहल्ले के एक सामान्य से घर में रहते थे। उनका सादगी भरा जीवन एक आदर्श था, जिस पर प्राय: उनके शिष्य चलने में गर्व का अनुभव करते थे। कुछ समय बाद, प्रो. वासुदेव सिंह छात्रावास-अधीक्षक होकर काशी विद्यापीठ के परिसर में चले गए, जहाँ से सेवानिवृत्ति के बाद नरेन्द्रदेव नगर, चन्दुआ छित्तूपुर में स्थित और अपनी मेहनत से निर्मित भवन 'प्रेमसदन' में आ गए।

घरों का बदलना बदस्तूर परिस्थितिवश चलता रहा, लेकिन एक चीज जो न बदली, वह थी उनकी विशिष्ट जीवन-शैली। तप, स्वाध्याय, अध्यापन, लेखन, चिन्तन, मनन– बारी-बारी से उन्हें एक ऐसे मार्ग पर ले गए, जिस पर बिरले ही जा पाते हैं। वे काशी की सारस्वत-परम्परा में हिन्दी भाषा, साहित्य, इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में ऋषिकल्प हो गए।

सन्त साहित्य में उन्हें विशेष अभिरुचि थी और उस पर उन्होंने बहुत तप:पूर्वक विचार-विमर्श करने के उपरान्त अपने ग्रन्थों को लिखा था। ठा. जयदेव सिंह के साथ उनका कबीर पर किया गया कार्य अनुपम था ही, जहाँ तक मुझे याद है, उन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सन्त साहित्य के प्रणयन हेतु एक

* सेवानिवृत्त प्राचार्य– कालिकाधाम महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी

'मेजर प्रोजेक्ट' भी मिला था। वह ग्रन्थ भी सौभाग्य से 'हिन्दी सन्यकाव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' नाम से प्रकाशित हो गया है।

प्रोफेसर वासुदेव सिंह एक सुयोग्य अध्यापक ही नहीं, एक मनीषी संगठक मित्र भी थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के स्थायी सदस्य थे और उसकी कार्यकारिणी में भी थे। वे सभा के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित भी थे। उन्हें किसी भी प्रकार यश-प्राप्ति की या आर्थिक लाभ पाने की इच्छा नहीं थी। वे हर तरह एक शान्त तपस्वी कार्यकर्ता के रूप में सभा की सेवा में संलग्न रहते थे। सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' और उसके तेरह खण्ड प्रो. वासुदेव सिंह की सारस्वत–प्रतिभा के साक्षात् साक्षी हैं। इसी तरह, उनकी प्रतिभा और अध्यवसाय के अनेक प्रकरण सभा की आर्यभाषा पुस्तकालय में देखे जा सकते हैं।

प्रो. वासुदेव सिंह के अभिन्न विद्वान् मित्रों में गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रो. भगवती प्रसाद सिंह जी भी एक थे, जिन्होंने कृष्णकाव्य और कृष्णकाव्यधारा पर एक अद्भुत ग्रन्थ लिखा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रो. भगवती प्रसाद सिंह ने अपना अधिकांश कार्य वासुदेव जी के घर पर ही पूर्ण किया और वह भी उनके अखण्ड सहयोग से।

अक्सर विद्वानों पर यह आरोप लगता रहा है कि वे परस्पर द्वेष रखते हैं। महाराज भर्तृहरि ने दो हजार वर्ष पहले कहा था कि मेरे सुभाषित को सुनेगा कौन?

'बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ।।

वे कहते हैं, विद्वान् लोग ईर्ष्या से ग्रस्त हैं, उन्हें दूसरों से कुछ लेना-देना नहीं है, समर्थ प्रभु लोग अहंकार में डूबे हैं, बाकी बचे लोग अज्ञान से ग्रस्त हैं, भला मेरे सुभाषित को सुनेगा कौन?

भर्तृहरि की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है, तथापि डॉ. वासुदेव सिंह, निश्चित रूप से; उन विद्वानों में अपवादस्वरूप थे, जो विद्वानों के साथ सहयोग करते थे– प्रत्यक्ष रूप में भी, परोक्ष रूप में भी, जिसे 'नेपथ्य से भी' कहा जाता है। धन्य है वह जननी, जिसने उन्हें जन्म दिया था।

प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य और भाषा के इतिहास के मर्मज्ञ थे। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना अवदान जोड़ा था ही, स्वतन्त्र चिन्तन, स्वाध्याय, प्रवचन आदि के निरन्तर अध्यवसाय से 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' लिखा, जिसे हम उनका एक 'मास्टरपीस' कह सकते हैं।

यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में एक ऐसे इतिहास-ग्रन्थ के रूप में पढ़ाया जाता है, जिसका सानी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ ही हो सकता है। आचार्य शुक्ल ने इस क्षेत्र में अग्रणी होने के नाते जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसका एक तरह से समापन डॉ. वासुदेव सिंह ने अपने इस अतिविशिष्ट ग्रन्थ द्वारा किया है। इसकी समीक्षात्मक पद्धति से हिन्दी साहित्य के इतिहास की वह प्रस्तुति हुई है, जो अन्यत्र विद्वानों में दुर्लभ ही है।

प्रो. वासुदेव सिंह मात्र प्रोफेसर ही नहीं थे, एक आचार्य भी थे, जिनका अनुसरण उनके सहस्राधिक शिष्य बड़े आदर से करते थे। शोधकार्य में संलग्न छात्र-छात्राओं के लिए उनके पास समय की कभी कोई कमी नहीं रही। उनका स्वभाव इतना मृदुल था कि वे कभी 'ना' करते ही नहीं थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रिय वस्तु 'पुस्तक' को भी थोड़े समय के लिए देने में हिचकते नहीं थे।

मेरी धर्मपत्नी लक्ष्मी सिंह उनकी विशेष कृपापात्र थीं। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.ए.

(हिन्दी) करने के उपरान्त शोधकार्य के लिए अपने गुरु डॉ. त्रिभुवन सिंह से प्रार्थना की थी। संयोग से; डॉ. त्रिभुवन सिंह ऐसा तत्काल नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने उनसे कहा कि वे उनके अनन्य मित्र प्रोफेसर वासुदेव सिंह से मिलकर उनसे प्रार्थना करें। प्रोफेसर वासुदेव सिंह ने तत्काल शोध-निर्देशन करना स्वीकार कर लिया और स्वयं विषय भी सुझाया 'हनुमत्स्वरूप का विकास; प्रमुखत: हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में'।

शोधकार्य में अनेक बाधाएँ भी आईं, परन्तु प्रोफेसर वासुदेव सिंह का निर्देशन इतना सटीक था कि समय से पूर्व ही उनका शोधकार्य पूर्ण हो गया। ऐसे थे उदारहृदय और समर्थ आचार्य प्रो. वासुदेव सिंह। आज लक्ष्मी सिंह एक श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय में हिन्दी विभाग की अध्यक्षा के रूप में कार्यरत (अब सेवानिवृत्त) हैं। उनकी यह स्थिति प्रोफेसर सिंह का एक आशीर्वादतुल्य ही है। ऐसे शोधछात्रों की संख्या कम नहीं है, जो उनके आशीर्वाद से आज आह्लादित जीवन बिता रहे हैं।

प्रो. सिंह शरीर से कृशकाय अवश्य थे, कभी-कभी रुग्ण भी हो जाते थे, परन्तु इससे उनकी दिनचर्या में कोई परिवर्तन सम्भव ही नहीं था। वे निरन्तर अपने तप:स्वाध्याय में लगे रहते थे। उनकी इस साधना में उनकी सहधर्मचारिणी का अनन्य योगदान रहता था।

जब हिमांशु ने मुझसे उनके बारे में कुछ लिखने को कहा, तो मुझे जैसे एक मेरे मन की मुराद ही मिल गई। यह किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है कि एक छोटे से ५-६ पेज के लेख में उस महनीय मनीषी के बारे में सर्वांगीण रूप से कुछ लिख सके।

उनका विगत वर्ष २७ जनवरी, २००७ को शरीर शान्त हो गया। वे आज हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि वे हमारी स्मृतियों में अमर हो गए हैं। इस असार संसार में कौन नहीं जन्मा और कौन नहीं मरा? जन्म उसी का सार्थक है, जिसके द्वारा वंश उन्नति करता है–

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
सः जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।।

प्रो. सिंह ने 'विद्वत्कुल' को अपने वैदुष्य से समुन्नत किया है। आज आवश्यकता इस बात की है, उनके जीवन और अवदानों को दर्शाने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ की रचना की जाय। प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन इस चिरप्रतीक्षित अभिलाषा की पूर्ति के लिए 'मील का पत्थर' साबित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं हिमांशु को इस कार्य के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ। मैं समझता हूँ कि हिमांशु जी इसके सर्वथा अधिकारी हैं।

अन्त में; 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'– इस सिद्धान्त से प्रो. सिंह की कीर्ति त्रिभुवन-विहारिणी होकर हमें सफल तप:स्वाध्यायशील जीवन जीने की प्रेरणा देती रहेगी।

●

डॉ. वासुदेव सिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. हरिहर सिंह शास्त्री *

अध्ययन-अध्यापन ही जिनका जीवन था, छात्रों, मित्रों एवं साहित्यकर्मियों को प्रेरित करना ही जिनका धर्म था तथा नियमित अध्ययन ही जिनकी पूजा थी– ऐसे साहित्यकार एवं अध्यापक डॉ. वासुदेव सिंह यद्यपि आज हम लोगों के बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी कृतियाँ उन्हें साहित्य-जगत् में हमेशा बनाये रखेंगी।

डॉ. वासुदेव सिंह जी से मेरा बड़ा पुराना परिचय था और धीरे-धीरे यह परिचय आत्मीयता में इस प्रकार परिवर्तित हो गया कि वे मेरे अग्रज एवं प्रेरक के रूप में अंत तक रहे। सेवानिवृत्ति के बाद जब मैं वाराणसी में रहने लगा, तो उनसे प्राय: भेंट होती रहती थी। यदि भेंट में देरी होती, तो हम दूरभाष से एक-दूसरे का कुशलक्षेम लेना न भूलते । मैं जब भी उनसे मिला–अध्ययन क़रते हुए पाया। उन्होंने बतलाया कि वे प्रतिदिन ३-४ घण्टे अध्ययन करते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि नियमित अध्ययन उनकी दिनचर्या है तथा साहित्यिक यात्राएँ उनका शौक है। उनका लेखन गम्भीर एवं शोधपूर्ण होने के कारण वे समीक्षा-क्षेत्र में स्थापित हो चुके थे। इसके साथ ही; वे साहित्यिक गोष्ठियों में भाग लेकर अपनी विद्वत्तापूर्ण वक्तृता के कारण चर्चा का विषय बन जाते थे। उनके साहित्यिक मित्रों की संख्या अधिक थी तथा अवकाश ग्रहण करने के बाद भी वे विभिन्न विश्वविद्यालयों की पाठ्य-समितियों तथा विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं के परीक्षक बनकर आते-जाते रहते थे। वे स्वस्थ एवं गतिशील थे, अतएव ७३ वर्ष की अवस्था में उनका अवसान एकदम असामयिक एवं दु:खद प्रतीत हुआ।

संत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्– हिन्दी में संत साहित्य पर वैसे तो बहुत लोगों ने कार्य किया है, लेकिन संत साहित्य में जिन लोगों की विशेष पकड़ है, वे उँगलियों पर गिनाये जा सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी की पकड़ साहित्य की हर विधा पर थी और वे हिन्दी साहित्य में विशाल व्यक्तित्व के सूत्र में स्थापित हैं, लेकिन संत साहित्य के सन्दर्भ में जिनकी गणना की जा सकती है, वे हैं– पं. परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. जयदेव सिंह, डॉ. शुकदेव सिंह, डॉ. शिव कुमार शांडिल्य एवं डॉ. वासुदेव सिंह। डॉ. वासुदेव सिंह के पूर्व ही पं. परशुराम चतुर्वेदी तथा डॉ. जयदेव सिंह हमारे बीच से चले गये थे और दुर्भाग्य से डॉ. वासुदेव सिंह का भी असामयिक अवसान हो गया और उनके कुछ ही दिनों बाद डॉ. शुकदेव सिंह ने प्रयाण कर दिया। अब तो लगता है कि संत साहित्य में डॉ. शांडिल्य के अतिरिक्त कोई सक्षम विचारक रह ही नहीं गया है। डॉ. वासुदेव सिंह की संत साहित्य पर पकड़ तो थी ही, विशेष रूप से कबीर के वे अधिकारी विद्वान् थे। कबीरदास को एक तरह से स्थापित करने का कार्य पण्डित

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था, लेकिन उस परम्परा को आगे बढ़ाने में डॉ. वासुदेव सिंह के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। कबीर की रचनाओं का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के साथ ही; डॉ. वासुदेव सिंह ने उसकी भूमिका में जो टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ-विस्तार दिया, वह कबीर की कृतियों को समझने में सहायक है। इस हेतु, उन्होंने डॉ. जयदेव सिंह का भी आशीर्वाद प्राप्त कर, कबीर के अध्ययन को नई दिशा देने का कार्य किया।

तुलसी का अध्ययन– डॉ. वासुदेव सिंह जी पूर्वमध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल के अच्छे ज्ञाता एवं व्याख्याकार थे। विशेषत: तुलसी-साहित्य पर उनका अध्यनय एवं अभिव्यक्ति आकृष्ट करने वाली थी। तुलसीदास विषयक गोष्ठियों से उन्हें प्राय: बुलावे आया करते थे तथा अपनी अभिव्यक्ति-शक्ति से वे मंच पर छा जाते थे। वे मेरे अत्यधिक आत्मीय थे, अतएव मेरे आमंत्रण को वे नकार नहीं पाते थे। मैंने उनसे दो बार तुलसी-विषयक गोष्ठी में आने हेतु निवेदन किया था और उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकृति देकर कार्यक्रम को महत्ता प्रदान की थी। तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर में साहित्य परिषद् के अध्यक्ष के रूप में तुलसीदास की गोष्ठी में तथा जनपद साहित्य सम्मेलन, जौनपुर में अध्यक्ष पद पर रहते उनको सादर ले गया था और वे दोनों गोष्ठियाँ छात्रों एवं विद्वानों द्वारा सराही गईं और बहुत दिनों तक डॉ. साहब की प्रस्तुति-कला की चर्चा चलती रही। डॉ. साहब के दोनों प्रवचन दो रूपों में हुए। तिलकधारी महाविद्यालय, जहाँ छात्रों के बीच ले जाना था, वहाँ डॉ. साहब की अध्यापकीय शैली ने छात्रों को अभिभूत कर दिया; वही जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन में विद्वानों के बीच, उन्होंने जो शोधपूर्ण तर्कगत व्याख्या प्रस्तुत की, उससे आनन्द का वातावरण छा गया। जनपद साहित्य सम्मेलन में तो इतना आग्रह किया गया कि उन्हें मैंने उस दिन रोक लिया और अगले दिन उन्हें पुन: दूसरे स्थान पर सुना गया। साहित्येतिहास-समीक्षा, पाठ-शोधन आदि के साथ ही; साहित्य के इतिहास में अपनी महत्त्वपूर्ण 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' लिखकर प्रस्तुत की। साहित्य के विविध क्षेत्रों में उनकी पैठ तो थी ही, वे एक मौलिक विचारक भी थे। यही कारण है कि वे किसी भी विषय पर साधिकार लिख और बोल सकते थे। वे जितने सक्षम लेखक थे, उतने ही कुशल वक्ता।

अहंकार रहित व्यक्तित्व– डॉ. वासुदेव सिंह विद्वत्ता के क्षेत्र में स्थापित हो चुके थे। वे एक महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय के गरिमापूर्ण अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए थे, फिर भी; उन्हें पद एवं प्रतिष्ठा का लेशमात्र भी अहंकार नहीं था। उनका व्यवहार उदय प्रताप महाविद्यालय के अध्यापक-रूप में जैसा था, वैसा ही व्यवहार काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष पद पर रहने पर भी था।

मौलिक व्याख्याकार– डॉ. वासुदेव सिंह का जिन विषयों पर सामान्य अध्ययन था अथवा जिनमें उनकी रुचि न्यून थी, उनपर भी उनकी सोच मौलिक थी। एक बार हम लोग बैठकर उपन्यास एवं कहानी की चर्चा कर रहे थे। हम लोग कहानीकारों के प्रति कुछ अधिक संवेदनशील हो गये थे। चर्चा चल रही थी कि एक उपन्यासकार को अपनी अभिव्यक्ति हेतु जितना विस्तृत पटल मिलता है, उससे बहुत ही कम कहानीकार को। लेकिन कहानीकार की कलात्मक शक्ति ऐसी है कि वह थोड़े में ही अपनी सम्पूर्णता का परिचय दे देता है। डॉ. साहब ने सबके उलट अपनी बात रखते हुए कहा कि उपन्यासकार अधिक सक्षम हैं, क्योंकि वह अपनी बात विस्तार से कहते हुए भी पाठक को ऊबने नहीं देता और उसकी जिज्ञासा को तीव्रतर करता हुआ अन्त तक उसे अपने से जोड़े रखता है। उन्होंने आगे यह जोड़ा कि कहानी में थोड़ा बिखराव भी झलकता है, लेकिन उपन्यास सजावट-कसावट पर ही निर्भर है।

अधिक दिनों के साथ के कारण डॉ. साहब के अनेक आत्मीय संस्मरण हैं– कुछ व्यक्तिगत, कुछ साहित्यिक तथा कुछ सहभागिता के। मैंने पाया कि डॉ. साहब जितने सम्वेदनशील थे, उतने ही व्यावहारिक भी। प्रसन्नता और आत्मीयता तो उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे। डॉ. साहब मेरे निर्देशन में की गई पी-एच.डी. में अनेक बार बाह्य परीक्षक के रूप में रहे। मौखिकी में वे शोधकर्त्ता के साथ-साथ मुझसे भी काफी तर्क-वितर्क करते थे। अध्ययन एवं शोध में उन्हें स्तरहीनता बर्दाश्त नहीं थी। अवकाश ग्रहण करने के साथ ही उन्होंने शोध-निर्देशन का कार्य छोड़ दिया। उनका कहना था कि अवकाश ग्रहण करने वाले अध्यापकों के साथ छात्र शोध तो करना चाहते हैं, पर श्रम कम करते हैं। वे सोचते हैं कि अध्यापक के पास बहुत समय है तथा वह अधिक समय देकर संशोधन अथवा लेखन-कार्य को गति दिलाने में सहयोग करेंगे।

डॉ. साहब के साथ बिताये गये अनेक अवसर आज स्मृति को झकझोर रहे हैं। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि अभी कल ही उनसे भेंट हुई थी। साथ-साथ परीक्षक रहकर कॉपियों का मूल्यांकन, पाठ्य-समितियों में विचार-विमर्श और अवकाश के क्षणों में गृह-ग्राम से लेकर साहित्य और व्यक्ति की चर्चा करते थे। हर प्रकार की चर्चा मनोरंजक एवं आह्लादकारी हुआ करती थी।

वे अचानक हमारे बीच से चले गये, लेकिन उनका व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी वर्तमान है। वे प्रेरणा के स्रोत एवं कर्तव्यनिष्ठा को जगाने वाले व्यक्ति थे। डॉ. वासुदेव सिंह एक संवेदनशील व्यक्ति, सहृदयमित्र और महान साहित्यकार तथा समर्पित अध्यापक थे। उनका सिद्धान्त था–

जीवन दीप जले जब तक, प्रकाश को हीन न होने देना।
फूल खिले या धूल उड़े, निजता को दीन न होने देना ।।

●

प्रो. सिंह : मेरी दृष्टि में

प्रो. लक्ष्मीशंकर गुप्त *

सन् १९६८ ई. में जब मैं काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुआ, उस समय डॉ. वासुदेव सिंह उपाचार्य (रीडर) थे। विभाग में वरिष्ठता-क्रम में उनका तीसरा स्थान था, अत: मैं उनका उचित सम्मान करता था। उस समय मैंने अनुभव किया कि वे बड़े संयत व्यक्तित्व के व्यक्ति हैं और उनके विषय में अंत तक मेरी यही धारणा बनी रही। वे कम बोलते थे और काम की ही बातें करते थे। वे अपने कर्त्तव्य के प्रति गम्भीर रहते थे तथा छात्रों को नियमित रूप से और परिश्रमपूर्वक पढ़ाते थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा रामचरितमानस में उनकी अच्छी गति थी।

डॉ. सिंह बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। सबेरे का समय वे समाचारपत्र-वाचन और अध्ययन-अध्यापन में लगाते थे। पुस्तक-लेखन को उन्होंने अपना व्यसन बना लिया था। इसी कारण; वे दर्जनभर से अधिक पुस्तकें लिखने में समर्थ हुए। इस व्यसन से उन्हें कई लाभ हुए।

उन्होंने दो प्रकार की पुस्तकें लिखीं। एक छात्रोपयोगी, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास, किसी विधा के संकलन या किसी कवि की कविता से या मानस के विविध काण्डों की टीका एवं समीक्षा से सम्बन्धित हैं। दूसरी प्रकार की पुस्तकें विद्वत्समाज के लिए उपयोगी हैं। कबीर-वाङ्मय और कबीर काव्य-कोश इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। कबीर-वाङ्मय के अन्तर्गत तीन ग्रन्थ हैं– साखी, सबद तथा रमैनी। ये प्रख्यात् विद्वान् ठाकुर जयदेव सिंह के सह-लेखन से प्रस्तुत की गई हैं। इनमें किसका योगदान कितना है, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें कबीर-साहित्य की उत्तम टीका-व्याख्या प्रस्तुत हो गई है। 'कबीर काव्य-कोश' कबीर-वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों का कोश है। यह केवल डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा रचित है। इसमें शब्दों के प्रयोग-सन्दर्भ भी दिए गए हैं। इस प्रकार, यह कोश अच्छा बन पड़ा है और संग्राह्य है। इसी प्रकार, कबीर पर एक समीक्षात्मक पुस्तक भी है।

डॉ. सिंह बड़े उद्योगी पुरुष थे। वे एक लक्ष्य निर्धारित कर लेते थे और उसे प्राप्त करने के लिए यावत्प्राप्ति प्रयत्नशील रहते थे। यही उनकी सफलता का रहस्य था। वे वक्ता भी अच्छे थे और वक्तव्य को स्पष्ट ढंग से स्थापित भी करते थे। दूसरों को परिचय देते समय वे मुझे 'भाषा वैज्ञानिक' ही बताते थे, जबकि मैं आरम्भ से ही बिहारी-सतसई, विद्यापति की रचनाएँ, रीतिकाव्य आदि भी पढ़ाता था, जो शुद्ध साहित्य है। इस परिचय से वे कदाचित् मेरा महत्त्व बढ़ाना चाहते थे, इसलिए मैं उनकी बात में कुछ जोड़-तोड़ भी नहीं करता था।

मेरी दृष्टि में प्रो. सिंह शुद्ध-सपाट और 'नलिनीदलगतजलमिव व्यक्तित्व' वाले विद्वान् थे। सामाजिक

* प्राक्तन् आचार्य– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

दु:ख-सुख से अस्पृष्ट। ऐसा व्यक्ति माया में नहीं फँसता। उनकी कई विशेषताएँ अनुकरणीय थीं, इसमें सन्देह नहीं।

अन्त में; परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा पर शान्ति की सुखद वर्षा करके उसे संतृप्त कर दें।

शिवमस्तु।

●

प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति

पं. विश्वम्भरनाथ द्विवेदी*

नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति की बैठकों तथा सारस्वत अनुष्ठानों में आचार्य वासुदेव सिंह जी से समय-समय पर मिलना होता था। वे जब भी मिलते थे, निर्मल एवं उन्मुक्त हृदय से मिलते थे। वे स्वाभिमानी अवश्य थे, किन्तु अभिमान का उनके भीतर रंचमात्र स्पर्श नहीं था। वे अत्यन्त उत्कृष्ट वक्ता थे, किन्तु दूसरों के विचारों को सुनना अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। वे इतने विनम्र थे कि उन्हें देखकर लोग उनके बड़प्पन का अनुमान ही नहीं लगा पाते थे। उनकी विशिष्ट विद्वत्ता का पता तो तभी लगता था, जब वे बोलना प्रारम्भ करते थे। नपे-तुले शब्दों में किसी विषय के स्पष्ट और सांगोपांग निरूपण की कला उनसे सीखी जा सकती थी।

भौतिक शरीर से वे हमारे बीच आज नहीं हैं, किन्तु उनका यश:शरीर अमर है। अनेकानेक शिष्यों, मित्रों, परिजनों और आत्मीय सुहृदों के अन्त:करण में उनकी स्मृति सदा-सर्वदा बनी रहेगी, क्योंकि ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। सबके सुख-दु:ख में सहभागी होना, सबका हित सोचना और अपने स्तर पर सबकी भलाई के लिए सतत् सचेष्ट उनके जैसे सुहृद का मिलना कठिन है।

मैं पुण्यतिथि के अवसर पर उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

* आनन्द कानन, टेढ़ीनीम, वाराणसी

स्मृति-शेष डॉ. साहब

प्रो. महेन्द्र प्रताप सिंह *

प्रोफेसर वासुदेव सिंह से मेरा परिचय १९६५ में हुआ था। उसी वर्ष मैं महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के इतिहास विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुआ था। तबसे अन्तिम समय तक मैं उनके प्रिय पात्रों में बना रहा। मुझे सदैव वे डॉ. एम.पी. सिंह नाम से सम्बोधित करते और हँसते हुए, मेरा अभिवादन स्वीकार करते हुए, मेरा कुशलक्षेम पूछते। सामान्यतया वे गम्भीर स्वभाव के थे, परन्तु विनोद के क्षणों में हँसते हुए सौम्य ढंग में किसी का मजाक उड़ाने से चूकते नहीं थे। मेरे साथ उनका सम्बन्ध अपने सहयोगी की भाँति रहा। मैंने एक बार मजाक में उनसे कहा था कि 'बाबा तुलसीदास और महात्मा गाँधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना दिया और हिन्दी के अध्यापकों, लेखकों और प्रकाशकों का व्यापार बड़ी तेजी से बढ़ गया। हिन्दी वालों की पूछ बढ़ गई।' बातचीत के क्रम में उन्होंने स्मित हास के साथ उत्तर देते हुए कहा कि, 'हम इतिहास वालों की तरह गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ते।'

ऐसे ही; हमारी और उनकी हल्की-फुल्की वार्ता होती रहती थी। वे मूलत: अध्यापक और लेखक थे। संत साहित्य के मर्मज्ञ के रूप में उन्होंने बहुमूल्य लेखन-कार्य किया। मुझसे हमेशा यही कहा करते कि 'डॉक्टर साहब! कुछ लिखते रहिए। इससे परिपक्वता आती है और अध्यापकीय दायित्व की पूर्ति भी होती है।' उनका कहना था कि अध्यापक को पठन-पाठन और लेखन करते रहना चाहिए। भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में मेरी जिज्ञासा का समाधान उन्होंने कई बार किया। एक बार मैंने उनसे कहा कि भक्ति आन्दोलन के जो भी परिणाम रहे हों, हिन्दी साहित्य के विकास और समृद्धि में उसका योगदान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सहमति जताते हुए इतना जोड़ दिया कि धर्म और धार्मिक विश्वास के क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन से लोगों की सोच और समझ में, निश्चित रूप से; सहिष्णुता उत्पन्न हुई। ऐसे ही; उनसे कभी हल्की-फुल्की और कभी सारगर्भित बातें होती थीं। वे वस्तुत: एक सरल व्यक्तित्व के कर्मठ पुरुष थे। उनकी जान-पहचान का दायरा काफी बड़ा था और मित्र-वर्ग का क्षेत्र काफी समृद्ध था। उन्होंने अक्षय यश अर्जित किया। अब वे स्वर्गीय प्रोफेसर वासुदेव सिंह हैं। इतना शीघ्र उन्होंने हमें छोड़ दिया– विश्वास नहीं होता। अब तो उनकी स्मृति शेष है। उन्हें प्रणाम।

●

* प्राक्तन् आचार्य एवं अध्यक्ष– इतिहास विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

स्मृति के झरोखे से

प्रो. रमाशंकर शुक्ल*

प्रो. वासुदेव सिंह आज हमारे बीच में नहीं हैं, किन्तु उनकी कृतियाँ एवं साहित्यिक अवदान उन्हें अमर रखेंगी। उनका यश चतुर्दिक देखने को मिलता है। उन्होंने शोध के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को चुना, जहाँ का.हि.वि. के हिन्दी विभाग में देश में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। विभागाध्यक्ष आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आते ही प्रो. वासुदेव सिंह चमत्कृत हो उठे। एम.ए. हिन्दी में प्रथम श्रेणी प्राप्त कर अपनी पहचान उन्होंने पूर्व में ही बना ली थी और निरन्तर आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में रहने के कारण साहित्यिक साधना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया।

उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी में हिन्दी के प्राध्यापक बने, तो अल्पकाल में उनके ज्ञान, अध्यापन-कौशल एवं अध्यापक-चरित्र की प्रशंसा होने लगी। कुछ वर्षों बाद ही काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक हो गये और यहाँ भी उनका यश खूब फैला। वे विद्यापीठ की गुटबंदी से मुक्त थे। शिक्षा ही उनके जीवन का लक्ष्य था। विद्यापीठ के प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी अच्छी तरह किया। जो कार्य मिल गया– सफलतापूर्वक उसे सम्पन्न करना कर्त्तव्य मानते थे। डॉ. विद्यानिवास मिश्र काशी विद्यापीठ के कुलपति थे। उन्होंने प्रो. वासुदेव सिंह को चीफ प्रॉक्टर का उत्तरदायित्व सौंपा, तो यह कार्य उनके मनोनुकूल नहीं था। फिर भी; आदेश मानकर लिया और बड़ी तन्मयता से इसका भी निर्वाह किया।

नागरी प्रचारिणी सभा में उनका साहित्यिक योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। सभा भी उनके योगदान को सदैव याद करता है। वे सभा की बैठकों में सबसे अधिक नियमित थे।

काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में यू.जी.सी. की सहायता से कई बार हिन्दी अध्यापकों के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का आयोजन करके देश के अनेक विश्वविद्यालयों के विद्वान् अध्यापकों का व्याख्यान कराया और ज्ञान के नये स्वरूप को प्राप्त कराने का भरपूर प्रयास किया।

मैं समाजकार्य संकाय में अध्यापक था, किन्तु मुझसे भी उक्त कार्यक्रमों में नियमित रूप से भाग लेने के लिए विशेष आग्रह किया। गोष्ठी में भाग लेने और सक्रिय सहभागिता के कारण बाहर के विद्वानों को लगता था कि मैं भी हिन्दी विभाग का ही हूँ।

वे मेरे अभिन्न मित्र थे। बहुत-सी बातों में मतभेद होते हुए भी वे अंतिम निर्णय मेरे पक्ष में करते थे। उनका पार्थिव शरीर आज नहीं है, पर वे हमारे बीच में हैं। वे मूलत: यशस्वी हैं। उनका यश सबको सन्देश दे रहा है।

मैं आज श्रद्धापूर्वक उन्हें याद करता हूँ और सन्देश उनसे प्राप्त कर रहा हूँ।

●

* पूर्व संकायाध्यक्ष– समाजकार्य संकाय, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सभी सुखों के स्वामी

प्रो. युगेश्वर *

सुख के छः साधन हैं– १. नित्य अर्थागम, २. आरोग्य, ३. प्रिय स्त्री, ४. प्रिय बोलने वाली स्त्री, ५. वश में रहने वाला पुत्र तथा ६. अर्थकरी विद्या की प्राप्ति। ये छः जीवलोक के सुख हैं। डॉ. वासुदेव सिंह को ये सभी सुख प्राप्त थे। वे प्रायः ही नीरोग रहते। वृद्धावस्था की बात व्यर्थ है। यह तो स्वयं में रोग है। नित्य देखा जाता है। बड़े-बड़े यशस्वी वृक्षों के पत्र सूखने के पहले पीले हो जाते हैं। पत्रों का पीलापन ही सूखने का पूर्व रूप है। यही है रोग। आचार्य शंकर ठीक कहते हैं–

अंगंग गलितं पलितम् मुंडम् दशनविहीनं जाते तुंडम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुंचत्याशा पिंडम्।।

ये कथाएँ प्रायः सभी वृद्धों की हैं। बालों का सफेद होना, सिर का काँपना आदि वृद्धता के लक्षण हैं। वृद्धता जीवन की पूर्णता है। ऊबकर चलने की तैयारी। तुम तैयार हो, न हो। यमराज अपना काम करेगा। डॉ. वासुदेव सिंह ने पूर्ण और सम्पन्न जीवन जिया था। किन्तु विधाता के नियम को क्या करते?

मनुष्य भगवान् का उत्पाद है। उसकी प्रज्ञा, प्रतिभा उसी अज्ञात शक्ति की देन है। मनुष्य तो केवल परमात्मा की काष्ठपत्रलिका है। इसलिए मृत्यु या वृद्धता– कोई भी उपेक्ष्य नहीं है। उपेक्षा से क्या होगा? वह तो आएगा ही।

वे एक अच्छे अध्यापक थे। उन्होंने कक्षा को ध्यान में रखकर विशेष तैयारी की थी। स्मरण भी अच्छा था। कक्षा के बाहर में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। यह ध्यान में रखना होगा कि वक्ता और अध्यापक में अन्तर है। अच्छा वक्ता, अच्छा अध्यापक भी हो– आवश्यक नहीं। ऐसे ही; अध्यापन वक्तृता नहीं है।

हिन्दी के हर अध्यापक को लेखक मानना भ्रम है, क्योंकि दोनों की प्रतिभा और प्रकाश में निश्चित अन्तर है। उनका अपने विद्यार्थियों से बड़ा स्नेह रहता था। वे सदा विद्यार्थियों से घिरे रहते थे। ठा. जयदेव सिंह के साथ उन्होंने कबीर की टीका की। डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने उन्हीं के यहाँ रहकर, 'श्री विश्वराम कोश' तैयार किया था। इसमें भी डॉ. वासुदेव सिंह का अप्रतिम सहयोग था। अनेक विश्वविद्यालयों से उनका सम्पर्क था। किसी भी प्रभावशाली को अपना बना लेने की कला वे जानते थे। आवश्यक नहीं कि वह बिरादर हो। वे कुछ-कुछ भाजपा की ओर थे। यों राजनीति से अलग रहते थे। सक्रिय राजनीति से उन्हें परहेज था। समग्रतः एक अध्यापक, प्रशासक, परिवार और मित्र के रूप में उनका जीवन सार्थक था।

●

* पूर्व आचार्य– हिन्दी विभाग, म. गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

विद्वत्ता और मानवीयता के पूँजीभूत रूप

प्रो. सर्वजीत राय*

डॉ. वासुदेव सिंह मेरे बड़े भाई एवं संरक्षक के रूप में रहे हैं। काशी विद्यापीठ में आने से पूर्व मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी. फिल. करने के बाद जब मैं काशी विद्यापीठ में नियुक्त हुआ, तो डॉ. वासुदेव सिंह ने मेरी बहुत सहायता की। मैं उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ। जब मैं यहाँ नियुक्त हुआ, तो डॉ. साहब ने किराये का मकान दिलवाने और विद्यापीठ में आवास दिलवाने में मेरी बहुत सहायता की। कुछ ही दिनों में डॉ. वासुदेव सिंह से मेरा पारिवारिक सम्बन्ध हो गया।

डॉ. वासुदेव सिंह पढ़ाई-लिखाई की तरफ बराबर ध्यान आकर्षित करते रहते थे और बराबर इस बात पर जोर देते रहते थे कि पढ़ाई-लिखाई से ध्यान विचलित नहीं होना चाहिए। कक्षा में उपस्थित रहने एवं अध्यापन-कार्य करने पर बराबर उनका दबाव बना रहता था। स्वयं डॉ. वासुदेव सिंह एक विद्वान् और सफल अध्यापक थे। उन्होंने एक सफल और श्रेष्ठ विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। उनके विभागाध्यक्ष रहते हुए कई राष्ट्रीय गोष्ठियों का सफलतापूर्वक आयोजन हुआ। पुन:श्चर्या पाठ्यक्रम उन्हीं के अध्यक्ष रहते हुए सफलतापूर्वक हिन्दी विभाग में हुआ। वासुदेव सिंह की कई पुस्तकें राष्ट्रीय स्तर की हैं, जिनमें 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' एवं 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन प्रमुख है। इस कार्य में उन्होंने अथक परिश्रम किया। डॉ. वासुदेव जी में अनेक मानवीय गुण थे, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। संक्षेप में; यही कहा जा सकता है कि वह बहुत ही विद्वान् और सज्जन व्यक्ति थे, जिनमें मानवता पर्याप्त थी।

●

* पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष– महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रखर चिन्तक एवं कुशल वक्ता

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय *

प्रो. वासुदेव सिंह जी काशी की पाण्डित्य-परम्परा की एक अमूल्य कड़ी थे। उनके व्यक्तित्व में प्रखर चिन्तक एवं कुशल वक्ता का मणिकाञ्चन संयोग था। उन्हें सुनने का अवसर अनेक संगोष्ठियों में मुझे मिला था। वे ऐसे कुशल वक्ता थे कि अपनी वक्तृत्व-कला में सभी श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। आज बहुत से ऐसे कुशल एवं चमत्कारी वक्ता हैं, जो विषय से दूर हटते हुए अपने वाग्जाल से श्रोताओं को भ्रमित करने में महारथ हासिल किये हुए हैं; लेकिन प्रो. सिंह निरन्तर मूल विषय को ही अपने वक्तृत्व के केन्द्र में रखते थे। उनकी मौलिक स्थापनाओं में उनका प्राग् चिन्तक स्वरूप झलकता था। वे बिना किसी दुराग्रह एवं पक्षपात के अपनी मान्यताओं को स्थापित करते थे।

प्रो. वासुदेव सिंह जी मध्यकाल के ख्यातिलब्ध समीक्षक थे। उन्हें संत कबीर एवं महाकवि तुलसीदास– दोनों प्रिय थे। दोनों कवियों के आधिकारिक विद्वान् के रूप में उनकी ख्याति रही है। हिन्दी जगत् में कुछ समीक्षक तुलसी एवं कबीर को अपने-अपने राजनीतिक चश्मे से देखते हैं। एक की नजर में कबीर महान् कवि हैं, तो दूसरे की दृष्टि में महान कवि तुलसीदास हैं। वस्तुतः दोनों ने अपने-अपने ढंग से भारतीय चिन्तनधारा को पुष्ट करके लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया था। इस तथ्य को आज के अनेक राजनीतिज्ञ साहित्यकार झूठलाने का मिथ्या प्रयत्न करते रहते हैं। यह प्रक्रिया हिन्दी साहित्य के स्वस्थ विकास में बाधक है। प्रो. वासुदेव सिंह का लेखन इस दृष्टि से सन्तुलित है कि उन्होंने दोनों महान् कवियों के प्रति उचित न्याय किया है। उनकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा-दृष्टि हमारे लिए आज भी अनुकरणीय है।

काशी महान् साहित्यकारों एवं उद्भट विद्वानों से धीरे-धीरे खाली होती जा रही है। उन सभी विद्वत्जनों एवं आदरणीय गुरुजनों के अभाव से मानस व्यथित हो उठता है। इस महान् स्वर्गीय लोगों में प्रो. शिव प्रसाद सिंह, प्रो. भोला शंकर व्यास, प्रो. त्रिभुवन सिंह, प्रो. शुकदेव सिंह, प्रो. बच्चन सिंह, डॉ. विजय शंकर मल्ल, प्रो. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, प्रो. रामनरेश वर्मा, प्रो. शम्भुनाथ पाण्डेय, डॉ. मोहनलाल तिवारी एवं पं. सुधाकर पाण्डेय आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सभी महानुभाव न केवल काशी के गौरव थे, अपितु सम्पूर्ण देश की अविस्मरणीय महान् विभूतियाँ थीं। इसी कड़ी में, गुरुवर प्रो. विजयपाल सिंह का निधन इस व्यथा को और भी बढ़ा देता है। छात्र जीवन से लेकर अब तक इन महान् विभूतियों का सुखद साहचर्य एवं आशीर्वाद मिलता रहा है। अब उनका न मिलना एक अपूरणीय अभाव का बोध कराता रहता है। प्रो. वासुदेव सिंह के बहाने मैं उन सभी पुण्यात्माओं को भी सादर नमन करता हूँ।

●

* हिन्दी विभाग– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं पूर्व सम्पादक–'प्रज्ञा'

धुरिप्रतिष्ठ आचार्य प्रो. वासुदेव सिंह

प्रो. रामकुँवर राय*

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी का हिन्दी विभाग २०वीं शताब्दी के सातवें दशक के उत्तरार्द्ध से स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन एवं शोध-कार्य में अग्रसर हुआ। विश्वविद्यालय ने इस दिशा में विभाग को प्रतिष्ठापूर्वक स्थापित करने एवं अग्रसर करने का उत्तरदायित्व डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को सौंपा। डॉ. शर्मा को पूर्व से नियुक्त हिन्दी विभाग के सुयोग्य प्रतिभाशाली तथा परिश्रमी हिन्दी अध्यापकों का एक ऐसा सहयोगी दल मिला, जिसने अल्प समय में ही इस विभाग को काशी विद्यापीठ के स्तर पर ही नहीं, वाराणसी और आस-पास के विश्वविद्यालयों में अच्छी पहचान दिलायी। इन अध्यापकों में डॉ. केशव प्रसाद सिंह, डॉ. शम्भुनाथ सिंह, डॉ. ब्रजविलास श्रीवास्तव, डॉ. चण्डी प्रसाद जोशी, डॉ. वासुदेव सिंह तथा डॉ. युगेश्वर का नाम गण्य है। ये सभी अपने-अपने विषय-क्षेत्र के पण्डित रहे हैं। बाद में; काशी विद्यापीठ तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विभिन्न अनुबंधों के अधीन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं. करुणापति त्रिपाठी, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी आदि हिन्दी के प्रख्यात् विद्वानों का अध्यापन एवं शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला। सन् १९८० तक आते-आते वह विभाग, जिसने कभी कथाकार मुंशी प्रेमचंद जी के अध्यापन द्वारा अपने शैशव का सम्भार किया था, अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हुआ। विभागीय आचार्यों की छाया में प्राप्त किये गये हिन्दी-ज्ञान को लेकर यहाँ के प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओं ने देश के देश के कोने-कोने को सुरभित किया। अलग-अलग समय तक वह परम्परा अक्षुण्णत: आगे बढ़ रही है, अस्तु।

विभाग के उपर्युक्त प्रारम्भिक स्थायी अध्यापकों में स्वर्गीय प्रो. वासुदेव सिंह जी का नाम अपने विलक्षण अध्यापकीय व्यक्तित्त्व के लिए पर्याप्त ख्यात् रहा। आज भी उनके पढ़ाये हुए छात्र उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। वस्तुत: वे एक श्रेष्ठ आचार्य थे। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' नाट्य-ग्रन्थ में आचार्य की निर्धारणा के सम्बन्ध में एक प्रसंग आता है। दो आचार्यों (गणदास और हरदत्त) के बीच अपनी श्रेष्ठता को लेकर आपस में विवाद उत्पन्न होता है और वे राजा अग्निमित्र के पास इसके निर्णय के लिए पहुँचते हैं। इसका निर्णय मंत्री माधवसेन की भगिनी परमविदुषी कौशिकी को सौंपा जाता है। कौशिकी आचार्यत्व की श्रेष्ठता की कसौटी के लिए अपना निर्णय इन शब्दों में व्यक्त करती हैं–

''श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।
यस्योभयं साधु सः शिक्षकाणां, धुरि प्रतिष्ठाप्रयितव्य एव।।''

अर्थात् कोई गुणी तो ऐसे होते हैं, जो अपने गुण को अपने आप भली-भाँति जानते हैं और कुछ ऐसे

* भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष– म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

होते हैं, जो अपने गुण दूसरों को सिखाने में बड़े चतुर होते हैं। पर सच्चा गुणी शिक्षक वही है, जिसमें ये दोनों बातें हो और ऐसे ही गुणी को सबसे अच्छा समझना चाहिए। वस्तुत: ऐसे ही गुणों वाला आचार्य 'धुरिप्रतिष्ठ आचार्य' कहलाता है।

प्रो. वासुदेव सिंह ऐसे ही आचार्य थे। कक्षा में अध्यापन के उपरान्त, विभाग में लौटने पर, उनकी दर्प, विश्वास और संतोष से भरी आकृति आज भी मुझे याद है। मैं सच कहूँ, उनका वह अध्यापकीय व्यक्तित्व देखखर मुझे कभी-कभी रश्क होता था। वैसे; ऐसे ही आचार्यों से प्रेरणा ग्रहण कर मैंने अपने अध्यापकीय स्वरूप को कुछ-कुछ सँवारने का प्रयत्न किया। कहाँ तक सफल हो पाया, नहीं कह सकता। इसके निर्णय का भार तो शिष्य-समूह पर है।

प्रो. वासुदेव सिंह धुरिप्रतिष्ठ आचार्य होने के साथ ही; हिन्दी के मान्य समीक्षक भी थे। मैं उन समीक्षकों को अधिक तरजीह नहीं देता, जो अपने जीवन में श्रेष्ठ अध्यापक नहीं बन पाये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के छात्र जीवन में ऐसे अध्यापकों से मेरा और मेरे साथ पढ़ने वाले सहपाठियों का पाला पड़ चुका है। यदि कोई अध्यापन-क्षेत्र में है, तो उसका प्रथम धर्म अध्यापन ही है। उसके बाद ही उसके व्यक्तित्व के किसी दूसरे पक्ष को महत्त्व दिया जा सकता है। इसीलिए मैंने प्रो. वासुदेव सिंह जी के मूल धर्म और उसके प्रति उनके समर्पण की चर्चा पहले की। प्रो. वासुदेव सिंह की समीक्षा का स्वरूप व्याख्यात्मक है और वे हिन्दी-जगत् में तिलक-पद्धति की आलोचना के माने-जाने स्तम्भ रहे हैं। उन्होंने एक ओर तो प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर गहरी ऐतिहासिक शोध-दृष्टि डाली और दूसरी ओर कबीर जैसे कवियों के पूरे साहित्य की टीका लिखकर उनकी उलझाऊ पंक्तियों को सुलझाया तथा उनका मर्म प्रकट किया। हिन्दी जगत् उनके इस टीका-कर्म का ऋणी है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी इसी तिलक-पद्धति की आलोचना के पुरोधा थे। पं. मिश्र ने अपने इसी आलोचकीय कर्म के बल पर रीतिकालीन साहित्य को सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने रीतिकाल के जिस कवि को स्पर्श नहीं किया, उसकी काव्य-पंक्तियाँ आज भी लोगों के लिए दुरूह बनी हुई हैं। वाराणसी में आचार्य मिश्र के बाद प्रो. वासुदेव सिंह ने ही इस आलोचना-पद्धति का बखूबी निर्वाह किया। मेरी दृष्टि में तिलक-पद्धति का आलोचक ही साहित्य का सच्चा भावक और श्रेष्ठ कोटि का आलोचक होता है। संस्कृत साहित्य के भावकों की पूरी परम्परा इसी कोटि की रही है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के श्रेष्ठ आचार्य अभिनव गुप्त भी इसी परम्परा के अग्रदूत रहे हैं। उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थों– 'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोक-लोचन' का निर्माण किया। इसमें 'अभिनव भारती' भरत के नाट्यशास्त्र की टीका है और 'ध्वन्यालोक-लोचन' आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की टीका है। उन्होंने इन टीका-ग्रन्थों को लिखकर भी संस्कृत में मौलिक आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनका कथन था कि पूर्व में स्थापित सिद्धान्तों (तथ्यों) की ठीक से संगति बैठाने या यों कहें, व्याख्या कर देने से भी मौलिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाती है– **'पूर्वप्रतिष्ठापित योजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति।'** प्रो. वासुदेव सिंह जी इसी अर्थ में मौलिक समीक्षक हैं।

कुल मिलाकर स्वर्गीय प्रोफेसर वासुदेव सिंह जी हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ की गौरवशाली परम्परा की महत्त्वपूर्ण ही नहीं, श्रेष्ठ कड़ी थे। ऐसे आचार्य और समीक्षक को मेरा शत्-शत् नमन।

●

'मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा' के विग्रह

डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय*

किसी सरस्वती-पुत्र की सारस्वत-साधना का आकलन करना आसान काम नहीं है। विशेषत: उस सरस्वती-पुत्र की साधना का आकलन करना तो और भी कठिन कार्य है, जिसका व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी हो, जिसके चिन्तन का आकाश विस्तृत और व्यापक हो तथा जो एक साथ कई भाषाओं में निष्णात् हो। ऐसे वाणी-साधक का बहिरंग जितना व्यापक होता है, अंतरंग कहीं उससे अधिक गहरा। डॉ. वासुदेव सिंह ऐसे ही सरस्वती के वरद्-पुत्र और साहित्य-साधक थे, जिन पर हिन्दी-जगत् को नाज और ताज है।

किसी को समय बड़ा बनाता है और कोई समय को बड़ा बना देता है। कुछ लोग समय का सही मूल्यांकन करते हैं और कुछ आने वाले समय का पूर्वाभास पा जाते हैं। कुछ लोग परत-दर-परत तोड़कर उसमें वर्तमान के लिए ऊर्जा एकत्र करते हैं और कुछ लोग वर्तमान की समस्याओं से घबराकर अतीत की ओर भाग जाते हैं।

अक्टूबर, १९३५ में उत्तर प्रदेश के सीतापुर के पीतपुर ग्राम में जन्में प्रो. वासुदेव सिंह सरस्वती के ऐसे वरद्-पुत्र थे, जिन्होंने कभी समस्याओं से मुँह नहीं मोड़ा, अपितु समस्याओं पर विजय-पताका फहराकर अपनी कामयाबी का झण्डा बुलंद किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में हुई और उच्च शिक्षा आगरा विश्वविद्यालय से उन्होंने प्राप्त की। प्रो. वासुदेव सिंह बचपन से ही पढ़ने-लिखने में मेधावी थे। उन्होंने १९५६ में आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी से एम.ए. की उपाधि प्राप्त की और प्रथमीयम होकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। उन्होंने सन् १८६२ में 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' पर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन पैदा होने के कारण इनका नाम माता-पिता ने 'वासुदेव' रखा। एम.ए. पास करते ही इन्हें प्राध्यापक की नौकरी मिल गई। इन्होंने अपने प्राध्यापकीय जीवन की शुरूआत महर्षि उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी से की। तदुपरान्त, १९६२ ई. में वे सीतापुर आर.एम.पी. डिग्री कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए। तीन साल बाद पुन: काशी विद्यापीठ में व्याख्याता के रूप में आए और आजीवन यहीं अध्यापन और साहित्य-सेवा करते रहे। अक्टूबर, १९९५ में वे आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में यहीं से सेवानिवृत्त हुए। वे प्रखर वक्ता एवं अनुशासनप्रिय शिक्षक के रूप में प्रख्यात् रहे।

डॉ. वासुदेव सिंह का रचना-संसार विस्तृत एवं व्यापक है। संसार में किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके कृतित्व के आधार पर निर्मित होता है। जब कृतित्व उदात्त, विस्तृत और व्यापक होता है, तो व्यक्तित्व

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

स्वयमेव शिष्ट और विशिष्ट बन जाता है। डॉ. वासुदेव सिंह साहित्यिक जगत् में अपने कृतित्व के लिए जाने जाते थे और भविष्य में इसी के आधार पर जाने जाते रहेंगे। मध्यकालीन सन्त साहित्य, कबीर एवं अपभ्रंश और हिन्दी में जैन साहित्य इनकी विशेषज्ञता का क्षेत्र रहा है। इनकी प्रकाशित कृतियाँ अग्रांकित हैं–

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद (शोध-प्रबन्ध)
२. कबीर वाङ्मय भाग-१ : रमैनी, भाग-२ : साखी, भाग-३ : सबद
३. कबीर काव्य कोश
४. कबीर (आलोचनात्मक ग्रन्थ)
५. कबीर (सम्पादित)
६. हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन
७. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
८. मध्यकालीन काव्य-साधना
९. अयोध्याकाण्ड भाष्य
१०. सुंदरकाण्ड भाष्य
११. उत्तरकाण्ड भाष्य
१२. विनयपत्रिका भाष्य
१३. तुलसीदास (सम्पादित)
१४. सूरदास (समीक्षा एवं भाष्य)
१५. सूर-सुधा (समीक्षा ग्रन्थ)
१६. हिन्दी साहित्य का उद्भव काल (उ.प्र. हिन्दी संस्थान से पुरस्कृत)
१७. सूर : सन्दर्भ और दृष्टि
१८. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि
१९. राष्ट्रवाणी (सम्पादित)
२०. राधाकृष्ण भक्तकोश– उप सम्पादक (५ खण्डों में)
२१. श्रीराम विश्वकोश– उप सम्पादक
२२. हिन्दी साहत्य का वृहद् इतिहास (नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित १६ में तीसरे खण्ड का सम्पादन) प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी द्वारा मार्च, १९८४ में विमोचित।
२३. कबीर : साहित्य, साधना और पंथ
२४. सन्त काव्यधारा (सम्पादित)
२५. निबन्ध-निकष (सम्पादित)

प्रो. वासुदेव सिंह जीवन-पर्यन्त अध्ययन-अध्यापन और लेखन करते रहे– यह उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अपनी रचनात्मक साहित्यिक उपलब्धियों के कारण वे सदैव याद किए जाते रहेंगे। उन्होंने अपने लेखन में जिस सृजनात्मक एवं रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है, वह काबिले तारीफ है। उनकी अतिशय मेधाविता, तेजस्विता और लोकप्रियता परमेश्वर से देखी नहीं गई और उन्होंने लगभग ७३ वर्ष की आयु (२७ जनवरी, २००७) में उन्हें अपने पास बुला लिया। हिन्दी के रीतिकालीन कवि ग्वाल ने ठीक ही लिखा है कि जिसकी संसार को जरूरत है, परमात्मा को भी उन्हीं की जरूरत है।

जिसकी संसार को आवश्यकता नहीं, उनकी परमात्मा को भी आवश्यकता नहीं–

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में,
ताकी बदजाती बदजाती वहाँ उराहना।।
ग्वाल कवि परसिद्ध सिद्ध जोका है जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ वहाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाहना है, वाकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है, वाकी वहाँ चाह ना ।।

सन्तोष का विषय है कि प्रो. वासुदेव सिंह अपना भरा-पूरा परिवार छोड़ गए हैं। उनकी बड़ी पुत्री डॉ. भारती सिंह हरदोई में, छोटी पुत्री डॉ. श्रद्धा सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रोफेसर हैं। उनके बड़े पुत्र श्री सुधांशु शेखर सिंह दिल्ली में बहुराष्ट्रीय कम्पनी में प्रबन्धक हैं और उनकी पत्नी डॉ. पद्मजा सिंह दिल्ली में हिन्दी शिक्षिका हैं, जो डॉ. विजयपाल सिंह की पुत्री हैं। छोटे सुपुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज के हिन्दी विभाग में सह आचार्य (एसोसिएट प्रोफेसर) हैं और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती आरती सिंह वाराणसी में प्रधानाध्यापिका। उनकी चारों सन्तानें मानो उनके यश को चतुर्दिक फैला रही हैं। यह हर्ष का विषय है। संसार में तीन प्रकार की सन्तानें होती हैं– सुपुत्र/सुपुत्री, जो पिता से प्राप्त विरासत में योग करते हैं। इन्हें अंग्रेजी में *Gold Son* कहते हैं। पुत्र/पुत्री, जो पिता से प्राप्त विरासत को धारण किए रहते हैं अर्थात् न योग, न वियोग। इन्हें अंग्रेजी में *Hold Son* कहते हैं। कुपुत्र/कुपुत्री, जो पिता से प्राप्त विरासत में योग नहीं, वियोग कर देते हैं। इन्हें अंग्रेजी में *Bold Son* कहते हैं। यह क्रिकेट की शब्दावली है, जिसका अर्थ 'बाहर हो जाना' है अर्थात् *Bold* । मुझे यह लिखने में प्रसन्नता हो रही है कि प्रो. वासुदेव सिंह की सन्तानें *Gold* हैं। संसार में *Gold* सन्तानों का सर्वथा अभाव है, लेकिन वासुदेव बाबू की सन्तानें इसका ज्वलंत उदाहरण हैं। 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की स्थापना और उसके द्वारा उन पर पुस्तक का प्रकाशित किया जाना– गौरव का सन्दर्भ है।

डॉ. वासुदेव सिंह से अनेक बार मेरा मिलना-जुलना हुआ है। छात्र जीवन से लेकर अध्यापकीय जीवन में मैं कई बार उनसे मिला। हर बार उन्होंने अपने आचरण एवं व्यवहार से काफी प्रभावित किया है। पहली बार मैं अपने गुरुदेव डॉ. वचनदेव कुमार का सिफारसी पत्र लेकर १९८० में मिला था। उन्होंने मेरा समुचित स्वागत किया और कहा– 'इस काम के लिए आपको आने की कोई जरूरत नहीं थी। वचनदेव जी ने मुझे फोन कर दिया होता। काम हो जाता।' मैंने कहा– 'काम तो हो जाता, परन्तु मैं साक्षात् 'वासुदेव' और पवित्र वाराणसी एवं पावन गंगा के दर्शन से वंचित रह जाता। इस लोभ के कारण यहाँ तक खींचा चला आया।' उन्होंने पान खाते और हँसते हुए कहा– 'पाण्डेय जी! आप धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति के छात्र मालूम पड़ते हैं। मेरा आशीर्वाद है, आप प्राध्यापक बन जायेंगे।' सचमुच, उनके आशीर्वाद ने दैवीय चमत्कार का काम किया। मैं १९८१ में आयोग से स्थायी प्राध्यापक बन गया। ऐसा चमत्कारी व्यक्तित्व मैंने अपने जीवन में कम ही देखा है।

प्राध्यापक बनने के बाद मैंने सोचा था– एक शैक्षणिक प्रमाण-पत्र काशी विद्यापीठ, वाराणसी से प्राप्त करूँगा। सन् १९८६ की नई शिक्षा नीति के तहत शिक्षकों की प्रोन्नति के लिए 'दिशा उन्मुखीकरण'

(Orientation Course) एवं हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम *(Refresher Course)* अनिवार्य कर दिया गया। काशी विद्यापीठ, वाराणसी के हिन्दी विभाग द्वारा ७ सितम्बर, १९९४ से १ अक्टूबर १९९४ तक 'हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम' का आयोजन हुआ। मैं इसमें प्रतिभागी के रूप में सम्मिलित हुआ। कुल ४० प्रतिभागी थे। पुनश्चर्या का विषय 'काव्यशास्त्र और हिन्दी आलोचना' था। समन्वयक डॉ. सर्वजीत राय थे। देश के अनेक गणमान्य हिन्दी विद्वानों को देखने-सुनने का अवसर इस पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में मुझे मिला, यथा– डॉ. भोलाशंकर व्यास, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. विजयपाल सिंह, डॉ. केशव प्रसाद सिंह, डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह आदि।

जब कभी कोई संसाधन-सेवी व्यक्तित्व नहीं आता, वासुदेव बाबू स्वयं उस सत्र में उपस्थित होकर प्रतिभागियों का ज्ञानवर्धन करने लगते थे। उनकी अद्‌भुत वक्तृत्व-कला और ज्ञान-गरिमा से हम सभी छात्र कृतार्थ हो जाते थे। उनकी सहजता, सरलता, सादगी एवं आचरण की पवित्रता हम सबको प्रभावित किए बगैर नहीं रहती। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के कई आयाम हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण सादर प्रस्तुत है–

१. आदर्श शिक्षक– प्रो. वासुदेव सिंह आजीवन अध्ययनशील एवं कुशल शिक्षक रहे हैं। इन्होंने अपने आचरण, व्यवहार एवं अध्यापन-कला से न केवल छात्रों का, अपितु जो भी इनके सम्पर्क में आया, उन सबका दिल जीत लिया। ये बड़े अनुशासनप्रिय एवं समयनिष्ठ शिक्षक रहे हैं। ईमानदारी, समयनिष्ठा एवं कर्तव्य-परायणता इनमें कूट-कूटकर भरी थी। लोकप्रियता, सज्जनता एवं सहृदयता यदि किसी शिक्षक की श्रेष्ठता की कसौटी हो सकती है, तो डॉ. वासुदेव जी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। आदर्श शिक्षक के सारे गुण इनमें मौजूद थे। इन्होंने आजीवन शिक्षक की उस मर्यादा का अनुसरण किया, जिसे संस्कृत वाङ्मय के श्रेष्ठ महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' के निम्नांकित श्लोक में मुखरित किया है–

श्लिष्टा क्रिषा कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ताः ।
यस्योभयं साधु सः शिक्षकाणां, धुरि प्रतिष्ठाप्रयितव्य एव ।। मालविकाग्निमित्रम् ।।

अर्थात् कुछ शिक्षक की योग्यता का प्रदर्शन अपने तक के लिए होता है। कुछ दूसरों में विद्या संक्रमित करने में विशेष रूप से दक्ष होते हैं। जिस शिक्षक के पास ये दोनों विशेषताएँ होती हैं, वे ही सबसे आगे प्रतिष्ठित करने योग्य होते हैं अर्थात् कुछ शिक्षक में अनुभूति की प्रधानता होती है और कुछ में अभिव्यक्ति की। उत्तम शिक्षक वही होता है, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का मणिकांचन संयोग होता है अर्थात् स्वयं समझना और फिर छात्रों को उसी रूप में समझाना– यह शिक्षक का बहुत बड़ा गुण है। मुझे लिखने में प्रसन्नता हो रही कि प्रो. वासुदेव सिंह में अभिव्यक्ति एवं अनुभूति– दोनों गुणों का मणिकांचन संयोग रहा है। यही उनकी लोकप्रियता का मूलाधार रहा है।

२. स्वनामधन्य– संसार में नाम और काम में प्रायः विपरीत सम्बन्ध परिलक्षित होता है। हिन्दी में कहावत है– 'आँख का अंधा नाम नयनसुख।' इस लोकोक्ति के विपर्य– प्रो. वासुदेव सिंह को यदि माता-पिता एवं गुरु ने 'वासुदेव' संज्ञा प्रदान की है, तो उन्होंने अपने साधु कर्मों से इस संज्ञा को चरितार्थ किया है और अपने लेखन एवं प्रतिभा से अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित की है।

३. महान शिक्षा-प्रेमी– आज से लगभग २६०० वर्ष पहले यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने कहा था– ''मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य की चार मौलिक आवश्यकताएँ हैं– भोजन, वस्त्र, आवास एवं शिक्षा। क्रमानुसार शिक्षा भले ही चौथे स्थान पर है, परन्तु गुणवत्ता एवं महत्त्व की दृष्टि से वह पहले स्थान का हकदार है।'' स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि–

''शिक्षा ही वह तत्त्व है, जिसके द्वारा मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव है।''

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने इस बात पर बल दिया है कि शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रयत्न है। प्लेटो ने लिखा है– ''शिक्षा छात्र के शरीर और आत्मा में उस सब सौन्दर्य और पूर्णता का विकास करती है, जिसके योग्य वह है।'' अरस्तू ने भी करीब-करीब इसी विचार को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है– ''शिक्षा मनुष्य की शक्ति का, विशेष रूप से मानसिक शक्ति का विकास करती है, जिससे कि वह परम सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का चिन्तन करने योग्य बन सके।''

संक्षेप में; हम कह कहते हैं कि शिक्षा व्यक्ति का विकास करने में सहायता करती है। वह उसकी जन्मजात शक्तियों का– शैशव से प्रौढ़ता तक– इस प्रकार विकास करती है कि वह अपने वातावरण से अपना सामंजस्य स्थापित कर सकता है और उस पर अधिकार प्राप्त करके उत्तम भी बना सकता है।

भारत ऋषि एवं कृषि प्रधान देश रहा है। भारत के ऋषियों ने अपनी साधना एवं तपस्या के द्वारा जिस सत्य का साक्षात्कार किया, उसी का साकार रूप वेद-पुराण-शास्त्र एवं उपनिषद् हैं। विष्णु पुराण में कहा गया है–

तत् कर्म यन्न बन्धाय, सा विद्या या विमुक्तये ।
आया साया परम कर्मः विद्यान्या शिल्प नैपुणम् ।। विष्णु पुराण-१/१९/४

अर्थात् विद्या वह है, जो हमें मुक्ति प्रदान करती है। विद्या से अमरत्व की प्राप्ति होती है। विद्या के द्वारा हम रोग, दोष, शोक, द्वेष, पाप, दीनता, दासता, गरीबी, बेकारी, अभाव, अज्ञान, दुर्गुण, कुसंस्कार की दास्ताँ से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी विद्या को प्राप्त कराने वाले और करने वाले विद्वान् कहे जाते हैं।

४. आस्थावादी एवं अध्यात्मवादी– प्रो. वासुदेव सिंह मूलतः आस्थावादी एवं अध्यात्मवादी व्यक्तित्व के धनी रहे हैं। मनुष्य का समग्र विकास तभी हो सकेगा, जब वह अध्यात्म से जुड़ेगा, क्योंकि उनकी अवधारणा है कि– 'बिनु हरि कृपा तृणहु नहिं डोले।' ऊपर वाले की कृपा के बिना कुछ नहीं होता। अतः वे कहा करते थे कि–

प्रेम से अगर नाम राम जी का लोगे तो, बिगड़ा तुम्हारा हर काम हो जायेगा।
आस्था रखोगे अगर राम जी के नाम पर, तो सुखद तुम्हारा परिणाम हो जायेगा।
राम जी के अनुयायी बन के रहोगे तो, दिल भी तुम्हारा तीर्थ धाम हो जायेगा।
ये भी एक विशेषता 'तारेश' राम नाम की है कि मरा-मरा लिखोगे तो राम हो जायेगा।।

५. मानस-प्रेमी– वासुदेव सिंह जी के सर्वाधिक प्रिय महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी रहे हैं। उन्होंने तुलसी-साहित्य का गहन अध्ययन किया है और दूसरों को भी गहन अध्ययन की प्रेरणा देते रहे हैं। उनके शोध का विषय तुलसीदास ही थे, क्योंकि तुलसी में उन्हें लोकमंगल की भावना सर्वाधिक रूप में मिलती रही है। तुलसी का 'मानस' गंगा की तरह सबका कल्याण करने वाला है–

'कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।'

जिस प्रकार तुलसी प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं और मनुष्य एवं मनुष्य के बीच प्रेम एवं स्नेह के हिमायती हैं, उसी प्रकार प्रो. वासुदेव सिंह भी समाज एवं राष्ट्र के विकास में प्रेम की सत्ता को स्वीकार करते थे। इन्हीं गुणों के कारण आज लोग सिर्फ उन्हें याद ही नहीं करते, अपितु श्रद्धापूर्वक नमन भी करते हैं।

६. परोपकारी और त्यागी पुरुष– आज का कलयुगी मानव स्वार्थ के दल-दल में फँसा हुआ है। व्यक्ति 'स्व' की परिधि से बाहर नहीं निकल पा रहा है, जबकि व्यक्तित्व-विकास के लिए परोपकार एवं त्याग

की आवश्यकता है। त्याग प्राप्ति का प्रथम सोपान है। इस संसार में जो जितना बड़ा त्याग करेगा, वह उतने ही बड़े पद का अधिकारी बनेगा। गौतम बुद्ध इसीलिए भगवान् बन सके, क्योंकि उन्होंने जीव और जगत् के कल्याण के लिए न केवल अपने राज्य सिंहासन का, अपितु यशोधरा जैसी परम सुन्दरी जीवनसंगिनी और राहुल जैसे प्रिय पुत्र का त्याग कर दिया और भगवान् बन गए। ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त कवि कबीर ने दान एवं त्याग की महिमा का गान अपनी एक साखी में किया है–

ऋतु बसन्त याचक भया, हरषि दियो द्रुम पात।
ताते नव पल्लव पायो, दिया दूरि नहिं जात।।

अर्थात् बसन्त ऋतु की याचना करने पर प्रकृति ने अपने पत्ते दान स्वरूप बसन्त को दे दिए। फलस्वरूप पेड़-पौधों में नवीन पत्ते और फल-फूल आए। यदि वृक्षों ने कुछ न दिया होता, तो उनमें नवीन चेतना का संचार कदापि नहीं होता। महाकवि तुलसी ने भी रामचरितमानस में परोपकार की महिमा का गान किया है–

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

चारों वेदों, महाभारत और पुराणों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में यह घोषणा की है कि १८ पुराणों में दो ही बात परमसत्य है– परोपकार से पुण्य और अपकार से जघन्य पाप होता है–

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

प्रो. वासुदेव सिंह जी के व्यक्तित्व में त्याग एवं बलिदान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी।

७. निरभिमानता (अहंकार-शून्यता) के धनी– वे शिखर विजित करते चले गए सफलता और शोहरत के, लेकिन अभिमान कहीं भी उनको किसी भी प्रकार छुआ तक नहीं। स्वयं भी आगे बढ़े और दूसरों को भी आगे बढ़ाया। राष्ट्रकवि दिनकर प्रो. वासुदेव सिंह जी के प्रिय कवि थे। राष्ट्रकवि दिनकर ने लिखा है कि– यह सुधा-गरल वाली धरती केवल उसी को शीश झुकाती है, जो स्वयं के साथ दूसरों को भी बाँहें पकड़कर आगे बढ़ाने का उपक्रम करता है–

कौन बड़ाई, चढ़े शृंग पर अपना एक बोझ लेकर!
कौन बड़ाई पार गए यदि अपनी एक तरी खेकर?
अबुध-विज्ञ की माँ यह धरती उसको तिलक लगाती है,
खुद भी चढ़े, साथ ले झुककर, गिरतों को बाँहें देकर।

८. कर्मठता के पर्याय– उन्होंने अपनी कर्मठता एवं कर्तव्य-परायणता से सब कुछ पाया। मान-सम्मान, उन्नति-प्रोन्नति– लेकिन कभी भी उनको किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं हुआ। आज हर कोई प्रसिद्धि चाहता है, लेकिन प्रसिद्धि के लिए अपेक्षित साधना नहीं करता। प्रो. वासुदेव सिंह जी ने साधना से सिद्धि और सिद्धि से प्रसिद्धि पाई थी। वे साधना और सिद्धि के बेमिसाल निदर्शन हैं। वे स्वनिर्मित व्यक्तित्व *(Self Made Man)* के साक्षात् विग्रह थे। ऐसे ही कर्मठ लोगों के लिए राष्ट्रकवि दिनकर ने लिखा है–

धर कर चरण विजित शृंगों पर झण्डा वही उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।।

९. पारस व्यक्तित्व के धनी– प्रो. वासुदेव सिंह का व्यक्तित्व पारसमणि की तरह है, जिसके संस्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उसे उन्होंने सोना बना दिया। उनके अनेकशः

शिष्य इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। महाकवि तुलसी ने सच ही लिखा है–

'सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई।।'

इनके दिल में जो स्थान साधु के लिए है, वही फकीर के लिए। जो भाव मित्र के लिए है, वही शत्रु के लिए। इसलिए इनकी झोली में सज्जनता और फक्कड़ता– दोनों है। यही इनके व्यक्तित्व की निजी विशेषता है।

१०. ममता एवं समता के समन्वयक– संसार में सफलतापूर्वक जीने के लिए ममता और समता– दोनों अपेक्षित हैं। राम में ममता और संसार में समता होनी चाहिए। लेकिन होता प्राय: उल्टा है। परिणाम दु:खदायी होगा। जिनका किसी के प्रति राग-द्वेष, दु:ख-क्लेश नहीं है, उनका कल्याण अवश्यंभावी है। तुलसी की यह घोषणा है–

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार।। दोहावली-९४

महाकवि तुलसी की यह भी घोषणा है कि संसार में अनासक्त भाव से रहना है और इसके लिए इन्द्रिय-निग्रह अपेक्षित है–

तुलसी जग में यों रहो, ज्यों रसना मुख माँहि।
खाती है नित तेल-घी, तबहूँ चिकनी नाँहि।।

ममता और समता में समन्वय बनाकर जीने वाले सन्त हैं। अपरिग्रह और इन्द्रिय-निग्रह उनका जन्मजात गुण है। तुलसी ने भक्ति की रीति और सन्तों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है–

प्रीति राम सों नीति पथ, चलिय राग, रिस जीति।
तुलसी संतन के मते, इहै भगति की रीति।। दोहा-८६

जिनका वचन सत्य है, मानस विमल है और कर्म कपट-रहित है, ऐसे रघुवर-भक्तों को कलियुग भी धोखा नहीं दे सकता है–

सत्य बचन मानस बिमल, कपट रहित करतूति।
तुलसी रघुबर सेवकहि, सकै न कलिजुग धूति।। दोहा-८७

११. निष्काम कर्मयोगी– भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि– ''योग: कर्मषु कौशलम्।'' अर्थात् कर्म की कुशलता का नाम ही योग है। प्रो. वासुदेव सिंह जीवन-पर्यन्त अपने कर्मों को कुशलतापूर्वक निष्पादित करते रहे। जिन्दगी एक लहरदार एवं पेंचदार सफर है, जिसकी राहों में फूलों की नहीं, काँटों की सेज है। इधर-उधर बिखरे फूल जीवन के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु हो सकते हैं, लेकिन फूल की मुस्कान पर रीझने वाला राही दिग्भ्रमित हो सकता है। कर्त्तव्य के शिलाखण्ड से विलग होकर हतप्रभ हो सकता है। सफर लम्बा है, मंजिल दूर है। उस मंजिल तक पहुँचने के लिए अटूट साहस एवं चूड़ांत निष्ठा की अपेक्षा है। मुझे लगता है कि यात्रा-प्रारम्भ के समय रॉबर्ट फ्रॉस्ट की निम्नांकित पंक्तियाँ प्रो. वासुदेव सिंह की आँखों में बिजली की तरह कौंध गई होंगी–

The woods are lovely, dark and deep,
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep,
And miles to go before I sleep.

(Robert Frost)

हिन्दी के 'हालावादी' कवि हरिवंश राय 'बच्चन' ने उपर्युक्त पंक्तियों का सुन्दर अनुवाद किया है–

गहन सघन मनमोहक वन तरु, मुझको आज बुलाते हैं,
किन्तु किए जो वादे मैंने, याद मुझे आ जाते हैं।
अभी कहाँ आराम बदा, यह मूक निमंत्रण छलना है,
अरे! अभी तो मीलों मुझको, मीलों मुझको चलना है।।

महाभारत की नीतिपरक सूक्ति में कहा गया है कि– स्वर्ग से आए हुए जीवात्मा में चार चिह्न पाए जाते हैं– दानशीलता, वाणी में मधुरता, देवार्चनता और आचार्यता (पवित्रता एवं अनुकरणीयता)–

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके, चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसंगो मधुरा च वाणी, देवार्चनं ब्राह्मण तर्पणं च।।

संस्कृत के नीति श्लोक में कहा गया है कि– जिस प्रकार सोने की परीक्षा घर्षण, छेद, ताप और पीटने से होती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुष की परीक्षा उसकी विद्वत्ता, सुशीलता, कुलीनता और कर्मठता से होती है–

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताड़नैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा।।

उपर्युक्त सभी कसौटियों पर प्रो. वासुदेव सिंह शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं। वे स्वर्ग से आए हुए जीवात्मा थे और अपने सुकर्मों से स्वर्ग ही गए होंगे। उनकी सादगी, सरलता, सज्जनता, सहृदयता, सुशीलता, मानवीयता, उदारता, सदाशयता, कष्ट-सहिष्णुता एवं कर्मठता आने वाली पीढ़ी के लिए समादरणीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय भी है। ऐसे महान कर्मठ शिक्षाविद्, राष्ट्रभक्त समाजसेवी का परलोकगमन २७ जनवरी, २००७ को ७३ वर्ष की आयु में वाराणसी में हो गया। अब वे हमारे लिए देवतुल्य हैं–

नजरों से ऐसे जुदा हो गए हो, लगता है जैसे खुदा हो गए हो।

उनके जैसा नेकदिल इंसान मैंने अपने जीवन में बहुत कम देखा है। उनका अचानक जाना परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अपूरणीय क्षति है। उनके निधन से साहित्य-जगत् मर्माहत हो गया था।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के ३१ अक्टूबर, १९८४ को आकस्मिक निधन पर प्रसिद्ध शायर नजीर बनारसी ने जो पंक्तियाँ कही थीं, सहसा आज वह पंक्तियाँ याद आ रही हैं–

तेरे गम ने ऐसा गम दिया है, दिल दाग-दाग है।
लाखों चिराग घर में, फिर भी घर बेचिराग है।।

ऐसे साहित्य-मनीषी के लिए परमपिता परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है–

एक पंछी गा चुका है, एक पंछी और गाए।
एक बार वे आ चुके हैं, एक बार वे और आए।।

डॉ. वासुदेव सिंह साहित्य के ऐसे परमाचार्य थे, जो मन, वाणी और कर्म से एक और नेक थे। मैं जब भी उनसे मिला, बराबर रामरितमानस की चौपाई– 'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा' का संदेश देते थे और कहते थे कि जीवन में सफलता या कामयाबी चाहते हैं, तो मन, वचन और कर्म से एक रहें, नेक रहें, क्योंकि परमात्मा उसी को आशीर्वाद देता है, जो छल-कपट रहित होकर मन, वचन और कर्म से एक रहते हैं। उन्होंने इस मंत्र को अपने जीवन में साध लिया था और चाहते थे कि संसार के सभी प्राणी इस मंत्र को अपने जीवन का अभीष्ट बना लें। सचमुच, ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता होता है। ऐसे देवता को मेरा कोटिशः नमन, वंदन और अभिनंदन है।

डॉ. वासुदेव सिंह की यादें

प्रो. राधेश्याम दूबे*

काशी विद्यापीठ का अध्यापक गम्भीर स्वभाव का हो, तो आश्चर्य होता है, क्योंकि विद्यापीठ का नाम लेते ही अनेक क्रिया-कलापों की ओर ध्यान चला जाता है। समाज से जुड़ा हुआ आदमी समाज के हित की बात सोचता है, समाज की रचना की चिंता करता है और अपने ज्ञान की दिशा को निरन्तर समाज की ओर ही क्रियाशील बनाए रखता है। ऐसे अध्यापकों का विद्यापीठ निजी घर रहा है। प्रो. राजाराम शास्त्री उच्चकोटि के समाजशास्त्री थे, जो मानते थे कि युवावर्ग यदि अनुशासनहीन है, तो उसमें उसका दोष नहीं है। समाज की परिस्थितियाँ ही उसके लिए दोषी हैं। समाज की दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण ही कोई व्यक्ति अपराधी होता है।

काशी विद्यापीठ ऐसे कर्मठ, ईमानदार और चिंतनशील अध्यापकों के गढ़ के लिए प्रसिद्ध है। ऐसी संस्था ने नेतागिरी करने वाले छात्रों को भी ऐसी दिशा दी कि वे देश के भविष्य बने, कर्मठता के प्रतीक बने, भारत के लाल बने और इस प्रकार, ईमानदारी की मिसाल बने। ऐसे व्यक्ति के रूप में श्री लाल बहादुर शास्त्री का नाम लेना ही पर्याप्त है। शास्त्री जी ने काशी विद्यापीठ की 'शास्त्री' उपाधि को जीवंत बना दिया। लोग गर्व से अपने को शास्त्री कहते थे, कहलवाते थे और शास्त्री बने रहना चाहते थे। शास्त्री की उपाधि में लोगों को भारत की मिट्टी की गन्ध मिलती थी। लोग समझते थे कि इससे भारतीयता झलकती है, अपनापन लगता है। वास्तव में; काशी विद्यापीठ छात्र-जीवन की नर्सरी के रूप में विकसित हुआ। बाहर और भीतर से अनपढ़ रूप वाला युवा भी इसमें एडमिशन ले लेता था और शास्त्री की उपाधि लेकर जब निकलता था, तो स्वयं को सुन्दर स्वरूप वाला विद्वान् घोषित करता था। विद्यापीठी संस्कृति से ओत-प्रोत ऐसे युवा स्वयं को किसी से कम नहीं समझते थे। भारतीयता की पोषक यह शास्त्री-उपाधि लोगों को समाज में 'शास्त्री जी' बना देती थी। 'विमल बी.ए. पास, बाबू श्यामसुन्दर दास' की तरह 'शास्त्री' की उपाधि लोगों को समाज में सम्मान प्रदान करती थी।

ऐसी सर्वजनग्राही संस्था में डॉ. वासुदेव सिंह ने एक अध्यापक के रूप में प्रवेश लिया था और क्रमशः शिक्षा-क्षेत्र के सर्वोच्च पद को सुशोभित किया। वे काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के पद पर रहे। जब मैं डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के निर्देशन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में शोध-कार्य कर रहा था, उस समय मैं अनेक बार उनसे मिला। डॉ. वासुदेव सिंह संत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे और मैं भी संत साहित्य में शोध-कार्य कर रहा था। इस कारण मिलना-जुलना स्वाभाविक था। आज उनकी याद आती है, तो एक बात नहीं भूलती। एक अध्यापक के रूप में जैसा उन्हें देखा, उसी रूप

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

में वे प्रोफेसर पद पर आसीन हो जाने पर भी दिखे। मैं जब-जब उनसे मिला, उनका अध्यापक का रूप ही मेरे सामने आया। उनकी प्रोफेसरी उन पर हावी नहीं हुई, उनका हिन्दी विभागाध्यक्ष का रूप भी हावी होता हुआ नहीं दिखा। व्यवहार की सहजता बराबर बनी रही।

डॉ. वासुदेव सिंह काशी विद्यापीठ के प्रांगण में ही प्राध्यापक-आवास में रहते थे। मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से १९७० ई. में एम.ए. (हिन्दी) की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसके बाद डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के निर्देशन में शोध-कार्य प्रारम्भ किया। शोध-कार्य करते हुए मैं अनेक बार उनके निवास स्थान पर गया। शोध के सन्दर्भ में जब भी उनसे बात होती थी, वे कहने लगते थे कि– 'तुम्हारे गुरु तो नाथ और संत साहित्य के मर्मज्ञ हैं, इसलिए शोध के लिए तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।'

मैंने अपना शोध-प्रबन्ध दिसम्बर, १९७२ ई. में जमा कर दिया। उसके बाद रोजी-रोटी के सन्दर्भ में निरन्तर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, लाला भगवान 'दीन' विद्यालय आदि के चक्कर लगने लगे। बाद में चलकर, डॉ. साहब और डॉ. नागेन्द्रनाथ जी उपाध्याय के सहयोग से, नागरी प्रचारिणी सभा में मुझे रख लिया गया। सभा में बराबर डॉ. वासुदेव सिंह जी से भेंट होती थी और उनका सहज स्नेह मिलता रहता था। वे हमेशा सांत्वना देते थे। उन्होंने कभी मुझे पढ़ाया तो नहीं, किन्तु एक गुरु की तरह संतोष का पाठ अवश्य पढ़ाया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. विजयपाल सिंह की कृपा से मैं अगस्त, १९७३ ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सांध्य महाविद्यालय में हिन्दी का लेक्चरर नियुक्त हो गया। फिर क्या था, एक अध्यापक की गाड़ी चल पड़ी। हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य ही मुख्य हो गया। भक्तिकाल पर कार्य करते हुए मैंने डॉ. साहब की पुस्तकें पढ़ीं। 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' तथा 'कबीर वाङ्मय' का मैंने विशेष रूप से अध्ययन किया। संत साहित्य को समझने के लिए कबीर वाङ्मय का अध्ययन आवश्यक है।

डॉ. वासुदेव सिंह जी अब स्मृतिशेष हैं और उनकी स्मृतियाँ ही अब धरोहर हैं। जब उनकी याद आती है, तो एक अध्यापक सहज भाव से सामने खड़ा दिखाई देने लगता है। कहीं से कोई बनावट नहीं, दिखावा नहीं और बनताऊपन भी नहीं। जब भी वे मिलते, सीधे ढंग से पूछते– 'क्या हो रहा है? आपके गुरु जी (अर्थात् डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय) का क्या हाल है?' आदि-आदि। मिलने-जुलने का यह भाव आज की दुनियाँ में बहुत मायने रखता है। यही भारतीय संस्कृति की पहचान है, जिसे बनाए रखने की आवश्यकता है। वे अपने से बड़ों के प्रति आदर तथा छोटों के प्रति स्नेहिल व्यवहार करते थे। हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में उनका व्यवहार सराहनीय था। सहयोगी अध्यापकों, कर्मचारियों और छात्रों के प्रति वे बन्धुता एवं आत्मीयता का भाव रखते थे। कुल मिलाकर सहजता, सरलता, गम्भीरता और विनोदप्रियता का अद्भुत संयोग डॉ. साहब के व्यक्तित्व में दिखाई देता था। यही उनकी स्मृतियों की थाती है, जो आज हमें प्रेरणा प्रदान करती है। उस थाती को मैं शत्-शत् नमन करता हूँ।

●

प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृति

प्रो. वी. के. कुमरा*

काशी विद्यापीठ के ही नहीं, काशी के गौरव डॉ. वासुदेव सिंह अपने विषय के आधिकारिक विद्वान् तो थे ही, साथ ही; इतिहास, पुराण, संस्कृति आदि के भी अद्‌भुत व्याख्याता थे। डॉ. साहब स्मरण शक्ति के धनी थे। उनके सम्पर्क में मैं सन् १९८५ में आया था। एक बार मुझे डॉ. साहब के साथ कई दिनों तक समय बिताने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जब मैं प्रो. त्रिभुवन सिंह, डॉ. विजय बहादुर सिंह आदि एक साथ दक्षिण भारत की यात्रा पर गए थे। ट्रेन के एक ही कम्पार्टमेण्ट में ऊपर-नीचे, आमने-सामने की छः बर्थ में से एक पर मैं भी था। बनारस से कन्याकुमारी तक की यात्रा थी। एक तरफ की यात्रा में तीन दिन एक साथ ट्रेन में, वो भी इतने सघन रूप में। उन दिनों डॉ. साहब से यात्रा के दौरान जो कुछ भी मुझे ज्ञानार्जन हुआ था, उसका मुझे आज भी तमाम गतिविधियों में कार्य करते समय लाभ मिलता है।

विद्वत्ता और अहंकार प्रायः पर्याय हो जाते हैं– लेकिन डॉ. साहब इसके अपवाद थे। उनका जीवन अत्यन्त सरल-सहज और निश्छल था। प्रथम परिचय में ही अपनी विद्वत्ता और सरलता से वे सभी को अपना बना लेते थे। कृत्रिमता में उनका विश्वास न था।

ऐसे मनीषी साधक और आदर्श अध्यापक प्रो. वासुदेव सिंह को उनकी पुण्यतिथि पर मैं हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए शत्-शत् प्रणाम निवेदित करता हूँ।

●

* पूर्व छात्र अधिष्ठाता एवं अध्यक्ष– भूगोल विभाग का.हि.वि.वि. वाराणसी

आदर्श शिक्षक एवं साहित्य-समीक्षक

प्रो. परमानन्द सिंह *

प्रो. वासुदेव सिंह हमारे स्मृति-पटल पर एक आदर्श शिक्षक एवं हिन्दी साहित्य के मौलिक चिन्तक के रूप में उभरते हैं। मनीषी साहित्यकार प्रो. सिंह ने जहाँ एक ओर दो दर्जन से अधिक मौलिक ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन किया, वहीं दूसरी ओर निष्ठापूर्वक नियमित कक्षाओं में उपस्थित होकर अध्यापन एवं कई दर्जन छात्रों को डी.लिट्, पी-एच.डी. एवं एम.फिल. उपाधि हेतु शोध-निर्देशक के रूप में विद्यादान किया।

काशी विद्यापीठ में अध्यापन के दौरान इनका संरक्षण, सान्निध्य एवं स्नेहिल सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त हुआ। जहाँ मानविकी एवं छात्रकल्याण संकाय के संकायाध्यक्ष, गृहपति एवं मुख्य विनयाधिकारी के रूप में इन्होंने अपनी प्रशासनिक क्षमता का परिचय दिया, वहीं प्राध्यापक, उपाचार्य, आचार्य एवं विभागाध्यक्ष के रूप में अपने अध्यापकीय दायित्व के प्रति सजग एवं सचेत रहकर एक आदर्श शिक्षक की भूमिका का भी निर्वहन किया।

साहित्य-समीक्षक के रूप में आपका योगदान हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है, जिसका मूल्यांकन हिन्दी के सुधी पाठक एवं अध्येता करेंगे, किन्तु हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, हिन्दी साहित्य का उद्भव काल तथा प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य, सूर, तुलसी एवं कबीर वाङ्मय का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए, विवेच्ययुगीन राजनीतिक-सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों पर प्रकाश डालते समय, इतिहास की घटनाओं का जिस तरह से उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण-निरूपण एवं विवेचन किया है, उससे इतिहास के प्रति इनकी संचेतना और सजगता दृष्टिगोचर होती है। इतिहास की घटनाओं का निहितार्थ समझने एवं साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव को जाँचने में वे अद्वितीय थे। ऐतिहासिक चेतना एवं साहित्यिक संस्कार ने इनके व्यक्तित्व को बहुआयामी बना दिया। इनका व्यक्तित्व, कृतित्व एवं कर्तृत्व साहित्य एवं इतिहास– दोनों के लिए प्रेरक है। साहित्य-समीक्षक एवं इतिहास-चिन्तक के रूप में इनका योगदान चिरस्मरणीय एवं अनुकरणीय है।

प्रो. वासुदेव सिंह का मानवीय पक्ष भी बहुत विराट् था। बड़ों के प्रति आदर भाव एवं छोटों के साथ स्नेहिल व्यवहार इनके व्यक्तित्व की विशेषता थी। अपने सहयोगी अध्यापकों, कर्मचारियों एवं छात्रों के प्रति आत्मीयता एवं बन्धुता का भाव इनके आचार-विचार एवं व्यवहार में दृष्टिगोचर होता था। इनका व्यक्तित्व सहजता, सरलता, गम्भीरता और विनोदप्रियता का अद्भुत संगम था। इनके सान्निध्य में मुझे सदैव पुत्रवत् स्नेह मिला। इनकी स्मृतियों को मेरा कृतज्ञ हृदय प्रणाम करता है।

परम आदरणीय स्व. प्रो. वासुदेव सिंह की पावन स्मृति को शत् शत् नमन।

●

* पूर्व विभागाध्यक्ष– इतिहास विभाग, म.गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

अग्रज को स्मरण करते हुए

प्रो. महेन्द्र नाथ राय*

कर्म से अधिक कुछ पवित्र नहीं होता। जिसका जीवन सोद्देश्य एवं साभिप्रायपूर्ण होता है, उसके विचलन की कम सम्भावना होती है। डॉ. वासुदेव सिंह जी से मैं जब भी मिला, वे किसी-न-किसी ज्ञान के सारस्वत-यज्ञ में संलग्न मिले। व्यर्थताबोध का कभी उन्होंने दुःखड़ा नहीं सुनाया, रोना नहीं रोया। मैं उनकी हमेशा प्रशंसा इसलिए भी करता रहा, क्योंकि उन्हें हमेशा बड़ी आत्माओं के संसर्ग में पाया। कभी ठाकुर जयदेव सिंह, तो कभी डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के निकटतम साहचर्य में रहते हुए वे आजीवन संत-साहित्य का मर्म खोलते रहे, कबीर की कविताई को जनसामान्य के लिए सरल और सुबोध बनाते रहे। आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रतियोगी परीक्षाओं में अपना एक विषय चयनित करने वाले परीक्षार्थी डॉ. सिंह की व्याख्या और विवेचना से निरन्तर लाभान्वित हो रहे हैं और अपने प्रयोजन में उन्हें पढ़ते हुए सफल मनोरथ हो रहे हैं।

डॉ. सिंह ने काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में अपने सहयोगियों के मध्य एक निष्ठावान, सुलझे हुए लोकप्रिय अध्यापक की छवि बनाई थी। अध्यापन के प्रति उन्होंने कभी विरागभाव नहीं दर्शाया। मात्र उन्हें सुनने के लिए उनके विद्यार्थी कई-कई कक्षाओं के अन्तराल को बर्दास्त कर काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग की कक्षाओं में संध्याकाल तक बने रहते। पढ़ाने में उन्हें सुख मिलता। पढ़ाकर वे उन्हें तो कृतार्थ करते ही, स्वयं भी कृतार्थता का अनुभव करते। निरन्तर लिखना, पढ़ना-पढ़ाना उन्हें हमेशा प्रीतिकर लगता रहा। मैं समझता हूँ कि एक अध्यापक के व्यक्तित्व का यही धनात्मक पहलू है और डॉ. सिंह ने आजीवन इन सबको पूरी निष्ठा और दायित्वबोध के साथ सम्पन्न करते हुए एक आदर्श अध्यापक की छवि निर्मित की। कुशल अध्यापन के साथ हिन्दी के आदिकालीन साहित्य, भक्ति साहित्य और विशेष रूप से कबीर और तुलसी पर जो स्तरीय लेखन उन्होंने किया है तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास को साधु ढंग से जो क्रमबद्धता दी है– उनके लिए वे हमेशा स्मरण किये जाएँगे। अपने छात्र-छात्राओं एवं आत्मीयों की पुनीत स्मृतियों में वे हमेशा बने रहेंगे। उनका स्मरण मुझे भी हमेशा क्रियाशील बने रहने की प्रेरणा देता है।

●

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रोफेसर वासुदेव सिंह की याद

डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र *

प्रोफेसर वासुदेव सिंह जी से किसी रूप में मेरी बहुत अधिक निकटता थी– इसका दावा मैं नहीं कर सकता। शिष्य, मित्र, पड़ोसी, सम्बन्धी या कोई ऐसा सूत्र नहीं है, जिसके माध्यम से मैं उनके साथ स्वयं को निकटता से जोड़ सकूँ। फिर भी; मैं जानता हूँ कि मैं बीसों वर्ष तक उनके अति आत्मीयजनों की सूची में था और वे भी मेरे लिए अत्यन्त श्रद्धास्पद और निकटतम अग्रजों की कोटि में अग्रगण्य थे।

उनके न रहने पर आाज सोचता हूँ कि वह कौन-सा सम्बन्ध-सूत्र था, जिससे हम दोनों इतनी निकटता से जुड़े हुए थे। जो भी था, इतना तो निश्चित है कि इसका अधिक श्रेय उनको ही था। वे एक बड़े आचार्य थे। महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में आचार्य और अध्यक्ष के रूप में एक बड़े पद के दायित्व की व्यस्ततापूर्ण जीवनचर्या थी उनकी। इसके पहले भी अत्यन्त निष्ठापूर्ण और ईमानदार अध्यापक का दायित्व सँभालते हुए लेखन की बड़ी-बड़ी योजनाएँ उनके साथ थीं। ठाकुर जयदेव सिंह जैसे मनीषी विद्वान् के साथ कबीर वाङ्मय का अनुशीलन एवं विमर्श हो या काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना हो, जबसे मैंने उन्हें जाना, वे अक्षरों की दुनिया के एक बड़े साधक थे। तमाम मनीषियों का सान्निध्य उन्हें प्राप्त था और सभी उनकी विद्वत्ता का सम्मान करते थे। इस वस्तुस्थिति के बावजूद उन्होंने कभी अनुजों की उपेक्षा नहीं की। लिखने-पढ़ने की जिसमें थोड़ी-बहुत रुचि, गति और सम्भावना दिखलाई पड़ती थी, उसके लिए उनके पास कभी समय का अभाव नहीं रहता था। उनकी व्यस्तता चाहे जितनी हो, किन्तु जिज्ञासुओं के लिए वे अपनी सम्पूर्ण सहजता के साथ सुलभ रहते थे। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता थी, जिसके कारण उनकी आत्मीयता के दायरे में मेरे जैसे दूरस्थ व्यक्ति का सहज प्रवेश था।

उनका बड़प्पन कभी किसी जिज्ञासु को आतंकित नहीं करता था। विद्याभिमानी अवश्य उनसे आतंकित हो सकते थे, किन्तु सामान्य जिज्ञासु उनसे मिलकर हर हालत में प्रसन्नता, संतुष्टि एवं तृप्ति का ही अनुभव करता था। वे हर आदमी से उसके स्तर पर, उसके समकक्ष की तरह बात कर सकते थे। पाण्डित्य का दम्भ कभी उनके पास फटका ही नहीं। मिलते ही– 'का हो, कैसे?' कहते हुए पान घुलाते वे इस तरह आत्मीयता के साथ सम्बोधित करते कि सामने वाला बेहिचक उनसे अपनी बात कह देने के लिए उत्साहित होता था। बात यदि साहित्य-विमर्श से सम्बन्धित हुई, तो उनसे त्वरित और स्पष्ट समाधान मिल ही जाता था, इसमें सन्देह नहीं। साहित्येतर विषयों में भी उनके विचार बहुत सुलझे हुए तथा निर्दोष होते थे, क्योंकि वे 'छक्का-

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज, वाराणसी

पंजा' नहीं जानते थे। 'ऊधो का लेना, न माधो का देना'– इस भाव से वे किसी तात्कालिक समस्या को सुनते थे और अपना दो टूक विचार व्यक्त करते थे। ऐसे अवसरों पर दूसरों के विचार जानने के बाद उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ, तो वे तुरन्त अपने पहले वाले निष्कर्षों में संशोधन कर लेते थे। ऐसे नमनीय और सहिष्णु व्यक्ति कम मिलते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति की बैठकों तथा अनेकानेक साहित्यिक गोष्ठियों में उनकी इस विशिष्टता के प्रत्यक्ष साक्षात्कार का अवसर मुझे मिलता रहा और इस विषय में मैं अनायास ही उनसे एक सीख प्राप्त करता रहा।

उनकी सरलता, उदारता, विनम्रता और स्वाभाविकता कभी किसी परिस्थिति में बाधित नहीं दिखलाई पड़ी। जहाँ शास्त्र की बात आती थी, वहाँ वे अड़ते थे और और कोई बड़ा-से-बड़ा स्थापित विद्वान् भी उन्हें झुका नहीं सकता था। किन्तु, ऐसे अवसरों पर भी उनकी स्थापनाओं में कहीं अहम्मन्यता नहीं देखी जा सकती थी। पूरी मर्यादा और विनम्रता के साथ, शास्त्र-प्रमाण के आधार पर वे अपने मंतव्यों की स्थापना करते थे। शास्त्र के ही आधार पर कोई नया विद्यार्थी भी कोई नयी बात जोड़ सके, तो उसे ग्रहण करके वे प्रसन्न होते थे; किन्तु किसी को प्रसन्न करने के लिए निराधार स्थापनाओं से कभी सहमति नहीं व्यक्त कर सकते थे। कबीर के सम्बन्ध में तथाकथित प्रगतिवादी व्याख्याताओं से उनकी सहमति कभी नहीं बन पाई। कबीर का 'टेक्स्ट' जो कह रहा है, उसके परे जाकर कुछ कहना, उनकी दृष्टि में एक बेमतलब की फतवेबाजी थी। इसीलिए वे एक समान सहजता के साथ कबीर और तुलसी– दोनों का रस ले सकते थे। यही नहीं; आदिकाल या रीतिकाल या अद्यतन से अद्यतन आधुनिक साहित्य का भी बड़ी खूबी के साथ रस लेते थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि वे पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त होकर साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त होते थे। जिसका जो प्राप्य है, वह उसे मिलना चाहिए। यह सिद्धान्त उन्होंने सदैव जीवन और साहित्य– दोनों ही क्षेत्रों में अपनाया और निभाया। इसीलिए अच्छे साहित्यकार होने के पहले वे एक अच्छे आदमी थे। वे बहुत अच्छे अध्यापक थे, किन्तु उसके पहले वे एक बहुत अच्छे गृहस्थ थे। एक अच्छा गृहस्थ ही मुखिया की वह भूमिका निभा सकता है, जिसके विषय में तुलसीदास कह गये हैं–

मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान सों एक।
पालइ पोसइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।।

प्रो. वासुदेव सिंह को जितना मैंने देखा और जाना, वे हर क्षेत्र में जीवन-पर्यन्त मुखिया की यही भूमिका निभाते रहे और इसी कारण उनका अभाव आज भी खटकता रहता है। उनकी पुण्यतिथि के अवसर पर विनम्र श्रद्धांजलि।

●

प्रो. सिंह की कृतियों से अभिप्रेरणा की सुगंध आती रहेगी

प्रो. श्यामधर सिंह*

कहते हैं, महान् पुरुष अपने शरीर में कम जिया करते हैं, वे तो अपनी कृतियों में ही जीवित रहा करते हैं। काशी विद्यापीठ परिसर में मेरा मन प्रो. वासुदेव सिंह जी की रचनाओं के साथ रहता रहा है। मुझे लगता है कि हिन्दी साहित्य के जिस विशाल क्षेत्र में प्रो. वासुदेव सिंह का आगमन हुआ, वे उस विद्या मन्दिर की महान सीढ़ी हैं, जिसमें हिन्दी-जगत् का शील, उसकी संस्कृति, उसका पुरुषार्थ, उसका आस्तिक्य एवं तर्कणा-शक्ति विलक्षण अनुपात में समाविष्ट थी। प्रो. वासुदेव सिंह, जिनकी कर्मभूमि काशी विद्यापीठ रही, इहलीला महाकाल की गोद में २७ जनवरी, सन् २००७ ई. को सदा के लिए समा गई। चिन्मय का स्थूल शरीर अंगारों को सौंप दिया गया और वह पंचतत्त्व में विलीन हो गया। कहना न होगा कि प्रो. वासुदेव सिंह भारतीय सन्त मनीषा के मूर्तिमान स्वरूप थे।

प्रो. सिंह ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की थी। इस विराट् व्यक्तित्व के गह्वर में प्रवेश कर प्रो. वासुदेव सिंह ने उनकी विशिष्टताओं को जिस रूप में आत्मसात् किया था, वह उनके सुविज्ञ अध्येताओं को भी विस्मय-विमुग्ध कर देती थी। प्रो. सिंह ने विगत तीन-चार दशकों में हिन्दी साहित्य के विकास में विविध सन्दर्भों में योगदान किया है। अपने जीवन की लोकयात्रा-काल में उन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों का विरचन किया है, जिनकी एक लम्बी सूची है। इस सूची की कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का उल्लेख यहाँ हम कर सकते हैं, यथा– हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल, हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, कबीर वाङ्मय, कबीर काव्य कोश, कबीर-वाणी पीयूष, कबीर : साहित्य, साधना और पंथ, हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, अयोध्याकाण्ड भाष्य, सुन्दरकाण्ड भाष्य, उत्तरकाण्ड भाष्य, विनयपत्रिका भाष्य, सूर : सन्दर्भ और दृष्टि, तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि, राधाकृष्ण भक्त कोश (पाँच खण्डों में), श्रीराम विश्वकोश इत्यादि। उनकी अन्तिम दो रचनाएँ सम्पादकीय ग्रन्थ हैं। सम्पादक के रूप में प्रो. वासुदेव सिंह के कृतित्व के उद्देश्य, क्षेत्र और आयोजन में पर्याप्त विस्तार लक्षित होता है। उन्होंने साहित्यिक सहकारिता को व्यावहारिक रूप दिया और ग्रन्थ-सम्पादन में चुने हुए विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया। इस दृष्टि से उन्होंने सन्त प्रो. भगवती प्रसाद सिंह एवं ठाकुर जयदेव सिंह जैसे प्रकाण्ड पण्डितों का सहयोग लिया। इसके अतिरिक्त; उनके विविध लेख, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे।

उनकी रचनाधर्मिता, जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है, उसका अविकल प्रतिबिम्ब उनके व्यवहार-दर्शन और उनके स्वभाव में मिल जाता है। मनुष्य के व्यावहारिक चरित्र का सबसे सुदृढ़

* पूर्व प्रोफेसर– समाजशास्त्र विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

आधार-स्तम्भ अपने प्रति, अपने कार्य के प्रति और समाज के प्रति सच्चाई है। प्रो. वासुदेव सिंह के स्वभाव की स्पष्टवादिता और निर्भीकता उनकी ईमानदारी के ही सुपरिणाम हैं। स्पष्टवादिता के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार मुझसे एकबार इस प्रकार व्यक्त किये थे– 'स्पष्ट उक्ति के बिना मुझे कभी शक्ति नहीं मिलती। गलत बात करने से अपने मन को ग्लानि होती है, मौन रहने से काम नहीं चलता और बात को छिपाना बहुत देर तक सम्भव नहीं होता। इसलिए, स्पष्ट कथन को मैंने सिद्धान्त और नीति– दोनों ही रूप में स्वीकार कर लिया है।'

प्रो. वासुदेव सिंह का व्यक्तित्व बहुआयामी था। एक प्राध्यापक के रूप में, कक्षाकक्ष में हर समय विद्यार्थियों को नवीन से नवीनतम मौलिक सूत्रों से अवगत कराते रहे। कोई भी प्रसंग हो, कोई भी विषय हो– उसके स्पष्टीकरण में छोटे-छोटे वाक्यों की मणिमाला पिरोते चले जाते थे। हर विद्यार्थी को लगता कि वे सहज व सरल ढंग से उसी के लिए बात कर रहे हैं। धीरे-धीरे बात खुलती कि इस सहजता के पीछे कितना अनुभव है, कितना ज्ञान है, कितनी विषय-निष्ठा है।

उनका प्रतिदिन का जीवन अत्यन्त सादा था। उनके व्यवहार में बड़ी सहजता थी। अपने मन, वचन और कर्म में वे प्रखरता और करुणा के अद्‌भुत संगम थे। घर में अधिकांश समय किताबों का स्वाध्याय, लेखन, तौलकर लिखना-लिखाना या फिर मित्र-अभ्यागतों से बातचीत में बिताते थे। उनका हृदय इतना उदार और विशाल था कि उनके द्वार से कोई विरला ही हो, जो खाली हाथ लौटा हो। अब दूसरी बात है कि वे सभी लोग, जिन पर उन्होंने कृपा और अनुग्रह दर्शाया, वे उसके लायक निकले या नहीं। उनके कुछेक शिष्य बाद में अकृतज्ञ हो गये। परन्तु, यह सब तो 'एकेडमिक' जीवन में भाग लेने वालों के साथ होता ही है। मैंने कभी उन्हें ऐसे नाशुक्रों के बारे में गुस्सा होते हुए या उनके विरुद्ध कोई बदला लेते हुए नहीं देखा। जो भी विज्ञ पुरुष आपके सम्पर्क में आये, आपके मधुर एवं ज्ञान-गर्भ व्यक्तित्व से प्रभावित रहे। विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा प्राध्यापकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों एवं समस्याओं का अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उत्तर देना उनकी नियति थी।

सन्त साहित्य के चितेरे प्रो. वासुदेव सिंह जी आज हमारे बीच नहीं रहे, किन्तु आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रकाश आज भी चमक रहा है, जो हम सभी को सदा अग्रसरित होने के लिए प्रेरित तथा प्रोत्साहित करता रहेगा। प्रो. सिंह की पुण्यतिथि के अवसर पर प्रकाशित स्मृति-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में स्मृति-संचारी मंगलाचरण का स्वरूप धारण करे– यही मेरी कामना है।

साहित्य की नवीन पीढ़ी, नवीन युग को दृष्टि में रखकर प्रो. वासुदेव सिंह द्वारा विरचित ग्रन्थों का अध्ययन एवं मूल्य-निरूपण करे– इसी मंगलकामना के साथ हम प्रो. सिंह जी की पावन स्मृतियों पर अपनी सुमनांजलि अर्पित करते हैं।

●

कृति साहित्यकार

डॉ. विजय नारायण सिंह*

हिन्दी के कृति साहित्यकार के रूप में ख्यात् डॉ. वासुदेव सिंह को दिवंगत हुए अनेक वर्ष हो गए हैं, परन्तु वे साहित्य-अध्येताओं और अपने शिष्यों की स्मृति में पूर्ववत बने हुए हैं और वे युगों तक अपने महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अवदान के लिए स्मरण किए जाएँगे।

डॉ. वासुदेव सिंह का जन्म सीतापुर जनपद के एक सम्मानित क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा उन्होंने सीतापुर से प्राप्त की। बी.ए. की उपाधि उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से अर्जित की। तत्पश्चात् अपने निकट सम्बन्धी प्रो. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के संरक्षकत्व में रहकर आगरा विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिन्दी) की उपाधि प्रथम श्रेणी में, प्रथम स्थान के साथ प्राप्त की। उन्हें गोल्ड मेडल भी प्राप्त हुआ। शिक्षा पूर्ण कर वे सीतापुर से वाराणसी के उदय प्रताप क्षत्रिय इण्टर कॉलेज में चले आए। यहाँ के वरिष्ठ अध्यापक डॉ. मोती सिंह के सहयोगी रहे। उन्हीं के माध्यम से डॉ. वासुदेव सिंह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क के आए और उन्हीं के निर्देशन में शोध-कार्य कर पी-एच.डी. हुए। इसी बीच वे कुछ काल के लिए सीतापुर के आर.एम.पी. डिग्री कॉलेज में विभागाध्यक्ष होकर चले गए। पुनः सन् १९६५ ई. में वे काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में नियुक्त हुए।

डॉ. वासुदेव सिंह ने 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर शोध किया था। हिन्दी में अपने विषय पर यह शोध-कार्य बहुचर्चित है। डॉ. सिंह ने जैन मठों और संस्थानों की यात्रा कर भारी मात्रा में अप्रकाशित सामग्री को अपने शोध-ग्रन्थ में समाहित किया। डॉक्टर साहब ने पूरी तैयारी के साथ 'हिन्दी साहित्य का उद्भव काल' शीर्षक से हिन्दी के आदिकाल का इतिहास लिखा। यह ग्रन्थ अनेक नए तथ्यों से संवलित है। तत्पश्चात् डॉक्टर सिंह ने मनीषी ठाकुर जयदेव सिंह के सान्निध्य में रहकर 'कबीर ग्रन्थावली' का व्याख्या सहित सम्पादन किया। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ से डॉ. सिंह को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। उन्होंने स्वतंत्र रूप से 'कबीर काव्य कोश' का सम्पादन किया। इस कोश से कबीर-काव्य में प्रयुक्त शब्दावली को सहज ही समझने में सुविधा हुई है। एक अन्य ग्रन्थ कबीर के काव्य-दर्शन, भक्ति आदि को लेकर डॉक्टर साहब ने लिखा है। उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। इस ग्रन्थ का आदिकाल और मध्यकाल नए तथ्यों और व्याख्याओं से समन्वित है। हिन्दी के इतिहास-लेखन में यह ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त; डॉक्टर सिंह ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' के कई खण्डों में सह सम्पादन का कार्य किया और अनेक अंशों का लेखन भी किया।

* अवकाश प्राप्त रीडर– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

गोरखपुर विश्वविद्यालय के स्वर्गीय डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के साथ डॉक्टर साहब ने 'राधाकृष्ण भक्त कोश' का श्रम-साध्य कार्य भी किया। देश के विभिन्न स्थानों से प्रकाशित ग्रन्थों और स्मारिकाओं में डॉक्टर साहब के शताधिक निबंध सादर प्रकाशित किए गए हैं। उनके लेखन का एक बड़ा भाग अभी अप्रकाशित है। उसे प्रकाशित करने में उनके कनिष्ठ पुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह लगे हुए हैं।

डॉक्टर साहब ने काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में अनेक साहित्यिक गोष्ठियों का संयोजन भी किया। ऐसी गोष्ठियों में 'मानस चतुश्शती' और 'सूर पंचशती' तो अखिल भारतीय स्तर की थी। मानस सम्बन्धी संगोष्ठी नौ दिनों तक चली थी। इसमें पचासों की संख्या में देश भर के मानस-मर्मज्ञ विद्वानों ने भाग लिया था, जिनमें मनीषी ठाकुर जयदेव सिंह, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रो. भगीरथ मिश्र, प्रो. उदयभानु सिंह आदि प्रमुख थे। 'सूर पंचशती' का आयोजन भी तीन दिन का था। इसमें भी देश भर के विद्वानों ने भाग लिया था। समय-समय पर काशी आने वाले विद्वानों को आमन्त्रित कर अपने छात्रों को डॉक्टर साहब लाभान्वित करते रहते थे। उन्हीं के निर्देशन में एम.ए. के छात्रों की 'साहित्य परिषद्' कार्य करती थी। इस परिषद् में भी विद्वानों को भाषण करने के लिए आमंत्रित किया जाता था। कालान्तर में उनके द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से दो पुनश्चर्या कार्यक्रम भी आयोजित किये गए। तात्पर्य यह कि डॉक्टर साहब ने काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग को साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बना दिया था। विभाग की सारी गतिविधियों पर डॉक्टर साहब की सुखद छाया थी।

मैं बी.ए. (शास्त्री) और एम.ए. में उनका छात्र रहा। मैंने बी.ए. प्रौढ़ावस्था में किया, अत: डॉक्टर साहब मुझसे मित्रवत व्यवहार करते थे। उनके सान्निध्य से मेरे अन्दर साहित्यिक समझ विकसित हुई। उन्हीं ने मुझे शोध-कार्य सम्पन्न करने में पूरी सहायता की। पी-एच.डी. करने के बाद मेरी नियुक्ति काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में अध्यापक पद पर हुई। इस प्रकार, मैं डॉक्टर साहब का विभागीय सहयोगी बन गया। उनके साथ मैंने 'राष्ट्रीय शैक्षिक शोध और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली' के 'हिन्दी साहित्य कोश' के लेखन सम्बन्धी कार्यशाला में अनेक बार लम्बी यात्राएँ कीं। राष्ट्रीय शैक्षिक शोध और प्रशिक्षण परिषद् की मद्रास (चेन्नई) की यात्रा में उनके कार्य-कौशल से सभी प्रभावित हुए थे। उन्हें जो प्रविष्टियाँ लिखनी होती थीं, उन्हें वे उत्तम रूप में हम लोगों से पहले ही लिख लेते थे। हैदराबाद की यात्रा में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' में उन्हें भाषण देने को आमंत्रित किया गया। डॉक्टर साहब ने तुलसी-साहित्य पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया। इसी तरह, कलकत्ता और दिल्ली की कार्यशालाओं में भी डॉक्टर साहब अपने कार्य-कौशल और सद्व्यवहार से सर्वप्रिय बने रहे।

डॉ. वासुदेव सिंह कुशल वक्ता, सफल अध्यापक, प्रसिद्ध साहित्यकार और मानवीय गुणों से सम्पन्न व्यक्तित्व के धनी थे। मैं अपने अध्यापक और शुभेच्छु स्वर्गीय डॉ. वासुदेव सिंह की पावन स्मृति को श्रद्धांजलिपूर्वक नमन करता हूँ।

●

श्रद्धार्पण

*प्रो. रामजी शर्मा**

मनुष्य का आत्मभौतिक स्वरूप पंचतात्त्विक प्रकृति-पुरुष की देन है। उसकी साकार चेतना बुद्धि, वाणी और कर्म से लोकमानस की निर्मात्री है। उसका कर्तृ, कर्म और क्रिया-भाव ही जीवन प्रदाता है। ये तीनों व्यक्त होकर व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। व्यक्तित्व अभिव्यक्ति का संवाहक कहा जाता है। मनुष्य जीवन में श्रेय और प्रेय का चिर आकांक्षी है, यथा– 'परस्परं भावयन्त श्रेय' और 'परस्परं भावयन्त प्रेयाय।' वह अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने रचना-संसार का निर्माण कर अन्त में शाश्वत सूक्ष्म जीव-यापन करता है।

यह सन्दर्भ सुप्रसिद्ध साहित्यकार, प्रख्यात् संत एवं भक्ति साहित्य-मर्मज्ञ और इतिहासविद् प्रो. वासुदेव सिंह के स्मृति-शेष रूप पर अक्षरश: सत्य है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर समीक्ष्य भाव से कुछ कहने की अपेक्षा, उनकी पुण्यतिथि पर आयोजित सारस्वत-यज्ञ के अवसर पर श्रद्धा-सुमन के दो शब्द कहना समुचित होगा।

प्रो. सिंह, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की शिष्य-मणिमाला के अंग थे। उन्होंने काशी में लगभग पैंतालीस वर्ष का जीवन साहित्य-चिन्तन करते हुए एक सफल शिक्षक के रूप में व्यतीत किया। उनके विषय में यह कहना असंगत न होगा कि वे जीवनपर्यन्त शिक्षार्थी-भाव से साहित्य-साधना में लीन रहे। वे अपभ्रंश-साहित्य और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के गहन अध्येता और ज्ञाता थे। उनकी संत और भक्ति साहित्य की मर्मज्ञता ज्ञान, भक्ति और कर्म योगसाधना के क्षेत्र में साहित्यानुरागियों के लिए अविस्मरणीय है। उनकी अन्त:प्रज्ञा लोकोन्मुखी है। वे अन्वेषी और संगृही साहित्यकार हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि आचार्यद्वय (शुक्ल एवं द्विवेदी) के संगम के बीच अपना मार्ग निर्धारित करती दिखती है। इतिहासविद् के रूप में उनकी गणना इतिहास-रचनाकारों की श्रेणी में गण-योग्य है। प्रमाण स्वरूप उनके द्वारा दिया गया 'उद्भवकाल' नाम पर्याप्त है।

समग्र भावेण प्रो. सिंह ने चिन्तन के क्षेत्र में संत कबीर के 'सबद' ज्ञान और लोकमानस के महाकवि तुलसी की प्रपत्तिमूला भक्ति की रमणीय भावभूमि में अवगाहन करके सुप्रसिद्ध साधक एवं संगीतज्ञ सद्गुरु जयदेव सिंह के श्रीचरणों में ज्ञान-साधनारत रहकर अपने रचना-कर्म को बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया। वे अपनी कर्मशील चेतना को सदैव जाग्रत किए रखने का व्रत लेकर जीते रहे। संक्षेपत:; उन पर अधो उक्ति सत्य प्रतीत होती है–

कुछ तो जिए हैं, खुद का वसंत देकर।
कुछ तो जिए हैं, औरों का वसंत लेकर।
अकर्मण्यता के बिना, जीते हैं जो यहाँ।
वे ही आते हैं पतझर में, वसंत लेकर।।

●

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

हिन्दी के श्रेष्ठ विद्वान् एवं प्राध्यापक

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद*

मेरे जीवन में उदय प्रताप कॉलेज का विशेष महत्त्व है। यहाँ से बी.ए. की शिक्षा पाई। इसके पहले यहाँ केवल क्षत्रिय पढ़ा करते थे। दूसरी जाति के छात्रों का प्रवेश प्रायः नहीं होता था। डॉ. सम्पूर्णानन्द के दबाव से यहाँ दूसरी जाति के छात्रों का प्रवेश होने लगा। दूसरी जाति के अध्यापकों की नियुक्ति हुई। इसी दौर में मैं भी यहाँ बी.ए. की कक्षा में आया। साहित्य से विशेष रुचि होने के कारण हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत एक साथ ली। हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे डॉ. मोती सिंह। समाजवादी विचारों के डॉ. सिंह की मेरे ऊपर विशेष कृपा थी। मेरे अंकों को देखकर उन्होंने कुछ प्राध्यापकों से मेरे ऊपर विशेष ध्यान देने को कह दिया था। उसी समय इण्टर में दो एकदम नये प्राध्यापक नियुक्त हुए– वासुदेव सिंह तथा केदारनाथ सिंह। दोनों की शैक्षिक योग्यता बहुत अच्छी थी। इन दोनों लोगों को बी.ए. की भी कक्षा दी गई थी। वासुदेव सिंह भाषा विज्ञान को पढ़ाया करते थे और केदारनाथ सिंह सामान्य हिन्दी का अध्यापन करते थे। इन दोनों अध्यापकों के प्रति विद्यार्थियों का विशेष आकर्षण बन गया। अभी ये दोनों लोग शोध की तैयारी कर रहे थे। लेकिन वासुदेव सिंह अध्यापन में भी तैयारी करते थे। भाषा विज्ञान के निर्धारित अंश के अंश को पढ़ाते समय वे विशेष तैयारी के साथ आते थे। एक कागज पर विषय के प्वाइण्ट्स और विद्वानों के विचार लिखे रहते थे। पढ़ाते समय वह नोट टेबल पर रख देते थे। कभी हाथ में भी ले लेते थे। ब्लैकबोर्ड पर भी विषय की खास बातें लिख देते थे। पूरा समझाने के बाद उस विषय का नोट भी लिखा देते थे। इसके विपरीत; केदारनाथ सिंह किसी विषय पर व्याख्यान देते हुए अध्यापन करते थे। आकर्षक चेहरा, खादी का बहुत अच्छा बादामी रंग का कुर्ता, सफेद पाजामा और लाल रंग की मखमली सैंडिल पाँव में होती थी। खाली समय में वासुदेव सिंह हिन्दी विभाग में अध्यक्ष डॉ. मोती सिंह के पास जाकर बैठते थे। केदारनाथ सिंह कॉलेज में लगे हुए युकलिप्टस, अमलतास आदि के पेड़ों के नीचे कुछ सोचते हुए टहलते थे। मूड में आने पर कुछ लिख भी लिया करते थे। यों एक वर्ष बीता। वासुदेव सिंह की स्थायी नियुक्ति डिग्री में हो गई और केदारनाथ सिंह ने त्याग-पत्र दे दिया। फिर; वासुदेव सिंह ने पी-एच.डी. की। बनारस से बाहर चले गये। लेकिन कुछ दिनों के बाद काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में नियुक्त होकर फिर काशी आ गये।

डॉ. वासुदेव सिंह मेरे अध्यापक थे। उनके प्रति मेरे मन में आज भी श्रद्धा है। वे अध्यापन में भी तैयारी करके कक्षा में जाते थे और पुस्तक के लेखन में भी तैयारी करके लिखते थे। एकाधबार उनकी तैयारी के मैटर को विद्यापीठ के एक दूसरे अध्यापक ने एक दिन गायब कर दिया। डॉक्टर साहब उस दिन कक्षा में नहीं गये। उनका कहना था कि मैं इधर-उधर की बातें करके घण्टा नहीं खत्म करना चाहता हूँ। कबीर पर

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी

उन्होंने विशेष कार्य किया है। वे किसी के लेखन को अपना बनाकर नहीं प्रस्तुत करते थे। पूरे सन्दर्भ के साथ किसी का विचार होता था। इसीलिए कबीर पर लिखी उनकी पुस्तक को पढ़ने के बाद अधिकांश चर्चित विद्वानों के विचार मालूम हो जाते हैं। उनका लेखन अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। विद्यापीठ के हिन्दी विभाग के केवल दो लोग अब तक अपने लेखन के लिए चर्चित हो पाये हैं– डॉ. युगेश्वर और डॉ. वासुदेव सिंह। डॉ. युगेश्वर ने समीक्षा में भी लेखन किया है। विद्यापीठ से अवकाश लेने के बाद उन्होंने रामायण के कुछ पात्रों की आत्मकथा लिखी। फिर पौराणिक कुछ अन्य पात्रों पर भी लिखा। वे साहित्य में नहीं आये। डॉ. वासुदेव सिंह ने अन्त तक अपना अध्यापकीय रूप सुरक्षित रखा। इसीलिए समीक्षा में एक विशेष प्रकार के लेखक के रूप में वे जाने जाते हैं। मैंने उनकी सभी पुस्तकें ध्यान से पढ़ी हैं। लेकिन कबीर पर लिखी पुस्तक को पढ़कर उनके श्रम से मैं प्रभावित हुआ। मुझे लगा कि कबीर पर लिखने वाले चर्चित विद्वानों को उन्होंने अच्छी तरह से पढ़कर अपना विचार बनाया है।

डॉ. वासुदेव सिंह में आगे बढ़ने की बराबर तीव्र इच्छा थी। उदय प्रताप कॉलेज में इण्टर से डिग्री में आने के बाद वे सन्तुष्ट नहीं हुए। परास्नातक की कक्षाओं को पढ़ाने के लिए काशी से बाहर गये। फिर; विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आने के लिए काशी विद्यापीठ में नियुक्त हुए। स्नातकोत्तर की कक्षाओं वाले उदय प्रताप कॉलेज के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष होने के लिए प्रयास किया। यहाँ उनकी नियुक्ति नहीं हो पायी। यहीं उनसे सेवा में वरिष्ठ व्यक्ति अध्यक्ष हो गये। वे पी-एच.डी. भी नहीं थे। उनकी योग्यता भी द्वितीय श्रेणी की थी। लेकिन उदय प्रताप कॉलेज के कुछ जमे-जमाये लोग उनके समर्थन में थे। संयोग से मैं भी उदय प्रताप कॉलेज में आ गया था। मैंने भी डॉ. वासुदेव सिंह का विरोध किया। वे यहाँ अध्यक्ष नहीं हुए, तो अच्छा ही हुआ। काशी विद्यापीठ में प्रोफेसर और अध्यक्ष हुए। मैं आज भी यह सोचता हूँ कि एक गुरु का मैंने विरोध किया। इसके विपरीत; डॉ. वासुदेव सिंह ने कभी मेरे प्रति अपना रोष नहीं प्रकट होने दिया। मेरा उनसे सम्बन्ध निरन्तर बना रहा। इस सम्बन्ध को मैं आत्मीयता तो नहीं कहूँगा, लेकिन उस सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार की मनोविकृति नहीं थी।

हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तिम दिनों में डॉ. त्रिभुवन सिंह का अच्छा सम्बन्ध डॉ. वासुदेव सिंह से हो गया था। वे प्राय: शाम के समय डॉ. वासुदेव सिंह के यहाँ आते थे। अवकाश लेने के बाद भी यह क्रम चलता रहा। डॉ. त्रिभुवन सिंह से मेरी निकटता रही है। इसलिए मैं कभी-कभी डॉ. वासुदेव सिंह के यहाँ चला जाया करता था। वासुदेव सिंह से उनकी कोई तोड़-जोड़ वाली बात नहीं होती थी। केवल सम्बन्ध का आना-जाना था। यहीं मेरी निकटता डॉ. भगवती प्रसाद सिंह से भी हो गई। वे अपनी कुछ पुस्तकों के सम्पादन के लिए यहाँ आते थे। विश्वविद्यालय प्रकाशन इन पुस्तकों को प्रकाशित करता था। वे महीनों यहाँ रहकर, मन में आया तो स्टूल पर ही बैठकर काम करते थे। डॉ. वासुदेव सिंह भी उनके काम में सहयोग करते थे। विश्वविद्यालय प्रकाशन उनके रहने की अच्छी व्यवस्था कर सकता था, किन्तु डॉ. भगवती प्रसाद सिंह का सहज स्नेह डॉ. वासुदेव सिंह पर था। वे इन्हीं के यहाँ रहना चाहते थे। डॉ. वासुदेव सिंह ने कुछ विद्वानों से गहरी निकटता बनाई थी। यह उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता थी। वे किसी कथाकार, कवि अथवा निबन्धकार से व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रखते थे। समीक्षा में भी किसी मौलिक लेखक की अपेक्षा विश्वविद्यालय के चर्चित और श्रेष्ठ समीक्षा-लेखन करने वालों से उनकी निकटता थी। काशी विद्यापीठ में इस तरह से सम्बन्ध रखकर लेखन कार्य करने वाला कोई दूसरा प्राध्यापक नहीं हुआ।

डॉ. वासुदेव सिंह को मैं एक विद्वान् के रूप में आज याद कर रहा हूँ। वे अध्यापन में बहुत परिश्रम करते थे। अपने विषय को अच्छी तरह से पढ़कर जाते थे। उनका यह स्वभाव था। अध्यापक-जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक वे यही करते रहे। उनके अपने जीवन की एक शैली थी। वे काशी में आये, तो काशी को छोड़कर और कहीं नहीं रह पाये। उनकी काशी से यह निकटता किसी धार्मिक कारण से नहीं थी। यहाँ के विद्वानों, यहाँ के वातावरण और यहाँ रहकर लेखन-कार्य करने के उचित अवसरों को पाने के कारण उनका यह लगाव था। अपने इसी लगाव के कारण वे अपने जन्म-स्थान को छोड़कर काशी में बस गये। मैं काशी में जन्म भर रहकर भी अपने गाँव को नहीं भूल पाता। यह लगाव बहुत पीड़ा देता है। अब गाँव बदल गया है। मेरे रहने के लायक नहीं है। मेरा मोह मुझे उलझाये हुए है। डॉ. वासुदेव सिंह ऐसे मोह से विरत थे। उन्होंने अपने को नयी से नयी ऊँचाई देने का भरपूर प्रयास किया। अपनी सन्तानों के उचित संस्कार एवं शिक्षा के लिए भी वे निरन्तर सक्रिय रहे। डॉ. वासुदेव सिंह जैसे अध्यापकों की अब कमी हो गई है। बहुत से विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग को देखकर निराशा होती है। डॉ. वासुदेव सिंह जैसे अध्यापकों से मैंने अपने जीवन में जो पाया, वह अविस्मरणीय है। आज मैं डॉक्टर साहब का स्मरण करके उन्हें अपनी श्रद्धा समर्पित कर रहा हूँ।

●

डॉ. वासुदेव सिंह को नमन

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय*

स्वर्गीय डॉ. वासुदेव सिंह जी मेरे गुरु थे। अपने व्यक्तित्व से पूर्णत: गुरु और गम्भीर, विषय-विवेचन में गहनता तक पहुँने वाले और नवनवोन्मेष की धनी प्रतिभा से युक्त डॉ. सिंह शिक्षा-जगत् के रत्न थे।

जब मैं शास्त्री (बी.ए.) द्वितीय वर्ष में अध्ययनरत था, तभी गुरुदेव नये-नये काशी विद्यापीठ में नियुक्त होकर आये थे। उनके आने के बाद मुझे एक अभिभावकीय व्यक्तित्व मिल गया। अपने गृह जनपद से दूर, मुझे एक सहारा देने वाला व्यक्तित्व, जो मुझे स्नेह के साथ अपनापन देता था, मिल गया। उन्होंने मुझे हिन्दी साहित्य के अध्ययन में विशेष सहायता दी और दी– आगे बढ़ने की प्रेरणा।

मैंने बी.ए. प्रथम वर्ष में प्रथम स्थान पाया था। बी.ए. द्वितीय वर्ष में भी सर्वोच्च अंक मुझे मिले थे। मैं प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. करना चाहता था, किन्तु डॉ. साहब ने ही मुझसे कहा कि मैं हिन्दी में एम.ए. करूँ और मुझे हिन्दी में भी सर्वोच्च स्थान मिलेगा। घूम-फिर कर मैं एम.ए. हिन्दी में दाखिल हुआ और एम.ए. प्रथम वर्ष और द्वितीय वर्ष में भी सर्वोच्च रहा। मेरी इस सफलता में डॉ. साहब का दिशा-निर्देश और उत्साह-वृद्धि विशेष कारक रहे।

डॉ. सिंह एक श्रेष्ठ अध्यापक थे। वह अपने विषय को शिष्यों के मन-मस्तिष्क में अच्छी तरह पहुँचाने की अद्‌भुत क्षमता रखते थे। उनके शिष्यगण उनके प्रति भरपूर सम्मान का भाव रखते थे। घर पर जाने पर तो उनका पूरा परिवार ही छात्र का आतिथ्य करने लगता था। छात्र का आतिथ्य गुरु को कितना महान् बनाता है, यह मैंने प्रोफेसर वासुदेव सिंह जी से सीखा और स्वयं भी अध्यापन के समय किया। कक्षाओं में प्रश्न करने पर डॉ. सिंह बड़े सहज भाव से समझाते हुए उत्तर देते थे। प्रश्नों के समाधान में वह प्रश्न से सम्बद्ध अन्य शंकाओं का भी समाधान स्पष्टत: कर देते थे। वह कभी भी प्रश्न पूछने पर असंतुष्ट नहीं हुए।

डॉ. सिंह मध्यकालीन हिन्दी काव्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसमें भी वह सन्त-काव्य के विशेष मर्मज्ञ थे। कबीर-साहित्य पर अच्छी टीका न होने पर कभी मैंने उनसे अनुरोध किया था कि यदि वह इस पर कार्य करें, तो हिन्दी-जगत् का बड़ा उपकार होगा। अन्तत: कबीर के काव्य पर तीन खण्डों में प्रामाणिक पाठ सहित हिन्दी टीका सामने आयी और हिन्दी-जगत् इसके लिए डॉ. सिंह का सदैव ऋणी रहेगा।

सेवा-निवृत्ति के बाद गुरुदेव ने बहुत-कुछ हिन्दी साहित्य को और दिया होता, किन्तु कदाचित् उन्हें कोई और भूमिका निभानी थी, जिसके लिए काल ने उनको कलेवर से अलग कर दिया। अश्रुपूरित नेत्रों सहित शतश: प्रणाम।

* सी. ३२/२९ बी-७, पंड्या रतनबाग, छित्तूपुर, वाराणसी

बाबू जी के मार्फत प्रो. वासुदेव सिंह को जानना

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी *

आज से चार दशक पूर्व, जब मैं एम.ए. हिन्दी का विद्यार्थी था और कबीरदास मेरे विशेष अध्ययन के प्रश्नपत्र में शामिल थे, तब एक दिन अपने पूज्य बाबू जी के विशाल पुस्तकालय में कबीर पर लिखी पुस्तकें ढूँढ़ रहा था और मुझे कबीर पर लगभग एक दर्जन पुस्तकें मिलीं। उनमें हजारी प्रसाद द्विवेदी, सरनाम सिंह शर्मा, रामचन्द्र तिवारी, पारसनाथ तिवारी आदि लेखकों के साथ ही डॉ. वासुदेव सिंह की भी कबीर पर कुछ पुस्तकें मिलीं, जिनमें कबीर वाङ्मय (तीन भाग–रमैनी, साखी और सबद) तथा कबीर प्रमुख थी। कबीर पर ढूँढ़ते, तो और भी कुछ पुस्तकें मिलतीं, किन्तु मेरे उद्देश्य के लिए इतनी ही पर्याप्त थीं। कबीर बाबू जी के भी प्रिय कवि थे। एम.ए. उत्तरार्द्ध में वे कबीर ही पढ़ाया करते थे। भाषा विज्ञान और काव्यशास्त्र भी उनका प्रिय विषय था। सन्त साहित्य के अध्ययन-लेखन के प्रति गहरा आकर्षण था उनमें। इसलिए कबीर पर और भी बहुत सारी पुस्तकें पुस्तकालय में थीं, पर इतने से ही मेरा काम सिद्ध हो गया था। मैं साकेत पी.जी. कॉलेज, अयोध्या का विद्यार्थी था। वहाँ से भी हमें पुस्तकें मिल सकती थीं। कबीर की भक्ति, दर्शन, समाज-चिन्तन, भाषा आदि अनेक प्रश्नों पर मैंने नोट्स बनाये थे। मुझे प्रो. वासुदेव सिंह की पुस्तकों से कबीर को समझने में सहजता हुई और कुछ नये विचार-बिन्दु भी मिले। कबीर को समझने में प्रो. सिंह की भाषा और शैली की सरलता ने तो मुझे बेहद प्रभावित किया। डॉ. रामचन्द्र तिवारी की पुस्तक 'कबीर मीमांसा' भी छात्रों के लिए उपयोगी पुस्तक प्रतीत हुई। विषय को सरस व सहज समझाने की दृष्टि प्रो. सिंह और प्रो. तिवारी– दोनों के पास अनूठी शक्ति थी। उनका भाषा-सामर्थ्य और आलोचनात्मक विवेक मुझे विशेष भाया। एक छात्र की हैसियत से मुझे बहुत अच्छा लगा– उन द्वय विद्वानों का कबीर सम्बन्धी विश्लेषण।

उन्हीं दिनों; बाबू जी से ज्ञात हुआ कि प्रो. वासुदेव सिंह अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (अब डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या) में किसी अकादमिक बैठक में आये हुए हैं। उनके साथ प्रो. त्रिभुवन सिंह भी हैं। एक छात्र के नाते उनसे मिलने, उन्हें देखने की उत्सुकता मेरे मन में जागी और न मिल पाने के कारण मरुस्थल में गिरी पानी की बूँदों की भाँति पल भर में बिला गई। कुछ माह के अंतराल के बाद अचानक बाबू जी के साथ प्रो. वासुदेव सिंह और प्रो. त्रिभुवन नाथ सिंह जी गृह-निवास 'छायातप, नहरबाग' में पधारे। बाबू जी ने ड्राइंगरूम में हमें बुलाया और इन द्वय विद्वानों का परिचय कराया। मैंने सादर प्रणाम किया और नाश्ते की व्यवस्था के लिए घर में माँ के पास गया। चाय-नाश्ता लेकर मुझे ही अतिथियों की सेवा में पहुँचना था। घर में भाईयों-बहनों में बड़ा होने का उत्तरदायित्व निभाना मुझे भली-

* आचार्य– हिन्दी विभाग तथा अध्यक्ष– संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भाँति आता था। बाबू जी के साथ आगे लम्बी बातचीत चली, जो अवध विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर हुई। बातचीत में भक्तिकालीन कवियों– कबीर, तुलसीदास और सूरदास के संकलित पदों के चयन पर विचार-विमर्श मैंने भी सुना था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी पाठ्यक्रम का भी कुछ सन्दर्भ प्रसंगवश मिला था। बाबू जी भी पाठ्यक्रम समिति के सदस्य थे, इसीलिए इस बातचीत का औचित्य मुझे सार्थक प्रतीत हुआ। रात्रि के आठ बज चुके थे और उन दोनों महानुभावों को भोजनोपरान्त अयोध्या पहुँचना था। घर में भोजन की व्यवस्था हुई। माँ ने रुचिकर भोजन बनाया था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा प्रो. वासुदेव सिंह जी ने की थी।

अपनी वेश-भूषा में दोनों विद्वान् ठेठ देशज भारतीय लगे थे। सादा जीवन और उच्च विचार के वे कायल थे। इस बात की पुष्टि उनके विचारों, खान-पान, भाषा-शैली, आत्मीयता से झलक रही थी। देशीपन भी गजब का आकर्षित कर रहा था। उनके व्यक्तित्व में घुला बनारसीपन हमें आकर्षित कर गया था। डाइनिंग टेबिल पर भोजन करते हुए वे तीनोंजन गाँव-देहात से लेकर अयोध्या-बनारस और देश की कितनी ही बातें कर चुके थे, जिनका सार हमें समझ में देर से आया कि हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने के साथ एक श्रेष्ठ अध्यापक को देश-दुनिया पर भी एक नागरिक की हैसियत से अपनी निगाह चौकन्नी रखनी होती है। यानी एक अध्यापक में एक पत्रकार की प्रखरता भी झलकनी चाहिए। उस वक्त मैं खाने की थाली में रखी खाद्य सामग्री घटने के पहले ही लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हो जाता था। अब जब याद करता हूँ, तो एहसास दु:खद लगता है कि व्यक्तित्व और जीवन का यह खुलापन, देसीपन, अपनत्व, सरलता और सहजता न जाने कब समय के बहाव में गायब हो गया। बनावटीपन और स्वार्थ ने रिश्तों को तार-तार कर दिया है। लेन-देन में लोगों का विश्वास बढ़ता गया और आदमीयत का कद छोटा होता गया। स्वार्थ की रेखाएँ हमने अपने आस-पास खींच रखी हैं।

प्रो. वासुदेव सिंह का नाम देश के आचार्यों में अग्रगण्य था। नये अध्यापक और शोध-छात्र उनके नाम और साहित्यिक अवदान से परिचित थे। मुझे भलीभाँति स्मरण है कि तुलसीदास पर कुछ जानने और लिखने के लिए मैंने प्रो. सिंह की 'मध्यकालीन काव्य-साधना, अयोध्याकाण्ड, सुंदरकाण्ड और उत्तरकाण्ड का भाष्य तथा विनय-पत्रिका आदि पुस्तकें बहुत ध्यान से पढ़ी थीं। रामचरितमानस के इन तीन काण्डों का उनका भाष्य अनूठा और बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन दिनों विद्वज्जगत् में इसकी पर्याप्त चर्चा थी। छात्रों व अध्यापकों के लिए बहुत सुविधाजनक हो गया था। देश के हर विश्वविद्यालय में रामचरितमानस के उक्त तीन काण्डों में से एक या दो काण्ड पाठ्यक्रम में अवश्य शामिल रहते हैं। मुझे भी पढ़ाने में और अध्यापकीय जीवन में उक्त तीनों काण्डों के भाष्य पढ़ कर तुलसी को समझने में काफी मदद मिली थी। यह भाष्य-लेखन की परम्परा लुप्त हो गई है।

सूर-साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य भी थे प्रो. वासुदेव सिंह जी। 'सूरदास' (समीक्षा एवं भाष्य) तथा 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' अत्यन्त छात्रोपयोगी और अध्यापकों की दृष्टि-विस्तार में सहयोगी ग्रन्थ सिद्ध हुए। जहाँ तक मुझे याद है, 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' शीर्षक पर राष्ट्रीय संगोष्ठी विद्यापीठ में आठवें दशक के लगभग आयोजित हुई थी। इस संगोष्ठी में मेरे पिता (डॉ. राधिका प्रसाद त्रिपाठी) भी आमंत्रित थे और उन्होंने सूर की सामाजिक चेतना पर बना आलेख/वक्तव्य प्रस्तुत किया था। बाद में यह लेख बाबू जी ने अपनी पुस्तक 'सूरकाव्य-विमर्श' में संकलित भी किया।

प्रो. वासुदेव जी मेरे निवास 'छायातप' में अनेक बार आये। कभी अकेले और कभी प्रो. त्रिभुवन सिंह

के साथ। उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे अनेक बार मिला। संकोचवश कभी बातचीत का अवसर नहीं मिला। कुशल-क्षेम में ही बातें सिमटकर रह गईं। बाबू जी के न रहने पर यदि वे आते, तो सम्भवत: कुछ पढ़ाई-लिखाई की बातें उनसे हो पायी होतीं। यह सौभाग्य मेरे अनुज डॉ. सत्य प्रकाश त्रिपाठी को अवश्य मिला। सत्य प्रकाश ने जैसा मुझे बताया कि एक बार प्रो. सिंह साहब पिता जी की अनुपस्थिति में घर पहुँचे। एक बात बता दूँ कि हम भाई-बहन प्रो. सिंह को 'चाचा जी' ही कहते थे। यह सम्बोधन आत्मीयता के राग को गाढ़ा कर देता था। 'अंकल' कहने में वह रस व राग नहीं, जो 'चाचा जी' कहने पर हमें मिलता था। पिता जी जितना सम्मान उनका करते थे, वह अपनत्व के शिखर का दर्शन करा देता था। हमारे लिए आदरणीय चाचा जी का घर आना सुखद ही नहीं, अपनापन भरा-सा लगता था, जैसे कोई परिवार का सगा व्यक्ति हो। यह मान प्रो. सिंह के घर आने पर हमें मिलता था।

हाँ! तो बात का वह सिरा, हाथ से छूट न जाय, इसलिए सत्य प्रकाश की उस बात का जिक्र करना बेहद जरूरी लगा है। चाचा जी घर आये हुए थे। बाबू जी शहर में कहीं गये हुए थे। ड्राइंग रूम में वे बैठे हुए थे। खातिर-सत्कार के बाद वे पिता जी का इंतजार कर रहे थे। बात स्मिता पाटिल अभिनेत्री की प्रसंगवश छिड़ी। इसी दिन उसका देहान्त हो गया था। समाचार-पत्रों और रेडियो-टेलीविजन ने दिनभर स्मिता की आकस्मिक मृत्यु की करुण घटना को भरपूर कवरेज दिया। प्रो. सिंह ने कहा– 'यह मीडिया भी मौकापरस्त और वी.आई.पी. है। कभी किसी बड़े-से-बड़े साहित्यकार की मृत्यु पर मीडिया इतना संवेदनशील नहीं होता है। सुर्खियों के नाम पर कहीं छोटी-सी खबर छप जाती है। कुछ महामहिम लोगों का एक पंक्ति का शोक-संदेश आ जाता है, यही हमारे लिए बड़ी बात हो जाती है। तात्पर्य यह है कि आजाद हिन्दुस्तान में साहित्यकार या अध्यापक की कद्र फिल्मी सितारों, खिलाड़ियों, नेताओं या माफियाओं की अपेक्षा बहुत कम होती है। बड़े-बड़े साहित्यकारों का नामलेवा कौन है? अर्थात् सरकारी तंत्र से कोई लेना-देना नहीं है। आस-पास के लोग ही याद कर लें, यही बड़ी बात है।'

एक और महत्त्वपूर्ण प्रसंग की चर्चा करना जायज होगा। 'राधाकृष्ण भक्त कोश' के योजनाकार और सम्पादक प्रो. भगवती प्रसाद सिंह (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर) मेरे बाबू जी के गुरुदेव थे। उन्हीं के निर्देशन में मेरे बाबू जी (डॉ. राधिका प्रसाद त्रिपाठी) ने 'रामसनेही सम्प्रदाय और उसका साहित्य' विषय पर पी-एच.डी. का शोधकार्य किया था, जिसे उत्तर प्रदेश शासन का पुरस्कार मिला था। 'राधाकृष्ण भक्त कोश' के उपसम्पादक के रूप में प्रो. वासुदेव सिंह थे। इस कोश के खण्ड पाँच में दो दर्जन से अधिक कृष्णभक्त कवियों का परिचय बाबू जी ने लिखा है। इस कोश का प्रकाशन १९८९ में सत-साहित्य प्रकाशन, श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा संस्थान, मथुरा से हुआ था। यह एक महत्त्वाकांक्षी साहित्यिक योजना थी। इस कोश के कई खण्डों में प्रो. वासुदेव सिंह की भी अनेक कृष्णभक्त कवियों/सन्तों की परिचयात्मक टिप्पणियाँ हैं। 'राधाकृष्ण भक्त कोश' का अंतिम खण्ड पाँचवाँ ही है। 'पुरोवाक्' में उल्लिखित है कि– 'प्रस्तुत खण्ड हिन्दी भाषी प्रदेशों के भक्तों के वृत्त-संग्रह का द्वितीय भाग है। इसके अन्तर्गत ८३९ राधाकृष्ण-भक्तों के चरित वर्णानुक्रम से संगृहीत हैं। पूर्ववर्ती (चतुर्थ) खण्ड के ९२३ भक्त-चरितों को मिलाकर हिन्दी भाषा के राधाकृष्ण-भक्तों की संख्या १७६२ ठहरती है। इस प्रकार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय खण्ड के हिन्दीतर प्रदेशों के १६३० कृष्ण-भक्तों को मिलाकर कोश के पाँचों खण्डों में विवेचित भक्त-वृत्तों की संख्या ३३९२ हो जाती है।' (राधाकृष्ण भक्त कोश, पुरोवाक्, पृ. ५)

परम श्रद्धेय वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व की अनेक उदात्त छवियाँ आज भी हमारे मानस में बसी हुई हैं। वैसे तो उन्हें प्राय: अयोध्या के कार्यक्रमों में सुना, देखा और समझा, किन्तु परिवार में आने पर बहुत अन्तरंग रूप से उन्हें जानने का अवसर हमें अपने विद्यार्थी जीवन में ही मिल गया था। बाबू जी के मुँह से उनकी प्रशंसा के शब्द आज भी हमारे मस्तिष्क में गूँज रहे हैं कि– ''देखो आनन्द! एक बड़ा आचार्य होना साहित्य की गहन साधना है। व्यक्ति की सहजता-सरलता देखो, कोई अभिमान छू तक नहीं गया है। सरलता-निर्मलता गंगाजल की तरह, मित्रता का अनूठा मानक थे प्रो. सिंह। और भी बहुत सारी बातें वे समय-समय पर प्रो. सिंह के विषय में बताया करते थे। विद्यापीठ अथवा बी.एच.यू. की राजनीति में उनका स्थान और प्रभाव कभी कमतर नहीं था। देश के आचार्यों में उनका नाम शिद्दत से लिया जाता रहा है। वे विद्यापीठ के हिन्दी विभाग की शान और पहचान थे।

आचार्य सिंह की साहित्य-साधना का सशक्त प्रमाण उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। अधिकांश पुस्तकें पढ़ने का अवसर हमें मिला है। उनका आलोचकीय व्यक्तित्व बहुआयामी है। भक्ति साहित्य के मर्मज्ञ आचार्यों में उनका योगदान अविस्मरणीय है। सन्त कवि कबीर, भक्त कवि तुलसीदास और सूरदास उनके प्रिय कवि थे। बहुत मनोयोगपूर्वक इन तीनों महाकवियों के काव्य पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी। भाष्य लिखकर उनके काव्य को समझने का मार्ग प्रशस्त किया और मध्यकालीन काव्य-साधना, हिन्दी सन्तकाव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, कबीर, कबीर : साहित्य, साधना और पंथ आदि महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतित्व लिखकर अपनी विशेषज्ञता को पुख्ता किया। 'सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' पुस्तक उनकी नवीन दृष्टि और मूल्यांकन-क्षमता का प्रमाण है। वे इतिहासचेता व्यक्ति थे। हिन्दी कविता के आरम्भिक युग को समझने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' पर गम्भीर शोध-कार्य किया। इसी क्रम में कबीर, सूर और तुलसी से वे प्रेरित होते हैं। सन्त साहित्य के प्रदेय को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझने का प्रयास मौलिक है। 'हिन्दी साहित्य का उद्भव काल' पुस्तक, जिसे उ. प्र. हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत किया गया, प्रो. सिंह की साहित्यिक यात्रा में 'मील का पत्थर' कहा जायेगा। 'राष्ट्रवाणी' के महत्त्व को भी वे समझते हैं। एक समर्थ सम्पादक की भूमिका को भी उन्होंने अंजाम दिया– जब प्रो. भगवती प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'राधाकृष्ण भक्त कोश' से जुड़ने का उन्हें अवसर मिला। उपसम्पादक की हैसियत से इस कोश से वे जुड़े और अनेक राधाकृष्ण भक्त-कवियों पर परिमार्जित शैली में सार्थक टिप्पणियाँ भी लिखीं। 'श्रीराम विश्वकोश' के भी वे उपसम्पादक रहे। नि:सन्देह एक सम्पादक के दायित्व का निर्वाह करते हुए प्रो. वासुदेव सिंह ने अपनी प्रतिभा के नये रूप से हमें प्रभावित किया था।

वस्तुत: प्रो. वासुदेव सिंह का आलोचक व्यक्तित्व भक्तिकालीन काव्य के सिद्ध-साधक का है। वे जीवनपर्यन्त भक्तिकालीन कवियों और उनकी कविता के मूल्यांकन में ही सक्रिय रहे। अपनी लेखकीय प्रतिभा को उन्होंने भक्ति-साहित्य की आलोचनात्मक सर्जना हेतु अर्पित कर दिया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकालीन साहित्य की मान्य आलोचना-परम्परा में प्रो. वासुदेव सिंह का नाम अवश्य दर्ज रहेगा। अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से वे नयी हिन्दी अध्यापक-पीढ़ी को कहीं-न-कहीं जरूर उत्प्रेरित करते रहेंगे। सच कहूँ, वे सन्त पुरुष थे। कबीर के शब्दों में कहूँ– 'ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया।'

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति-ग्रन्थ' के लिए मुझे उन पर कुछ लिखने का अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य है और पितृ-परम्परा का ऋण भी। 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' से प्रकाशित 'स्मृति-ग्रन्थ' के प्रधान सम्पादक डॉ. हिमांशु शेखर सिंह मेरे अनन्य साथी हैं। उनके आग्रह पर श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह जी के

व्यक्तित्व और कृतित्व पर किंचित मात्र रोशनी डाल सका हूँ, जितना वे मेरे जीवन-वृत्त में चमक रहे थे। संस्मरण में उनके समग्र योगदान या मूल्यांकन करना सहज सम्भव नहीं था। अपनी सीमाओं में मैंने उन्हें जानने की चेष्टा की है। उनके प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त करने का लोभ भला कैसे मैं संवरण कर सकता था? पारिवारिक हक़ का नाता भी हमें चेताये हुए था। आदरणीया प्रो. श्रद्धा सिंह और सभी के इस स्तुत्य प्रयास– पितृऋण के आयोजन– में मेरी शब्द-आहुति स्वीकारें। कृतज्ञता के लिए नि:शब्द हूँ।

श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह की स्मृतियों के प्रति मैं अपने परिवार की ओर से सश्रद्ध भाव से नमन करता हूँ और सम्पादक-मण्डल में स्थान देने के लिए हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हार्दिक बधाई और शुभकामनाएँ।

●

स्मृतियों में प्रो. वासुदेव सिंह

प्रो. विजय बहादुर सिंह*

किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में मृत्यु के बाद कुछ भी लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है। इस सन्दर्भ में मेरा निश्चित मत है कि उस व्यक्ति के सम्बन्ध में जो भी कुछ लिखा जा रहा है, उसकी पुष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि वह व्यक्ति जब संसार में नहीं है, तो उसके बारे में जो भी लिखा गया है, उसकी क्या प्रामाणिकता है? उसे तो वही प्रमाणित करेगा, जो अब संसार में नहीं है। ऐसी स्थिति में, केवल एक ही रास्ता है कि उसके समकालीन लोग हों, जो उसकी प्रामाणिकता पर मोहर लगा सकें।

प्रो. वासुदेव सिंह जी से मेरे पारिवारिक सम्बन्ध पिछले ४० वर्षों से रहे हैं और आज भी उनके पारिवारिक सम्बन्धों से रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं आया है। इसका सम्पूर्ण श्रेय मैं प्रो. वासुदेव सिंह जी को देता हूँ। उन्हें मैं एक पारिवारिक और संस्कारित व्यक्ति के रूप में स्मरण करता हूँ। जो संस्कार उन्होंने अपने परिवार वालों को दिया है, उस पर वर्तमान युग की अति भौतिकतावादी सभ्यता का रंग छू भी नहीं गया है। यह एक पिता के रूप में उनका अविस्मरणीय योगदान है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहा करते थे कि यदि बीज सुरक्षित रहेगा, तो पौधा अवश्य उगेगा। प्रो. वासुदेव सिंह जी का अपने परिवार के लिए यह बहुत बड़ा योगदान है।

काशी के पिछले ३५ वर्षों के इतिहास, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ और काशी नगर को मैं अपने नजरिये से देखता हूँ। ३५ वर्षों की काशी में काफी परिवर्तन हुआ है। सब कुछ ताश के पत्ते की तरह ढह गया– चाहे राजनैतिक क्षेत्र रहा हो, सामाजिक क्षेत्र रहा हो अथवा शैक्षणिक– बदलते सामाजिक परिवेश में परिवर्तन को स्वीकार भी करना पड़ेगा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के (स्व.) प्रो. रामलोचन सिंह जी (पूर्व कुलपति– मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ एवं पूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर– भूगोल विभाग, का.हि.वि. वाराणसी), (स्व.) प्रो. के.पी. सिंह जी (प्रो. एवं पूर्व अध्यक्ष– गणित विभाग एवं विज्ञान संकाय प्रमुख, काशी हि.वि.वि., वाराणसी), (स्व.) प्रो. केशव प्रसाद सिंह जी (पूर्व अध्यक्ष एवं प्रो. हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी) आदि के निकटस्थ सहयोगी के रूप में प्रो. वासुदेव सिंह जी रहे हैं। उस समय के सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन की बुनावट देखने योग्य थी। वर्तमान काशी के सामाजिक जीवन में उसका अत्यन्त अभाव है, या यों कहा जाय कि वह समाप्त हो चुका है। इसी कड़ी को जोड़ने वाले थे (स्व.) प्रो. वासुदेव सिंह जी। उनके साथ मैंने कालीकट के भारतीय हिन्दी परिषद्, पूना, गोवा से बम्बई तक की यात्रा की थी। वे बड़े ही सहज एवं सहृदय व्यक्ति थे। प्रो. वासुदेव सिंह के साथ मैं अंतिम क्षणों तक रहा और मृत्यु के उपरान्त गाड़ी में उनके आवास तक गया। आज कई वर्ष व्यतीत हो गए– मुझे ऐसा लगता है कि अभी तो कल की ही बात है।

●

* आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग तथा कला संकाय प्रमुख, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

काशी के सीमन्त की सौभाग्य-रेखा

डॉ. कामेश्वर उपाध्याय *

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में विद्यमान विभूतियों का इतिहास काशी के लिए अक्षय साहित्यकोश का निर्माण करने वाला होगा। इस कालखण्ड में विद्या की गरिमा से मण्डित शताधिक सरस्वती-पुत्रों से काशी जगमगा रही थी। इस सारस्वत नगर की सर्वाधिक विशेषता यह है कि प्रायशः सभी विषयों के विद्वान् एक दूसरे से परिचित होते हैं और उनके कार्यों के साक्षी भी बने रहते हैं। हिन्दी, संस्कृत, इतिहास, अंग्रेजी साहित्य, विधि, कृषि, गणित, चित्रकला, संगीत, शिक्षाशास्त्र, कलाशास्त्र, आयुर्वेद, चिकित्सा विज्ञान– प्रायः सभी विषयों के दिग्गज स्नातक एक दूसरे की मर्यादा को प्रतिष्ठित भी करते हैं। इसी क्रम में; हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य मनीषी प्रो. वासुदेव सिंह का नाम आकर जुड़ता है। संत साहित्य, स्वपरम्परा का आलोचना-साहित्य और भारतीय मनीषा के अनुरूप कार्य-लेखन-समीक्षा के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक काशी के सीमन्त भाग में सौभाग्य-रेखा की तरह चमकीला है। इन दस वर्षों में जिन्होंने इन तीनों क्षेत्रों को समृद्ध किया, उनमें अनेक नक्षत्रपुरुष हैं, जैसे– प्रो. विद्यानिवास मिश्र, प्रो. शुकदेव सिंह, प्रो. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, प्रो. भोलाशंकर व्यास, प्रो. सूर्य नारायण द्विवदी, प्रो. वासुदेव सिंह, प्रो. युगेश्वर, प्रो. शिव प्रसाद सिंह, प्रो. श्यामसुन्दर शुक्ल प्रभृति। इनमें एक और नाम जोड़ा जा सकता है, जो मूलतः संस्कृत के विद्वान् रहे, पर लेखन का क्षेत्र उनका अति विस्तृत था–आचार्य बलदेव उपाध्याय। सम्भव हो, कुछ नाम छूट रहे हों। इन सभी विद्वानों ने साहित्य-सरस्वती के गम्भीर तल में डूब कर गोता लगाया और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मौलिक भारतीय चिंतन-पद्धति को बहुत दूर तक नक्षत्रलोक में विस्तारित कर इतिहास गढ़ा। सन् २००१ से, विद्वत् परिषद् के माध्यम से, काशी की विभूतियों का सम्मान करने की परम्परा शुरू हुई। इस बात की आवश्यकता सभी महसूस करते रहे कि काशी के विद्वानों का एक सम्मिलित मंच बने, जिस पर विद्या-क्षेत्र के सभी विषयों के विद्वान् आचार्य उपस्थित हो सकें। अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् ने इस कार्य को शुरू किया। प्रो. शुकदेव सिंह और प्रो. श्यामसुन्दर शुक्ल के सम्मान के पश्चात् जब अन्य विशेषज्ञ विद्वान् ढूँढ़ना शुरू किया, तो सम्मानित दोनों आचार्यों– प्रो. सिंह एवं प्रो. शुक्ल ने सम्मान हेतु प्रो. वासुदेव सिंह का नाम सुझाया। प्रो. शुक्ल ने तो यहाँ तक कहा कि मुझसे पहले प्रो. वासुदेव सिंह का सम्मान होना चाहिए था। वैदुषी परम्परा में एक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा सामान्य प्रक्रिया है; पर जीवन-काल में ही उस प्रतिस्पर्धा को विनय में बदल कर एक दूसरे को आदर देने का भाव काशी जैसा अन्यत्र नहीं दिखलाई देता। अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् ने एक भव्य समारोह में, अन्य विषयों के विद्वानों के साथ, प्रो. वासुदेव सिंह को

* ज्योतिषाचार्य– देवतायन, जानकी नगर, वाराणसी

सम्मानित किया। जब उनका कार्य-परिचय पढ़ा जा रहा था, तो संत साहित्य का उल्लेख हुआ। कहा गया– ''प्रो. वासुदेव सिंह संत साहित्य के मर्मज्ञ लेखक हैं। तुलसी और कबीर पर समान ढंग से आपने लेखन-कार्य किया है।'' मुझे स्मरण है, इस परिचय पर समारोह के मुख्यातिथि प्रो. मुरली मनोहर जोशी ने उन्हें सम्मानित करते हुए कहा– ''आपका कार्य राष्ट्र को जोड़ने और बचाने का काम है। संतों ने विपत्ति काल में विराट् हिन्दू समाज को अपने तप, कविता, साहित्य, त्याग और आचरण से सुरक्षा प्रदान की है। यदि संत और संत साहित्य नहीं होता, तो यह समाज कब का ध्वस्त हो चुका होता। यही कारण है कि विद्वेषकारी बाह्य साहित्य के पक्षधर संत साहित्य और स्वआलोचना-परम्परा को कमतर आँकने की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। ऐसे में; प्रो. वासुदेव सिंह की दीर्घकालिक साहित्य-साधना स्तुत्य है, वरेण्य है।'' यह एक ऐसी टिप्पणी थी, जो प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और लेखन की महत्ता को रूपायित कर रही थी।

प्रो. वासुदेव सिंह विद्वानों की पंक्ति में प्राय: मौन रहते थे। जब उनसे आग्रह किया जाता था, तब वे अपना मुँह खोलते थे। पर उनके बोलने के बाद ऐसा प्रतीत होता था कि मैंने इस विषय को पहली बार सुना है। उनके समकालीन उनकी इस प्रवृत्ति को जानते थे। अत: उन्हें बोलने हेतु आग्रह करना ही पड़ता था।

प्रो. सिंह के जीवन में आचरण की ऋजुता अपूर्व थी। वे निगूढ़ संत थे। उन्होंने कभी भी अपने को अतिविशिष्ट की सीमा में नहीं रखा। एक सरल गृहस्थ का भारतीय जीवन ही उनका स्वत्व था। तप की यह गृहस्थ-प्रक्रिया है। मौन रहना, प्रतिक्रिया नहीं देना, सही को सही कहना, गलत की उपेक्षा करना, कलह से हर सम्भव बचना, आचरण की पवित्रता को बचाये रखना– यही भारतीय गृहस्थों की निष्काम साधना है। इस साधना के वे धनी साधक थे। वाणी और आचरण का द्वैध उनमें रंचमात्र भी नहीं था। सच्चे भारतीयों का जीवन ऋषि-परम्परा का जीवन है। एक ऐसे तपोवन का वातावरण, जिसमें परिवार, पशु, विद्यार्थी और अतिथि समा सकें। आने वाला समय प्रतिकूल है। पश्चिम की प्रेतच्छाया में भारत जकड़ रहा है; जिसमें न दाम्पत्य है, न परिवार है, न अतिथि-सेवा का भाव है। है, तो केवल बाजारवाद, निरंकुश आचरण और सफल निवास का आश्रय– होटल और अस्पताल। इस सांस्कृतिक विभीषिका से भारत को संत, विद्वान्, आचारवान् और सबल साहित्य ही बचा सकता है। इसी परम्परा के समर्थ राजर्षि थे–प्रो. वासुदेव सिंह। उनके दिव्य कर्त्तृत्व को और उनकी परमहंस प्रवृत्ति को प्रणाम अर्पित करना भारत का मूल कर्त्तव्य है। अत: उनकी स्मृति को प्रणाम है।

●

स्मरण के बहाने

डॉ. उदय प्रताप सिंह*

छरहरा बदन, अत्यन्त मोटे ग्लास का चश्मा, मुँह में मगही पान, हाथ में कलम और कोई-न-कोई पुस्तक लिए हिन्दी विभाग से जो व्यक्ति काशी विद्यापीठ में बने शिक्षक आवास की तरफ सायंकाल बढ़ रहा हो– उसे प्रो. वासुदेव सिंह समझने में विलम्ब नहीं लगता था। प्राय: परनिन्दा से बचते हुए पढ़ने-पढ़ाने की बात करते डॉ. सिंह इसी प्रकार विद्यापीठ की एक पहचान बन गये थे।

मूलत: सीतापुर निवासी प्रो. वासुदेव सिंह को उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी के आकर्षण ने ऐसा बाँधा कि आजीवन वह बनारस के ही होकर रह गए। कॉलेज से विश्वविद्यालय तक पहुँचने में प्रो. सिंह ने विद्या की दुनिया में एक खास स्थान बना लिया था। पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तकें लिखना उनके शौक थे। आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने वाले प्रो. सिंह ने कई महत्त्वपूर्ण कृतियों की सर्जना की थी। बड़े-बड़े अधीत विद्वानों से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध थे। संतविद् ठाकुर जयदेव सिंह के साथ कबीर-वाङ्मय सटीक (तीन खण्डों में) नामक उनकी रचना कबीर समझने के लिए आज भी अपरिहार्य जैसी लगती है। ज्ञातव्य है, ठाकुर जयदेव सिंह आधुनिक काल में तंत्रविद्याओं तथा राग-रागिनियों के सबसे बड़े पण्डित माने गए हैं। पं. गोपीनाथ कविराज और ठाकुर साहब– दोनों का सान्निध्य डॉ. सिंह को यत्किंचित मिला था। इसीलिए कबीर-वाङ्मय की प्रासंगिकता और उपयोगिता आज और बढ़ जाती है।

स्व. वासुदेव सिंह का सम्बन्ध आचार्य भगवती प्रसाद सिंह से भी बहुत गहरा था। भगवती प्रसाद सिंह भक्ति साहित्य के निष्णात् मनीषी विद्वान् थे। प्रो. सिंह ने उनके साथ 'राधाकृष्ण भक्त कोश' का सम्पादन किया था। १८ भाषाओं में व्याप्त श्रीकृष्ण के चरित का आख्यान उस कोश की विशेषता है। यह कृति प्रो. सिंह की विद्वत्ता में एक विशेष प्रकार की वृद्धि करती है। इसे पाँच खण्डों में विभक्त कर ३००० पेजों में निबद्ध किया गया है। इस प्रकार के मौलिक साहित्य का सृजन अब सम्भव नहीं हो पा रहा है। उनके आस-पास के विद्वान् दो-चार निबन्धों और कुछ औपन्यासिक टिप्पणियों के बल पर स्वयं को महान् विद्वान् कहलाने का दम्भ पाले हुए हैं। काश! हिन्दी जगत् के ऐसे लोग प्रो. सिंह द्वारा किये गये मौलिक कार्यों के प्रति उन्मुख होने का मन बनाते। उपन्यास में व्यक्त कुण्ठा, संत्रास, घुटन, अजनबीपन और सेक्स के त्रिकोण में फँसी नारी हमारी आलोचना में कब तक प्रकट होती रहेगी? यदि यही आलोचना और समीक्षा के मानदण्ड हैं, तो ऐसे लोगों को प्रो. सिंह की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' पढ़ना चाहिए। उसमें इन बिन्दुओं को मर्यादित और स्तरीय ढ़ंग से प्रो. सिंह ने व्याख्यायित किया है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने प्राचीन हिन्दी से लेकर आधुनिक साहित्य तक एक सजग-सतर्क अध्यापक की

* बी.एफ.एन.-१३, हरनारायण विहार, सारनाथ, वाराणसी

तरह अपनी पहचान बनायी है, तो एक विद्वान् लेखक की तरह अपभ्रंश से लेकर संत साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों तक सशक्त लेखनी भी चलायी है। उनकी पहली रचना 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' है, तो अंतिम महत्त्वपूर्ण कृति 'हिन्दी संत काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' है। 'कबीर काव्य कोश' और 'कबीर वाणी पीयूष' भी ऐसी रचनाएँ हैं, जो प्रो. सिंह को राष्ट्रीय विद्वानों की श्रेणी में खड़ा कर देती हैं। 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल' उनकी उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत रचना है। इस प्रकार, प्रो. सिंह एक सधे मनुष्य तथा प्रख्यात् विद्वान् के रूप में अपनी पहचान बना चुके थे।

अध्यापक का सबसे बड़ा आलोचक उसका विद्यार्थी होता है। प्रो. सिंह इसमें अग्रणी थे। हिन्दी जगत् में, मुख्यत: बनारस का सन्दर्भ लें, तो प्रो. सिंह एक लोकप्रिय अध्यापक के रूप में अग्रगण्य हैं। उनके अध्यापन की शैली और उद्धरणों के समुचित और प्रचुर मात्रा में प्रयोग को उनके विरोधी भी उनकी विशेषता मानते हैं। उनका लेखन इतना सुबोध और सुगम्य था कि प्रतियोगी परीक्षाओं के विद्यार्थी 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' और 'कबीर वाङ्मय' को बड़ी रुचि के साथ अपने अध्ययन का आधार बनाते हैं।

मुझसे प्रो. वासुदेव सिंह का सम्बन्ध न विद्यार्थी का था, न मैं उनके समानान्तर ही खड़ा हो सकता था। मैं उनसे कभी अपना स्वार्थ भी नहीं प्रकट कर सका। गोष्ठियों-संगोष्ठियों में उन्हें सुनते-सुनाते हुए मेरा सहज आकर्षण उनकी ओर होता गया। बिन्दुवार बातें और बहस उनका स्वभाव था। स्पष्ट बात कह देना उनकी आदत थी। विद्या की दुनिया में विचरना उन्हें प्रिय था। वह शौकीन भी खूब थे। घर-मकान इसके प्रमाण हैं। उनका स्वाभिमान उन्हें झेलाता भी रहा; पर उसके एवज में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया।

स्वर्गीय होने से आठ माह पूर्व वह भयंकर बीमारी की चपेट में आ गए थे। मुझे पता चला। मैं मिलने गया, तो वह एक लेख लिख रहे थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि सत्तर वर्ष से अधिक की आयु में लेखन के प्रति यह प्रतिबद्धता। उन्होंने दार्शनिक अंदाज में कहा– 'उदय प्रताप जी! यही लेखन रह जाएगा। शरीर तो समाप्त होना ही है।' इस समय मुझे स्मरण है, मेरी पुत्री अवंतिका ने कहा, पिताजी भगवती बाबा भी तो आपसे यही कहते थे। मैंने सिर हिलाकर उसका समर्थन किया। मृत्यु से पाँच माह पूर्व युगेश्वर जी ने मुझे बताया कि वासुदेव सिंह बहुत बीमार हैं। बी.एच.यू. में भर्ती कराए गये हैं। देख लीजिए। मैं चाहते हुए भी अस्पताल नहीं पहुँच सका। घर लौटने पर जब उनसे मिला, तो वह अत्यन्त निराश थे। मेरा हाल-चाल लेते हुए उन्होंने यही कहा कि– ''आप लोग ईश्वर से प्रार्थना करें कि मैं स्वस्थ हो जाऊँ।'' जिजीविषा भरा यह वाक्य आज भी मेरे कानों में गूँजता है और उनकी छरहरी काया की छाया भी।

●

काशी विद्यापीठ के गौरव

डॉ. सुरेन्द्र बहादुर सिंह *

बात १९८३ की है। मैं नया-नया विधि-विभाग में प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर आया था। उस समय तक मेरा सीधा साक्षात्कार प्रो. वासुदेव सिंह जी से नहीं था। नाम तो मैंने सुना था, क्योंकि काशी विद्यापीठ में उनकी बड़ी ख्याति थी। सर्वप्रथम प्रो. वासुदेव सिंह जी को देखने-सुनने का अवसर विश्वविद्यालय में 'तुलसी साहित्य' पर आयोजित एक संगोष्ठी में मिला। उस गोष्ठी में प्रो. सिंह ने तुलसी साहित्य के मर्म को जिस गहराई के साथ उद्घाटित किया, वह आज भी मेरे मानस-पटल पर अंकित है। मैंने वहीं देखा और सुना कि साहित्य का अध्यापक होता कैसा है। रामचरितमानस की एक-एक चौपाइयों की भक्ति-रस से सिंचित जो व्याख्या उन्होंने की, उससे पूरा श्रोता-समुदाय चमत्कृत था। सभागार खचाखच भरा था। कहीं कोई हलचल नहीं, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति। ऐसा दूसरा वक्ता तो मैंने अपने जीवन में देखा ही नहीं। प्रो. वासुदेव सिंह के इस व्याख्यान से मैं बहुत प्रभावित हुआ। इसके पश्चात् मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धाभाव एवं सम्मान बढ़ता ही गया।

प्रो. सिंह एक विद्वान् वक्ता एवं योग्य शिक्षक थे। विद्यार्थी उनके सान्निध्य में जाकार अपना भविष्य सँवारते थे। शिक्षक किसी भी संस्था की धरोहर एवं पहचान होते हैं। काशी विद्यापीठ को इस बात का गर्व है कि प्रो. वासुदेव सिंह जी यहाँ पर हिन्दी विभाग में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष थे। धीरे-धीरे मैं प्रो. सिंह के करीब आता गया। मुझे उनका स्नेह और अशीर्वाद मिलने लगा। उनके माध्यम से मैंने साहित्य के सच को जाना कि 'साहित्य का जनतन्त्र' कितना दिलचस्प होता है। कल्पना और स्वप्न के बिना जिन्दगी पराई हो जाती है। यथार्थ को तो हम देख ही रहे हैं, कल्पना और स्वप्नलोक को भी हमें देखना चाहिए।

जिन्दगी के कर्म-क्षेत्र में विधि का अध्यापक बनने का फैसला मेरा अपना था, जो न्याय का रास्ता बतलाता है। यहाँ आकर मैंने देखा न्याय की डगर कितनी कंकड़ीली-पथरीली एवं काँटों से भरी पड़ी है। एक ही दिन एक पक्ष ईद मनाता है, तो दूसरा मुहर्रम। अब तो हालत यह है कि–

''जिस शह पे निगाह डाली धोखा सा लगे है,
कातिल भी तो कम्बख्त मसीहा सा लगे है।''

प्रो. वासुदेव सिंह जी ने सार्थक जीवन जिया था। दीर्घ काया, आँखों पर चश्मा तथा मुख में पान वाली उनकी छवि आज भी मेरे मन में समाई हुई है। नियम-बद्धता, अनुशासन, निर्भीकता एवं साहस के साथ न्याय का पक्ष लेने की साहसिकता– उनके चरित्र के वैशिष्ट्य हैं।

वन्दनीय की वन्दना तो होनी ही चाहिए। प्रो. वासुदेव सिंह निश्चय ही; वन्दनीय हैं। उनकी पुण्यतिथि पर इसी भाव से उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

●

* पूर्व संकायाध्यक्ष– विधि संकाय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

कबीर-साहित्य के अनन्य अध्येता

प्रो. सदानन्द शाही*

डॉ. वासुदेव सिंह का नाम तब से जानता हूँ, जब एम. ए. का छात्र था। हमारे पाठ्यक्रम में 'कबीर वाणी पीयूष' नामक संकलन चलता था, जिसके सम्पादक ठाकुर जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव सिंह थे। 'कबीर वाणी पीयूष' कबीर-बानी का उत्कृष्ट चयन था। वह केवल छात्रों के लिए ही उपयोगी नहीं था, बल्कि कबीर-साहित्य के गम्भीर अध्येता भी उससे मदद ले सकते थे। प्रामाणिक पाठ ही नहीं, शब्दों और भावों की सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या दी गयी थी। अभिप्राय यह कि 'कबीर वाणी पीयूष' सचमुच कबीर-बानी का पीयूष था। इस संकलन ने हमारे युवा मन पर अपने सम्पादकों के लिए गहरा सम्मान-भाव पैदा किया।

जयदेव सिंह के बारे में तो अपने आचार्यों से बहुत कुछ सुनता रहता। वे दर्शन, संगीत, साहित्य सहित विविध कलाओं के मर्मज्ञ थे। हमारे गोरखपुर आने के पहले कभी जयदेव सिंह का विश्वविद्यालय में व्याख्यान हुआ था, जिसमें विश्वविद्यालय के सभी विषयों के मान्य आचार्य बतौर श्रोता उपस्थित थे। सब उन्हें सुनकर अभिभूत हुए। अभिभूत श्रोताओं में प्रो. आर. पी. रस्तोगी जैसे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक भी थे। इस व्याख्यान का विवरण पहली बार हमारे अत्यन्त आदरणीय डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय ने बताया था। आज भी; उस व्याख्यान को याद करके पाण्डेय जी विह्वल हो जाते हैं। बाद में; आचार्य रामचंद्र तिवारी ने भी डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय के बयान की पुष्टि की थी। मेरे मन में यह भाव आया कि बनारस जाकर जयदेव सिंह का दर्शन करूँगा, लेकिन इसके पहले ही जयदेव सिंह, १९८६ में, दुनिया से कूच कर गये। मन की साध मन में ही रह गयी।

प्रो. वासुदेव सिंह उन दिनों काशी विद्यापीठ में हिन्दी के प्रोफेसर और अध्यक्ष थे। वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में भी परीक्षा आदि विविध कार्यों से आया करते। इसी क्रम में; कभी प्रोफेसर वासुदेव सिंह जी को देखने-सुनने और मिलने का अवसर मिला। प्रथम दृष्टया वे बहुत सहज-सामान्य से लगे। आडम्बर से परे। अभिप्राय यह कि उनकी जो छवि मेरे मन में अंकित थी, उससे भिन्न। मुझे धक्का-सा लगा। लेकिन आज उनके बारे में, इन पंक्तियों को लिखते हुए, महसूस कर रहा हूँ कि कबीर पर लिखने वाले विद्वान् को तो सचमुच ऐसा ही होना चाहिए था–आडम्बरहीन।

इस बीच; प्रो. वासुदेव सिंह से अनेक मुलाकातें हुईं। एक बार मैं उनके काशी विद्यापीठ स्थित आवास पर मिलने गया था। बात १९८७ की है। उन दिनों मैं बनारस में ही रहकर अपना शोध-प्रबंध लिख रहा था। इसी क्रम में; कहीं से मुझे प्रो. वासुदेव सिंह के शोधकार्य के बारे में पता चला– 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद'। पुस्तकालयों में जब किताब नहीं मिली, तो मैं सीधे प्रो. वासुदेव सिंह के विद्यापीठ स्थित

* आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आवास पर पहुँच गया। उनके पास सिर्फ एक प्रति बची रह गयी थी और वह भी जीर्ण-शीर्ण स्थिति में। उन्होंने बहुत हिदायत के साथ कि मैं काम होने के बाद अवश्य लौटा दूँ, किताब मुझे दे दी। मैंने भी अपना काम करने के बाद वह किताब लौटा दी। किताब ढूँढ़ने में उनकी पुत्री श्रद्धा सिंह ने मदद की थी। आज की विदुषी श्रद्धा तब तन्वी श्यामा अवतार में थीं। मुझे यह जानकर बेहद खुशी हुई कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के सम्मानित पूर्व आचार्य स्व. भगवती प्रसाद सिंह उन दिनों प्रो. वासुदेव सिंह के घर रहकर 'राधाकृष्ण भक्त कोश' का सम्पादन कर रहे थे। यह एक विस्तृत परियोजना थी। इस सिलसिले में प्रो. भगवती प्रसाद सिंह लम्बे समय तक प्रो. वासुदेव सिंह के घर रुके। आज के समय में ऐसी घटनाएँ कपोल कल्पना लगती हैं।

इस बीच; मेरी पी-एच.डी. पूरी हो गयी और गम-ए-रोजगार का दौर-ए-दौरा शुरू हुआ। हिन्दी की अकादमिक दुनिया में मेरे जैसे व्यक्ति के लिए गुंजाइश बहुत कम थी। कुछ खास तरह की अमानवीय प्रवृत्तियों और परिस्थितियों ने मेरे मन में इस दुनिया के लिए विराग-सा पैदा कर दिया। इसी दौर में मैंने काशी विद्यापीठ से पत्रकारिता में स्नातक (बी. जे.) करने का निश्चय किया और प्रवेश ले लिया। तब प्रो. वासुदेव सिंह सम्भवत: कला संकाय के अधिष्ठाता थे। पहले की पहचान के नाते जब-तब उनसे मिलना होता था। उनसे मिलते हुए कभी यह बोध नहीं हुआ कि हम अधिष्ठाता जैसे पद पर आसीन व्यक्ति से मिल रहे हैं। इसका श्रेय प्रो. वासुदेव सिंह को था। उन्होंने कभी यह भान नहीं होने दिया कि वे एक बेरोजगार युवक से मिल रहे हैं।

एक बार फिर लौटते हैं– वासुदेव सिंह के कबीर सम्बन्धी कार्य की ओर। एम. ए. करने के थोड़े ही दिनों बाद विश्वविद्यालय प्रकाशन से ही प्रकाशित 'कबीर वाङ्मय' के तीनों खण्ड देखने को मिले। सम्पादक फिर वही जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह। इस बीच मेरी रुचि कबीर-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की ओर बढ़ चली थी। मैं तीनों खण्ड ले आया– साखी-सबद-रमैनी। पहले तो उलट-पलट गया। फिर शुरू से आखिर तक देख गया। आज मेरे पास कबीर-बानी के अनेक पाठ जुट गये हैं, लेकिन मेरे लिए कबीर के घर में प्रवेश का रास्ता इसी पुस्तक ने खोला। आज भी जब कोई बात फँसती है, मैं सबसे पहले 'कबीर वाङ्मय' के पास ही जाता हूँ। यह किताब मेरे लिए कबीर-साहित्य के महाप्रासाद में प्रवेश के लिए 'खुल जा सिम सिम' की तरह है। प्राय: रोज ही मुझे यह किताब उठानी पड़ती है और हर बार मैं कबीर-साहित्य के व्याख्याता आचार्यद्वय की स्मृति को प्रणाम करता हूँ। कबीर वाङ्मय का पहला खण्ड 'रमैनी' १९७४ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा खण्ड 'साखी' १९७६ में और 'सबद' १९८१ में। कबीर वाङ्मय के चौथे खण्ड के रूप में 'कबीर काव्य कोश' १९८७ में प्रकाशित हुआ। हालाँकि इसके साल भर पहले ठाकुर जयदेव सिंह की मृत्यु हो चुकी थी। मूल पाठ के तीनों खण्ड प्रकाशित होने के बाद दोनों आचार्य 'कबीर काव्य कोश' पर काम करते रहे। हालाँकि इसमें सम्पादक के रूप में केवल वासुदेव सिंह का नाम गया है, किन्तु जैसा कि प्रो. श्रद्धा सिंह बताती हैं, इसे लेकर वासुदेव सिंह जी के मन में भारी असमंजस था। वे चाहते थे कि 'कबीर काव्य कोश' में भी बतौर सम्पादक ठाकुर जयदेव सिंह का नाम जाय। लेकिन जो भी वजह रही हो, ऐसा हो नहीं सका। लेकिन श्रद्धा सिंह जिस असमंजस की चर्चा करती हैं, वह भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ कहता है।

बहरहाल; दो आचार्यों के बीच जीवन-पर्यन्त चलता रहने वाला कबीर-संवाद मुझे हैरत में डालता रहा है। १९५६ में वासुदेव सिंह एम. ए. के छात्र थे। उनके कॉलेज के प्राचार्य थे– जयदेव सिंह। उसी दौर में

कभी वासुदेव सिंह कबीर सम्बन्धी कुछ प्रश्नों, कुछ जिज्ञासाओं के साथ ठाकुर जयदेव सिंह से मिले थे। यह मुलाकात जीवन भर यानी जयदेव सिंह की मृत्यु (१९८६) तक चलती रही। उम्र भर एक मुलाकात चली आती है।

ठाकुर जयदेव सिंह लखीमपुर खीरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद बनारस आ गये थे। इसे संयोग ही कहेंगे कि पढ़ाई पूरी करने के बाद वासुदेव सिंह भी बनारस आ गये और दोनों आचार्यों का कबीर-संवाद चल निकला। ऐसे में; जबकि छोटे-छोटे स्वार्थ सम्बन्धों को साल भर भी नहीं चलने देते और कुछ नहीं, तो आचार्यों के बीच का अहं आड़े आ जाता है, इनके बीच भी यह सब चला होगा, लेकिन कबीर-साहित्य की डोर से बँधे दोनों आचार्यों ने किसी तुच्छता को आड़े नहीं आने दिया। अकादमिक दुनिया में ऐसा सहकार कम दिखाई पड़ता है। मुझे लगता है कि इन दोनों आचार्यों की यह सहकारिता आने वाली पीढ़ी के लिए रास्ता दिखाती रहेगी।

कबीर-साहित्य के अनन्य अध्येता के रूप में प्रो. वासुदेव सिंह के अवदान की चर्चा के बगैर बात अधूरी रह जायेगी। प्रो. वासुदेव सिंह के कबीर सम्बन्धी अध्ययन की सबसे बड़ी खासियत यह है कि बिना किसी बड़े दावे के वे कबीर की कविता तक पहुँचने का सामान्य रास्ता निकालते हैं। उन्होंने सामान्य पाठक की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए कबीर के व्यक्तित्व-कृतित्व पर समग्रता में लिखा। कबीर के व्यक्तित्व पर विचार करते हुए उन्होंने कबीर को भारतीय चिन्तन-परम्परा के स्वाभाविक विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखने का प्रस्ताव किया। कबीर-साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सरल व्याख्या करके कबीर-साहित्य के नये अध्येताओं का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर की भक्ति-भावना का सम्यक् निरूपण करने के साथ कबीर के कवि-रूप पर विचार करते हुए स्पष्ट तौर पर कहा कि– ''परम्पराबद्ध आचार्यों ने जिन काव्य-मूल्यों पर कबीर के काव्य को परखने की चेष्टा की है, वह समीचीन नहीं कही जा सकती है।'' साधु भाषा में ही सही, पर वासुदेव सिंह पूरी दृढ़ता के साथ कबीर के कवि रूप को कमतर आँकने वाले आचार्यों से असहमति व्यक्त करते हुए कबीर के काव्यात्मक पक्ष को कबीर के व्यापक समाज-बोध के बरक्स देखने का प्रस्ताव करते हैं।

इस प्रक्रिया में स्वयं वासुदेव सिंह का समाज-बोध प्रकट होता है। कबीर की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए प्रो. वासुदेव सिंह के इस कथन पर ध्यान देना बेहद जरूरी है– ''वर्तमान समय सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से जितना संकटपूर्ण है, धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम पर पूरे देश में जो अराजकता, आतंक और भय व्याप्त है, मानव-मानव के बीच भेद और घृणा की जो दीवारें बढ़ती जा रही हैं, असुरक्षा की जो भावना पूरी संस्कृति को नष्ट करने के लिए तत्पर है, उससे त्राण पाने के लिए कबीर की वाणी अमोघ अस्त्र का कार्य कर सकती है।'' कबीर की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में लिखे गये प्रो. वासुदेव सिंह के ये शब्द लगभग तीस वर्ष बाद कहीं ज्यादा अर्थवान हो गये हैं। इन शब्दों के सहारे हम सहज ही कबीर-साहित्य के अनन्य अध्येता वासुदेव सिंह के हृदय के सहज रूप को पहचान सकते हैं।

●

श्रीमठ की नजर में

*दयासिन्धु शर्मा**

तीर्थ के रूप में काशी की गरिमा अपार है। काशी मोक्ष-प्रदायिनी तीर्थभूमि है, इसीलिए धार्मिक हिन्दू जनता के हृदय में काशी में निवास करने के लिए इच्छा रहती है।

शिक्षा के प्रख्यात् केन्द्र के रूप में भी इस नगरी की प्रसिद्धि कम नहीं है। प्राचीन समय से हिन्दू संस्कृति, शास्त्रालोचना तथा संस्कृत भाषा की चर्चा के कारण समग्र भारत में काशी शीर्षस्थानीया है। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि इस देश के इतिहास में ऐसे महापुरुष, साधु-महात्मा, योगी-तपस्वी और दिग्विजयी विद्वान् कम ही मिलेंगे, जो कभी-न-कभी इस पुण्य नगरी में न आये हों। इनमें से अनेक यहाँ पर स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। जब भी कोई दिग्विजयी प्रचारक अथवा विद्वान् अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए एवं जय-लाभ करने के लिए अग्रसर हुआ, उसको सर्वप्रथम यहाँ की विद्वत्मण्डली के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा। महात्मा बुद्ध, आदि शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु, गुरुनानक और स्वामी दयानन्द ने ऐसा ही किया।

यहाँ स्थायी रूप से बसे हुए योगी-तपस्वियों और साधु-महात्माओं में संत रामानन्द और उनकी शिष्य-परम्परा के संत रैदास, संत कबीरदास, संत तुलसीदास, तैलंग स्वामी व बाबा कीनाराम, स्वामी भाष्करानन्द, स्वामी विशुद्धानन्द, हरिहर बाबा आदि सन्तों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। काशी के गंगा तटवर्ती घाटों की शोभा संसार भर में विख्यात् है। काशी में कितने मठ, मन्दिर, आश्रम हैं– इसकी गणना नहीं है। इसी परम्परा में पंचगंगाघाट, काशी में स्थित 'श्रीमठ' १४वीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक संत रामानन्द जी का मुख्य केन्द्र था। यहीं से संत रामानन्द और उनके शिष्यों ने 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई' महामंत्र का प्रचार-प्रसार कर हिन्दू संस्कृति और वैदिक सनातन धर्म की रक्षा की, जो भारत के इतिहास में भक्ति आन्दोलन के रूप में स्थापित है।

भारतीय इतिहास के इस काल में स्वामी रामानन्द व उनकी द्वादश शिष्य-परम्परा द्वारा एक नये युग का श्रीगणेश किया गया, जिसे हम लोकभाषा, जनभाषा या हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास का काल मानते हैं।

संत रामानन्द व उनके प्रधान शिष्यों द्वारा हिन्दी भाषा का प्रयोग कर इतने बृहद् संत साहित्य का सृजन किया गया, जो आज हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है। रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, संत रैदास वाणी, संत कबीरदास की वाणी, गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरितमानस आदि न केवल हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं, वरन् लोक-जगत् में भारतवासियों के वैदिक स्वरूप को सनातन रूप प्रदान करने में

* सचिव– श्रीमठ, पंचगंगाघाट, वाराणसी

'पंचम वेद' की मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। इसी के साथ ही; हिन्दी साहित्येतिहास के उद्‌भव-विकास का काल भी इसी काशी नगरी से प्रारम्भ हुआ। यही से संत रामानन्द, संत रैदास, संत कबीर, गोस्वामी तुलसी की वाणी का ग्रन्थ-रूप में प्रकाशन हुआ, जो काशी को आज भी धन्यता प्रदान करती है।

साहित्य के क्षेत्र में आज भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और काशी विद्यापीठ का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी आदि महामनीषियों ने हिन्दी भाषा के माध्यम से काशी को गौरवान्वित किया।

कालखण्ड के प्रवाह में भक्ति आन्दोलन का मुख्यालय 'श्रीमठ' का अस्तित्व मात्र संत रामानन्द और संत कबीरदास की किंवदन्तियों पर ही जनमानस में विद्यमान रहा कि इस पंचगंगाघाट की सीढ़ियों पर संत कबीरदास जी ने लेटकर गुरु रामानन्द जी से राममंत्र की दीक्षा ली थी। संयोग से; वहाँ गुरु रामानन्द जी की चरण-पादुका आज भी विद्यमान है।

वर्ष १९८८ में श्रीमठ पंचगंगाघाट में नये आचार्य जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामनरेशाचार्य जी महाराज का अभिषेक हुआ। नये आचार्य के नेतृत्व तथा संरक्षण में पुन: नये युग का श्रीगणेश हुआ। मुझे दैवयोग से उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनकी कृपा से मुझे श्रीमठ के उद्‌भव व विकास से सम्बन्धित एक स्मारिका निकालने के लिए काशी सहित पूरे भारतवर्ष के विद्वानों के सम्पर्क का दायित्व मिला। इसी क्रम में; तत्कालीन हिन्दी साहित्य के मान्य विद्वान् प्रो. भगवती प्रसाद सिंह, प्रो. विद्यानिवास मिश्र, प्रो. शुकदेव सिंह, प्रो. वासुदेव सिंह, प्रो. आनन्दकृष्ण, प्रो. केदारनाथ मिश्र, प्रो. युगेश्वर, प्रो. मनु शर्मा आदि सदृश देश के मान्य विद्वानों ने श्रीमठ के उद्‌भव-विकास के सम्बन्ध में अपना महत्त्वपूर्ण लेख व भाषण देकर पुन: श्रीमठ की महत्ता एवं प्रतिष्ठा स्थापित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया, जिसके हम ऋणी हैं।

वर्ष १९८८ से वर्ष २००२ तक, १४ वर्षों में लगातार काशी के विद्वानों में श्रीमठ का सर्वाधिक सम्बन्ध रहा, तो प्रो. शुकदेव सिंह, प्रो. भगवती प्रसाद सिंह तथा प्रो. वासुदेव सिंह जी से। इन तीनों मनीषियों ने इस मठ में मात्र अपना महत्त्वपूर्ण योगदान ही नहीं दिया, वरन् इस मठ के प्रति श्रद्धावनत भी रहे।

प्रो. वासुदेव सिंह संत साहित्य के मर्मज्ञ थे। उनके निर्देशन में भारतीय संत-परम्परा और स्वामी रामानन्द के विचारों की प्रासंगिकता पर श्रीमठ में अनेक बार गोष्ठियाँ हुई। उनके अनेक भाषणों और लेखों का प्रकाशन श्रीमठ के द्वारा किया गया।

प्रो. वासुदेव सिंह स्वामी रामानन्द और उनकी शिष्य-परम्परा के आधिकारिक विद्वान् थे। उनकी इस विशिष्टता के कारण ही वर्तमान आचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य जी उन्हें अत्यधिक स्नेह-सम्मान देते रहे।

ऐसे मनीषी साधक श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह की पुण्यतिथि पर श्रीमठ परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, नमन करता है और 'स्मृति न्यास' के सचिव डॉ. हिमांशु शेखर जी से अपेक्षा रखता है कि वे प्रो. वासुदेव सिंह की यश:कीर्ति को अक्षुण्ण रखने में सतत् प्रयत्नशील रहेंगे। इस निमित्त श्रीमठ परिवार सर्वतोभावेन उनके साथ है।

●

समर्पित साहित्य-सेवी

डॉ. रामसुधार सिंह *

प्रो. वासुदेव सिंह १९५६ से १९६२ तक उदय प्रताप कॉलेज में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। १९७०-७१ में जब मैं कॉलेज में बी.ए. में विद्यार्थी के रूप में आया, तो यहाँ के हिन्दी विभाग की समृद्धि की चर्चा बहुत थी। लोगों ने बताया था कि बाबू मारकण्डेय सिंह, डॉ. मोती सिंह, ठा. सोमेश्वर सिंह जैसे श्रेष्ठ अध्यापक यहाँ रहे हैं। डॉ. मोती सिंह गाजीपुर प्राचार्य होकर चले गये और सोमेश्वर सिंह अमेठी। इसी क्रम में; डॉ. वासुदेव सिंह का नाम आया, जो कॉलेज से काशी विद्यापीठ में चले गये थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं में रहते हुए, काशी विद्यापीठ में इनके आवास में आने-जाने लगा था। विभाग में आने के बाद एक बार मैंने प्रो. साहब को तुलसीदास पर व्याख्यान देने के लिए बुलाया। आपने गोस्वामी तुलसीदास के समग्र विवेचन के साथ उनके भक्तिपक्ष की जिस रूप में प्रस्तुति की, वह सचमुच अद्‌भुत थी। तुलसीदास पर पहली बार इतना विद्वत्तापूर्ण और छात्रोपयोगी व्याख्यान सुनने को मिला था। बाद में; डॉ. जयदेव सिंह के साथ कबीर-साहित्य पर तथा डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के साथ राधाकृष्ण भक्त कोश पर अनवरत कार्य करते हुए प्रो. साहब की साहित्य-साधना को देखा था। इतना कार्य करते हुए भी प्रो. साहब ने कभी सिर पर विद्वत्ता की गठरी नहीं लादी, बल्कि एक सरल, सहज और आत्मीय व्यक्तित्व ही सबके सामने आता था। आपके आवास की बैठक में सुबह-शाम साहित्य-प्रेमियों की भीड़ जुटी रहती थी। एक बार मैंने पूछा था कि रात ८ बजे तक आपके यहाँ बैठक जमी रहती है, तो आप काम कब करते हैं? उन्होंने बड़ी सहजता से बताया था कि सुबह ७ बजे से ११ बजे तक का समय मेरे काम करने का होता है और मैं जानता हूँ कि उनका यह क्रम जीवन के अन्तिम समय तक चलता रहा। उनका अपना पुस्तकालय भक्तिकालीन साहित्य का अनुपम भण्डार था। कबीर पंथ थी लगभग सभी शाखाओं, गद्दियों की उन्होंने यात्रा की थी और वहाँ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उनके पास सुरक्षित थीं। मुझे ज्ञात नहीं कि उन्होंने इनमें से कितने का उपयोग किया।

कबीर के बीजक, साखी, सबद और रमैनी का सम्पादन करते हुए आपने तत्सम्बन्धी साहित्य एवं खोजों का गहन अध्ययन किया। इन ग्रन्थों की भूमिका (उपोद्‌घात) देखने पर आप की गवेषणात्मक प्रतिभा का पता चलता है। इस सन्दर्भ में आपने 'गुरुग्रन्थसाहिब' से लेकर श्यामसुन्दरदास, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. पारसनाथ तिवारी, डॉ. माता प्रसाद गुप्त जैसे विद्वानों के सम्पादनों का निचोड़ प्रस्तुत करने के साथ-ही-साथ; कबीरपंथी संतों में हंसदास शास्त्री के 'कबीर बीजक', मोतीदास चेतनदास के 'कबीर साहब के बीजक', सदाफलदेव जी के 'बीजक-भाष्य', श्री गोसांई भगवान साहब के 'मूल बीजक' आदि ग्रन्थों को

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी

उद्धृत करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। इस क्रम में; साखियों के क्रम-निर्धारण और पाठ-निर्धारण को प्रामाणिक आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों में कबीर की साखियों तथा पदों की भावार्थ-बोधिनी व्याख्या भी दी गई है, जो हर दृष्टि से छात्रों एवं कबीर-साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस सम्बन्ध में प्रो. साहब का मानना था कि– ''प्रस्तुत कार्य का विशेष प्रयोजन कबीर-साहित्य की एक ऐसी प्रामाणिक एवं स्पष्ट व्याख्या करना रहा है, जो कबीर की साधना एवं सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के साथ उसके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित कर सके। आधुनिक विद्वान् टीका-व्याख्या लिखना अधिक सम्मानजनक नहीं मानते। प्राय: मूलकृति के अध्ययन के बिना ही बड़े-बड़े मोटे समीक्षात्मक ग्रन्थ तैयार कर दिये जाते हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि आज के छात्र कवि की रचना से अपरिचित ही रह जाते हैं।''

इस कथन से स्पष्ट है कि मूल कृति को बोधगम्य बनाकर अध्येताओं को उपलब्ध कराना प्रो. साहब की साहित्य-सेवा का एक प्रमुख ध्येय रहा है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर आपने 'कबीर वाणी पीयूष' का सम्पादन किया, जो स्नातकोत्तर छात्रों के लिए बहुत ही उपयोगी बन सका। भक्तिकालीन कवियों पर लिखते हुए आपने परम्परा के साथ आधुनिकता को सदैव सामने रखा। तुलसी के विविध पक्षों के साथ उनके साहित्य के वर्तमान सन्दर्भों को आपने अत्यन्त प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसी कारण; ये पुस्तकें प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के लिए आज बहुत उपयोगी बन पड़ी हैं।

प्रो. वासुदेव सिंह के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जिस विषय पर लिखना होता था, उस विषय से सम्बन्धित समग्र साहित्य का वे पहले गहन अध्ययन करते थे। कभी भी सतही ढंग से, बिना गहराई तक पढ़े, उन्होंने नहीं लिखा। खूब पढ़ते थे और जब उन्हें लगता था कि अब लिखा जा सकता है, तभी वे कलम उठाते थे। उदाहरण के रूप में, उनकी 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' देखी जा सकती है। इस पुस्तक में इन्होंने समुचित काल-विभाजन एवं नामकरण करते हुए समकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में रचनाकारों का तटस्थ मूल्यांकन किया है। भक्तिकाल के परम्परागत शुक्ल जी द्वारा किये गये विभाजन को अस्वीकार करते हुए नये ढंग से विभाजन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार, आधुनिक काल के अन्तर्विभाजन और नामकरण पर भी नए ढंग से विचार किया गया है। अब तक के इतिहास-ग्रन्थों में गद्य और पद्य को एकसाथ मिला देने से सामान्य अध्येता को कई प्रकार की उलझनें आती हैं। इस पुस्तक में दोनों का अलग-अलग विवेचन प्रत्येक काल की प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर देता है।

प्रो. वासुदेव सिंह अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व– दोनों में सहजता एवं स्पष्टता के हिमायती रहे हैं। उनके इन गुणों का भरपूर उपयोग-दुरुपयोग उनके जीवन-काल में होता रहा है। आज प्रो. साहब हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनका अध्ययन-अध्यापन के प्रति समर्पण-भाव, भीड़ में रहकर अकेलेपन तथा अकेले में रहकर भीड़ में रहने का सहज भाव सदैव स्मरण में रहेगा। आज साहित्य से जुड़े शिक्षकों का अध्ययन मूल से इतर समीक्षा-ग्रन्थों तक सीमित रह गया है। प्रो. साहब का कृतित्व हमें अनवरत स्वाध्याय की प्रेरणा देता रहेगा। मैं अत्यन्त श्रद्धाभाव से डॉ. साहब की स्मृति को श्रद्धांजलि निवेदित करता हूँ।

●

स्मृतियों के झरोखों में बसी वेदना

डॉ. बलवीर सिंह *

मानव-जीवन भी बड़ा विचित्र है। यह सुख-दु:ख, समस्याएँ-उलझनें, चुनौतियाँ-उपलब्धियाँ और न जाने क्या-क्या अपने आप में समेटे हुए है। इन सब से अलग हटकर एकान्त में बैठिए, तो स्मृतियों का टीस भरा सैलाब मन को झकझोर देता है और मन बरबस ही अतीत में खो जाता है। क्या इन्हीं स्मृतियों के सहारे हम अपने आप को संयत कर पाते हैं? आज जब हिमांशु जी से बात हुई, तो मन पुन: स्मृतियों के झरोखे से झाँकने लगा और एक स्पष्ट आकृति दिखाई देती है– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आपात चिकित्सा का बाहरी भाग। पूज्य गुरुवर चिरनिद्रा में निमग्न। सब मौन, वातावरण स्तब्ध, काशी की आत्मा काशी में विलीन हो चुकी है। वह काशी– जहाँ तथागत का प्रथम धर्म चक्र चला, वह काशी– जिसका स्पर्श प्रतिदिन माँ गंगा करती है, वह काशी– जिसमें हिन्दुओं सहित सभी धर्मावलम्बियों की आस्था समाहित है। यह वही काशी है– जहाँ प्रेमचन्द, प्रसाद, भारतेन्दु सहित न जाने कितने साहित्यकारों ने साहित्य की त्रिवेणी बहाई और तुलसी, रैदास, कबीर सहित न जाने कितने संतों ने धर्म की नयी व्याख्या करते हुए एक अलग मानक स्थापित किया। आज उसी काशी का वरद् पुत्र, कबीर-मार्ग का राही, असीम शान्ति समेटे, हम सबसे बहुत दूर चला गया है। सहसा विश्वास नहीं हुआ। साथ में प्रो. सुधाकर सिंह, प्रो. विजय बहादुर सिंह और हिमांशु भाई। सभी जड़वत। लगा, अब कुछ शेष रहा ही नहीं। गंगा का पावन तट और धधकती हुई चिता। ढ़ेर सारे स्नेही, स्वजन, साहित्य-प्रेमी और विद्वत्जन। सभी निराश, थके-हारे, दु:खी, मौन और सभी की आँखें नम। मैं मन ही मन पूज्य गुरुवर से आशीर्वाद लेता हूँ और पुन: वही स्मृतियाँ– इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. करने के पश्चात् पी-एच.डी. उपाधि के पंजीयन हेतु मैं पहली बार उनके आवास पर मिला था। जिन्हें केवल सुना और पढ़ा था– उनसे बात कर रहा था। सौम्यता की प्रतिमूर्ति, जैसा अन्दर, वैसा ही बाहर। कोई दिखावा नहीं, और न ही कोई बनावट। स्नेह मिला और खूब मिला, फिर तो यह क्रम बढ़ता ही गया। अनेक उलझे प्रश्नों को सुलझाया। आवरण का एक-एक रेशा हटाकर परत-दर-परत चमकाया और अध्ययन-अध्यापन की नई राह दिखाते हुए एक नई स्फूर्त्ति पैदा की। घण्टों बैठकर अपनत्वपूर्ण वातावरण में साहित्यिक चर्चा करना और निर्णयों के नए क्षितिज खोलना अपने आप में पूरी शक्ति और आत्मविश्वास भरना था।

मन कहीं गुरुदेव को खोज रहा है। 'आज का सामाजिक संकट और संत कबीर साहित्य की पहल' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन मैंने हरिश्चन्द्र महाविद्यालय में किया था। संगोष्ठी में वक्ता के रूप में

* रीडर एवं पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, हरिश्चन्द्र महाविद्यालय, वाराणसी

आमंत्रण देने हेतु गुरुदेव के आवास पर पहुँचा। पहुँचते ही आशीर्वाद और संगोष्ठी की सफलता हेतु शुभकामना देने के साथ ही अंक में भर लेते हैं। कहते हैं– 'संगोष्ठी में सम्मिलित होना तो मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है। इस पुनीत कार्य में हर पल, हर तरह से मैं तुम्हारे साथ हूँ।' उत्साह से मेरा मन भर उठता है। बोल पड़ता हूँ– 'गुरुदेव! आपका आशीर्वाद ही मेरी सफलता है। मैं गाड़ी हिमांशु जी के साथ भेज दूँगा।' गुरुवर नाराज होते हैं। कहते हैं– 'मैं यथार्थ में जीता हूँ। तुम अपने हो, शहर अपना है और संगोष्ठी अपनी है। तुम अपना कार्य करो, मैं समय से आ जाऊँगा।'

संगोष्ठी में गुरुदेव का तर्कपूर्ण, ओजस्वी, शोधपरक और गूढ़ वक्तव्य। सभी लोग भावपूर्ण, दत्तचित्त और शान्त होकर वक्तव्य सुन रहे हैं। समापन के बाद तालियों की जबरदस्त गड़गड़ाहट। सभी के मुँह से एक ही बोल– 'गुरुदेव ने संगोष्ठी को नई ऊँचाई दी।' संगोष्ठी से आवास को जाने वाले हैं गुरुदेव। मैं कार उनके समीप खड़ा करता हूँ। गुरुदेव आप इससे जाँय। फिर वही अपनत्व भरी नाराजगी– 'तुम अपना कार्य करो। बहुत व्यस्त हो। जिन्हें दूर जाना है, उन्हें गाड़ी से भेजो। मैं रिक्शे से चला जाऊँगा।' और गुरुदेव उस तपन और उमस भरी गर्मी में रिक्शे से चले जा रहे हैं। गाड़ी छोड़कर मैं उनके इस अपनत्व और त्याग को देखता रह जाता हूँ। धन्य हैं गुरुदेव! आज वही त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति मेरी आँखों से ओझल हो रही है। अभी भी वही चेहरे पर त्याग और गम्भीरता के भाव। वे भाव, जिनका अभाव कभी नहीं रहा। मैं सोच रहा हूँ– काशी की समृद्ध परम्परा की एक और कड़ी तिरोहित हो रही है। मैं उस कड़ी को अंतिम प्रणाम करता हूँ और चल देता हूँ, अतीत की स्मृतियों को मन में सँजोए। आज मैं पूज्य गुरुवर को पुनः शतबार प्रणाम करता हूँ।

●

सरलता की प्रतिमूर्ति प्रो. साहब

डॉ. लक्ष्मी सिंह *

बात उस समय की है, जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्ययन कर रही थी। मेरी उत्कट इच्छा थी कि मैं गुरुवर प्रो. त्रिभुवन सिंह के निर्देशन में ही शोधकार्य करूँ, किन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से यह सम्भव नहीं दिख रहा था। तब मैंने गुरु जी से ही पूछा कि आप ही बताएँ, मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? तब उन्होंने कहा– 'मेरे अनन्य मित्र हैं डॉ. वासुदेव सिंह, काशी विद्यापीठ में। तुम उनके निर्देशन में शोधकार्य करो, तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी। मैं उनसे कह दूँगा।'

यह जून, सन् १९७६ की बात है। मैं पहली बार श्रद्धेय डॉक्टर साहब के आवास पर गई। अपना परिचय देकर कहा कि– 'मुझे प्रो. त्रिभुवन सिंह जी ने भेजा है। बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपने निर्देशन में शोधकार्य की अनुमति दे देंगे।' डॉ. साहब ने बड़ी सहजता से कहा– 'अरे, यह कोई बड़ी बात थोड़े ही है, तुम परेशान मत हो।' उस दिन के बाद से मुझे नहीं याद है कि मुझे कभी भी कोई दिक्कत हुई शोधकार्य के दौरान। शीधकार्य के पूरा होते-होते हमारे सम्बन्ध गुरु-शिष्य से आगे बढ़कर पारिवारिक हो गए। डॉ. साहब की श्रीमती जी से, उनकी बेटियों– भारती और श्रद्धा– से मेरी निकटता बढ़ती गई और हमारे परिवार में उनका तथा उनके परिवार में हमारा स्थान आत्मीय जैसा बन गया। तब से बना हुआ यह सम्बन्ध आज तक यथावत है।

डॉ. साहब का व्यक्तित्व इतना सरल और आत्मीय था कि किसी को भी उनसे मिलकर प्रसन्नता होती थी। इतने बड़े विद्वान् व्यक्ति का ऐसा सहज व्यवहार, किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। अपने शोधकार्य के दौरान मैं जब भी कोई समस्या लेकर जाती थी, वे इतनी जल्दी समाधान सुझा देते थे कि मुझे भूल जाता था कि मैं थोड़ी देर पहले कितनी उलझन में थी। जब मैंने शिक्षण-कार्य प्रारम्भ किया और उनसे मिलने गई और आशीर्वाद माँगा, तब उन्होंने हँसकर कहा– 'अब तो आप मेरी बराबरी की हो गईं। आप शिष्या थोड़े ही हैं कि आशीर्वाद दूँ। अब तो बधाई दूँगा।' और इसके बाद सचमुच ही उन्होंने हमेशा मुझे बराबरी का स्थान दिया और स्नेह के साथ-साथ सम्मान भी दिया।

ऐसी छोटी-छोटी अनेक घटनाएँ हैं, जो उनके सरल स्वभाव का परिचय देती हैं। विद्वत्ता का घमण्ड उन्हें जरा-सा भी नहीं था। मेरे महाविद्यालय के अध्ययन परिषद् के भी डॉ. साहब सम्मानित सदस्य रहे और समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों से मेरा मार्गदर्शन करते थे। आज आप हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु आपकी प्रेरक स्मृतियाँ सदैव मेरे लिए पथ-प्रदर्शक करा कार्य करती रहेंगी। मैं अपने मनीषी गुरुवर को श्रद्धापूर्वक नमन करती हूँ।

●

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

मेरे शिक्षक एवं सहयोगी

विनोद कुमार सिंह 'एडवोकेट' *

मैं अपनी शिक्षा प्राप्त करने के काल में उदय प्रताप कॉलेज का कृषि विज्ञान का छात्र रहा। उस विषय में मेरा मन आगे शिक्षा प्राप्त करने में नहीं लग रहा था। काशी विद्यापीठ के प्रोफेसर राजाराम शास्त्री, मेरे चाचा श्री सागर सिंह के मित्र और समाजवादी आन्दोलन के सहकर्मी थे। चाचा से बात करने के बाद शास्त्री जी ने मुझे बुलाया और उनके परामर्श से मैं काशी विद्यापीठ में स्नातक की शिक्षा प्राप्त करने आ गया। स्नातक कक्षा के मेरे शिक्षक प्रो. वासुदेव सिंह थे। हिन्दी के प्रति उनकी निष्ठा और विभिन्न धाराओं के प्रति उनके रुझान ने मुझे आकर्षित किया और मेरा मन अध्ययन में लग गया। उस समय का स्मरण होने पर मुझे लगता है कि वे अपने कार्य के प्रति कितने निष्ठावान थे। अस्वस्थ रहने के बाद भी अपने निवास पर वे हम लोगों के पठन-पाठन की कठिनाइयों को दूर करने में दत्त-चित्त रहते थे। उस समय वेतन नहीं, कर्त्तव्य की प्रधानता शिक्षकों में रहती थी। चाचा जी से उनकी मित्रता के कारण मेरा उनसे पारिवारिक सम्बन्ध विकसित हो गया। अपनी भतीजी की आँख की चिकित्सा करने हेतु मुझे सीतापुर के प्रसिद्ध अस्पताल में जाना पड़ा। प्रो. वासुदेव सिंह सीतापुर के ही निवासी थे और उनके कारण अनेक कठिनाइयों से मुझे मुक्ति मिली थी, जिसका स्मरण होते ही रोमाञ्च हो जाता है। अस्पतालीय चिकित्सा के अतिरिक्त; उस समय गाँव वाले घर भी गया था। सोचता हूँ कि एक ऐसे गुरुदायित्व के गुण से परिपूर्ण थे कि उनके कारण सीतापुर, काशी जैसा ही अपना नगर होने का बोध देने लगा। यह बिना किसी लाग-लपेट के कह सकता हूँ कि प्रो. राजाराम शास्त्री के संरक्षण के अतिरिक्त प्रो. वासुदेव सिंह का स्नेहिल प्रशिक्षण नहीं प्राप्त हुआ होता, तो मेरे अध्ययनकाल की अनेक बाधाएँ दूर नहीं हुई होतीं। उनके प्रशिक्षण-दायित्व के कारण मेरा मन कला संकाय में लग गया और आगे का प्रशिक्षण भी प्राप्त करने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। काशी विद्यापीठ में मैंने समाज विज्ञान की स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि कि उस विषय से प्रो. वासुदेव सिंह का सम्बन्ध नहीं रहा, तथापि उस विषय के सहयोगी शिक्षकों से मेरे ऊपर ध्यान देने की अनुशंसा की थी, जिसके कारण मुझे स्नातकोत्तर कक्षा में प्रशिक्षित होने की सुविधाएँ प्राप्त हुई।

बाद के समय में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विधि की शिक्षा प्राप्त करने चला गया, किन्तु प्रारम्भिक गुरु के स्वरूप में गुरु का कर्तव्य-बोध मुझे स्तम्भित करता रहा और वासुदेव सिंह का गुरुदायित्व मुझे प्रेरित करता रहा। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त, जब काशी के न्यायालय में मैं वकालत करता रहा, उस समय प्रो. वासुदेव सिंह की विधिक आवश्यकताओं में मैं उनकी सेवा कर सका और मुझे इस बात

* सी. २७/२१२-१, जलधि तरंग, जगतगंज, वाराणसी

का संतोष है कि मैं गुरु-ऋण को किंचित अदा कर सका। उस समय मैं काशी विद्यापीठ का विधि सलाहकार रहा। लगभग २०-२५ वर्ष काशी विद्यापीठ कोर्ट का सदस्य रहा और उसी समय कोर्ट के सदस्य के रूप में निर्वाचित कार्य परिषद का सदस्य चुना गया। उसी समय प्रो. वासुदेव सिंह राज्यपाल द्वारा कार्य परिषद के नामित सदस्य हुए और कार्य परिषद में कार्य करते हुए उनके निर्णय व प्रशासनिक क्षमता का आभास हुआ। इस तरह; वासुदेव सिंह मेरे शिक्षक और सहकर्मी– दोनों रहे। वे शरीर रूप में नहीं हैं, किन्तु उनके अन्दर अजस्र धारा के रूप में बहता हुआ गुरु-दायित्व का बोध मुझे आज भी प्रेरणा देता है।

वर्तमान में, कर्त्तव्य-परायणता के अभाव को देखते हुए, मुझे वासुदेव सिंह की कर्त्तव्यनिष्ठा का बार-बार स्मरण होता है और उस पुण्य स्मरण को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।

काशी विद्यापीठ की पुण्यभूमि अनेक प्रकार से उनके चिन्तन, अध्ययन, अध्यापन का केन्द्र रही है। हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में प्रो. वासुदेव सिंह के द्वारा अपने स्थानीय और बाहरी हिन्दी विद्वानों के साथ चिन्तन की प्रक्रिया चलती रही और वे आजीवन हिन्दी के विकसित स्वरूप के लिए चिन्तनशील रहे। ऐसे कर्त्तव्य-बोध का आज अभाव खटकता है और वासुदेव सिंह का स्मरण और अधिक सजीव हो उठता है।

●

सहजप्रज्ञ शिक्षाविद् एवं वाणी के वरदपुत्र

प्रो. (डॉ.) रमेश चन्द्र सिंह *

मेरे विचार से अभिनंदन में स्वागत और श्रद्धा का समन्वय नहीं हो, तो वह महज एक दिखावा, एक आडम्बर एवं झूठे प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं है। अभिनंदन के क्रम में अभिनंदनीय व्यक्ति सबके सामने होता है। उसके व्यक्तित्व और कर्तृव्य के विविध पक्ष खुली किताब की तरह सभी के समक्ष होते हैं। ऐसे में; उस व्यक्ति पर कुछ लिखना बहुत जोखिम भरा काम है। इसमें अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति की छूट नहीं होती है। यही कारण है कि मैं नहीं चाहता था कि अपनी श्रद्धा को सार्वजनिक करूँ। यद्यपि गुरुदेव के 'स्मृति-न्यास' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में उनकी स्मृतियों को सँजोना सामान्य कार्य नहीं है, फिर भी; मैं उन्हें ढ़िठाई के साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

उच्चतर शिक्षा हासिल करने के लिए मैं बलिया के ग्रामीण क्षेत्र से १९७३-७४ में वाराणसी गया। स्नातक करने के उपरान्त १९७५-७७ में महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में दाखिला लिया था। तत्कालीन विभागाध्यक्ष डॉ. केशव प्रसाद सिंह, डॉ. विजय नारायण सिंह 'बलियाटिक', डॉ. सर्वजीत राय सहित गुरुदेव भी विभाग के सदस्य थे। ये सभी समर्पित शिक्षक थे तथा समान भाव से सभी छात्र-छात्राओं को स्नेह और समुचित मार्ग-निर्देश देते थे। मुझे १९७७ में स्नातकोत्तर द्वितीय वर्ष में गुरुदेव का स्नेह एवं सान्निध्य प्राप्त हुआ था। अध्यापन के क्रम में वे विद्यार्थियों को सलाह देते कि कक्षाओं में पठन-पाठन के उपरान्त स्वयं नोट्स बनावें और उन्हें गुरुओं को दिखाकर उसमें यथोचित संशोधन कर परीक्षा की तैयारी करते रहें। मैं अपना नोट्स गुरुदेव को दिखाता था। गुरुदेव के दिशा-निर्देश के अनुसार मैं अपनी तैयारी कर १९७७ में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण हुआ। परिश्रम तो मैंने किया, किन्तु इसका श्रेय गुरुदेव को जाता है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाते समय उनका विषय के साथ जो लगाव परिलक्षित होता था, वह उनके अध्ययन की गहरी और विषय पर पूर्ण पकड़ का परिचायक था। उनकी विश्लेषण-क्षमता और पढ़ाने की शैली सम्पूर्ण कक्षा को घण्टे भर के लिए सम्मोहित कर लेती। कक्षा में प्रवेश के साथ ही विषय को अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत करने की कला गुरुदेव में रही है। अपने शिष्यों के प्रति उनका लगाव अद्‌भुत रहा है। एम.ए. का परीक्षा-फल आने के बाद डॉ. साहब ने मुझसे पूछा कि आगे की तुम्हारी क्या योजना है? मैं अपने सत्र में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का टॉपर विद्यार्थी था, जिससे मुझे 'जूनियर रिसर्च फेलोशिप' प्राप्त हो गयी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा जूनियर रिसर्च फेलोशिप प्राप्त होने के

* पूर्व प्रधानाचार्य– जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, डिहरी-ऑन-सोन (रोहतास), बिहार (अंगीभूत इकाई : वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा)

उपरान्त मैंने अपना शोध-कार्य प्रारम्भ कर दिया। मेरे शोध का विषय 'रीतियुगीन प्रमुख सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ : उपलब्धि एवं सीमाएँ' रहा है। इस विषय पर मुझे शोध-कार्य करते समय अनेक परेशानियाँ आयीं। कारण यह था कि अनेक ग्रन्थ देश के विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलेख के रूप में उपलब्ध थे, किन्तु गुरुदेव की प्रेरणा एवं सहयोग से मैं इस कार्य को पूर्ण कर पाया। डॉ. साहब का स्नेह एवं सहयोग सदैव स्मरणीय रहा है। गुरुदेव अपने शोध-छात्रों को सदैव समय से कार्य पूरा करने के लिए उत्साहित एवं प्रेरित करते रहते थे। यह उनका स्वभाव था। शोध-छात्र को तनाव में डालना वे पसन्द नहीं करते थे। शोध-कार्य करते समय व शोध की गहराई में जाने के लिए हमेशा तत्पर रहा करते थे। शोध-कार्य करने के दौरान, नियमानुसार सप्ताह में तीन क्लॉस पढ़ाना पड़ता है। मैंने गुरुदेव से कहा कि मुझे बी.ए. में क्लॉस आवण्टित कर दिया जाय, तो उन्होंने कहा कि सभी ऊपर जाना चाहते हैं और तुम अभी से शिक्षण-कार्य से भागना चाहते हो? उनकी महती कृपा एवं स्नेह से मुझे एम.ए. द्वितीय वर्ष में सगुण भक्ति पढ़ाने का वर्ग आवण्टित हुआ। उन्हीं के सुझाव एवं प्रेरणा से मैं पूरे सर्विस पीरियड में एक सफल शिक्षक की भूमिका अदा करते हुए सेवा-निवृत्त हुआ हूँ। मैंने अपना शोध-कार्य दो वर्षों के भीतर ही पूरा कर लिया। मुझे याद है कि शोध-कार्य पूर्ण होने के उपरान्त मेरी स्कॉलरशिप बन्द हो गयी। फिर क्या था? गुरुदेव ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी विश्व साहित्य कोश' में सहायक सम्पादक के रूप में कार्य करने के लिए व्यवस्था कर दी। मैं तथा डॉ. शिवकुमार मिश्र नागरी प्रचारिणी सभा में कार्य करने लगे। यहाँ कार्य करते हुए अध्ययन का पर्याप्त अवसर उपलब्ध हुआ। मैंने अपने जीवन में इसका काफी लाभ उठाया।

मुझे एक घटना और याद आ रही है। मैं और डॉक्टर साहब 'अखिल भातीय विचार संगोष्ठी' में भाग लेने के लिए मुरादाबाद गये। डॉक्टर साहब पान खाने के बड़े शौकीन थे। मुरादाबाद पहुँचने पर महाविद्यालय की तरफ से अतिथियों के ठहरने की व्यवस्था होटल में की गयी थी। हम लोग अर्धरात्रि में होटल पर पहुँचे। गुरुदेव पान खाये थे। इन्हें देखकर होटल वाले ने बिना परिचय दिये ही कह दिया कि लगता है कि आप लोग बनारस से आये हैं। शोध-कार्य करने के दौरान ही डॉक्टर साहब द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' का अधिकांश भाग मेरे द्वारा हस्तलेख रूप में तैयार किया गया। मुझे याद है कि गुरुदेव प्रतिदिन एक घण्टा बोलते थे और मैं उसे लिपिबद्ध करता था। इस बात का जिक्र उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ की भूमिका में किया है। गुरुदेव के प्रयास से सन् १९८०-८१ में मैं प्राध्यापक बनकर राणा प्रताप महाविद्यालय, सुलतानपुर में चला गया। सुलतानपुर में मैं स्थानापन्न प्राध्यापक के रूप में नियुक्त था। कुछ अवधि के बाद नौकरी जाने की चिन्ता मुझे सताती थी, किन्तु अवधि पूर्ण होने से पूर्व ही गुरुदेव के सहयोग एवं प्रयास से मेरी नियुक्ति मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार) के अन्तर्गत हो गयी। यहाँ मैं लगभग चार दशकों तक सफल शिक्षण-कार्य करते हुए प्रधानाचार्य के पद से सेवा-निवृत्त हुआ हूँ।

गुरुदेव डॉ. वासुदेव सिंह अपने शिष्यों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। मैं जब तक वाराणसी में रहा, उन्होंने पारिवारिक सदस्य के रूप में मुझे सहयोग किया। गुरुदेव के यहाँ प्रतिदिन शाम के समय बैठकर साहित्यिक चर्चाएँ हुआ करती थीं। माता जी भी डॉक्टर साहब के शिष्यों को बिना किसी भेदभाव के पुत्रवत स्नेह प्रदान करती रहीं। आम तौर पर मैं विभाग के सभी प्राध्यापकों से बेहद प्रभावित था, किन्तु गुरुदेव मेरे आदर्श शिक्षक थे। कबीर, तुलसी एवं रीतिकालीन साहित्य में उनकी अपनी पैठ और पहचान है। एक

सर्वांगीण शिक्षक, कुशल प्रशासक एवं न्यायी– इनका व्यक्तित्व रहा है। गुरु में मेरी आस्था रही है। गुरु से बड़ा मार्गदर्शक कौन होगा? इसीलिए गुरु को ब्रह्मा का स्वरूप बताया गया है। गुरु से जितना और जो कुछ अपेक्षित था, उससे ज्यादा मुझे बिना माँगे मिला।

दया, प्रेम, करुणा तथा मानवता के भावों से डॉक्टर साहब का अन्त:करण ओतप्रोत था। इन्होंने अपने आचरण एवं व्यक्तित्व से यह सिद्ध कर दिया था कि ये सब मनुष्य के आन्तरिक आभूषण हैं, जो हर समय नहीं, बल्कि समयानुसार प्रकट होकर अपनी आभा बिखेरते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुदेव मात्र प्रोफेसर ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने सारस्वत-साधना की थी। वे एक सुलझे हुए चिंतक रहे हैं। ऐसे चिंतक, सारस्वत-साधक एवं द्रष्टा व्यक्ति का 'स्मृति-ग्रन्थ' प्रकाशित करना स्वागत योग्य है। मैं ऐसे महान् पुरुष को नमन एवं शताधिक अभिनंदन करता हूँ।

●

फूल मरै पै मरै न बासू

डॉ. सत्यनारायण सिंह *

नश्वर शरीर के न रहने पर मनुष्य के कर्मों की ही पूजा होती है। पुष्प मुरझा जाते हैं, अस्तित्व खो बैठते हैं, परन्तु अपने नाम से अपनी गन्ध को अमर कर जाते हैं। श्रद्धेय गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह का पुष्प रूपी नश्वर शरीर अब इस दुनिया में नहीं है, लेकिन उनके नाम और कर्म की सुगन्ध विद्वत् समाज में सदैव विद्यमान रहेगी।

दिनांक २७ जनवरी, २००८ को उनकी प्रथम पुण्यतिथि थी। भाई हिमांशु शेखर सिंह जी ने इस अवसर पर एक संस्मरणात्मक लेख लिखने के लिए मुझसे आग्रह किया था। उनके इस आग्रह की अनदेखी करना मेरे लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि प्रो. वासुदेव सिंह जी मेरे गुरु थे। उन्होंने काशी विद्यापीठ में मुझे पढ़ाया है। मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे उनका शिष्य ही नहीं, बल्कि सहयोगी होने का अवसर भी प्राप्त है। मेरे निर्माण में श्रद्धेय गुरुवर का बहुत बड़ा योगदान है। आज जिस जगह पर हूँ, जैसे हूँ– खुश हूँ। इसका श्रेय मैं अपने गुरु को देता हूँ। काशी विद्यापीठ उनकी कर्म-स्थली रही है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस संस्था में लगभग ३० वर्षों तक गुरुवर ने अपने अध्यापकीय दायित्व का निर्वहन किया है। सन् १९९६ में वे हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर के पद से सेवा-निवृत्त हुए थे। गुरुवर काशी विद्यापीठ तथा हिन्दी विभाग के गौरव-पुरुष थे। उनकी मुझ पर विशेष कृपा थी। मैं उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से विशेष प्रभावित हूँ। गुरुवर एक संवेदनशील शिक्षाविद् और मौलिक चिन्तक थे।

एक विद्यार्थी के रूप में जब मैं गुरुवर का मूल्यांकन करता हूँ, तो उनके व्यक्तित्व के जिस पक्ष की तरफ सबसे पहले ध्यान जाता है, वह है– उनका अध्यापन-कौशल। विषय-प्रतिपादन, विवेचन की गहराई की शक्ति गुरुवर में अद्‌भुत थी। विद्यार्थियों में गुरुवर बहुत ही लोकप्रिय थे। काशी विद्यापीठ में एक प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय शिक्षक के रूप में वे आज भी याद किये जाते हैं। कक्षा में अनुपस्थित होते तो मैंने उन्हें कभी देखा ही नहीं। गुरुवर समय के बड़े पाबन्द थे। समय होते ही, बिना देरी किये, कक्षा में प्रवेश करते थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं में वे कबीर, जायसी, तुलसी और हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाते थे। कक्षा में सदैव पूरी तैयारी के साथ आते थे। क्रमबद्ध पढ़ाते थे। विषयान्तर तो कभी होते ही नहीं थे। विद्यार्थियों को पूरे मनोयोग एवं लगन से पढ़ाते थे। उनकी वक्तृत्व-कला अद्‌भुत थी। अपनी प्रखर वक्तृता तथा सम्मोहक भाषा से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने की उनमें असाधारण क्षमता थी। विद्यार्थियों की जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए गुरुवर सदैव तत्पर रहते थे। प्रो. वासुदेव सिंह जी बहुत ही परिश्रमी, लगनशील, ईमानदार एवं अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान व्यक्ति थे। परिश्रम ही उनके जीवन की सफलता का मूल मन्त्र था, जिसको उन्होंने अपने जीवन में साधा था। इसी के बल पर गुरुवर ने अपने जीवन में पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान,

* पूर्व आचार्य– हिन्दी विभाग, म.गाँ., काशी विद्यापीठ, वाराणसी

यश, कीर्ति, धन– सब कुछ प्राप्त किया। एक योग्य शिक्षक, अनेक पुस्तकों के रचयिता, सफल शोध-निर्देशक, अपने विषय के आधिकारिक विद्वान्, समीक्षक तथा उत्कृष्ट कोटि के वक्ता रूप में उनकी ख्याति थी। उनके शिक्षण-कार्य, प्रशासनिक क्षमता, चरित्र-निष्ठा और विद्वत्ता से विद्यार्थी और सहयोगी शिक्षक-वृन्द सदैव प्रभावित और अनुप्राणित होते रहे। चार दशकों की उनकी साहित्य-सेवा बेदाग और निरुकलुष रही।

मैंने अपने जीवन में गुरुवर से बहुत कुछ सीखा है। जब तक गुरुवर जीवित थे, उनके समक्ष मैं एक जिज्ञासु विद्यार्थी ही बना रहा। विद्यार्थी जीवन में गुरुवर ने जो पढ़ाया था, वह आज मेरे अध्यापकीय जीवन में काम आ रहा है। स्नातकोत्तर कक्षा में मैं जायसी पढ़ाता हूँ। पढ़ाते समय गुरुवर के ये वाक्य मेरे कानों में गूँजते हैं– 'जो लोग सूफियों को हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रतिपादक मानते हैं, उनकी दृष्टि एकांगी है। वास्तव में; ये सूफी धर्म-साधना की आँड़ में मुस्लिम धर्म का प्रचार करते थे।'

गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह आदि एवं मध्यकालीन साहित्य के आधिकारिक विद्वान् थे। कबीर, जायसी, तुलसी और सूर उनके प्रिय कवि थे। जीवनपर्यन्त गुरुवर एक शोधार्थी एवं परीक्षार्थी से अधिक स्वाध्याय करते रहे। उनका सृजनात्मक पक्ष भी बड़ा मजबूत है। उन्होंने दो दर्जन पुस्तकों की रचना की। अपनी कृतियों में गुरुवर ने हिन्दी साहित्य के नये गवाक्षों को उद्घाटित किया है। ठाकुर जयदेव सिंह के साथ कबीर वाङ्मय पर तीन खण्डों में उनके द्वारा किया गया कार्य, हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस कार्य से गुरुवर की साहित्यिक जगत् में कबीर-साहित्य के विशेषज्ञ के रूप में पहचान बनी।

काशी विद्यापीठ परिसर में स्थित गुरुवर का आवास साहित्यिक तीर्थ था। प्रो. भगवती प्रसाद सिंह, प्रो. उदयभानु सिंह, प्रो. राजेन्द्र कुमार वर्मा, प्रो. प्रेम शंकर, प्रो. त्रिभुवन सिंह को सर्वप्रथम मैंने गुरुवर के आवास पर ही देखा था। गुरुवर ने सबसे मेरा परिचय करवाया था। ये सभी स्वनामधन्य विद्वान् उस समय अपने-अपने विश्वविद्यालय में सत्ता के शिखर पर थे। उनमें से कुछ अब नहीं हैं और कुछ अभी जीवित हैं। उन सभी का आशीर्वाद मुझे प्राप्त है।

गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह का व्यक्तित्व एवं कृतित्व हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। अध्यवसाय, अध्यापन और कर्मठता– गुरुवर के जीवन का पाथेय था। साहित्यानुरागिता, चिन्तनशीलता और अनवरत सृजन-लक्ष्य। गुरुवर व्यक्तित्व के धनी थे, जिनके समक्ष माप के सारे मानक अर्थहीन हो जाते हैं। उनका हृदय और मस्तिष्क विशाल था। तेजस्विता, समदर्शिता और सृजनात्मकता से परिपूर्ण। गुरुवर की उदात्त प्रकृति, ओजस्वी वाणी, उदार हृदय, मृदुल व्यवहार, पारदर्शी चरित्र किसी को भी, सहज ही अपनी तरफ आकर्षित करता था। गुरुवर ने सदैव परोपकार ही किया है, कभी किसी का अपकार नहीं। हास्य, करुणा, प्रेम, भक्ति, वात्सल्य– सारे स्तरों पर उनकी आत्मा को नवीन चेतना की दीप्ति से भर देती है।

वर्तमान काल मानवीय मूल्यों के पतन का काल है, नैतिकता के अपकर्ष का काल है। पशुवत लोगों का जीवन 'स्व' की संकीर्णता में सिमट कर रह गया है। सिर के ऊपर किसी का साया नहीं है। बौनापन दिनानुदिन बढ़ता ही जा रहा है। हम किसको अपना 'रोल मॉडल' मानें। दुष्यन्त कुमार के शब्दों में–

'जिन्दगी का अब कोई मकसद नहीं है,
एक भी कद आज आदमकद नहीं है।'

ऐसे समय में; श्रद्धेय गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह जी बहुत याद आते हैं। उनकी कर्मठता, संघर्षशीलता हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर होने को प्रेरित करती है। इन्हीं शब्दों में मैं अपने गुरु श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह जी को उनकी पुण्यतिथि पर स्मरण कर उनके चरणों में सिर नवाता हूँ। ●

गुरुवर को शत्-शत् नमन

डॉ. मुनीन्द्र तिवारी *

'गुन ना हिरानों, गुन ग्राहक हिरानों है।'

फिर भी; कभी-कभी गुण-पारखी भी समाज में मिल ही जाते हैं। ऐसे ही भारतीय गुणों के पारखी हमारे विद्या के सिद्धपीठ में रहे हैं। श्रद्धेय गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह सच्चे अर्थों में एक आदर्श शिक्षक रहे हैं। उन्होंने वाक्देवता के प्रति समर्पित होकर झूठ, दम्भ, अहं, दर्प आदि को ठुकराने का जोखिम भरा साहस दिखलाया है। उनके बहते हुए व्यक्तित्व में साहित्य, धर्म, संस्कृति, समाज, कला और विज्ञान– एक सतत् जलती हुई लौ की तरह दिखलाई देती है, जो आज भी हमारा मार्गदर्शन करती है। वे एक प्रज्ञावान, सम्वेदना की पहचान करने वाले समर्थ पुरुष थे। उनका अध्यापन रचनाकार की सम्वेदना की तह में पहुँचकर व्यक्त और सम्पूर्ण होता था। मुझे इस बात का गर्व है कि वे मेरे शिक्षक रहे हैं तथा कालान्तर में मैं उनके अधीनस्थ प्रवक्ता भी रहा हूँ। वे एक साधक पुरुष थे, जो अपने जीवनकाल में, इतिहास के कालखण्ड की तरह, हमारे लिए धरोहर बन गये।

श्रद्धेय गुरुवर की तत्वान्वेषिणी प्रतिभा का दिग्दर्शन उनके व्याख्यानों के रूप में सामने आया करता था, जो उनके विशिष्ट अध्ययन-अध्यापन का सूचक था। उन्होंने अपना जीवन स्वयं गढ़ा, गढ़ कर सुन्दर बनाया। साहित्य-मन्थन ने ही उनके जीवन को अर्थवत्ता एवं सार्थकता प्रदान की और जिन्दगी ने साहित्य को गति, प्राण और चेतना प्रदान की। समग्र रूप में उन्होंने एक सार्थक जीवन जिया। उनका व्यक्तित्व संघर्षशील रहा है, जिससे उनकी सर्जनशील प्रतिभा का निर्माण हुआ। यही कारण है कि वे सत्य के आवरण से सुरक्षित, झूठ से कोसों दूर रहे और अपनी समरसता तथा सरलता से सारे विद्यापीठ में विशिष्ट बने रहे। वे जीवन के दु:खद क्षणों में भी हँसकर जीने की कला जानते थे– जो हमें प्रेरणा देती है। गुरुवर प्राय: कहा करते थे–

नामंत्रक्षरं किंचिन्न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्तैव तु दुर्लभः।।

कोई अक्षर नहीं; जिसमें कोई विशेष मंत्र नहीं, कोई द्रव्य नहीं; जिसमें विशेष औषधि-शक्ति नहीं, कोई पुरुष नहीं; जो सर्वथा अयोग्य ही हो। उसकी विशेष शक्ति और योग्यता को पहचान कर काम लेने वाला ही दुर्लभ है। एक सफल अध्यापक को यह समझ हो जाती है कि कौन विद्यार्थी किस काम के योग्य है। उस कला की पहचान विरले शिक्षकों को ही होती है। गुरुवर उन्हीं विरले पारखियों में एक थे।

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के संकल्प-पत्र में कहा गया है– 'अध्यात्म विद्या की नींव पर प्रतिष्ठित

* पूर्व आचार्य– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भारतीय शिष्टता के संस्कार और विकास में तथा भारत में बसी हुई सब जातियों के भारतीय समाज में यथास्थान समावेश और भारत में प्रचलित आचारों-विचारों के समुचित समन्वय तथा स्वाधीनता एवं स्वदेश-प्रेम के साथ लोक-सेवा और मानवमात्र की बन्धुता के संचार में तथा संसार के प्राचीन और नवीन शास्त्र-शिल्प, कला, ज्ञान-विज्ञान आदि की वृद्धि और प्रचार करने में सहायता देना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करना।' इन आदर्शों पर आजीवन चलने वाले एवं आदर्श के उत्तम गुणों से पूरित हमारे गुरुवर का व्यक्तित्व प्रभावशाली रहा है।

सचमुच; वे– 'गुरु ज्योति का दरिया है'– के साक्षात् प्रतीक थे। जैसा कि कबीर ने कहा है–

गुरु कुम्भार शिष्य घट, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर मारै चोट।।

इसी प्रकार का स्वभाव हमारे गुरुवर का अपने शिष्यों के प्रति रहा है। कहा जाता है कि जहाँ हमारे गुरु और शिष्य बैठ जायँ, वहीं विद्यापीठ बन जाता है।

इन्हीं स्मृतियों के साथ मैं गुरुवर के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रणाम निवेदित करता हूँ।

●

श्रद्धेय गुरु जी

डॉ. रामेश्वर दत्त शुक्ल*

प्रो. वासुदेव सिंह का स्मरण होते ही मेरे सामने 'पिता एवं गुरु' की मूर्ति स्पष्ट रूप से दृश्य हो जाती है। उनका दैनिक जीवन चर्चा एवं अर्चा से अनुप्राणित था। इस बात का मुझे गर्व है कि जो कुछ भी आज मेरा स्वतन्त्र अस्तित्त्व है, वह उनके गौरव से अनुप्राणित है। गौरव किसका? शिक्षक का– ऐसे शिक्षक का, जिन्होंने स्वदेशी धर्म का पालन करते हुए हिन्दी भाषा एवं साहित्य को नया आयाम दिया–

मानस भवन में आर्यजन, जिसकी उतारें आरती।
भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।

–मैथिलीशरण गुप्त

'गुरु जी' विद्यार्थीनिष्ठ थे। छात्र-समस्याओं को देखकर उनके समाधान के लिए सक्रिय हो जाते थे, शिक्षक-धर्म का पालन करते थे। विद्यापीठ परिसर से बाहर आकर योग, उद्योग और सहयोग से संतुलित उनकी प्रयोगात्मक प्रक्रियाएँ स्वार्थी को परार्थी और परार्थी को परमार्थी बना देती थी। उनकी जीवनशाला के यथार्थ पाठ पढ़ने एवं पढ़ाने वाले समझ लेते थे कि वेदान्त, विज्ञान एवं विश्वास के अभाव में न तो शान्ति प्राप्त हो सकती है और न ही सुख-समृद्धि। दण्ड-शक्ति और कल्पना-शक्ति की जगह छात्रों में प्रेम-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और विश्वास-शक्ति को प्रतिष्ठित करते थे। प्रतिष्ठा करने-कराने में उन्हें महारत हासिल थी, प्रवीणता प्राप्त थी। वे विचार परिवर्तन करते थे, हृदय परिवर्तन करते थे, जीवन परिवर्तन की दिशा खोलते थे, ताकि विद्यार्थियों को सफलता मिल सके।

मैं हरिश्चन्द्र इण्टरमीडिएट कॉलेज, वाराणसी में एक साधारण शिक्षक था। सन् १९८१ में शिक्षा विभाग से लिखित अनुमति मिलने के बाद मैंने काशी विद्यापीठ में एम.फिल. (हिन्दी) में संस्थागत छात्र के रूप में प्रवेश प्राप्त किया। प्रवेश लेते समय ही गुरु जी ने प्रथम दृष्टया विभाग में कह दिया था कि यदि अध्ययन करना है, तभी आना; राजनीतिक या अन्य कार्य करना है, तो परिसर के बाहर करना। यही प्रथम साक्षात्कार था। कालान्तर में उन्हीं के निर्देशन में मैंने एम.फिल तथा पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

अध्ययन-काल के दौरान, जैसे कुम्हार कच्चे घड़े को आवाँ में तपाकर, पक्का घड़ा बनाकर, समाज के लिए उपयोगी बनाता है, वैसे ही गुरु जी ने मुझ जैसे असंख्य छात्रों को समाज के लिए उपयोगी बनाया तथा कुछ लोगों के रोजी-रोटी की भी स्थायी व्यवस्था कर दी। आज से कुछ वर्ष पूर्व उनका साया हम लोगों के सिर पर से उठ गया। आज तक एक ही लालसा पूर्ण न हो सकी–

क्या लै गुरु संतोषिये, हौंस रही मन माहिं।

---

* पूर्व प्रवक्ता– हिन्दी, हरिश्चन्द्र इण्टरमीडिएट कॉलेज, वाराणसी

सद्गुरु के सदके करूँ...

प्रो. अवधेश सिंह *

आदरणीय गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह से मेरी मुलाकात ७९-८० में हुई थी। तब मैं काशी विद्यापीठ छात्रसंघ का अध्यक्ष था। उसी वर्ष गुरुवर की ज्येष्ठ पुत्री भारती का शुभ विवाह निश्चित हुआ। विवाह की समस्त जिम्मेदारी गुरुवर ने मुझे ही सौंप दी थी। उनके प्रति मेरी निष्ठा ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि उसके बाद उनके घर आयोजित होने वाले हर छोटे-बड़े आयोजनों में मेरी सक्रिय भागीदारी होने लगी। क्रमशः. गुरु और शिष्य का यह सम्बन्ध कब एक अभिभावक और बेटे में बदल गया, मैं जान भी न पाया। गुरुवर प्रायः मेरा परिचय अपने तीसरे पुत्र के रूप में कराते थे। किन्तु, मेरा ऐसा मानना है कि उनका जितना स्नेह मुझे मिला, उतना उनके दोनों पुत्र भी नहीं पाये। उन्होंने अपने दो आत्मजों से अधिक मुझे स्नेह दिया, विश्वास किया। यहाँ तक कि अपने घर के वैवाहिक अवसरों पर पूरा का पूरा रुपयों का बैग मेरे हवाले कर दिया करते थे। जब कभी रुपयों के खर्च के बारे में मैं गुरुवर की राय लेने जाता, तो उनका जवाब होता था– 'मैं क्या जानूँ? जितना तुम उचित समझो, उतना दो।' समस्त विद्यापीठ परिवार मेरे प्रति गुरुवर के इस स्नेह-सम्बन्ध से परिचित था। यहाँ तक कि कुलपति प्रो. रामकुमार त्रिपाठी ने जब उन्हें दीक्षान्त समारोह के अवसर पर होने वाले कवि सम्मेलन का संयोजक बनाया, तो मुझे उनका सहायक बनाते हुए कहा कि 'अवधेश सिंह जी! आप तो डॉक्टर साहब के ऑक्सीजन सिलेण्डर हैं। बिना आपके डॉक्टर साहब अपने को अपूर्ण महसूस करते हैं, अतः मैं आपको इनके साथ सहायक नियुक्त कर देता हूँ।'

कालान्तर में; जब गुरुवर विभागाध्यक्ष हुए, तो विभाग के भी समस्त कार्यक्रमों– चाहे पुनश्चर्या कार्यक्रम हो अथवा अन्य कोई विभागीय जिम्मेदारी–व्यवस्था का भार मुझे सौंप कर वह निश्चिन्त हो जाया करते थे। घर या विभाग में आने वाले प्रत्येक विद्वानों से एक बार वे मुझे अवश्य मिलवाते थे। मुझे गुरुवर के साथ बैठकर रामायण आदि की बहुत-सी बातें तो सुनने को मिली हीं, साथ ही; जब मैं कहीं भाषण देने जाता था, तो गुरुवर पूछते– 'कहो अवधेश! भाषण देने जा रहे हो, क्या बोलोगे?' इस प्रकार, वो भाषण के विषय से लेकर पूरे वक्तव्य तक की मेरी तैयारी बातों-ही-बातों में करा दिया करते थे।

भूषण पर लिखी मेरी पुस्तक के लेखन व प्रकाशन में गुरुवर की महनीय भूमिका थी। मैंने अपनी उक्त पुस्तक उन्हीं को समर्पित भी की।

मैं अब तक प्राप्त अपनी समस्त शैक्षणिक व राजनीतिक उपलब्धियों का श्रेय आदरणीय गुरुवर को ही देता हूँ। उनसे प्राप्त स्नेह को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। ऐसे सहृदय आदरणीय गुरुवर को उनकी पुण्यतिथि पर शत्-शत् नमन।

●

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

तेरी सीरति हाट बिकइहैं

प्रो. शिवकुमार मिश्र*

भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी भाषा-साहित्य के अनन्य सेवक, कृति पुरुष गुरुदेव प्रो. वासुदेव सिंह जी के अप्रतिम व्यक्तित्व तथा उनकी पावन स्मृतियों को सादर नमन करते हुए, मैंने जो कुछ किंकर के रूप में ग्रहण किया है, वही भावधारा प्रस्तुत करने का दुस्साहस कर रहा हूँ। हिन्दी साहित्य की निष्काम भाव से सेवा करने वालों की जब बात चलती है, तो गुरुदेव का स्मरण अनिवार्य हो जाता है। गुरुदेव कहते थे– 'अध्ययन मेरे लिए पूजा की तरह है। न पढ़ें, तो मर जाएँ; और न लिखें, तो डूब जाएँ।' वाकई; यह संकल्पना उनके सृजन की धारा थी। विद्वत्ता को आत्मसात् करने की प्रेरणा उन्हें जहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से मिली, वहीं व्यक्तित्व में सादगीपूर्ण तेजस्विता और विचारों में दृढ़ आत्मविश्वास की चमक आपको प्रो. भगवती प्रसाद सिंह, प्रो. उदयभानु सिंह, प्रो. रघुवंश, प्रो. रामसिंह तोमर, प्रो. प्रेमशंकर, प्रो. निर्मला जैन, प्रो. त्रिभुवन सिंह, प्रो. शुकदेव सिंह, प्रो. विश्वनाथ तिवारी, प्रो. रामचन्द्र तिवारी, प्रो. राजेन्द्र कुमार वर्मा आदि मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्राप्त हुई।

'कबीर वाङ्मय' का सम्पादन-कार्य चरम पर था। उन दिनों भारत के महान संगीत-विशेषज्ञ ठाकुर जयदेव सिंह जी के यहाँ गुरुदेव के साथ मैं भी आया-जाया करता था। उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, पं. रविशंकर एवं गिरिजा देवी को देखने और सुनने का सुअवसर मुझे भी प्राप्त हुआ।

गुरुदेव के आवास पर सायं विधिवत साहित्यिक संगोष्ठी हुआ करती थी। शिष्यों में सुभाष पाण्डेय, रमेश चन्द्र सिंह, आचार्य नरेन्द्र कुमार सिंह, समर बहादुर सिंह, रामजीत यादव, आशिक अली खाँ, बृजेन्द्र पाण्डेय, बचाऊ प्रसाद पाठक प्रतिदिन के श्रोता हुआ करते थे। परम श्रद्धेय प्रो. भगवती प्रसाद सिंह जी की यह पंक्ति मेरे जेहन में बैठ गई– '**इंसान की खुशबू रहती है, इंसान बदलते रहते हैं। यह दुनिया है बिस्तर खाना, बिस्तर तो पड़ा ही रहता है, मेहमान बदलते रहते हैं।**'

आजकल लोग नियति पर विश्वास नहीं करते, स्वयं को नियंता मान लेते हैं। किन्तु गुरुदेव के सान्निध्य में आने पर यह बोध हुआ कि नियति है, उसकी लीला है और पूर्वजन्म के सम्बन्ध भी हैं, जो प्राण की भाँति दिखाई नहीं पड़ते, किन्तु अपनी अमृतमय वाणी से जनमानस को अभिसिंचित करते रहते हैं। जन्म लेने वाला मरता ही है। जो आया है, वह जाएगा ही–

यह दुनिया चला-चली का मेला है
रहना नहीं, यह देश विराना है।

गुरुदेव किसी भी समस्या का निवारण कबीर या तुलसी की पंक्तियों द्वारा किया करते थे। अपने अध्यवसाय और स्वाभाविक गुणों के कारण वे सुधी अध्यापक थे। ऐसे देदीप्यमान हिन्दी-सेवी को शत्-शत् नमन।

●

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

संकल्प-शक्ति के धनी

आ. नरेन्द्र कुमार सिंह *

पवित्र एवं उत्तम संस्कृति के लिए यह देश– भारतवर्ष– धन्य है। यहाँ की परम्पराएँ भी धन्य हैं। व्यक्ति के पञ्चतत्त्वों में विलीन हो जाने पर भी उसे यश:काम से अमर बना दिया जाता है। इस चेतना का जागरण सर्वप्रथम इसी देश में हुआ। भारतीय चिन्तन-धारा की यह मौलिक विशेषता है। कोई भी व्यक्ति यदि स्वहित के साथ-साथ परहित के लिए सोचता है, कुछ करता है–उसे देश और समाज के लोग कभी नहीं भूलते, अपितु उसके अवदानों को पुन:-पुन: याद करके कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। स्मृतियों को सँजो करके उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। ऐसी ही विभूतियों में एक संज्ञा है– प्रो. वासुदेव सिंह, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी। वे सरस्वती-पुत्र थे। जीवन भर सारस्वत-यज्ञ करते रहे और २७ जनवरी, २००७ को सरस्वती में समाहित होकर सरस्वतीमय हो गए।

सृष्टि में तीन शक्तियाँ होती हैं– १. मन्त्र-शक्ति, २. प्रभाव-शक्ति और ३. संकल्प-शक्ति। मन्त्र-शक्ति से अलभ्य की भी प्राप्ति सम्भव है। देवी-देवताओं के आह्वान से लेकर परकाया-प्रवेश, परा शक्ति से साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही; विष के प्रभाव को भी मन्त्र-शक्ति के सहारे नष्ट कर दिया जाता है। प्रभाव-शक्ति के सन्दर्भ में हम सब लोग जानते हैं। देश और समाज की शासन-व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था इसी प्रभाव-शक्ति से संचालित होती है। राजा अपनी प्रभाव-शक्ति के द्वारा ही प्रजा पर शासन करता है और राज्य की व्यवस्था भी करता है। वर्तमान समय में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि सामान्यत: किसी भी व्यक्ति के पास नहीं जाते। एक निश्चित स्थान पर बैठकर शासन को गतिमान करते रहते हैं और समूची जनचेतना उस प्रभाव-शक्ति से प्रभावित होती रहती है। प्रभाव-शक्ति की व्यापकता केन्द्रीय व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द रहने वाले समूह से भी बढ़ती-घटती है। संकल्प-शक्ति, शक्तित्रय में सबसे बलवती होती है। यह शक्ति प्रभाव-शक्ति की आधारशिला होती है। अपनी पराकाष्ठा पर जाकर मन्त्र-शक्ति का स्वरूप भी ग्रहण कर लेती है। संकल्प-शक्ति मानव को व्यक्तित्व की व्यापकता, भावों की अतल गहरायी के साथ-साथ विचारों की ऊँचाई का संस्पर्श कराते हुए ऐतिहासिक पुरुष बनाने में सहायक होती है। व्यक्ति की संकल्प-शक्ति जितनी ही प्रबल होती है, व्यक्ति उतनी ही ऊँचाई को छूते हुए व्यापकता को प्राप्त करता है।

प्रो. वासुदेव सिंह इसी संकल्प-शक्ति के धनी थे। उनकी संकल्प-शक्ति प्रबल और व्यापक थी। अपने संकल्प की परिधि में स्वयं जूझना वे स्वधर्म समझते थे। यही कारण है कि वे किसी संकल्प से पीछे नहीं हटे। हिन्दी-जगत् की समस्त चुनौतियों का सामना करते हुए वे काशी की हिन्दी में ही नहीं, अपितु हिन्दी और हिन्दुस्तान की हिन्दी में अजर-अमर हो गये।

* प्रधानाचार्य एवं जिला कमिश्नर– भारत स्काउट गाइड, इण्टर कॉलेज बरियासनपुर, वाराणसी

गुरुवर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता मैं उनकी संकल्प-शक्ति को ही मानता हूँ। संकल्प-विकल्प उन्हें अच्छा नहीं लगता था। निश्चयात्मिका बुद्धि के सहारे उन्होंने एक बार जो संकल्प कर लिया, वह कर लिया। उस संकल्प के सामने कोई समझौता नहीं। उनके प्रबल संकल्प के सामने सम्बन्ध, रिश्ते, पारिवारिक रिश्ते, सामाजिक रिश्ते, बहुसंख्यक कार्य झुक जाते थे; किन्तु वे कभी भी, किसी भी क्षण, अपने संकल्प से हटते नजर नहीं आए। उनकी इस संकल्प-शक्ति का लाभ कुछ मुझ सरीखे विद्यार्थियों ने जरूर उठाया, क्योंकि हम लोग जानते थे कि एक बार किसी कार्य के प्रति उनकी संकल्प-शक्ति को जगा दिया जाय, फिर क्या पूछना है? पिता, पुत्र, पत्नी, पुत्री– कोई हस्तक्षेप करने को तैयार नहीं। अपने संकल्प के सामने अपने घनिष्ठों-वरिष्ठों से भी उन्होंने पंगा लिया। कुछ खामियाजा भी भोगना पड़ा, फिर भी; कोई समझौता नहीं।

मैं 'वासुदेव' संज्ञक त्रिमूर्ति को जानता हूँ। प्रथम 'वासुदेव' वसुदेव-पुत्र हैं, जो थे, हैं और रहेंगे। सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिनका वेणु-वादन किसी को प्यारा है, तो किसी को गोपालक एवं गोचारण करने वाला स्वरूप प्यारा है। इस वासुदेव संज्ञक के लिए 'नेति-नेति' के अतिरिक्त शब्दों में समाहित करना सम्भव नहीं है। दूसरे वासुदेव संज्ञक तो अपने ही शासन में, सरकार में प्रतिनिधि रहकर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की वकालत करते-करते परमविभु में विलीन हो गए। जिसने हिन्दी के लिए सब कुछ गवाँ कर शहीद होना स्वीकार किया, उसको हिन्दी के लोग और हिन्दीभाषी क्षेत्र के लोग भूलते जा रहे हैं। भारतेन्दु बाबू के उपरान्त यदि कोई हिन्दी-योद्धा पैदा हुआ, तो वह थे– आदरणीय बाबू वासुदेव सिंह। कार्य-क्षेत्र राजनीति होने पर भी हिन्दी भाषा के लिए समर्पित व्यक्तित्व का नाम है– स्व. वासुदेव सिंह।

तीसरे और अन्तिम वासुदेव सिंह हिन्दी के प्रतिष्ठा-पुरुष थे, संयोग से मेरे शिक्षा-गुरु थे। गुरुवर का जन्म श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महापर्व को ही हुआ था, इसीलिए उनका नाम 'वासुदेव सिंह' रखा गया। गुरुवर के घर में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी त्यौहार और व्रत के अतिरिक्त उनके जन्मदिन के रूप में भी मनाया जाता है।

गुरुवर को मैंने तीन रूपों में देखा है। प्रवक्ता वासुदेव सिंह, रीडर वासुदेव सिंह, प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष वासुदेव सिंह। सभी रूपों में स्वकर्मतत्पर रहने के कारण सुयोग्य घोषित होते गए। डीन, मुख्य गृहपति, मुख्य विनयाधिकारी का पद तो विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त 'घलुआ' (फोकट का) माल था। 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' का तृतीय खण्ड– 'आदि काल'– तो प्रो. वासुदेव सिंह न होते, तो इस कलेवर में आता ही नहीं। १६ खण्डों का यह इतिहास-ग्रन्थ खण्डित ही रह गया होता। श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा पुरस्कृत होकर इस कठिन कार्य का भरपूर पारिश्रमिक भी मिल गया। उस समय मैं 'विश्व साहित्य कोश' के सम्पादन-सहायक से लाकर प्रकाशन-व्यवस्थापक बनाया गया था। नागरी प्रचारिणी सभा की सेवा उन्हीं का आशीर्वाद था, जिसने इन्दिरा गाँधी, राजीव गाँधी और डॉ. शंकर दयाल शर्मा से आमने-सामने हिन्दी पर विचार ही नहीं, हाथ-से-हाथ मिलाने का भी अवसर प्रदान किया– वह मेरे जीवन का स्वर्णयुग था। देश के प्रधानमंत्री का तथा राष्ट्रपति का हाथ बहुत बड़ा होता है। मैं हिन्दी का विद्यार्थी होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, अपितु बौना था। बौना एवं नादान। मुझको उन हाथों तक पहुँचाने का श्रेय प्रो. वासुदेव सिंह, पं. शम्भुनाथ वाजपेयी एवं पं. सुधाकर पाण्डेय को था। ये तीनों हिन्दी महारथी मेरे गुरु थे। अपने गुरुओं का आशीर्वाद मुझे मिला है– यही मेरा पाथेय है।

१७ अगस्त, १९७७ ई. को डॉ. वासुदेव सिंह से मेरा प्रथम चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ था। एक सामान्य विद्यार्थी के रूप में गुरुवर के यहाँ पहुँचा था। आशीर्वाद इतना मिला कि विश्वविद्यालयीय अध्ययन-काल

में वे हमारे अभिभावक बने। इस अवधि में सुताधिक स्नेह-विश्वास, गोप्य कार्यों में परामर्श करना– उनके असीम स्नेह का स्मरण कराता है। कबीर-काव्य कोश के संकलन, सम्पादन एवं डॉ. जयदेव सिंह से दिशा-निर्देश हेतु साथ-साथ ले जाने के साथ ही; समयबद्धता के पालन में वे मिशाल थे। जहाँ कहीं भी जो समय देते थे, उसी समय पर पहुँचना, उनके संकल्पी व्यक्तित्व को ही स्मरण कराता है। डॉ. जयदेव सिंह तो गुरुवर को देखकर अपनी घड़ी ठीक करते थे। मुझे भी किसी कार्य में दो मिनट देर हो जाने पर शब्दबाण सहने ही पड़ते थे। शीर्षस्थ विद्वानों एवं अलभ्य ग्रन्थों का दर्शन कराने का श्रेय तो गुरुवर को ही जाता है, क्योंकि उनके यहाँ प्रतिदिन कोई-न-कोई हिन्दी मनीषी आता था और कोई जाता था। किसी को स्टेशन पहुँचाना और किसी हिन्दी-खजाने को अगवानी करके घर लाना– यह मेरा स्वाभाविक कर्म बन गया था। अन्तिम दिनों में भी मुझसे प्यारा शायद ही कोई गुरुवर का विद्यार्थी हो। आज भी गुरु-परिवार के प्रत्येक सदस्य का उतना ही विश्वसनीय एवं प्यारा हूँ, जितना पहले था।

गुरु-ऋण का भारी बोझ कन्धों पर है। गुरुवर के आदर्शों का, समय-बद्धता का, कार्य-तत्परता का, संकल्प-शक्ति का, कर्त्तव्य-बोध आदि अनेक सद्गुणों का अनुकरण करके, सहारा ले करके, ऋण रूपी बोझ को हल्का करने अथवा उतारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। किन्तु, मुझे ज्ञात है कि इतना गुरुतर बोझ श्रमलाघव से सम्भव नहीं हो सकता। आलस्य एवं प्रमाद के कारण मेरा बहुत कुछ खो गया है या छूट गया है, फिर भी; गुरु-कृपा से बहुत कुछ अनचाहे मिला है। अभी बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा अखण्ड आत्मविश्वास है। अभी-अभी, इस स्मृति-लेख को लिखने के दिन ही, भारतीय स्काउट/गाइड का बनारस जनपद का 'मुख्यालय कमीश्नर' बनाया गया हूँ। काशी में किसी पद पर निर्विरोध चुना जाना, परमात्मा की अहेतुकी कृपा अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गुरु-कृपा ही है। गुरुवर और गुरु-पत्नी का अमोघ आशीर्वाद मिलता रहा है। आज भी माता जी का भरपूर आशीर्वचन मिलता है, जिस पर मुझे भरोसा है और अखण्ड आत्मविश्वास भी। प्राय: दोनों लोग कहा करते थे– 'तुम अच्छे अध्यापक बनोगे'। बिना हर्रे-फिटकरी का अध्यापक तो बन गया, अच्छा बनने का प्रयत्न जारी रहेगा। आज इस अवसर पर गुरुवर की अविचल संकल्प-शक्ति से उस शक्ति को अपने में भी उतारने का संकल्प लेता हूँ। गुरु के सद्गुणों को जीवन में उतार कर शिष्य लोग गुरु-परम्परा को जीवन्त रखते हैं। शिष्यों में गुरु की योग्यता और सद्गुण परकाया-प्रवेश की तरह समाहित होते हैं। शेष प्रभुकृपा-गुरुकृपा।

●

तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक

डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र *

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में जिस तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, वह इस युग में आचार्य वासुदेव सिंह के समीक्षा-कर्म में चरितार्थ दिखाई पड़ता है। एक शल्यचिकित्सक के समक्ष जब कोई रोगी आता है, तो उसके और रोगी के बीच कोई दूसरा सम्बन्ध विचार के परे होता है। ऑपरेशन के लिए टेबुल पर पड़े रोगी के लिये किसी प्रकार का राग-द्वेष उत्पन्न हुआ नहीं कि शल्यचिकित्सक का हाथ काँपने लगता है और वह सारी कुशलता एवं योग्यता के बावजूद असफल हो जाता है।

यही बात समीक्षक के लिए भी सही है। समीक्षक और समीक्ष्य कृति के बीच ज्यों ही कोई अन्य तत्त्व आ जाता है, समीक्षा अपने धर्म से भटक जाती है। समीक्षक की दृष्टि कृति पर ही केन्द्रित होनी चाहिए। कृति के माध्यम से वह कृतित्त्व की पहचान निरूपित करे, यही उसका धर्म है। किन्तु, आधुनिक काल में प्राय: कृतिकार प्रधान हो गया है। कृतिकार यदि प्रभावशाली है, तो उसकी कृति प्रशंसनीय होनी ही चाहिए– ऐसा माना जाता है। यही कारण है, आज रचनाकार और समीक्षक के बीच एक अनापेक्षित दीवार जैसी खड़ी हो गई है। रचनाकार समीक्षक को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगा है और समीक्षक इस गुरूर में ऐंठा रहता है कि वह जिसे चाहे, आसमान की ऊँचाई पर पहुँचा सकता है।

इस वस्तुस्थिति से साहित्य का विकास बाधित होना निश्चित है और वह हर क्षेत्र में दिखाई पड़ रहा है। आचार्य वासुदेव सिंह इस परिदृश्य में एक आदर्श की तरह हमारे सामने हैं। वे कबीर-साहित्य के विशेषज्ञ थे और कबीर वाङ्मय के अध्ययन-अनुशीलन के लिए उन्होंने बहुत समय दिया था। लेकिन कबीर की विशेषता उन्हें तुलसी-साहित्य का रस लेने से कभी वंचित नहीं करती थी। कबीर के अनेक अध्येता तुलसीदास को जानने-समझने से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि वे मानकर चलते हैं कि सगुण और निर्गुण भक्ति के बीच पट्टीदारी जैसा सम्बन्ध है। पूर्वाग्रह के कारण वे कबीर और तुलसी की भावभूमि में जमीन-आसमान का अन्तर देखने लगते हैं और प्राय: अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं।

डॉ. वासुदेव सिंह के भीतर यह बात नहीं थी। वे एक पूर्वाग्रहमुक्त, तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ विश्लेषक की तरह कृतिविशेष के अध्ययन में प्रवृत्त होते थे। शब्दार्थ की बहुत सूक्ष्म पकड़ उनके पास थी और इसका कारण यह था कि व्युत्पत्तिशास्त्र का उनका अध्ययन बहुत प्रगाढ़ था। टीका और भाष्य की भारतीय परिपाटी को उन्होंने निष्ठा और परिश्रम के साथ जाना और समझा था तथा उसे आधुनिक विश्लेषण-पद्धति के अनुकूल परिष्कृत किया था।

* अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी

इस कारण; वे विभिन्न कालों तथा विधाओं के साहित्य के साथ न्याय कर सकने की स्थिति में थे। वे सही अर्थों में सहृदय थे और रचनाकार की भावभूमि में उतर कर, उसकी देश-काल की सीमाओं को समझाते हुए, अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते थे। वे न तो अपने विचारों को किसी पर लादते थे और न ही दूसरों के विचारों से केवल इसलिये प्रभावित होते थे कि वे प्रभावशाली एवं प्रख्यात् हैं। वे युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत ढंग से अपनी बात कहते थे। जहाँ किसी स्थापित आचार्य का खण्डन करते थे, वहाँ पूरी दृढ़ता के साथ अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते थे। किसी की अनावश्यक आलोचना उनका स्वभाव नहीं था, किन्तु साहित्य का मूल्यांकन यादृच्छिक और स्वेच्छाचारमूलक नहीं होना चाहिए– यह उनकी दृढ़ मान्यता थी।

डॉ. वासुदेव सिंह मूलत: अध्यापक थे। अध्यापन उनका स्वप्न था और किसी विवशता में नहीं, अपितु अपनी नैसर्गिक प्रतिभा, रुचि एवं योग्यता के अनुरूप उन्होंने इस क्षेत्र का वरण किया था। अच्छा अध्यापक ही बहुत अच्छा और सही अर्थों में तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक हो सकता है– यह प्रो. वासुदेव सिंह के कृतित्त्व द्वारा प्रमाणित है।

●

सौम्य व्यक्तित्व के धनी

डॉ. जगदीश सिंह 'दीक्षित' *

जब मैंने काशी विद्यापीठ में १९७१ में शास्त्री प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया, तब हिन्दी भी एक विषय के रूप में अध्ययन के लिए था। उन दिनों हिन्दी विभाग में प्रो. केशव प्रसाद सिंह, प्रो. ब्रज विलास जी, डॉ. वासुदेव सिंह जी, डॉ. युगेश्वर जी, डॉ. शम्भुनाथ सिंह जी, डॉ. श्याम तिवारी जी, डॉ. सर्वजीत राय जी, डॉ. पूर्णगिरि गोस्वामी जी प्राध्यापक के रूप में कार्यरत थे। ये सभी लोग अपने-अपने क्षेत्र के माने-जाने विद्वान् थे। उन दिनों डॉ. वासुदेव सिंह जी आचार्य नरेन्द्रदेव छात्रावास के गृहपति थे। उन्होंने मुझे जो छात्रावास का कक्ष आवण्टित किया, उसमें पहले से ही संस्कृत विषय में शोध-कार्य कर रहे श्री रमाशंकर त्रिपाठी जी रह रहे थे। उनके बगल में समाजशास्त्र विषय में शोध कार्य कर रहे कोई मुस्लिम भाई रह रहे थे। दोनों लोग मिलकर मुझे कमरे में रहने नहीं दे रहे थे। मैंने गुरु जी के आवास पर उन्हें पूरी घटना से अवगत कराया। वहीं पर प्रथम बार डॉ. विजय नारायण सिंह उर्फ 'विजय बलियाटिक' जी से भेंट हुई। डॉ. विजय जी अक्सर एक छाता लेकर चलते थे। दोनों ही लोग मुझे साथ में लेकर छात्रावास की ओर चल दिए। मैं श्री रमाशंकर त्रिपाठी जी को बुलाकर उन लोगों के पास ले आया। गुरु जी ने बड़े ही सौम्य तरीके से त्रिपाठी जी को समझाया, तब जाकर वे मुझे अपने साथ रहने दिये। वैसे मैं करीब एक महीने तक ही छात्रावास में रहा। मेरा धीरे-धीरे गुरु जी और माननीय विजय जी से सम्पर्क बढ़ने लगा। बाद में तो मेरी धर्मपत्नी डॉ. शीला सिंह जी ने वहीं से व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में हिन्दी विषय में एम.ए. किया और शोध-कार्य भी पूरा किया। आगे चलकर गुरु जी से मेरा एक पारिवारिक सम्बन्ध बन गया। गुरु जी सन्त साहित्य के एक निष्णात् विद्वान् थे। आपका स्वर्गीय ठाकुर जयदेव सिंह जी से बहुत ही निकट का सम्बन्ध था। अक्सर गुरु जी ने ठाकुर साहब के यहाँ सायं जाकर, उनके सान्निध्य में रहकर, काफी कुछ साहित्यिक ज्ञान अर्जित किया। दिल्ली विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रो. उदयभानु सिंह जी जब भी काशी में आते थे, तो गुरु जी के यहाँ ही रुकते थे। आदरणीय भगवती प्रसाद सिंह जी ने तो गुरु जी के यहाँ ही वर्षों-वर्षों तक रुक कर अपना पूरा साहित्यिक सृजन किया। मुझे भी इन लोगों का सान्निध्य मिला। स्वर्गीय प्रो. त्रिभुवन सिंह जी एवं स्वर्गीय प्रो. विजयपाल सिंह जी से गुरु जी का बहुत ही प्रगाढ़ सम्बन्ध था। आगे चलकर जो मेरा आत्मीय सम्बन्ध डॉ. विजय बलियाटिक जी से हुआ, वह गुरु जी के आवास पर हुई उनसे मेरी मुलाकात का ही परिणाम था। गुरु जी एवं डॉ. विजय बलियाटिक जी के व्यक्तित्व की छाप मेरे ऊपर काफी है। गुरु जी का स्मरण कर आज मैं बहुत ही भावुक हो गया। गुरु जी को शत् शत् नमन्।

●

* अवकाश प्राप्त सह आचार्य– मनोविज्ञान विभाग, टी.डी. कॉलेज, जौनपुर।

अक्षुण्ण स्मृतियाँ

डॉ. भारती सिंह *

कबीर-काव्य के मर्मज्ञ, प्रखर अध्येता एवं मनीषी स्व. डॉ. वासुदेव सिंह काशी विद्यापीठ में हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष रहे। उनका साहित्यिक परिवार यूँ तो बहुत विस्तृत है, किन्तु उनकी युवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक, रुग्णावस्था से असामयिक अवसान तक, सुख-दुःख, हानि-लाभ, उत्थान-पतन– सभी में छाया की तरह जो परिवार उनके साथ रहा, छोटी-छोटी दैनिक घटनाओं से लेकर बड़ी-से-बड़ी पारिवारिक समस्याओं को जिन परिवारों ने एक दूसरे के बल पर सुलझाया– मुझे उस परिवार की सदस्या होने का गौरव मिला, यह मेरा परम सौभाग्य है।

पूज्य चाचा जी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनका न होना एक ऐसा अप्रिय सत्य है, जिसे न चाहते हुए भी स्वीकार करना पड़ रहा है। उनकी पुण्यतिथि पर अपनी श्रद्धा के समस्त मोतियों को शब्दों में पिरो कर अर्पित करना चाहती हूँ। उनका स्मरण इस समय मैं किसी साहित्य महारथी के रूप में नहीं, एक सरल-सहज आत्मीय स्वजन के रूप में करना चाहूँगी। शिवमंगल सिंह सुमन के शब्दों में– **''तुम जीवित थे तो सुनने को जी करता था, तुम चले गए तो बुनने को जी करता है। तुम सिमटे थे तो बिखरी-बिखरी साँसें थीं, तुम बिखर गए तो चुनने को जी करता है।''**

वास्तव में; उस मनीषी की स्मृति ही हमारी रिक्तता को दूर कर सकती है। आज जीवन के लगभग साढ़े चार दशक पूरे करते हुए जब भी बचपन और किशोरावस्था की गलियों में प्रवेश करती हूँ– स्पष्ट और अस्पष्ट चेहरे उभरते हैं, कुछ महत्त्वपूर्ण क्षण सामने आते हैं। वे चेहरे, वे क्षण–जिन्होंने न केवल मेरे जीवन को प्रभावित किया, बल्कि उसे एक दिशा भी दी।

यह महज संयोग ही कहा जाएगा कि जब मैं प्रथम वर्ष की छात्राओं को 'साखी' पढ़ा रही थी– कबीर द्वारा वर्णित उन्मन अवस्था का वर्णन कर रही थी, उसी समय श्रद्धा से दूरभाष पर यह सूचना मिली कि २७ जनवरी को पूज्य चाचा जी की पुण्यतिथि पर आयोजित श्रद्धांजलि-सभा हेतु संस्मरण भेजना है। मेरी स्थिति भी उन्मन-सी हो गई–सोच कुछ अलग दिशा में चल पड़ी। हम सब अनन्त यात्रा-पथ के राही हैं–

काल परे भुइं लोटणां, ऊपर जामे घास।

मिलना-बिछुड़ना, जीवन-मरण, फरना और झरना– इस जीवन का क्रम है। मिलने-बिछुड़ने के क्रम में जीवन का हिंडोला झकोरे लेता है और सुनाई पड़ता है ब्रह्मनाद का आमंत्रण- अनहदनाद। इस अनहदनाद की गहराई भी पहली बार पूज्य चाचा जी के श्रीमुख से व्याख्या पढ़ते हुए जान पायी थी। अनहद की व्याख्या मेरे आस-पास स्थित सारे वातावरण को रिक्त कर जाती है।

* प्राचार्य– महामाया राजकीय महाविद्यालय, महोना, लखनऊ

आर्द्र हृदय और अश्रुपूरित नेत्रों में चाचा जी के विद्यापीठ आवास के उस अध्ययनकक्ष की ओर देखती हूँ, तो करीने से बिछे बिस्तर के ऊपर पढ़ने वाली छोटी चौकी, सलीके से लगी पुस्तकें, कोने में रखे ढेरों शोधप्रबन्ध, अध्ययनकक्ष में समय के बेहद पाबन्द, गहन अध्ययनरत, मोटे चश्मे के पीछे से झाँकती चाचा जी की गहरी आँखों से साक्षात्कार हो जाता है। जीवन को अपने ढंग से, अपनी शर्तों और अपने मूल्यों पर जीने वाले, कबीर की भाँति बेलाग बातें करने वाले मनीषी की आँखों से प्रश्न उठता है– 'कहो! कुछ पूछना है?'

सहज ही विश्वास नहीं होता, महामना के अवसान को पूरे पन्द्रह वर्ष बीतने जा रहे हैं। आँखें बन्द करती हूँ, तो स्वयं को विद्यापीठ के उसी प्रांगण में पाती हूँ। मानस-पटल पर उनका वही कबीर-सा अक्खड़, सरल-सहज रूप सम्मुख आ जाता है। वह जितना कुछ अपने परिवार को दे सके, उससे अधिक सम्भवत: उन लोगों को दे गए, जो उनसे जुड़े रहे। जीवन और रिश्तों के प्रति इतने सहज, इतने ईमानदार कम ही लोग हो पाते हैं। मैं उनकी शेष स्मृति को सपरिवार नमन करती हूँ। नमन के इस क्रम में चाचा जी की स्मृति के साथ अन्याय होगा, यदि पूज्य पिता जी का शुभाशीष और स्नेह उन तक न पहुँचा पाई। पिता जी, जो जीवनभर चाचा जी के अग्रज बनकर रहे– आज अपनी रुग्णावस्था और क्षीण होती स्मरणशक्ति के कारण अपनी कलम से कुछ लिखने में असमर्थ हैं– पिताजी के अध्ययनकक्ष में आज भी काशी विद्यापीठ से आए हुए ढेर सारे पोस्टकार्ड और अन्तर्देशीय पत्र आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं, जिसमें सूत्र शैली में केवल काम की बातें लिखी होती थीं। दोनों साहित्यवेत्ता एक दूसरे को 'प्रिय बन्धु' या 'बन्धुवर' सम्बोधित करते थे। मैं उन पत्रों का कलेवर स्मरण तो कर ले रही हूँ, लेकिन यथावत उन्हें प्रस्तुत कर पाने का साहस नहीं जुटा पा रही हूँ। पिता जी के अध्ययनकक्ष में चाचा जी की स्मृतियों का पूरा पुलिन्दा है। प्रसाद के शब्दों को याद करें, तो–

बस गई एक बस्ती-सी, स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।।

सचमुच, स्मृतियों की इस बस्ती को, इस विस्तृत नीले आकाश से निकाल कर, शब्दों में पिरो कर व्यक्त कर पाना छोटी-सी पनसुइया नौका से सागर पार करने जैसा है। दो शब्द लिखने के लिए बैठी थी, अभी भी दो सौ से ज्यादा स्मृतियाँ, दो हजार से ज्यादा शब्द मेरे मनोमस्तिष्क को व्यग्र किए जा रहे हैं। समय-समय पर उनकी स्मृतियाँ साहित्य-प्रेमी पाठकों तक पहुँचती रहें, हिन्दी-जगत् उनके आलोक से प्रकाशित होता रहे– इस कामना के साथ भरे हुए हृदय से अपनी भावनाओं को विराम देती हूँ।

तारकों से भरे हुए नभ-पटल पर दमकते हुए इस देदीप्यमान विद्वान् परमपूज्य चाचा जी को मेरा सादर नमन, पुन:-पुन: नमन।

●

काशी की ज्ञान-परम्परा और प्रो. वासुदेव सिंह

*प्रो. विनोद कुमार मिश्र**

काशी भारत की वह ज्ञान-भूमि है, जहाँ सदियों से सनातन संस्कृति प्रवाहित होती रही है। यह भारतीयता की धड़कन और प्राणवायु तथा सर्व विद्या की राजधानी है। अनन्तकाल से यह वाद-विवाद और सम्वाद का केन्द्र रही है। यह भारतीय ज्ञान-परम्परा और आध्यत्मिक साधना का उत्स रही है। यद्यपि आज उन ऊँचाइयों को दोबारा छू लेना दुष्कर ही नहीं; असम्भव है, क्योंकि अतीत में बहुत कुछ ऐसा घटित हुआ कि भारतीय चेतना ने ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति का त्याग कर, लाचारी में ही सही, अधोगमन का मार्ग चुना। फिर भी; हमें यह अवश्य याद रखना होगा कि काशी ही भारतीय ज्ञान का बीज है। पत्तियों और डालियों को सींचने से वृक्ष पुष्पित-पल्लवित नहीं होता। मूल को ही सींचना पड़ता है। मूल को ही अभिसिंचित करने से ज्ञान-वृक्ष फलेगा। बीज को अभिसिंचित करने से ही वह वृक्ष का आकार लेगा। किन्तु, हमने भूलवश अभी तक इतिहास की फूल-पत्तियों और डालियों को ही सींचा है और उसके मूल पर कुठाराघात किया है। एक समय था, जब यह वृक्ष छतनार था, फिर पतझड़ में तब्दील हुआ, किन्तु अब बसन्त की आहट सुनायी देने लगी है । अब नयी कोपलें फूटेंगी और काशी फिर हरीतिमा बन 'नन्दनवन' हो जायेगी।

यद्यपि काशी किसी भौगोलिक इकाई का नाम भर नहीं है, इसमें सहस्राब्दियों से विचार की गंगा अनवरत प्रवाहित हो रही है। मुझे लगता है कि दुनिया ने जब कुछ सीखने के लिए अपनी बन्द पलकें खोलीं होंगी, तो सबसे पहले उसे काशी ही दिखी होगी। तभी तो दुनिया ज्ञान की खोज में दूर-दूर तक भटककर भी काशी ही पहुँची। काशी भारत का सुमधुर स्वप्न है। काशी 'ध्यान, धारणा और समाधि' की आश्रय स्थली, सिद्धि का 'हीनयान' और लोकमंगल का 'महायान' भी है। वह प्रज्ञा का आदि स्रोत भी है। वह जितनी शिव की है, बुद्ध, महावीर, कबीर, रैदास, तुलसी, शंकराचार्य, मण्डन और पंडितराज जगन्नाथ की भी उतनी ही है। यदि भारत की ज्ञान-परम्परा को, भारत के ओज और पौरुष को, माधुर्य और औदार्य को, तारूण्य और सौन्दर्य को, लालित्य और गाम्भीर्य को समझना हो, तो काशी को समझना होगा। दुनिया भर से आये ज्ञान-पिपासु परिन्दों का यही नीड़ भी था। वस्तुत: यह वह विश्व नीड़ था, जहाँ ज्ञानबीज की खोज में उड़ते हुए खग दशों दिशाओं से आए। यही वह जगह थी, जहाँ पहुँच कर अनजान क्षितिज को भी सहारा मिला था, क्योंकि 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' की रचना-भूमि भी काशी ही रही है। इतिहास की अँधेरी दिशाओं में खो जाने के बाद भी यह भारत की ज्ञानपीठ रही है, भारत के आहत और घायल इतिहास की साक्षी भी रही है। काशी में ज्ञानयज्ञ की बिखरी हुयी समिधा के अवशेष आज भी विद्यमान हैं। सींखचों में जकड़ा हुआ आकाश और बिलखता इतिहास भी है, पुण्य की सिसकी और इतिहास की आँखों

* हिन्दी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय

में भरा आँसू भी है। यह सब देख-सुन कर मन क्षुब्ध हो जाता है। काशी के प्रतिष्ठित विद्या-केन्द्र और इतना उपेक्षित! इतना असहाय! इतना लाचार! हतभाग्य काशी। ऐसे में; अब भला विश्वस्तरीय विद्यानुरागी आचार्य कहाँ से आएँगे? पिछले कई दशकों से देश के अधिकांश विद्या-केन्द्रों में लगातार सामान्य ज्ञान वाले शिक्षक भर्ती हो रहे हैं। अपने से कमतर क्षमता वाले अनुयायियों और शिष्यों को विश्वविद्यालयों में नियुक्त करने का खेल अनवरत चल रहा है। परिणामस्वरूप; भारत की शैक्षिक और सांस्कृतिक जड़ें खोखली हो गयी हैं। योग्य विद्यार्थी इन ज्ञान-तीर्थों की खोज में भटक रहे हैं, लेकिन वही– 'ढाक के तीन पात'। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने सिर्फ अनुदान दिया है। शिक्षकों को योग्य बनाने के लिए जो तौर-तरीके ईजाद किये गए, उनसे शिक्षा के ज्ञान-तीर्थ किस प्रकार से प्रतिष्ठित हो पाएँगे– यह एक यक्ष प्रश्न रहा है। फिर भी; विश्व भर में जिसमें भी ज्ञान-प्राप्ति की चाह थी, काशी के विद्या-केन्द्रों में अंधवेग से आता चला गया। ये वे ज्ञान-केन्द्र थे, जहाँ सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं में, सांख्य-वैशेषिक-न्याय-मीमांसा, बौद्ध-श्रमण-चार्वाक के साथ ही विज्ञान, आयुर्वेद, शिक्षा-कल्प-व्याकरण-छन्द-निरूक्त-ज्योतिष आदि पर जहाँ निरन्तर शोध हुआ और जिसके कारण भारत 'विश्वगुरु' कहलाया। आज वे विद्या के केन्द्र अपने मूल स्वरूप में भले न हों, फिर भी; विश्वगुरु के अपने खोये हुए गौरव की लालसा लिए समय की ओर टकटकी लगाये हुए हैं।

आधुनिक भारत में काशी की उसी ज्ञान-परम्परा के केन्द्रों में काशी विद्यापीठ का भी नाम आता है, जिसकी स्थापना महात्मा गाँधी ने आजादी से पूर्व की थी। विद्या का यह केन्द्र अनेक उतार-चढ़ाव, उत्थान और पतन का साक्षी रहा है। आजादी के आन्दोलन के दौरान जिस संस्था ने अनगिनत देशभक्त, समाज वैज्ञानिक और काबिल राजनेताओं को पैदा किया, वही विद्या का केन्द्र आजादी के बाद धीरे-धीरे अराजकता का केन्द्र बनता गया। आपातकाल के दौरान जयप्रकाश नारायण द्वारा दिए गए 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के नारे ने सबसे ज्यादा भारतीय विद्या-केन्द्रों का अहित किया था। काशी विद्यापीठ भी उससे अछूता न रहा। १९७७ के आस-पास यहाँ अराजकता अपनी चरम सीमा पर थी। शिक्षा का स्तर शेयर बाजार की तरह औंधे मुँह गिर चुका था। छात्रावास अपराधियों एवं माफियाओं के अड्डे बन चुके थे। उत्तर प्रदेश की सरकार भी लाचार थी। आपातकाल के दौरान जेपी आन्दोलन की भी युवा वर्ग को अराजक बनाने में भूमिका रही है। कुलपति प्रो. राजाराम शास्त्री के कार्यकाल में तो अराजकता का रामराज्य था। छात्रावास अपराधियों की पनाहगाह बन चुके थे। परीक्षा के दौरान छात्रावासों में उत्तर पुस्तिकाएँ लिखी जाती थीं। परीक्षा की पवित्रता का चीरहरण हर रोज होता था। लखनऊ की धृतराष्ट्र सरकार पंगु और लाचार बनी हुयी थी। कहा गया है– 'अति सर्वत्र वर्जयेत।'

अचानक, अस्सी के दशक में, विद्यापीठ का भाग्योदय तब हुआ, जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रो. रामनारायण सक्सेना कुलपति बनकर आये और सुधार की प्रक्रिया आरम्भ की। उनके उत्तराधिकारी प्रो. दूधनाथ चतुर्वेदी ने भी उस प्रक्रिया को कमोबेस कायम रखा। उनके कार्यकाल में कई नए और महत्त्वपूर्ण विभाग खोले गए। यद्यपि अधिकांश अकादमिक रूप से कमजोर लोगों की नियुक्तियाँ की गयीं। प्रो. चतुर्वेदी के कार्यकाल में मैंने भी, १९८३ में, स्नातक कक्षा में प्रवेश लिया और एम.फिल. तक की उपाधि वहीं से प्राप्त की। तब पण्डित विद्यानिवास मिश्र कुलपति होकर आ गये थे। उनके साथ भी अच्छा व्यवहार न किया गया। गुरूपूर्णिमा के दिन हो रही कार्यपरिषद की बैठक में छात्रनेता गुलाब तिवारी ने विद्यानिवास जी

के ऊपर चप्पल फेंका था। यह घटना काशी की सनातन परम्परा पर घातक प्रहार था। ऐसे अराजक परिवेश में मेरी अकादमिक परवरिश हुयी है। मेरी स्नातक की मात्र १३ दिन कक्षाएँ चलीं और पीएसी / पुलिस के साये में परीक्षायें भी हुईं। उन्हीं दिनों एक अध्यापक (डॉ. बैकुण्ठ राय) की सरेआम उसके आवास में घुस कर दिनदहाड़े हत्या हुयी। बड़ी संख्या में अध्यापकों ने विरोध स्वरूप जेल की यात्राएँ भी कीं। डरवश नरेन्द्र देव छात्रावास में आवण्टित कमरे को छोड़ कर मैंने भी अपने मामा बचाऊ पाठक जी के घर में शरण ली। एम. ए. की कक्षाएँ भी बहुत कम चलीं। फिर भी; अच्छे गुरुओं का सान्निध्य मिला और सब कुछ भरपाई हो गया।

मेरे लिए विद्यार्थी के रूप में काशी विद्यापीठ में कुछ वर्षों की सम्बद्धता ज्ञान-चक्षु खोलने वाली व दुनियादारी को समझने के लिए किसी बड़ी पाठशाला से कम न थी। नियमित छात्र एक सौ थे, तो व्यक्तिगत छात्र भी एक सौ के करीब। दो सौ छात्र-छात्राओं से भरी हुयी कक्षा और पूरा समाजवाद था या यों कहें– खाला के घर की तरह कोई भी, कभी भी, कहीं से भी आ जाय। प्रेम-प्रपंच में बर्चस्व की लड़ाई और अन्तिम परिणति हाथापाई और मारपीट, फिर छात्रावासों में समझौता-वार्ता– वहाँ के लिए आम बात थी। काशी विद्यापीठ से मेरा लगभग सात वर्षों का जुड़ाव मेरे लिए किसी प्रशिक्षणजन्य अनुभव से कम नहीं था। और हाँ! कमाल का हिन्दी विभाग था, जिसमें कलियुग के अलावा त्रेता और द्वापर युग के एक से बढ़कर एक किरदार मौजूद थे। वहाँ महाभारत और रामायण की तर्ज पर घटनाओं का गाहे-बगाहे घटित होना आम बात थी। जिस दिन कुछ न घटे, मन कुछ उदास हो जाता था, क्योंकि घटनाओं में जीने की आदत जो हो गयी थी। विश्वविद्यालय में कुछ तो ऐसी विभूतियाँ थीं, जिनका विवादों से चोली-दामन का रिश्ता था। कुछ गुट निरपेक्ष, तो कुछ गुट सापेक्ष भी थे। विभाग के अध्यक्ष प्रो. केशव प्रसाद सिंह जी कभी-कभार कक्षा में आ जाते थे। वे अध्यापक कम, प्रशासक ज्यादा थे। हाँ, परीक्षा के पहले महत्त्वपूर्ण प्रश्न के बहाने अपने निकटस्थ को पूरा प्रश्नपत्र दे ही देते थे। दूसरे बड़े आचार्य ब्रज विलास श्रीवास्तव जी थे। एक समय ऐसा भी था, जब पण्डित विद्यानिवास मिश्र कुलपति और प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में मिले। उन्हीं दिनों एम. फिल. में मैंने जो कुछ विशेष सीखा, उसका श्रेय देवतुल्य आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी को ही जाता है। उन दिनों विभाग में कुछ गिने-चुने ही अध्यापक अच्छे थे, जिनमें से प्रो. वासुदेव सिंह जी एक थे, जिन्हें मैंने भी गुरु मान लिया था। कुछ-कुछ एकलव्य की तरह। लेकिन गुरुदेव ने दक्षिणा में कभी अँगूठा नहीं माँगा। हाँ! गुरुवर से मेरा परिचय मेरे मामा डॉ. बचाऊ पाठक और उन्हीं के गाँव के डॉ. शिवकुमार मिश्र, जो विभाग से ही प्रोफेसर के पद से सेवा-निवृत्त हुए हैं, के माध्यम से हुआ। परिसर में ही गुरुवर का आवास था, जहाँ हर शाम नियमित रूप से मामा जी, शिवकुमार मिश्र जी, आशिक अली जी, सुभाष पाण्डेय जी, आचार्य नरेन्द्र सिंह जी आदि का जाना होता था। उन्हीं के साथ कभी-कभार मैं भी चला जाता था। गुरुदेव का सहज स्वभाव, सामान्य पहनावा, निश्छल-निष्कपट मुस्कान, मोटे शीशे के भीतर से झाँकती आँखें, जिसके भीतर अनगिनत तैरते सपने, जिसमें भाषा, साहित्य और संस्कृति का अद्‌भुत समन्वय और न जाने क्या-क्या क्या। उनके घर पर ही प्रायः देश की नामचीन हिन्दी की हस्तियों के भी दर्शन हो जाते थे।

गुरुवर एक अच्छे व समर्पित अध्यापक, आदिकालीन व मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ आचार्य, आलोचक और प्रसिद्ध इतिहासकार के रूप में हमारी स्मृतियों में आज भी जीवित हैं। गुरुवर जैसा साहित्यकार प्रक्रियामूलक चेतना का नियन्ता होता है तथा वह गत्यात्मक प्रक्रिया में जीता है, क्योंकि

मृतप्राय लोग साहित्य के हिस्सा नहीं बनते। साहित्यकार की स्पन्दित धड़कनें ही श्रेष्ठ साहित्य का हिस्सा बनती हैं और उनके रचनात्मक दायित्व-बोध का आधार भी। उनके भीतर का रचयिता विचार से रचना-कर्म की ओर यात्रा करता है। रचयिता के लिए जीवन अनिवार्य है, किन्तु उसका मार्ग साहित्य से होकर गुजरता है। रचना-कर्म सामाजिक माँगों का शास्त्रबद्ध अनुशासन होते हैं। उनके लिए जीवन की गति और लालित्य महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि दोनों के साहचर्यजनित संयोग से जीवन और साहित्य की निर्मिति होती है। सपाट जीवन से स्तरहीन साहित्य निर्मित होता है। स्तरीय साहित्य की निर्मिति असमतल जीवन कोणों के संयोजन से होती है। वासुदेव जी की श्रेष्ठ समीक्षा और गहरी इतिहास-दृष्टि बौद्धिक हस्तक्षेप से निर्मित हुयी थी। वह इतिहास की माँगों की रचनात्मक आख्या का परिणाम हैं। वासुदेव जी जैसे रचनाकार जीवन का अनुवर्ती न होकर इतिहास और शास्त्र का रचनानुशासक होते हैं। विचारों के अनुगामी होते हैं तथा उनके जीवन की गतिशील चेतना उनको उस रूप में बौद्धिक उच्छ्वास प्रदान नहीं करती, जिस रूप में उनके भीतर के जाग्रत रचनाकार को। इसके विपरीत; उनकी आलोचक-दृष्टि इस प्रक्रिया से ज्यादा जीवन की निष्पत्ति-निष्कर्ष पर टिकती है तथा रचनाकार देर तक नहीं रमता, बल्कि वह निष्कर्ष की कसौटी पर प्रक्रिया को कसता है। एक ओर उनका सृजन-कर्म निष्पत्ति का आनुशासिक व्याख्याकार होता है, तो दूसरी ओर उनका रचनात्मक दायित्व-बोध साहित्य, जीवन के सपनों, सुख-दु:ख में खूब रमता है। उनकी आलोचना-दृष्टि जीवन को दिशा देने वाले को देखती है, क्योंकि जीवन के सुख-दु:ख की नियामक शक्तियों के कारणों एवं प्रभावों की खोज रचनाकार के लिए अनिवार्य होती है। व्यवस्थित जीवन-पद्धति के बीच अच्छी कृति का सृजन होता है। हाँ! जीवन के असमतल में ही बड़ी रचना रची जाती है और श्रेष्ठ विचार अनुशासन के अतिक्रमण से पैदा होते हैं। किन्तु, आलोचना के लिए सुव्यवस्था चाहिए, क्योंकि आलोचना बौद्धिक व्यवस्था के क्रम में विकसित अनुशासन है। रचनाकार का अपने अनुभव पर विश्वास होता है और आलोचक को शास्त्र पर। कबीर 'कागद लेखी' की तुलना में 'आँखिन देखी' को महत्त्व देते थे। यह एक कवि द्वारा एक शास्त्रज्ञ को चुनौती देना ही तो है। किन्तु, शास्त्रज्ञ और आलोचक में थोडा अन्तर होता है। आलोचक शास्त्र और जीवन के एकीकरण का समर्थन करता है, क्योंकि शास्त्र उसकी सम्वेदना है। शाश्वत जीवन-बोध या सम्वेदना के सातत्य से जिस प्रकार रचनाकार जुड़ता है, उसी प्रकार आलोचक भी। इस दृष्टि से गुरुवर वासुदेव सिंह जैसा रचनाकार– आलोचक और सम्वेदना के दो रूप हैं।

गुरुदेव से जुड़े हर प्रसंग मेरी स्मृतियों में शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की तरह अनवरत अपनी लय और धुन में हमेशा चल रहे होते हैं। पावनता का वैभव उन्हें दुलराता रहता है और वे वहीं स्थिर हो जाते हैं। फिर; किसी शहर के मौसम की तरह वे आते-जाते रहते हैं। वहाँ से होकर गुजरने पर उनकी याद घेरने लगती है। वे वर्तमान जीवन और व्यतीत जीवन के किसी हिस्से की पकड़ में नहीं आते। वे मानों मलय पवन की तरह आकाश भर में फैल गए हों। उनसे साक्षात् भेंट करना वैसा ही असम्भव है, जैसे स्वयं समय रुक कर एक शरीर में अचानक ढल गया हो। फिर; वे किसी धूप भरे आँगन से अन्दर की ओर मुड़ते हैं और किसी आगंतुक की शिनाख्त करते हुए एक कुहरे की दीवार से टकरा कर रुक-से जाते हैं। उनकी यादों की छड़ी दीवाल के सहारे टिकाकर आहिस्ते से सिर उठाती है– सूरज की तरफ। मानों वह महासूर्य को अर्घ्य दे रही हो। आकाशगंगा के जल से और बदले में आशीष के छींटे बारिश की फुहार की तरह सावन बन झरते रहते

हैं। किन्तु, आज जब उन्हें याद करने की असफल कोशिश करते हैं, तो यहाँ सावन नहीं है। बस, पतझर की दस्तक से आहत एक रूठा हुआ बसंत है। जिन आँखों से अतीत की घटनाओं और स्मृतियों के अनन्त सैलाब देखें हों, वही आखें आज स्मृतिशेष गुरुवर स्व. वासुदेव सिंह को स्मृतियों में ढूँढ रही हैं। बाहर और भीतर कुहरा है, उसके भीतर काशी विद्यापीठ की यादों के बोझिल कण हैं। कितना कुछ तैर कर रंगहीन हो चुका है। यादों की दीवारों पर पिछली बारिश के निशान भर हैं। न जाने कितने लोग चले गए और कितने चले भी जाएँगे। हम फिर कभी उसी उत्कट जिज्ञासा से वहीं उसी नीली छतरी के नीचे और यादों के अंतहीन आकाश में लौट कर फिर कभी नहीं आएँगे, क्योंकि जीवन रचना का आदि-बिन्दु जो ठहरा।

खैर! आज गुरुवर का स्थूल शरीर हमारे बीच भले नहीं है, फिर भी; उनकी सूक्ष्म उपस्थिति हमें निरन्तर प्रेरित करती रहती है और आगे भी करती रहेगी। काशी में जब-जब ज्ञान-परम्परा और हिन्दी की विकास-यात्रा का जिक्र होगा, संस्कृति की चर्चा होगी, आलोचना पर गहन विमर्श होगा, विमर्श के केन्द्र में काशी विद्यापीठ होगा, तब-तब गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह जी आदर सहित याद किये जायेंगे। उन्हें विस्मृत कर काशी की हिन्दी की ऊर्वर धरा उनके ज्ञान-धारा के प्रवाह को महसूस नहीं कर सकेगी। उन्हें विस्मृत करना ज्ञान-परम्परा को विस्मृत करना होगा। काशी की ऊर्वर धारा व भारतीय ज्ञान धारा के प्रवाह को महसूस करने के लिए, गुरुदेव के प्रदेय के लिए, अखबार उपयुक्त जगह नहीं हैं। उनका यश शिलालेख में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

स्मृतिशेष गुरुवर के अहंकार-शून्य सहज-सरल स्वभाव को तुलसी की पंक्तियों के माध्यम से आज भी नम आँखों से स्मरण कर रहा हूँ–

एक सूल मोहि बिसर न काऊ।
गुरु कर कोमल सील सुभाऊ।।

●

स्मृति के वातायन से

डॉ. मधु सिंह *

मेरे पितातुल्य प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य-जगत् के एक ख्यातिलब्ध इतिहासकार, आलोचक और सम्पादक रहे हैं। मुझे वो अपनी बेटी के सदृश स्नेह देते थे। मैंने आपका प्रथम दर्शन स्व. डॉ. भगवती प्रसाद सिंह– पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के बेतियाहाता आवास पर किया था। आप बहुत ही सरल, सहज और स्नेही प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। सबके प्रिय, सबके आत्मीय, सबके विश्वसनीय। मेरे शोध-विषय 'आठवें दशक की हिन्दी कहानी : दाम्पत्य-सम्बन्धों के सन्दर्भ में' पर आपका मुझे बहुमूल्य दिशानिर्देश मिला।

व्यक्ति को ख्याति मिलती है– उसकी उपलब्धियों से, लोगों का प्यार और सम्मान मिलता है– मृदु एवं शोभन आचरण से तथा ऊँचाई मिलती है– अधिकार एवं उपकृत करने के अवसर से। न जाने कितने लोगों की निगाहें उनकी ओर उठी रहती थीं, इस लालसा से कि कृपा-दृष्टि प्राप्त हो जाए और कुछ प्रसाद मिल जाए।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे– प्रो. वासुदेव सिंह जी। उन्होंने अपने अध्ययन, ज्ञान और विचारों के माध्यम से हिन्दी-प्रेमियों, अध्यापकों तथा प्रबुद्ध वर्ग को एक नई दिशा, विचार और आयाम दिया है। साथ ही; हिन्दी विषय के विद्यार्थियों के साथ-साथ प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए भी अध्ययन-सामग्री दी है।

आप मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और विशेष रूप से कबीर के मर्मज्ञ रहे हैं। आपने 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर शोध-कार्य किया था– आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में।

आपके द्वारा सम्पादित पुस्तक 'तुलसीदास' में, उनकी काव्य-रचना के उद्देश्य के विषय में आपने लिखा है कि– ''सुरसरि सम सब कह हित होई– इसी लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में बड़ा व्यापक और उदार दृष्टिकोण अपनाया। तुलसी के काव्य में संस्कृत की स्तुतियाँ परम्परा के प्रति लगाव की सूचक हैं। ब्रज, अवधी आदि प्रमुख बोलियों में काव्य-रचना उनकी लोकहितैषणा का प्रमाण है और विभिन्न बोलियों के अतिरिक्त अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्दों का ग्रहण उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक है। भाषा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि–

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कुमाँच।।''

प्रो. वासुदेव सिंह का रचना-संसार और साहित्यिक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं–

* अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी

प्रकाशित ग्रन्थ

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद
२. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)
३. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
४. मध्यकालीन काव्य-साधना
५. कबीर वाङ्‌मय : भाग-१ (रमैनी)
६. कबीर वाङ्‌मय : भाग-२ (सबद)
७. कबीर वाङ्‌मय : भाग-३ (साखी)
८. कबीर काव्य कोश
९. कबीर : साहित्य, साधना और पंथ
१०. अयोध्याकाण्ड भाष्य– सम्पादन (आई.ए.एस., पी.सी.एस. विद्यार्थियों हेतु)
११. सुन्दरकाण्ड भाष्य '' '' ''
१२. उत्तरकाण्ड भाष्य '' '' ''
१३. हिन्दी संत काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन
१४. समतावादी संत कबीर
१५. कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन
१६. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (सम्पादन)–भाग-३ (नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी से प्रकाशित)
१७. राधाकृष्ण भक्तकोश (५ खण्डों में) सह-सम्पादक (इस ग्रन्थ में देश की १८ भाषाओं के कृष्णभक्त कवियों का परिचय दिया गया है)
१८. भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण (सहसम्पादक)
१९. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि– सम्पादित
२०. सूर : सन्दर्भ और दृष्टि– सम्पादित
२१. राष्ट्रवाणी– सम्पादित
२२. कबीर (सम्पादित)
२३. तुलसीदास (सम्पादित)
२४. तुलसीदास और विनय पत्रिका
२५. श्रीराम विश्वकोश– सह सम्पादक

पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का संयोजन

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत दो पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों का संयोजन किया।

शोध-परियोजना

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत दो बृहद् शोध परियोजनाओं पर कार्य किया।

शोधपरक लेख

लगभग ५० शोधपरक लेख हिन्दी की ख्यातिलब्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित।

अन्य साहित्यिक संस्थाओं से सम्बन्ध

१. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रबन्ध समिति के सदस्य।
२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद की कार्य समिति तथा स्थायी समिति के सदस्य।

३. हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद की साहित्यिक समिति के सदस्य।
४. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद के परीक्षा मन्त्री
५. देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित संगोष्ठियों तथा व्याख्यान मालाओं में सक्रिय सहभागिता।
६. अनेक विश्वविद्यालयों की पाठ्यक्रम समिति, शोध समिति एवं अध्ययन समिति के सदस्य।

ये उनकी साहित्यिक सेवा है, जिससे प्रेरणा लेकर व उनके बताये मार्ग को अंगीकार करके मैं प्रो. वासुदेव सिंह को अपना भावरूपी शब्द-सुमन समर्पित कर रही हूँ। शरीर से वो आज हम लोगों के बीच नहीं हैं, लेकिन अपने किये गये गहन अध्ययन और हम लोगों को दिये गये सार्थक विचारों के द्वारा वह हम लोगों के बीच हैं। वह हम लोगों से कभी अलग नहीं हो सकते। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ते समय उनके द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास', कबीर को पढ़ते समय 'कबीर वाङ्मय' तथा तुलसी, सूर को पढ़ते समय 'तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि' तथा 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' ग्रन्थ हमेशा प्रासंगिक रहेगा।

●

मेरी स्मृतियों में प्रो. वासुदेव सिंह

डॉ. (श्रीमती) आशा यादव *

प्रो. वासुदेव सिंह (चाचा जी) जब-जब मेरी स्मृतियों में आते हैं, उनका एक ही चित्र मेरे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है। हिमाच्छादित पर्वतों की गर्वीली चोटियों से समता करता हुआ, सीधा तना हुआ, ऊँचा-सा देवदारु का वृक्ष, जिसका समुन्नत ललाट शीत-आतप-वर्षा के प्रहार झेलता था, जिसकी अत्यन्त विस्तृत शाखाओं को बवंडर और तूफान झकझोरते रहते थे, जिसकी जड़ों से एक सरस जलधारा आँख-मिचौनी खेलती थी, जिसका मस्तक ठिठुरा देने वाले हिमपात, प्रचण्ड धूप एवं मूसलाधार बारिश के बीच भी गर्व से उन्नत रहा। बर्फीली हवाओं के तीक्ष्ण प्रतिकूल झकोरे झेलने के बाद भी वह निश्चल खड़ा रहा।

सभी प्रतिभाशाली लोगों का जीवन संघर्षमय रहता है, परन्तु उन संघर्षों के बीच से ही सृजन के नये-नये आयाम खुलते चले जाते हैं। साहित्य-सृजन व शिक्षण का कार्य भी ऐसी छोटी बाधाओं का सम्मिलित परिणाम होता है। चाचा जी भी इसके अपवाद नहीं थे।

चाचा जी के सान्निध्य का सुख जिन्हें भी प्राप्त हुआ होगा, वे आजीवन उन्हें भूल नहीं सकते। अगाध ज्ञान, अकृत्रिम सहृदयता, उच्च चरित्र और अजस्र स्नेह का बड़ा सुन्दर समन्वय उनके व्यक्तित्व में था, जो अन्यत्र दुर्लभ है। लम्बा कद, समुन्नत ललाट, लम्बी भुजाएँ, पैण्ट-बुशर्ट व काला जूता पहने वे विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में शिक्षकों की मण्डली के बीच में बैठे रहते थे। ज्ञान अपार था, किन्तु उसके प्रदर्शन की कभी व्याकुलता नहीं थी। कोई भी छात्र उनके पास शोध-कार्य के लिये या किसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए अगर आया, तो उसे ऐसा अपनाया कि अपना होकर रह गया। मैंने भी विद्यापीठ से ही हिन्दी में स्नातकोत्तर की शिक्षा ली। हम लोगों को वे हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाते थे। हमारा पूरा पाठ्यक्रम उनके जिह्वाग्र पर था। वे कभी भी कक्षा में कोई पुस्तक या कागज लेकर नहीं आते थे। कक्षा ४५ मिनट की हो या ९० मिनट की– धाराप्रवाह बोलते रहते थे। हम लोग उनका लेक्चर यथासम्भव नोट कर लिया करते थे। डरते हुए बीच में एकाध बार बोलने की गति धीमी करने के लिये भी कह दिया करते थे। वे बहुत ही कुशल अध्यापक थे। उनका पढ़ाया हुआ इतिहास आज भी मस्तिष्क में तरोताजा है।

वे समय के बड़े पाबन्द थे। कक्षा में कभी भी विलम्ब से नहीं आते थे। निश्चित समय पर कक्षा में आना व समय पर कक्षा छोड़ना उनकी आदत थी। अपने पाठ्यक्रम से सम्बन्धित कोई भी समस्या हम लोग उनके पास लेकर जाते थे, तो वे हमें पूरा समय देते थे व हमारी समस्या का निराकरण भी तुरन्त करते थे। पढ़ने के लिये अनेक बार उनसे पुस्तकें हम लोग लेते थे। हर बार वे जल्दी लौटा देने की शर्त पर पुस्तकें

* अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, बसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

देते थे। मेरा यह सौभाग्य था कि मुझे उनकी शिष्या होने का गौरव भी मिला एवं उनकी आत्मजा श्रद्धा से मित्रता होने के कारण उनका पितृतुल्य स्नेह भी मुझे प्राप्त हुआ।

वे बड़े ही अनुशासनप्रिय थे। उनकी अनुशासनप्रियता से हम लोग एम.ए. की पढ़ाई के दौरान बराबर इस अर्थ में लाभान्वित होते रहे कि हिन्दी विभाग के सभी छात्र हम लोगों के पूरे ग्रुप के साथ बड़ी भद्रता से पेश आते थे, क्योंकि उन्हें हमेशा इस बात का भय रहता था कि किसी भी प्रकार की शरारत करने पर सूचना सर तक पहुँच जाएगी।

अतिथि-सत्कार का सद्भाव भी उनके भीतर था। १९८५-८६ में जब हम लोग एम.ए. कर रहे थे, विद्यापीठ परिसर में ही उनका आवास था। मैं और श्रद्धा साथ-साथ कक्षाएँ करने जाया करते थे। अक्सर जब मैं उनके आवास पर जाती, तो उस समय गोरखपुर वाले डॉ. भगवती प्रसाद सिंह जी को अनवरत लम्बी अवधि तक उनके यहाँ रहकर लेखन-कार्य करते हुए देखती। उनके यहाँ साहित्यकारों का आवागमन तो होता ही रहता था, उनके शोध-छात्र भी बड़ी आत्मीयता से उनके यहाँ आते थे, पढ़ते रहते थे, जैसे लगता था कि वे भी उनके परिवार के अंग हों। नरेन्द्र भैया और शिव कुमार मिश्र जी को मैं उनके यहाँ अक्सर पढ़ते हुए देखा करती थी। जब कभी दोपहर वाली कक्षा होती थी और मैं श्रद्धा को लेने उनके यहाँ पहुँचती, उस समय यदि चाचा जी भोजन कर रहे होते, तो कुम्मी (श्रद्धा) से मुझे भी भोजन कराने के लिये अवश्य कहते थे। मैंने कई बार उनके यहाँ चाची जी के हाथ की बनी सुस्वाद रसोई का जायका लिया था। खड़ी लाल मिर्च व देशी घी के बघार वाली दाल मुझे आज भी याद है। चाची जी को बागवानी का बड़ा शौक था। उनके किचेन गार्डेन की मूली, उनके पेड़ के अमरूद मुझे आज भी याद आते हैं।

किन्तु; नियति का खेल ही विचित्र है। आज न चाचा जी रहे, न विद्यापीठ वाला उनका आवास। आज भी उनके वर्तमान आवास पर मैं जब भी जाती हूँ, मेरी आँखें उनको ढूँढ़ती हैं। अतीत के वे स्वर्णिम दिन याद आते हैं। चाची जी में ही उनका प्रतिबिम्ब देख लेती हूँ। क्या किया जाय? यही जीवनक्रम है। यही सत्य है। यही होता है। यही होता आया है।

●

अरे! तुम इतनी बड़ी हो गयीं

*डॉ. सविता भारद्वाज**

आगे कदम बढ़ाएँ, जिन्हें सूझता नहीं।
रौशन चिरागे राह किये जा रहा हूँ मैं।।

उर्दू के एक सुविख्यात शायर की ये पंक्तियाँ चाचा जी (प्रो. वासुदेव सिंह) जैसी भगवद्विभूति के ऊपर सजीव टिप्पणी है। बालसखी श्रद्धा के आदेश पर मैं चाचा जी सरीखे महिमान्वित व्यक्तित्व पर लिखने का दुस्साहस कर रही हूँ, जिनके विशाल रचना-संसार की निर्मिति को मैंने बचपन से ही देखा है। साहित्य के अगाध सागर स्वरूप व्यक्तित्व पर लिखने हेतु मेरे पास समर्थ शब्द नहीं हैं। सुधीजन के समक्ष मैं अपनी तोतली बोली में ही कुछ प्रस्तुत करना चाहूँगी।

मैं और श्रद्धा साथ-साथ खेलकर, पढ़कर बड़े हुए, अतएव चाचा जी के प्रति मेरी स्मृतियाँ बालपन से ही जुड़ी हुई हैं। सत्तर के दशक में जब हम प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, साँझ होते ही खो-खो, इक्कड़-दुक्कड़ और उस दौर के सबसे प्रचलित खेल 'पिट्ठू' की तलब दिमाग में जोर मारने लगती और हम एक-दूसरे को बुलाने के लिए चल देते। जब श्रद्धा को घर से निकलने में देर होती और मैं उसे खेलने हेतु आमंत्रित करने जाती, तो अक्सर चाचा जी को ड्राइंगरूप में लकड़ी के काउच पर बैठ, सेण्टर टेबुल पर रखी हुयी मोटी-मोटी पुस्तकों के ऊपर झुके हुए पाती। गृहस्थी का सारा दायित्व चाची जी को देकर वे अनवरत सारस्वत-साधना में तल्लीन दृष्टिगत होते। जब कभी उनसे मेरा साक्षात्कार लम्बे अंतराल बाद होता, तो एक जुमला अकस्मात् उनके मुख से निकलता– 'अरे बेबी! तुम इतनी बड़ी हो गयीं?' उनके मुख-मण्डल पर एक ममत्वमयी मुस्कान तैरने लगती। इस बात का बरबस एहसास कराती कि माता-पिता अपने बच्चों को सर्वदा बालरूप में ही देखते हैं।

अक्टूबर, सन् १९९५ की बात है। अध्ययन परिषद् की बैठक में भाग लेने हेतु मैं पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर पहुँची। उसी दिन हिन्दी विषय की बैठक भी थी। चाचा जी संयोजक सदस्य के रूप में वहाँ विराजमान थे। वही देदीप्त मुखमण्डल, ताम्बूल-रंजित अधर, मोटे लेंस के भीतर से झाँकती चिन्तनशील आँखें– कांतिमय स्वास्थ्य देखकर मैं आश्वस्त हुयी। बैठक की परिसमाप्ति के बाद मैंने चरणस्पर्श किया। आशीर्वाद के अस्फुट स्वरों ने यह जता दिया कि बीस वर्ष के बाद मिलने पर पहचान का संकट उपजता ही है। प्रश्नवाचक दृष्टि को जब मैंने अपना परिचय दिया, तो वही जुमला फिर मेरे कानों में गूँजा– 'अरे बेबी! तुम इतनी बड़ी हो गयीं?'

अब चाचा जी हमारे बीच नहीं हैं। यह अनुभूति बहुत पीड़ादायक है। मस्तक पर बार-बार एक बात हैमरिंग करती है– ''अब मैं सचमुच बड़ी हो गयी।'' जिसकी वात्सल्यमयी छाया में हमारा बचपन खिलता रहा, वह अब अनन्त पथ का यात्री बन गया।

●

* प्राचार्य– राजकीय महाविद्यालय, गाजीपुर, उ.प्र.

स्मृतियों के वातायन से

प्रो. अंशुमान खन्ना*

मैं ११वीं कक्षा का छात्र था, जब पहली बार प्रो. वासुदेव सिंह जी को जाना और पहचाना। जाना अपने मित्र सुधांशु के पिता के रूप में और पहचाना मेरे प्रति उनके व्यवहार व दृष्टिकोण से। मेरे मित्र ने बताया कि पिता जी काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग में अध्यापक हैं। लेकिन मेरे लिए वे मित्र के पिता ही थे।

अतीत के कुछ अनुभव व्यक्तित्व के विश्लेषण के रूप में सामने आते हैं। सोचता हूँ कि क्यों प्रो. वासुदेव सिंह जी का स्मरण स्वाभाविक तौर पर आता है? क्या था उनमें और किसलिए नहीं छोड़ पाता तमाम छूटती स्मृतियों की तरह? वह विद्वान् थे, कबीर पर उनका अपना चिन्तन था, हिन्दी-जगत् में ख्याति थी, कई पुरस्कार मिले थे व बहुत-सी पुस्तकें लिखी थीं। मुझे इन सब बातों का ज्ञान था, अनुभव नहीं। इन सारी बातों के अलावा, वे एक बहुत ही सरल और विनम्र व्यक्ति थे। ज्ञान और विद्वत्ता उनकी उपलब्धि थी, सरलता और विनम्रता उनमें स्वाभाविक रूप से थी। यह एक बड़ी बात है कि उपलब्धि सामाजिक व्यवहार को प्रभावित न करे। उनके व्यक्तित्व ने उपलब्धियों के सामाजिक मापदण्ड सम्बन्ध-व्यवहार पर हावी नहीं होने दिया, उपलब्धियों को अहंकारी शक्ति में परिणत नहीं होने दिया। यह एक असाधारण उपलब्धि थी उनकी, जिसका उन्हें भान न था।

एक वाकया याद आता है। आवाज स्पष्ट और बनावटी कर्णप्रियता से परे, मानो उसका उद्देश्य सन्देश-संवहन ही हो। सुधांशु से पूछा कि– 'पिताजी नाराज हैं क्या?' उत्तर मिला– 'नहीं, वह ऐसे ही बोलते हैं। उन्हें बनावटीपन व नाटकीयता पसन्द नहीं।' मैंने पहचान लिया था उनको व उनकी उस भावना को। एक विद्वान् और एक बालक, उम्र का अन्तर, अनुभव का अन्तर, ज्ञान की तो बात छोड़िए, और इतनी आत्मीयता? कभी एहसास नहीं कराया अपनी उपलब्धि और ऊँचाइयों का। इस तरह से साधारण होना, उनकी बहुत बड़ी असाधारण क्षमता थी। सुधांशु दिल्ली में रहने लगे थे, तो फिर बहुत कम ही जाना हो पाता था। लगभग १५ वर्षों बाद अपने बड़े भाई के विवाह के उपलक्ष्य में मैं उनके पास निमंत्रण देने गया। मन में आया कि सामाजिक व्यवहार समझ शायद वे नहीं आएँगे। मैं बहुत प्रसन्न हुआ, जब वह अपने छोटे पुत्र हिमांशु के साथ आए और कहा– 'मुझे याद था और किसी भी तरह मैं आता ही।'

प्रो. वासुदेव सिंह जी को याद करता हूँ, तो लगता है– थोड़ी स्पष्टता मेरे में भी आ गयी। मेरा सरोकार उनकी उपलब्धियों से नहीं था, उनसे था। उपलब्धियाँ तो आज भी हैं और आगे भी रहेंगी, पर वो नहीं हैं, जिनसे मेरा सरोकार था, मैं जुड़ा था। सम्भवत: यही कारण है कि उनका स्मरण स्वाभाविक तौर पर अक्सर हो आता है।

●

* आचार्य– अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्मरण करते हुए

प्रो. अनुराग कुमार*

हाँ! स्मरण करते हुए, जो अक्स प्रो. वासुदेव सिंह का उभरता है, उनके न रहने के बाद भी रोमांचित करता है। जिन्हें 'गुरुवर' कहने का मोह मैं भी त्याग नहीं पाया। हालाँकि 'गुरुवर' के बारे में मेरी ज्यादा जानकारी किताबी और श्रुति आधारित है। श्रुतियों में होना, सुर्खियों में होने से कम नहीं ही है। सुर्खियों में वह होता है, जिसके पास दूसरों को देने के लिए ऊर्जा हो, जो उनमें थी। उस ऊर्जस्वित विभूति से मेरी पहली मुलाकाल उनके आवास पर हुई। थोड़ा थका चेहरा, स्थिर आवाज, आत्मविश्वास से भरपूर। इन दिनों ज्यादा अस्वस्थ हो गये हैं। उनके पुत्र और मेरे मित्र (हिमांशु जी) ने बताया और उनसे मेरा परिचय कराया। उनमें एक सहज खुशी का बोध था। शायद उस विभाग के नाते भी, जो उनकी कर्मस्थली थी या फिर कुछ और, कह नहीं सकता। उन्होंने पूछा– 'क्या कर रहे हो इन दिनों?' मेरे पास इस अप्रत्याशित प्रश्न का कोई त्वरित उत्तर नहीं था, क्योंकि मैं अस्वस्थ 'गुरुवर' का कुशलक्षेम पूछने गया था। मैं अचकचाया और विलम्बित स्वर में बोला– 'कुछ निश्चित-सा या कहें लगभग निर्धारित नहीं है।' मैंने सहज होते हुए पूछा– 'इधर कुछ लिख रहे हैं?' उन्होंने कहा– 'हाँ, अभी-अभी लिख कर ही उठा हूँ।' मेरे लिए यह उत्तर एक चुनौती और ऊर्जा– दोनों थी। चुनौती इसलिए कि अस्वस्थता में भी कुछ-न-कुछ कर गुजरने की ललक और लगन। इस पीढ़ी में क्या है? वह कौन-सा जज्बा है, जो अभी भी इतना जीवंत है? इस ईमानदार साहित्य-समर्पण पर कौन नहीं रीझेगा? फिर मैं इससे कैसे बचता। मेरे भीतर उनके प्रति श्रद्धा का तरल भाव प्रवाहित हो चला। इस अत्यन्त अल्प, किन्तु यादगार मुलाकात ने मुझमें न जाने कितनी ऊर्जा भर दी, जो अभी भी विद्यमान है। कुछ प्रश्न थे, कुछ जिज्ञासा, जिसका समाधान पाकर मैंने उनसे विदा ली। इस गतिशील और स्पन्दित स्मरण में जब भी मैं प्रवेश करता हूँ, ईमानदारी से कहूँ, तो रोमांचित हो उठता हूँ। सच कहूँ, तो उनके शिष्यों के संस्मरण को सुनकर मैं भी उनके सुखद अतीत में प्रवेश पाने की संजीवनी इस मुलाकात में पा चुका था।

उनके बारे में ज्यादा जानने का अवसर तब मिला, जब मैं काशी विद्यापीठ परिवार का सदस्य बना। दिनों-दिन उनकी अस्वस्थता बढ़ती जा रही थी। विभाग में उनपर प्राय: चर्चा होती रहती थी। इस चर्चा का प्रमुख पक्ष उनके अध्यापन-कौशल की अद्‌भुत कला पर गम्भीर बयान हुआ करता था, जिसे सुनकर बराबर सोचता रहा कि उनके व्याख्यान और विषय-विमर्श कितने गम्भीर, रोमांचित और ऊर्जा प्रदान करने वाले रहे होंगे? उन्हें सुनने का सौभाग्य तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु इस कमी को दूर करने के लिए, उनके विचारों से गुजरने का नायाब तरीका उनकी उपलब्ध कृतियाँ हैं, जो उन्हें हमेशा हमारे बीच उपस्थित रखे हुए हैं। उनकी मौलिकता हमारी प्रेरणास्रोत हैं।

●

* आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गां. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

कर्म का अभ्यास

डॉ. रामाश्रय सिंह *

जिसके रग-रग में गाँधी की अविचल दृढ़ता थी समाई,
नेहरू की भावुकता जिस के उर में प्रभाव थी,
जिसमें सुभाष का शौर्य कर्मों में ढ़ल जाता था।
द्रोही का दर्द स्वतः पानी-पानी होकर गल जाता था।
जिसके गम्भीर हृदय में डूबी थी समुद्र की गहराई।
ऐसे अजेय योद्धा को मैं रचना का विषय बनाऊँगा।

सुख-दु:ख में सम रहने वाले जिस धीर मनुष्य को कोई भी अनुकूलता-प्रतिकूलता व्यथा नहीं पहुँचा पाती, वह अमर होने में समर्थ हो जाता है, क्योंकि जब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब सुख-दु:ख को भोगने वाला कोई नहीं रहता–

हर रोज समुन्दर ने मुझे बहकाया, लेकिन एक भी मोती न पाया।
जब शाम हुई जाल बिछाया मैंने, किस्मत से एक शंख पाया।

वह शंख थे– बाबू वासुदेव सिंह। बाबू वासुदेव सिंह के जीवन का एक प्रसंग मुझे स्मरण आ रहा है। जब मैं काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हो गया, मेरे अजीज मित्र एवं सहयोगी थे उनके छोटे बेटे डॉ. हिमांशु शेखर सिंह। मेरे मन में जिज्ञासा हुई कि घर चल कर बाबू जी से मिलूँ और जब मिला, तो वह प्रसंग मुझे बरबस अपनी ओर खींच लेता है। उनका एक निठल्ला नौकर था। बहुत ही आलसी। वह समय से उठता ही नहीं था। मैं पहुँचा, तो उसको बिगड़ रहे थे। बाबू जी ने कहा– 'तुम्हें जब देखता हूँ, बैठे रहते हो। कुछ तो करो।' उसने पूछा– 'मैं क्या करूँ।' बाबू जी ने कहा– 'दुनिया में भाँति-भाँति के काम हैं। तुम अपनी बुद्धि, विवेक, ज्ञान, अनुभव और शारीरिक क्षमता के अनुसार जो कर सकते हो, करो।' पर इससे भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। उसकी परेशानी देख कर बाबू जी ने उससे फिर कहा– 'तू चोरी किया कर। आज से तू चोरी करना ही आरम्भ कर।' वह नौजवान नौकर भी सकते में आया, मैं भी सुनकर अचम्भित हो गया। मैंने पूछा– 'बाबू जी! आपने इसे चोरी करने की सीख क्यों दी? चोरी करना तो पाप है।'

बाबू जी ने मुस्कुराते हुए कहा– 'इस नौजवान के सामने पाप और पुण्य की समस्या नहीं है। समस्या तो यह है कि वह करे क्या? चोरी भी एक कार्य है। इसे काम चाहिए। इसलिए मैंने उसे और कुछ नहीं, तो चोरी करने का सुझाव दिया। किसी भी कार्य के लिए शरीर, मन, बुद्धि से पूर्व तैयारी करनी पड़ती है, जिसे काम की योजना कहेंगे। कर्म करते हुए भी मन, बुद्धि, शरीर तत्पर रहता है और कर्म की समाप्ति पर

* वरिष्ठ सह आचार्य– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भी मन, बुद्धि और शरीर से उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करते हैं। इसलिए किसी भी काम में शरीर, मन, बुद्धि को एकाग्रता से लगाये रखना ही बुद्धिमानी है। जहाँ तक चौर्य-कर्म की बात है, इसमें अधिक सतर्कता बरतनी पड़ती है और शरीर, मन, बुद्धि की भी जरूरत पड़ती है। यदि किसी ने चोरी करना ही आरम्भ किया हो, तो करने दो। उसे कर्म करने का अभ्यास तो होगा। आगे चलकर वह अपने विवेक से छोड़ भी सकता है। पहले उसे कर्मयोगी तो बनने दो। यहाँ सवाल कर्म के फल का नहीं, उसके समाजोपयोगी और समाज-विरोधी होने का नहीं, सवाल तो व्यक्ति की सक्रियता का है। बिना कर्म के जिया नहीं जा सकता। निठल्ला आदमी अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी बोझ होता है। कर्म से जिन्दगी आसान हो जाती है। बिना काम के दो पल काटना भी मुश्किल है। उससे व्यक्ति खाली मन होता है और खाली मन 'शैतान का घर' होता है। इसलिए कर्म ही पूजा है।

समाज में ऐसे लोग भी है, जिन्होंने काम करने का अभ्यास ही नहीं डाला, इसलिए वे आसान से आसान काम करने में भी डरते हैं। उन्हें किसी काम में आनन्द भी नहीं आता। दरअसल; कठिन से कठिन काम करने में व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। काम भी एक नशा है। जिन्हें काम करने का नशा होता है, वे बिना काम के दो पल नहीं बैठ सकते। दूसरों से बात करते-करते भी वे अपने काम की योजना बनाते रहते हैं। काम करने का अभ्यास हो जाने पर कोई भी काम कठिन नहीं लगता। काम भी यदि आस्था और लगन से किया जाय, तो उसका आनन्द ही आता है।' जैसा–

लाखों में इनके ख्वाब के काबिल बना दिया।
जिस दिल को 'आपने' देख लिया, दिल बना दिया।।

अन्त में, हिन्दी साहित्य के महानायक, कबीर-क्रान्ति के चिन्तक, बच्चों के प्यारे बाबू जी, बनारसवासियों के दिलों की धड़कन को पुण्यतिथि पर मेरा शत् शत् नमन।

●

प्रो. वासुदेव सिंह : मूल्यांकन और मूल्यांकन

डॉ. शशांक शुक्ल *

प्रो. वासुदेव सिंह का निधन हिन्दी आलोचना (विशेष तौर से बनारस आलोचना) के लिए भारी क्षति रही है। प्रो. सिंह काशी की विद्वत् परम्परा की दुर्लभ कड़ी थे, जो साहित्य को भाषा-समाज-संस्कृति-इतिहास व अन्य अनुशासनों के बीच रखकर देखते थे। कविता-केन्द्रित आलोचना की भी वे अन्तिम कड़ी थे और शास्त्रीय-समाजशास्त्रीय आलोचना की भी। शास्त्रीय आलोचना का फार्म रखकर भी उन्होंने कबीर व सन्त काव्य को अपने शोध व आलोचना का विषय बनाया, जिससे रूप और वस्तु में प्रगतिशीलता का प्रवाह अपने-आप समाविष्ट हो गया। प्रो. वासुदेव सिंह का व्यक्तित्व शास्त्रीयता और प्रगतिशीलता के समन्वय का अद्‌भुत उदाहरण है।

प्रो. वासुदेव सिंह को मैं 'कबीर वाङ्मय' के सम्पादक व कबीर-विशेषज्ञ के तौर पर जानता था। महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में अतिथि व्याख्याता के रूप में अध्यापन करने के दौरान उन्हें जानने-समझने का विशेष अवसर मिला। वैसे भी; व्यक्ति की पहचान उसकी कर्मस्थली में ही होती है। मेरा प्रथम साक्षात्कार प्रो. वासुदेव सिंह जी से उनके आवास पर हुआ। तुलसी पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 'काशी विद्यापीठ' में हो रहा था और मुझे उसमें संचालन का दायित्व निभाना था। संचालन जैसे गुरुतर कार्य का दायित्व मुझे कठिन जान पड़ा, अत: मैंने प्रो. सिंह से मिलने का निश्चय किया। अस्वस्थ होते हुए भी 'काशी और तुलसी' विषय पर प्रो. वासुदेव सिंह जी से बहुत ही दुर्लभ और उपयोगी जानकारी प्राप्त हुई और उस घटना के बाद से उनसे आत्मीय जुड़ाव भी।

इतिहास और हिन्दी आलोचना में विशेष रुचि के कारण प्रो. वासुदेव सिंह की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' मैंने एम.ए. के दौरान पढ़ी थी। पुस्तक में प्रो. सिंह का अनुसन्धायक और आलोचनात्मक रूप देखते ही बनता है। पुस्तक जहाँ एक ओर छात्रोपयोगी है, वहीं दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन दृष्टि से देखने की दृष्टि भी देती है। हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन और नामकरण हो या प्रमुख 'कालों' की प्रमुख प्रवृत्तियों के निर्धारण की बात हो, प्रो. वासुदेव सिंह ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और अन्य आलोचकों से असहमति व्यक्त करते हुए नयी दृष्टि से इतिहास को देखा है। इस पुस्तक का मूल्यांकन अभी शेष है...।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल प्रो. वासुदेव सिंह की आलोचना का प्रिय विषय रहा है तथा कबीर और तुलसी प्रिय कवि। कबीर और तुलसी– दोनों कवि किसी आलोचक को प्रिय भी हों और उन पर समान अधिकार व गति भी हो, यह दुर्लभ संयोग या तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में मिलता है या प्रो. वासुदेव सिंह में, जिसका प्रमाण है– कबीर और तुलसी पर एकाधिक पुस्तकों की रचना।

* सह आचार्य– हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सांबा, जम्मू।

शोध और आलोचना प्रो. वासुदेव सिंह की आलोचना का आधार रहा है। शोधपरक आलोचना में आप का मन अधिक रमा है। आलोचना और शोध को अलग-अलग विषय समझकर उनसे किनारा कर लेने वाले विद्वानों व आलोचकों को आपकी आलोचना एक जवाब देती है। आपके कृतित्व की समीक्षा के दौरान ही एक प्रश्न यह भी मन में उठता है कि दो दर्जन से अधिक पुस्तकों के लेखक प्रो. वासुदेव सिंह को वह सम्मान नहीं मिला, जिसके वह हकदार थे। कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि वह आलोचकों की उस 'टीम' के सदस्य कभी नहीं बने, जो 'मिश्रबन्धु किस्म' की आलोचना किया करती है अर्थात् आलोचना में बड़ाई-छोटाई की माप के लिए एक-दूसरे को अलग-अलग कोणों से देखने की कोशिश करती है?

अन्त में; यह कहना उचित जान पड़ता है कि कविता-केन्द्रित आलोचना में प्रो. वासुदेव सिंह की आलोचना का उचित निर्धारण हो सके, तभी हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

●

परमात्म ज्ञानी गुरु जी

*डॉ. राधेश्याम शर्मा**

सद्गुरु वह है, जो सच्चे ज्ञान का मार्ग आलोकित करता है। स्नातक एवं परास्नातक उपाधि हेतु काशी विद्यापीठ में अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि सच्चे ज्ञान की खोज में भक्ति साहित्य का मार्ग अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस विशिष्ट के अध्ययन में प्रकाश-पुञ्ज स्वरूप सद्गुरु डॉ. वासुदेव सिंह का सहज चित्र मेरे मानस-पटल पर उभर आता है। वह सौम्य चेहरा, जिससे सदैव शीतलता छिटकती थी, प्रसन्न मुखमण्डल देखकर मन प्रसन्न हो जाता था, कद-काठी, डील-डौल एवं चाल-ढ़ाल में एकदम संतुलित आकार। न कुछ ज्यादा न कुछ कम। संयत एवं मृदु सम्भाषण सुनकर कानों में अमृत-सा घुल जाता था। अत्यन्त स्नेहमयी दृष्टि, जो पड़ते ही परम शान्ति का आभास कराती थी। ऐसा ही कुछ नपा-तुला व्यक्तित्व था गुरु जी का, जिसमें गुरुता भी थी एवं गम्भीरता भी।

ज्ञान क्या है? ब्रह्म, जीव, जगत और माया का सम्बन्ध क्या है? आत्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध क्या है? आत्मा की पुकार परमात्मा तक कैसे पहुँचती है? आत्मा के चतुर्दिक आवरण किसका है? आत्मा-परमात्मा के मिलन में बाधक क्या है? ऐसे गूढ़ दार्शनिक विषयों के महासागर में अवगाहन किसी सच्चे गुरु की कृपा से ही सम्भव था। मेरी यह खुशकिस्मती है कि काशी विद्यापीठ के विद्यार्थी जीवन में, वर्ष १९८५ से वर्ष १९८९ तक, स्नातक एवं परास्नातक उपाधि प्राप्त करने तक, मुझे ऐसे ही सच्चे गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। गुरु जी का सान्निध्य मुझे विश्वविद्यालय से लेकर घर तक प्राप्त था, क्योंकि सौभाग्य से आपके छोटे लाड़ले डॉ. हिमांशु शेखर सिंह मेरे सहपाठी थे।

परमात्म ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। पन्द्रहवीं शती से लेकर अठारहवीं शदी तक, भक्ति आन्दोलन के विमल प्रचार-प्रसार के युग में, अधिकांश संत कवियों, सूफियों एवं वैष्णवों ने अपने दार्शनिक विचारों से हिन्दी साहित्य को परमात्म ज्ञान से आलोकित किया। गुरु जी का अध्ययन एवं अनुभव इस ओर अत्यन्त गहरा था। ऐसे रहस्यवादी विषयों पर इनका सतत् प्रवाहमय मार्गदर्शन हम जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त फलदायी था। भक्ति आन्दोलन से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती साहित्यकारों पर भी आपकी समालोचक दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट एवं निरपेक्ष थी, जिसका दिग्दर्शन हमें उनके द्वारा विरचित (हिन्दी साहित्य के) इतिहास-ग्रन्थ में होता है।

समय-बद्धता का जीवन में जो महत्त्व होता है, वह कोई आपसे सीखे। अपने अध्यापन-जीवन में आप समय के अनुशासन को मानते थे, इसलिए अध्ययन-सत्र के अवसान तक जहाँ अन्य अध्यापकों के निर्धारित पाठ्यक्रम आधे-अधूरे रहते, वहाँ पर आप अपने विषय के साथ पूरा-पूरा न्याय करते थे। आप

* वरिष्ठ उपनिरीक्षक, प्रज्ञान विभाग (उ.प्र.पु.)

अपने मृदुल व्यवहार एवं विषयवस्तु पर सम्यक् दृष्टि के कारण लोगों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय रहे। आपने काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। यह सब आपकी प्रतिभा का ही द्योतक था।

अध्यापक को अपनी बात विद्यार्थियों तक सम्प्रेषित करने की कला आनी चाहिए, आवश्यक नहीं कि आप अपने विषय के मूर्धन्य विद्वान् हों। आवश्यक है कि आपके पास जो कुछ भी ज्ञान हो, वह भलीभाँति विद्यार्थियों से बाँट सकें। कुछ लोग बहुत ज्यादा जानते हुए भी अपनी बात सम्प्रेषित नहीं कर पाते, कुछ लोग कम जानते हुए भी भलीभाँति समझाने की कला जानते हैं। सरस्वतीवरद्-पुत्र गुरु जी में ऐसा कोई अभाव नहीं था। विषय का सम्यक् ज्ञान और उसकी प्रेषणीयता उनके व्यक्तित्व के उज्ज्वल पक्ष थे। इसी कारण; ब्रह्म, जीव, जगत व माया के विषय में जो कुछ भी मैं समझ सका, उन्हीं के आशीर्वाद स्वरूप ही।

गुरु जी का शान्त, सरल एवं दिव्यालोकित मुखमण्डल आज भी चित्त-पट पर अपनी प्रखर आभा बिखेरता हुआ द्योतित है। मेरे ये दो शब्द उन्हें श्रद्धाञ्जलि स्वरूप हैं।

●

स्मृति के शब्द-सुमन : गुरुदेव को करते नमन

डॉ. आशुतोष कुमार तिवारी (विनीत वातायन)*

परमादरणीय गुरु जी की पन्द्रहवीं पुण्यतिथि इतनी जल्दी आ गई कि विश्वास नहीं होता कि गुरु जी के गोलोकवास की अवधि इतनी अधिक हो गई। क्योंकि गुरु जी के गोलोकगमनस्वरूप स्वयं की असहायावस्था आज भी अनवरत् भाव से मुझे आघातीत करती है। जब से गुरु जी का सान्निध्य मुझे मिला, तब से मेरा आत्मविश्वास निरन्तर बढ़ता गया और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि छोटी उम्र में अपने परमपिता को खो देने के कारण मुझ अवलम्बहीन बालक को परमगुरु के रूप में वह अवलम्ब मिल गया है, जो गुरु रूप में पितृवत प्रेरक, प्रोत्साहक और पथ-प्रदर्शक है।

काशी विद्यापीठ की स्नातक कक्षा में दाखिले के कुछ ही समय बाद गुरुदेव के स्नेहित सान्निध्य-लाभ का सुयोग जब प्राप्त हुआ, तो मुझे स्वाभाविक सुखद आश्चर्य हुआ। कारण गुरु जी का कठोर बाहरी रूप, जिसके सामने अच्छे-अच्छे उद्दण्ड छात्र-नेताओं की भी बोलती बन्द हो जाती थी, किन्तु जैसे-जैसे उनसे निकटता बढ़ती गई, उनकी कठोरता ही कोमलता लगने लगी। इस निकटता का श्रेय गुरुदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व के आकर्षण को तो है ही, साथ ही; इस निकटता के लिए सोपान सिद्ध हुआ– डॉ. हिमांशु शेखर सिंह का 'अनुराग'; जो गुरुदेव के कनिष्ठ पुत्र हैं और मेरे अभिन्न मित्र। छात्र जीवन से 'अनुराग-आशुतोष' की अभिन्नता से हम दोनों के ही परिचित भलीभाँति परिचित हैं।

इस अभिन्नतास्वरूप में, कालान्तर में, गुरु जी के पारिवारिक सदस्य के रूप में स्वयं को स्थापित कर, गुरुदेव ही नहीं, उनके परिवार के हर सदस्य के स्नेह का भागी बन गया। गुरुदेव के स्नेह और विश्वास को पाकर मेरा स्वाभाविक समर्पण-भाव बढ़ता गया। छात्र-जीवन से ही मेरा अधिकांश समय गुरुदेव के आवास पर ही कटता था। दोपहर के भोजन का तो मैं भागी था ही, रात को भी अक्सर आहार लेकर ही घर लौटता था। खाने के साथ-साथ गुरुदेव के श्रीमुख से परोसा 'साहित्य-स्वाद' पाना भी बड़े सुस्वादु भोजन का आनन्द देता।

गुरुदेव की गम्भीर आत्मीयता और विशुद्ध विश्वसनीयता का वशीभूत मैं आज भी हूँ। केवल उनके वाराणसी स्थित आवास पर ही नहीं, उनके पैतृक आवास सीतापुर में भी आयोजित हर अनुष्ठान में मेरी उपस्थिति अनिवार्य तो रहती ही; उक्त अनुष्ठान के व्यवस्थापन और समुचित समापन में भी मेरी भूमिका कम अनिवार्य नहीं रहती। गुरुदेव के परिवार के बीच बिताए क्षणों में ही नहीं, अपितु गुरुदेव के साथ ही हर साहित्यिक-पारिवारिक यात्रा में मुझे पुत्रवत् स्नेह और सम्मान मिलता। गुरुदेव वहाँ भी मेरी सुविधा-असुविधा का पूर्ण ध्यान रखते थे।

* वरिष्ठ प्रवक्ता– शिक्षा विभाग, दुर्गापुर इस्पात संयंत्र, दुर्गापुर (प. बं.)

सार्थक गुरुत्व-सम्पन्न मेरे गुरु जी का व्यक्तित्व विविधताओं से सम्पन्न था। उनकी विद्वत्ता या साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करना मेरी क्षमता से परे है। यह कार्य साहित्य-जगत् के सुधी विद्वान्-जन ही कर पायेंगे। सूरज को दिया दिखाने की धृष्टता मैं भला करूँ भी, तो कैसे? हाँ, इतना जरूर दृढ़ विश्वास के साथ कहता हूँ कि सूर, तुलसी, कबीर के वाङ्मय से हर शोध या शोधार्थी मेरे परमगुरु के समीक्षात्मक विचारों से अवश्य ही लाभान्वित होगा। आजीवन रचनाधर्मी गुरुदेव सतत् सृजनशील रहे। एक सुव्यवस्थित दिनचर्यानुकूल चलने वाले गुरु जी बड़े ही लगनशील साहित्य-प्रणेता थे। अपने चिंतन-मनन-अध्ययन-लेखन के क्षणों में उस विषय-वस्तु में निमग्न हो जाते, जिसका विवेचन-विश्लेषण उनका ध्येय होता। इस सन्दर्भ की एक छोटी-सी घटना सहज ही याद आती है। जब एक बार अम्मा (गुरुदेव की धर्मपत्नी) काफी अस्वस्थ हो गईं। मैं उनके पास बैठा उनकी अस्वस्थता पर बातें कर रहा था। आत्मीयतावश अम्मा अपनी अस्वस्थथा पर मुझसे चिन्ता प्रकट कर रही थीं। मैं भी दुखित मन से उनकी बातें सुन रहा था। मगर इन सब बातों से बेफिक्र पास के कमरे में बैठे गुरुदेव कबीर के एक दोहे के अनुभूतिभाव में डूबे हुए थे। मेरी आवाज पाते ही गुरुदेव ने मुझे आवाज देते हुए कहा– 'आशुतोष! इधर आओ। लोग कबीर को अनायास ही अनपढ़ सन्त कवि मानते हैं, जबकि कबीर उच्चकोटि के दर्शन-सम्पन्न दार्शनिक कहलाने के अधिकारी हैं। रोग, व्याधि, पीड़ा की बातें क्या सुननीं, आकर मेरे पास कबीर की दार्शनिकता समझो।' मेरी आँखें तो बीमार अम्मा पर टिकी हुई थीं, पर कान गुरुदेव के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन-स्वरूप उत्पन्न स्वर की ओर आकृष्ट थे। अम्मा हँसते हुए कहने लगीं– 'सुन लिया न अपने गुरु जी की बात को! मेरी खबर से बेखबर वे कबीर में डूबे हुए हैं।' गुरुदेव के प्रति अम्मा की उलाहना मुझे उचित भी लगी, मगर गुरुदेव से मुझे यह प्रेरणा भी सहजभाव से मिली कि–

कबीर को समझने के लिए कबीरमय हो जाइए।
ढूँढ़ने हों अगर मोती तो सागर के गर्भ समाइये।।

अम्मा और गुरुदेव के बीच होने वाली यदा-कदा मीठी नोक-झोंक भी बड़ी मजेदार होती। पान के शौकीन उन दोनों के ही अलग-अलग पानदान थे, जो उन्हीं के इर्द-गिर्द विराजमान रहते। लेकिन तब भी दोनों लोग एक दूसरे को उलाहना देते मिल जाते कि– 'तुमने मेरे पानदान से सुपारी ले ली, तो कभी पान के पत्ते क्यों निकाले और कभी सादी पत्ती कम कैसे हो गई?' पानप्रियता मेरी भी कमजोरी थी, मगर गुरुदेव के सामने पान खा नहीं सकता था। अम्मा के पानदान से ही ज्यादा सहारा मिलता। गुरुदेव के सम्मुख पान नहीं खाता, सो कभी-कभी गुरुदेव स्वयं पान खाकर पानदान मेरी ओर सरकाकर उठकर कमरे से बाहर चले जाते और मैं मौके का फायदा उठा, पान दबाकर दूसरी ओर निकल जाता, ताकि आमना-सामना न हो। गुरुदेव का यह स्नेहानुशासन मेरे लिए सदा अनुकरणीय रहा और मर्यादाओं के प्रति अटल आस्थावान बनाता गया।

आज हमारे बीच गुरुदेव की अनुपस्थिति एक अपूरणीय क्षति के समान चुभती है। मगर सशरीर न सही, गुरुदेव की उपस्थिति मुझे अविकल भाव से प्रतिक्षण ही प्रतीत होती है। साहित्य के साधक, विचारक और सुलझे हुए समीक्षक परम गुरुदेव की पुण्यतिथि पर हार्दिक प्रणाम करते हुए अपनी लेखनी को विराम देता हूँ, क्योंकि गुरुदेव से जुड़ी स्मृतियाँ इतने सीमित शब्दों में ही विराम कदापि नहीं ले सकतीं। स्मृति के ये शब्द-सुमन गुरुदेव को हार्दिक नमन करते हैं।

●

संकल्प का कोई विकल्प नहीं

डॉ. रमाकान्त मिश्र*

जब भी कभी जीवन की विसंगतियाँ मुझे विषम परिस्थितियों में उलझा देती हैं, मुझे प्रो. वासुदेव सिंह जी की याद स्वत: आ जाती है। मुझे पूरी तरह याद है– उनके साथ उठना-बैठना और उनसे जीवन की तमाम अड़चनों के सन्दर्भ में बातें करना। वे बहुत ही स्नेहपूर्वक समझाते-बुझाते और जीवन की राह सुझाते और कहते– 'मिश्रा! संकल्प का कोई विकल्प नहीं होता और कभी भी संकल्प का विकल्प खोजने का प्रयास नहीं करना चाहिए।'

प्रो. वासुदेव सिंह जी की पहुँच केवल साहित्यिक परिसीमन का मुहताज नहीं थी। वे तो चहुँमुखी ज्ञान के आगार थे। मैं स्वयं अपने को कभी कुछ तेज मानता था, किन्तु उनके पास जब पहुँचता, तो बहुत ही सामान्य और संतुलित धारा में वे किसी विषय पर बोलने लगते, तो मैं महसूस करता कि इतनी सामान्य बात पर कभी भी विचार क्यों नहीं किया गया? बिना इस छोटी बात पर विचार किए इसका महत्त्व ही क्या होगा?

सरलता की साक्षात् प्रतिमूर्ति और जीवन को बहुत करीने से सजाकर सँवारने वाले प्रो. वासुदेव सिंह के जीवन की बात सुन-सुन कर आश्चर्य होता कि आज भी वे कितने समर्थ और प्रासंगिक हैं। उन्हें कभी भी विपणन-जगत् से जोड़कर देखा ही नहीं जा सकता। अध्ययन और अध्यवसाय, मानों उनको वरदान के रूप में मिला था। जब भी उन्हें देखिए; तो किताबों के बीच, जब भी उनसे बात कीजिए; तो किताबों की और अगर पूँछिये, तो बस चर्चा किताबों की। इसका मतलब यह नहीं कि किताबें उनकी दुनिया थीं, वरन् मुझे ऐसा लगता है कि वे किताबों से न जाने कितना ज्ञान अर्जित कर, उसे अपनी अनुभूति के धरातल पर तराश कर, समाज के लिए उपयोगी बनाकर, बाँटना चाहते थे।

मुझे पूरी तरह याद है, मुझे आयोग में इण्टरव्यू के लिए जाना था। मेरे मन में एक विचार आया कि क्यों न चलकर ऐसे मनस्वी मनीषी से कुछ मन्त्र ले लिया जाय, जो काम आवे? मैंने सहज ही अपनी जिज्ञासा उनसे व्यक्त की। हमारी बात सुनकर पहले तो वे गम्भीर हो गए, किन्तु तुरन्त ही वे ठठाकर हँसने लगे और कहा कि- 'आप विशेषज्ञ की राय जानना चाहते हैं अभ्यर्थी के सम्बन्ध में?' और फिर; उन्होंने साक्षात्कार की तमाम बारीकियों से अवगत कराया और अंत में कहा कि साक्षात्कार तो ज्ञान पर ही आधृत हुआ करता है। ज्ञान ही प्रमुख है। हमारे बताने से क्या होगा? पहले से ही इस तथ्य के लिए आपको तैयार रहना चाहिए था। उनकी सहजता और सरलता का मानदण्ड यह था कि वे चाहे जितनी कड़वी बात कहते, लेकिन सुनने वाला हमेशा यही सोचता कि यह तो हमारे लिए बहुत ही उचित और उत्तम बात कही गयी

* पूर्व प्राचार्य– बाबू राम सिंह महाविद्यालय खाड़पायर, मुर्धवा, रेनूकूट, सोनभद्र

है। बिना किसी लावलस्कर के अपनी बात अवश्य कहते, लेकिन हमेशा सुनने वाले का ध्यान वे अवश्य रखते थे।

बात उन दिनों की है, जब उन्हें तुलसी साहित्य की सेवा के लिए सम्मानित किया गया था। मुझे उनके यहाँ गये कुछ दिन हो गये थे। जब शहर में इस बात की चर्चा सुनी, तो मैं भागा-भागा गया। मुझे कुछ अच्छा भी नहीं लग रहा था कि प्रो. साहब ने यह बात क्यों नहीं बतायी। अगर सम्मान पाने से पहले बताये होते, तो मैं भी उनके साथ गया होता। शायद उस समय मेरा भी महत्त्व कुछ बढ़ गया रहता। जब मैं उनके कक्ष में गया, तो वह सम्मान लेते हुए वाली फोटो वहाँ टँगी थी। प्रणाम करने के बाद हम लोग वहाँ बैठे। प्रणाम इसलिए कि मैं ब्राह्मण था। आचार्य जी ने इस नाते कभी भी मुझे पैर नहीं छूने दिया और वे यह भी चाहते कि मेरे प्रणाम से पहले ही वे हाँथ उठाएँ। जब तुलसी साहित्य के सम्मान पर बात उठी, तो उन्होंने बड़े ही सहज भाव से कहा कि– 'यह सम्मान तो उन्हें यूँ ही दे दिया गया, अन्यथा कहाँ तुलसी का साहित्य और कहाँ मेरा सम्मान?' हम सभी यह बात जानते थे कि आचार्य जी महाकवि तुलसीदास जी को हिन्दी साहित्य का सबसे अधिक ज्ञानी और सबसे अधिक पढ़ा-लिखा कवि मानते थे। अत: उनके समक्ष वे किसी की भी गणना नहीं करते थे। इसके साथ ही; यह भी अटल सत्य है कि वे तुलसी जी की रचनाओं पर सबसे अधिक अध्ययन करते थे। तुलसी पर वे न जाने कितना लिखना चाहते थे और तुलसी को वे न जाने कितना पहचानते थे, जानते थे।

सारस्वत-प्रतिभा-सम्पन्न यशस्वी साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह जी केवल हिन्दी के प्रख्यात् मनीषी नहीं थे, अपितु उन्हें अंग्रेजी का भी बहुत सूक्ष्म तथ्यात्मक बृहत् ज्ञान था। मुझे पूरी तरह याद है– हम एक निमन्त्रण-पत्र अंग्रेजी भाषा में छपवा रहे थे। काफी प्रयास किया और अपने हिसाब से हमने बहुत बढ़ियाँ निमन्त्रण-पत्र का मजमून बनाया। जब अन्तिम स्पर्श के लिए आचार्य जी को दिखाया, तो वे मुस्कुराये। मैं मुँह लगा था। उस निमन्त्रण-पत्र की काफी बड़वारगी बतायी। जब हमारी बात पूरी हो गयी, तब उन्होंने कहा कि निमन्त्रण-पत्र की भाषा व्याकरण की दृष्टि से पूरी तरह शुद्ध है, किन्तु जो विनम्रता इसमें होनी चाहिए, वह नम्रता इसमें नहीं है। मैं अवाक्, चुपचाप उन्हें निहारता रहा। उन्होंने अपनी कलम उठायी और उस निमंत्रण-पत्र का मजमून पूरा-का-पूरा बदल दिया। सचमुच! मैं स्वयं उस मजमून को पढ़कर आश्वस्त था, उसके अच्छा होने के प्रति।

उन दिनों, जब वे अस्वस्थ चल रहे थे, उनके छोटे पुत्र और हमारे मित्र हिमांशु से जानकारी मिली, तो मैं उन्हें देखने गया। काफी दुबले हो चले थे, लेकिन उनकी वाणी में अभी भी मुझे वही खनक और ओज सुनायी पड़ा था। उन्होंने मुझे ईमानदारीपूर्वक, निष्ठापूर्वक, पूरी सामर्थ्य के साथ काम करने की हिदायत दी थी और कहा था कि– 'पढ़ना बन्द मत करना। पूरे संकल्प के साथ पढ़ना, क्योंकि संकल्प का कोई विकल्प नहीं होता।' पंचतत्त्व में विलीन मूर्धन्य मनीषी प्रो. वासुदेव सिंह, जो अपने ज्ञान की पहचान से आज भी हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं, को शत्-शत् नमन।

●

हिन्दी-जगत् के तेज-निर्माण की बेदी ठण्डी पड़ गयी

*डॉ. सीता सिंह**

भारत के प्रसिद्ध और प्रतिभा-प्रभु साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह जी का स्वर्गवास हो गया– न जाने क्यों इस बात पर विश्वास नहीं होता। अपने हृदय को स्नेह-घर्षण से वे इतना पारदर्शक बना चुके थे कि उनके लिए इहलोक और परलोक– दोनों बराबर था और आत्मदेव की प्रेरणाओं के संकेतों पर पद रखकर वे आसमान में इतने ऊँचे उठकर लिख रहे थे कि बहुतों की प्रेरणा के निकट रहकर भी पहुँच की ऊँगलियों से ऊँचाई पर ही थे। अत: उन्हें और ऊँचे पर कोई नया घर ढूँढ़ने की जरूरत न थी। ऐसे समय पर यह कैसे मानें कि वे सचमुच किसी ऊँचाई के मतालशी थे और चले गये?

नक्षत्र और समुद्र नहीं मरते और वायु भी जीवित रहती है। तब वायु से बारीक भावों का धनी रहने के लिए जमीन पर जगह नहीं मिलेगी, इस नास्तिकता पर कौन विश्वास करेगा? अमर ऊँचे पर रहा करते हैं। उनकी कृतियों को अमर पाकर हम सन्त साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. वासुदेव सिंह जी को अमर पाते हैं। खुली आँखों में जब हमारी दृष्टि काशी से टकराकर आस-पास को जाती है, तब वह थककर लौट आती है। यह हम जानते हैं, किन्तु ज्यों ही आँखें बन्द होती हैं, हम उस मनीषी को अपने में हाजिर पाते हैं। एक कानाफूसी, फिर एक मनुहार, फिर एक पुकार, फिर एक हुँकार, फिर एक जोरदार चित्कार। हमारे वे सबके सब प्रयास, उनके लिए रहने वाली बेचैनी के। हमारे वे सब प्रयत्न वायु हमें वापस लौटा देती है। किन्तु; बिजली की चमक और बादलों की गरज से भी दूर गये हुए हमारे श्रद्धेय अनन्त मौन में जयशंकर प्रसाद जी के शब्दों में बोल उठते हैं–

मैंने तो एक बनाया है, चलकर देखो मेरा कुटीर।
यों कहकर श्रद्धा हाथ पकड़, मन को ले चली वहीं अधीर।।

साहित्य की सरस्वती नहीं रही। उसके रसों का प्राण, उसका आशीर्वाद हमने यहाँ पाया और यदि वही चले गये, तो भाषा में बाकी ही क्या रह गया? अमर तो मिटा नहीं करते, इसलिए वह मूर्धन्य साहित्यकार अमिट हैं, अक्षर हैं।

आदरणीय प्रो. सिंह साहित्य-उद्यान के वह पुष्प थे, जिसके रूप और सौरभ का संसार पर रौब था। वह गुलाब थे, जिसके चारों ओर काँटों की बाढ़ रहती है। उन्हें बन्धन में फँसाने का प्रयत्न करने वाले को शूली का शूल सहन करना ही पड़ता था। ऐसे मर्मज्ञ साहित्यकार को खोकर हमने साहित्य के क्षेत्र में अत्यन्त विद्वान्, गम्भीर प्रकृति, अपूर्व साहस, लगन, दृढ़ता और दूरदर्शिता की एक प्रतिमा को खो दिया है। उनके अभाव से जो घाव साहित्य में हुआ, वह सहसा भर नहीं सकता। वह अपने सानी आप ही थे। चाणक्य जैसे

* प्रवक्ता– हिन्दी विभाग, श्री बलदेव स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बड़ागाँव, वाराणसी

व्यक्ति बार-बार नहीं जन्मते। अभिमन्यु के समान साहित्य के चक्रव्यूह में घुसकर उखाड़-पछाड़ करने वाली वीरता विरलों को ही प्राप्त होती है। हिन्दी के परम प्रेरक पुरुष प्रो. वासुदेव सिंह जी के स्वर्गवास को धीरे-धीरे कई वर्ष बीत गये। काल गति से सरकता पुण्यतिथि का यह दिन हमारे सामने आ गया है और बड़ी निठुराई से उस भयानक हानि की याद दिला रहा है। उस दिन न केवल एक परिवार ने अपना सर्वस्व खोया, बल्कि हिन्दी-संसार ने अपना जाज्वल्य वर्तमान खोया, भारतीय साहित्य-जगत् ने एक आदर्श प्रेरक खोया, जिसकी उज्ज्वल पवित्रता, बेदाग ईमानदारी और निर्मल व्यवहार स्वयं पर कुरबान रही। २७ जनवरी की वह तारीख, क्या सन् २००७ के पहले भली कभी इतनी निष्ठुर हुई थी?

सन्त साहित्य मर्मज्ञ प्रो. वासुदेव सिंह जी के सन्दर्भ में कुछ भी लिखते समय मेरी कलम उसी तरह से असमर्थ हो जाती है, जैसे कोई बौना ऊँचे वृक्ष में लगे हुए फल को तोड़ने का प्रयास करता है और अन्त में उसे निराशा ही हाथ लगती है। वैसे ही; जैसे हम सूर्य की आराधना दीपक से करने का प्रयास करते हैं। जिस तरह फूल अपनी सुगन्धि का आधा हिस्सा साथ में अठखेलियाँ करने वाली वायु से पाते हैं और आधा हिस्सा उस जमीन से, जिसमें वे उगे हैं और रस खींच रहे हैं, उसी तरह महापुरुष अपना आधा देवत्व देश की कठोर और कठिन परिस्थितियों में से और आधा अपने हृदय की उच्च शक्ति से प्राप्त करते हैं। हृदय की आकांक्षाएँ और उन्हें काम में ले लेने वाली देश की परिस्थितियों को ही यह सौभ्गाय प्राप्त है कि वे अपने जमाने का एक महापुरुष, उस महापुरुष को बिना जाने, बिना सोचे और बिना मंजूर किये महान बना डाले और जब सजीवों का मस्ती की स्मृति ताजी करने वाले पत्थर या मिट्टी की मूरत पर एक अनोखा गुम्बज बनाकर उसके सामने सिर झुकाने को जी चाहता है, तब कोई अधम मुल्क ही हो सकता है कि जो उस देवता को भूल जाने का प्रयास करे, जिसे उसने अपनी बेड़ियों को तुड़वाने के लिए बनाया था और जिसके अमर हाथों से आने वाली सदी के लिए अपने आपको बनवाया था।

बिखरे हुए अमर पुष्पों में एक पुष्प– ईशा मसीह– ने एक बार कहा था– 'मैं वह रोटी हूँ, जो सीधी स्वर्ग से आती है। और जो इस रोटी को खाते हैं, वे अमर हो जाते हैं।' जब इस वाणी को राजनीतिज्ञों ने सुना, तो वे ऐसी बात कहने वाले देवदूत को ही खा गये। परिणाम स्वाभाविक ही हुआ। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ उन्हें ही खा गयीं और संसार दाँव-पेंचों का नर्क बन गया। जब इस वाणी को सिपाहियों ने सुना तो, तब उन्होंने हथेली पर प्राण, आँखों में देशाभिमान और हृदय में प्रभु को रखकर अपने को समय के द्वार पर खड़ा कर दिया। किन्तु जब इसी वाणी को सन्तों ने सुना, तब उन्होंने तत्त्व पहचाना। उन्होंने जाना कि मसीह खुद नहीं खाया जा सकता, उसकी प्रेरणा, उसके गुण और उसके कथन की निर्भीकता और उज्ज्वलता ही अपने में उतारी जा सकती है। मसीह के अवतरण में मुझे 'लेखक जीवन' की तस्वीर नजर आती है। साधारण कार्य से लगाकर साम्राज्यों तक का दिशादर्शन आज इस साहित्यकार की लेखनी कर रही है। 'अपनी रचनाओं में कलाकार स्वयं साकार होकर बैठता है'– इस कथन की सत्यता में हृदयवान को अविश्वास नहीं होता और मस्तिष्कवानों को इस कथन से सेहत मिलती है। साहित्य, वेदान्त, कला और जीवन के कितने ही हिस्से हम बेस्वाद बना चुके हैं। किन्तु जो शिल्पी अपने रंगों में अमर स्वर भर गये हैं और जो अपने स्वरों में रंग भरने में सफल हुए हैं, युग अपने हृदय की गाँठ में उन्हें बाँधकर रखता है।

हिन्दी-संसार के एक माने, मस्ताने और ऊँचे साहित्यकार को खोकर आज हिन्दी गरीब हो गई है– बहुत ही गरीब हो गई है। खड़ी बोली के वर्तमान युग के अध्ययनशील तरुणों से हम निवेदन करेंगे कि जब वे पुराना कचरा उठाकर फेंकने लगें, तब चुने हुए रत्नों में एक खास चीज बनाने के लिए वे प्रो. वासुदेव

सिंह जी की रचना अपने पास रख छोड़ें। कहना न होगा कि प्रो. वासुदेव सिंह जी की कृतियों से इस देश के हजारों अध्येता, शिक्षक एवं छात्र लाभान्वित हो रहे हैं।

परमात्मा से प्रार्थना है कि भारतीय साहित्य के इस यशस्वी विद्वान् की आत्मा को चिर शान्ति मिले। उनका अवसान हमें इन पंक्तियों की याद दिलाता है–

बड़े गौर से सुन रहा था जमाना। तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते।।

आज पुण्यतिथि है। मैं उन्हें श्रद्धा से मस्तक झुकाती हूँ। उनके चरणों में हमारा वन्दन। भक्तों का वही बाना, संयोग पर वही आत्मश्रद्धा और मनोभावों की वही बलि-पीठिका हिन्दी-जगत् में आज कोने-कोने से प्रख्यात् साहित्यकार को पुकार रही है।

●

पंचम सोपान
समीक्षा

हिन्दी-शोध के प्रतिमान : प्रो. वासुदेव सिंह

प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी *

श्रीवासुदेवसिंहाय सारस्वतसुगन्धकः ।
विदुषे कीर्ति शेषाय दीयते सुमनोऽञ्जलिः ।।
तस्य पूण्यतिथौ काश्यां स्मारिकेयं प्रकाशिता ।
सत्सङ्कल्पमनःसूता हेतुभूता चिरस्मृतेः ।।

प्रो. वासुदेव सिंह की गणना हिन्दी के 'पढ़ने-लिखने' वाले आचार्यों में होती है (थी)। वे सच्चे अर्थों में अध्येता थे, शोधार्थी थे; क्योंकि जीवन के अन्तिम क्षणों तक उनकी जिज्ञासु-प्रकृति बनी रही। मैं उनके बहुत पीछे काशी विद्यापीठ (संस्कृत-विभाग) में आया। शीघ्र ही मैं उनको एक प्रबुद्ध अध्यापक के रूप में पहचानने लगा। मेरा उनसे प्रारम्भिक सामान्य परिचय प्रगाढ़ सम्बन्ध में तब परिणमित हुआ, जब परिसर में मैं उनके ही आवास के पास के आवास में आवण्टित होकर रहने लगा। उनकी सेवानिवृत्ति के पूर्व तक इस रूप में मेरा उनसे सान्निध्य बना रहा। बाद में, परिसर छोड़कर निजी आवास में जाने पर भी, प्रायः उनसे मुलाकात होती रहती थी।

मेरे आदरणीय मामा श्री राजदेव मिश्र (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), जो रामायण मेला, अयोध्या के आयोजकों में से हैं, उन्हें बहुत मानते थे। वे व्याख्यान हेतु उन्हें रामायण मेला की विद्वद्गोष्ठी में आमन्त्रित करते थे। 'तुलसी-दल' (रामायण मेला, अयोध्या की प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली स्मारिका) में उनका शोधलेख छापते थे। कई वर्षों तो एतद्विषयक पत्र मेरे माध्यम से ही प्रो. वासुदेव सिंह जी के हाथ में पहुँचता था। चूँकि हम दोनों ही साहित्यिक रुचि के हैं, अतः ऐसे अवसरों पर वे मेरे साथ घण्टों चर्चाएँ किया करते थे। हिन्दी भाषा-साहित्य के विद्वान् तो वे थे ही, संस्कृत में भी उनकी गहरी रुचि थी। उनका कहना था कि संस्कृत तो हमारा मूल है, हिन्दी में 'कुछ' करने के लिए संस्कृत में भी अच्छी पकड़ होनी चाहिए। एक बार उन्होंने मुझसे 'अध्वर' शब्द के विषय में पर्याप्त चर्चा की थी।

हिन्दी सन्त साहित्य के उच्चकोटि के व्याख्याता थे प्रो. वासुदेव सिंह जी। उनकी तुलसी-साहित्य की मर्मज्ञता से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। किन्तु 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद' जैसे गूढ़ विषय पर उनका शोधकार्य देखकर मैं उनकी शोध-प्रतिभा और वैचारिक प्रौढ़ि का कायल हूँ। हिन्दी शोध के लिए यह उनका विलक्षण अवदान है। अपभ्रंश भाषा में उनकी पारंगता और जैन-दर्शन में उनका गहरा प्रवेश– दोनों का मणिकाञ्चन संयोग इस शोध-ग्रन्थ में अपूर्व उत्कर्ष प्राप्त कर रहा है। शोध-विषयक अध्यवसाय और

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वैदुष्यपूर्ण विवेचना देखनी हो, सीखनी हो, तो प्रो. वासुदेव सिंह की इस महनीय कृति का अवलोकन तथा अनुशीलन करना चाहिए।

प्रो. वासुदेव सिंह ने 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' की खोज में इन दोनों भाषाओं के तत्कालीन साहित्य को खूब खँगाला। उपनिषद् साहित्य में इस रहस्यवाद की जड़ें ढूँढ़ निकालीं। उन्हें जहाँ भी ऐसे साहित्य अथवा एतत्सम्बद्ध ग्रन्थादि सामग्री होने की तनिक भी गंध मिलती, वे आनन-फानन में वहाँ जा धमकते और कोई-न-कोई रत्न ढूँढ़ ही निकालते। इस सिलसिले में उन्होंने राजस्थान के पोथीखानों में जमकर छँटाई-चुनाई की। उनकी इस शोध-प्रवृत्ति की यायावरी का लोहा मानना ही पड़ेगा। इस प्रयत्न में उन्होंने राजस्थान के ग्रन्थालयों (विशेषतया जैन-शास्त्र ग्रन्थागारों) से प्रथम बार कुछ ऐसी रचनाएँ अपभ्रंश और हिन्दी की खोज निकालीं, जो विद्वानों के संज्ञान में न थीं। कुछ प्रमुख कृतियों का विवरण इस प्रकार है–

अपभ्रंश

काव्य/ग्रन्थ	**कवि/ग्रन्थकर्ता**
आणंदा	आनन्दतिलक
दोहाणुवेहा	लक्ष्मीचन्द
दोहा पाहुड़	महयंदिण मुनि
आत्मप्रतिबोध जयमाल	छीहल

हिन्दी

श्री चूनरी	भगवतीदास
स्फुट पद	रूपचन्द
दोहा परमार्थ	रूपचन्द
अध्यात्म सवैया	रूपचन्द
खटोलना गीत	रूपचन्द
मनकरहा रास	ब्रह्मदीप
स्फुट पद	ब्रह्मदीप
समाधितन्त्र	जसविजय उपाध्याय
उपदेश दोहा शतक	पाण्डे हेमराज
अध्यात्म पंचासिका दोहा	द्यानित राय
फुटकल पद	द्यानित राय

प्रो. सिंह ने उपर्युक्त रचनाओं के चुने हुए अंशों का संग्रह अपने इस शोध-ग्रन्थ के अन्त में, परिशिष्ट में, किया है। ये सभी रचनाएँ हस्तलिखित रूप में हैं और तब तक कहीं प्रकाशित नहीं हुई थीं। प्रो. सिंह ने इन सभी का अध्ययन कर, इनसे प्राप्त तथ्यों का विश्लेषणापूर्वक उपयोग अपने शोध-ग्रन्थ में किया है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने जैन आचार्य-कवियों के रहस्यवाद को उपनिषदों के अनिर्वचनीय सूक्ष्म और गूढ़ (गुह्य) ज्ञान को माना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कई उपनिषदों के मन्त्र उद्धृत किये हैं–

(क) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैत्तरीय. ४.१)

(ख) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।। (कठ., २.३.१२)

(ग) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
भान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।। (मुण्डक., ३.१.८)

(घ) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो । (केन. १.३)

इस परम गुह्य का ईषदाख्यान संकेत भी रहस्य(वाद) में लिपटा हुआ उपनिषदों में ही प्राप्त होता है–

(क) अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।। (श्वेता. ३.१९)

(ख) य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्।
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।। (श्वेता. ४.१)

प्रो. सिंह ने विषय-विमर्श करते हुए यथावसर विद्वानों के मत की आलोचना करने में भी कोई सङ्कोच नहीं किया है। उन्होंने उपनिषदों में रहस्यवाद के बीच की गवेषणा करते हुए लिखा है– ''मेरा अपना विचार तो यह है कि जिस समय रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रकाण्ड पण्डित और समर्थ विवेचक रहस्यवाद को विदेशी विचारधारा और 'देशी वेष में विदेशी वस्तु' कहकर विरोध कर रहे थे, उस समय उनकी दृष्टि में अपनी प्राचीन औपनिषदिक परम्परा नहीं थी। आपने प्रमुख रूप से अपने समय के उन नवयुवक कवियों का विरोध एवं निन्दा की, जो रहस्यवाद के नाम पर अस्पष्ट और दूरारूढ़ कल्पनाएँ करके अटपटे और अर्थहीन काव्य की सर्जना कर रहे थे।''[१]

प्रो. सिंह ने 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया है। उनके अनुसार, अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है। यह एक ऐसी अनुभूति है, जो साधक के अन्तस् में जाग्रत होकर अखिल विश्व को उसके लिए ब्रह्ममय कर देती है...। बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय बन जाता है।... इन्द्रिय और मन के व्यापार विरत हो जाते हैं। आत्मा निर्मल होकर क्रमशः उस स्तर पर पहुँच जाता है, 'जहं मण पवण न संचरइ' और 'जहं रवि ससि नाह पवेस।' यह 'रहस्यवाद' अथवा 'गुह्य ज्ञान' उस साधना के लिए प्रयुक्त होता था, जो समस्त बाह्य आडम्बरों का विरोध करती थी। साधकों ने इसे ही 'सहजानुभूति' अथवा 'स्वसंवेद्यज्ञान' कहा है। वस्तुतः रहस्यवाद अनिर्वचनीय है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने, 'क्या जैनदर्शन में रहस्यवाद सम्भव है?'– शीर्षक के अन्तर्गत, आस्तिकता और नास्तिकता का शास्त्रीय विवेचन करते हुए इस विषय की गहरी छानबीन की है। इनका स्पष्ट मत है कि जैन मत भले ही वेद को न मानता हो, अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों की दुहाई भले ही न देता हो, किन्तु उसे निरीश्वरवादी अथवा परलोक में विश्वास न करने वाला मत नहीं कहा जा सकता।[२] आगे इन्होंने प्रसिद्ध प्राच्यविद् और विचारक डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री का मत[३] उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को 'नास्तिक' कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत; हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है। जैन रहस्यवाद के प्रवर्तक कुन्दकुन्दाचार्य को उद्धृत[४] करते हुए प्रो. सिंह ने जैन मत में आत्मा की तीन अवस्थाओं– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा– का उल्लेख किया है।

वस्तुतः जैन मुनियों ने सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए परमतत्व के ज्ञान और प्राप्ति के लिए, उसी साधना-पथ को अपनाया, जिसे 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने बाह्याडम्बरों,

रूढ़िवादिताओं और पाषण्डों का विरोध किया। शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र माना। भौतिक शरीर और आत्मा में अन्तर स्पष्ट करते हुए विराट् तत्त्व का निवास इसी शरीर में बताया। मुनि योगीन्दु के अनुसार, देह रूपी देवालय में ही अनादि और अनन्त परमात्मा का वास है, जो 'केवल-ज्ञान' से स्फुरित होता है–

देहा देवलि जो बसइ देउ अणाइ अणंतु।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु।।[५]

जैन मत में पाप और पुण्य– दोनों की नि:सारता स्पष्टत: मानी गयी है। दोनों ही बन्धन-स्वरूप हैं। पाप यदि लोहे की बेड़ी है, तो पुण्य सोने की बेड़ी। साधना-पथ पर अग्रसर होने वाले आत्मा के लिए दोनों अन्तराय बन कर आते हैं। योगी को अज्ञान, मिथ्यात्व, पाप-पुण्य का सर्वथा परित्याग करके, योगस्थ होकर, आत्मध्यान में लीन रहना चाहिए। पाप-पुण्य को बराबर करके, मन से निकाले बिना, भवसिन्धु को पार नहीं किया जा सकता–

पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिन्थु।
कणयलोहणियलइं जियहु किं ण कुणहिं पयबन्धु।।[६]

जैन रहस्यवाद के स्वरूप की आलोचना कर उसका विशद् प्रकाशन करने के पश्चात् प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने इस शोध-ग्रन्थ में जैन रहस्यवादी कवियों और उनके काव्यों का तात्त्विक परिचय दिया है। उन्होंने प्राय: सत्रह कवियों, जिन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में रचनाएँ की हैं, के काव्यों का उल्लेख करते हुए उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रथम रहस्यवादी जैन आचार्य कवि थे। परवर्ती जैन कवियों ने इन्हीं की रहस्यवादी विचारधारा को अपनाते हुए अपनी कृतियों में रहस्यवाद का पुट दिया। कुन्दकुन्दाचार्य ने अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया है–

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थपरो झाइज्जइ अंतोवाएण चएहि बहिरप्पा।।[७]

मुनि योगीन्दु ने परमात्मा को 'निरंजन देव' कहा है। निरंजन का उनका वर्णन परम रहस्यवादी है। जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है, जन्म-मरण से परे है; जिसमें क्रोध, मोह, मद, माया, मान का अभाव है और जो पाप-पुण्य, राग-द्वेष, हर्ष-विषाद आदि भावों से अलिप्त है, वह 'निरंजन' है–

जासु ण वण्णु ण गन्धु रसु जासु ण सुद्दु ण पासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णावि णाउ णिरंजणु तासु।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ।।[८]

प्रो. सिंह ने इसी प्रकार, जैन आचार्य कवियों की रचनाओं का अवगाहन करते हुए, निदर्शन रूप में, उनके प्रमुख स्थलों को उद्धृत करते हुए, जैन रहस्यवाद का सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने परवर्ती अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य पर इसके व्यापक प्रभाव का आकलन भी किया है। इस शोध-ग्रन्थ में, इस क्रम में, जैन काव्यों के साथ सिद्ध साहित्य, नाथ योगी सम्प्रदाय के साहित्य और हिन्दी सन्त काव्य का

तुलनात्मक विमर्श भी सुविस्तृत फलक पर किया है। उन्होंने सन्त कबीर और सन्त आानन्दघन की रचनाओं और वचनों में पूर्ववर्ती जैन-आचार्य कवियों के व्यापक प्रभाव को रेखाङ्कित किया है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने 'संक्षेपतया' अपने शोध-निष्कर्ष को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रदर्शित किया है। उनका अनुभव है कि अभी भी अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन काव्य प्रभूत संख्या में अनखोजे तथा उपेक्षित पड़े हैं। इन्हें प्रकाश में लाकर हिन्दी साहित्य का इतिहास पुन: लिखा जाना चाहिए।

जैन आचार्य कवियों की रचनाएँ शुष्क उपदेशों और नीरस रहस्यवादी सिद्धान्तों से ही नहीं भरी पड़ी हैं, अपितु उनमें भी काव्यरस का चरम परिपाक है।

अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवादी काव्य की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उनमें स्वानुभूत गुह्य साधना से आरम्भ कर परवर्ती साधना के विविध आयामों का निरूपण हुआ है।

हिन्दी सन्त कवियों, विशेषत: कबीरदास की विचारधारा की अजस्रता में सिद्धों और नाथ योगियों के अतिरिक्त रहस्यवादी जैन आचार्य कवियों का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। इनके विचारों में परस्पर अद्‌भुत साम्य मिलता है।

नि:सन्देह हिन्दी के यशस्वी विद्वान् तथा काशी विद्यापीठ, वाराणसी के प्राक्तन आचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष कीर्तिशेष प्रो. वासुदेव सिंह जी एक सहृदय समीक्षक, मौलिक गवेषक, उच्चकोटि के विचारक, साहित्य के निपुण व्याख्याता और लब्धप्रतिष्ठ लेखक थे। इस लघुकाय लेख में उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व का विशद् उन्मीलन तो सम्भव न था, किन्तु जैनदर्शन की पृष्ठभूमि पर उनके द्वारा अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन सन्त कवियों की कुछ रचनाओं के अंशमात्र पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास करके उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित की गयी। आशा है कि हिन्दी के शोधार्थियों द्वारा प्रो. वासुदेव सिंह के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की व्यापक समीक्षा की जायेगी।

।।इति शम्।।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. ६-७
२. वही, पृ. ११
३. ''यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द– 'आस्ति, नास्ति दिष्टं मति:।' (पा. ४.४.६०) सूत्र के अनुसार बने हैं। इनका मौलिक अर्थ है– परलोक की सत्ता को मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला 'नास्तिक' कहलाता था।''– वही, पृ. ११
४. अक्खाणि बहिरप्पा अन्तर अप्पा हु अप्प संकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। मोक्ख पाहुड़– ५
५. मुनि योगीन्दु कृत 'परमात्मप्रकाश, ३३।
६. देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा', २११
७. कुन्दकुन्दाचार्य– मोक्ष पाहुड़, ४
८. मुनि योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, प्रथम महाधिकार, १९, २०, २१

प्रो. वासुदेव सिंह की शोध-कृति

अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद

डॉ. अवधेश सिंह *

'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग हिन्दी में नया नहीं है। यह अंग्रेजी के 'मिस्टीसिज़्म' के तौर पर गढ़ा गया शब्द है। ऋषियों व सन्तों ने कहा है कि यह एक ऐसी अनुभूति है, जो अनुभव करने वाला ही जान पाता है–

जाकी लागी सो लखै, कै जिहि लागी सोय।

इसी को कबीर ने कहा है कि 'अनुभव करने वाला' के अतिरिक्त अनुभव कराने वाला 'गुरु' ही इसे समझ सकता है। वस्तुत: यह 'गूँगे का गुड़' है। साधारण नित्य की बोल-चाल की भाषा में उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं, वह उस श्रेणी का अनुभव नहीं। वह ऐसा सम्वेदन है, जो तद्व्यावृत्ति के द्वारा कुछ-कुछ बताया तो जा सकता है, लेकिन स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता–

ज्यों गूंगे मीठे फल को रस, अन्तरगत ही भावै। (सूरदास)

यह एक स्वसंवेद्य ज्ञान है। इसी स्वसंवेद्य ज्ञान को अपभ्रंश में 'सूसंवेद' कहा गया है। जैन साधकों ने भी इसे अपने ढंग से कहने का प्रयास किया है।

रहस्य-साधना की परम्परा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषद् इस साधना के आदि स्रोत बताए गए हैं। इसके पश्चात् योगियों, तांत्रिकों, सिद्धों, नाथों और हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं के सन्तों में अविच्छिन्न रूप से यह साधना-पद्धति कई शताब्दियों तक प्रवहमान रही। मध्यकालीन काव्य-साधना में इस पद्धति को विशेष बल मिला।

जैन दर्शन, अन्य दर्शनों से मूलत: भिन्न है। उनकी आत्मा-परमात्मा, माया-मोक्ष आदि से सम्बन्धित धारणाएँ भी अन्य साधना-सम्प्रदायों से नितान्त भिन्न हैं। अत: जैन साहित्य में रहस्य-साधना का आरम्भ व विकास भी दूसरे ढंग से हुआ है। किन्तु, साहचर्य का भाव अवश्यंभावी होता है। प्राय: सभी जाने-अनजाने एक-दूसरे का भाव ग्रहण कर ही लेते हैं। सभी देशों के दर्शन व संस्कृति के इतिहास में इस प्रभाव-ग्रहण के उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। इसी प्रकार, जैन-रहस्यवादियों ने भी अपने मूल रूप के साथ-साथ जाने-अनजाने सिद्धों, नाथों और हिन्दी सन्त कवियों की रहस्य-साधना से प्रभाव ग्रहण कर ही लिया। इन्हीं तथ्यों के अध्ययन पर आधारित अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह ने **'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद'** शीर्षक से। अपने शोध-कार्य की कहानी बताते हुए गुरुवर कहा करते थे–

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

''सन् १९५७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आचार्यवर हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में शोध-कार्य आरम्भ हुआ, किन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९६० में मई-जून में द्विवेदी जी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। ऐसे समय में, शोध-छात्र के रूप में उन्हें काफी परेशानी झेलनी पड़ी। किन्तु, आचार्य द्विवेदी ने इस मानसिक परेशानी के दौर में भी उन्हें काफी सम्बल प्रदान किया व दिशा-निर्देशन देते रहे। इसी समय, डॉ. मुंशीराम शर्मा जी ने अपनी कृपा-दृष्टि से उन्हें अपने निर्देशन में कार्य करने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार, पूज्य द्विवेदी जी एवं डॉ. मुंशीराम शर्मा की कृपा, सहयोग व आशीर्वाद से उनका यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ।''

इसी सम्बन्ध में, गुरु जी अपने शोध का अनुभव सुनाते हुए, हम सभी विद्यार्थियों से कहा करते थे कि शोध से सम्बन्धित सामग्री का सर्वथा अभाव होने के कारण उनके लिए शोध से सम्बन्धित सामग्री को संकलित करना भी एक बड़ी चुनौती थी। ऐसे समय में द्विवेदी जी ने उन्हें सलाह दी कि यदि अच्छा कार्य करना है, तो तुम्हें यात्राएँ करनी पड़ेंगी। उनके इस आदेश-निर्देश का अनुपालन करते हुए गुरु जी ने तमाम जैनाचार्यों से सम्पर्क करना प्रारम्भ किया। इसी सम्पर्क-अभियान के दौरान उनकी मुलाकात हुई पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ अध्यक्ष– दिगम्बर जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर से, जिन्होंने जयपुर के सभी हस्तलिखित ग्रन्थों के भाण्डारों को उन्हें सुलभ करा दिया। लगभग तीन माह तक वहीं जयपुर के भण्डारों के बीच गुरु जी ने तमाम हस्तलिखित सामग्री का संकलन किया। जयपुर में रहकर उन्होंने आमेर शास्त्र भाण्डार, दिगम्बर जैन मन्दिर बाड़ा, तेरह पंथियों का शास्त्र भाण्डार, छावड़ों के मन्दिर का शास्त्र भाण्डार, बधीचन्द्र मन्दिर का शास्त्र भाण्डार, लूणकरण जी पाण्ड्या मन्दिर का शास्त्र भाण्डार और ठोलियों के मन्दिर का शास्त्र भाण्डार भी देखा व अपने विषय से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया। इसी जयपुर-प्रवास के दौरान 'श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी' नामक संस्था के अधिकारी श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल तथा जैन साहित्य के उद्धारक श्री अगरचन्द नाहटा के माध्यम से पर्याप्त सामग्री मिली। खोजी प्रवृत्ति वाले हमारे गुरु जी का सामग्री-संकलन का अभियान चलता रहा और 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ' के बिना पर उन्हें अपने विषय से सम्बन्धित सामग्री मिलती गई। इसी सिलसिले में उन्होंने राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर के श्री ए.एन. उपाध्याय तथा प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर के संचालक डॉ. हीरालाल ओझा से भी सम्पर्क स्थापित किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के प्रोफेसर श्री महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य व भदैनी स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री व नागरी प्रचारिणी सभा आदि के माध्यम से उन्होंने जैन रहस्यवाद सम्बन्धी अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का संचय करके सिद्ध कर दिया कि 'असम्भव कुछ भी नहीं होता।'

अपनी इस शोध-कार्य की कहानी वो हम सब विद्यार्थियों को प्रेरणा देने के लिए सुनाया करते थे। उनका कहना था कि– 'उस समय अपेक्षाकृत कम सुविधा-सम्पन्न स्थिति में जब मैं इतनी दुर्लभ सामग्री को एकत्रित कर सकता हूँ, तो तुम सब आज के विद्यार्थी अपेक्षाकृत अधिक सुविधा-सम्पन्न समय में क्यों नहीं?' उनका कहना था कि आज के विद्यार्थी शोध के मूल मंतव्य से भटक गए हैं। अब शोध के नाम पर सिर्फ डिग्री प्राप्त करने की औपचारिकता मात्र रह गई है।

आदरणीय गुरुवर के उक्त शोध-प्रबन्ध, जो कि कालान्तर में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ, में पाँच खण्ड हैं, जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम

खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम, पृष्ठभूमि से सम्बन्धित अध्याय में रहस्यवाद, रहस्य-भावना व रहस्यवादी काव्य की परम्परा का उल्लेख है। दूसरे अध्याय का शीर्षक है– क्या जैन दर्शन में रहस्यवाद सम्भव है? क्योंकि जैन दर्शन एक नास्तिक दर्शन है, अत: एक नास्तिक दर्शन में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचार कैसे? द्वितीय खण्ड में जैन रहस्यवादी कवियों व काव्यों की चर्चा है। तीसरा खण्ड सिद्धांत-विवेचन से सम्बन्धित है। चौथे अध्याय में नय-द्वय पर विचार किया गया है व पाँचवें अध्याय में इत्य-व्यवस्था का विवेचन है। छठें अध्याय में जैन साधकों द्वारा आत्मा के स्वरूप-कथन पर विचार किया गया है। सातवें अध्याय में मोक्ष अथवा परमात्मपद-प्राप्ति के साधनों की चर्चा की गई है। आठवें अध्याय में जैन काव्य व सिद्ध काव्य की तुलना है। नवें अध्याय में जैन काव्य और नाथयोगी सम्प्रदाय की तुलना है। दसवें अध्याय में जैन काव्य व हिन्दी संत काव्य का तुलनात्मक अध्ययन है। ग्यारहवें अध्याय में मध्यकालीन धर्म-साधना में प्रयुक्त शब्दों का इतिहास दिया गया है तथा बारहवें अध्याय में पूरे अध्ययन का निष्कर्ष है। अन्त में; एक परिशिष्ट भी संलग्न है, जिसमें खोज में प्राप्त अपभ्रंश व हिन्दी की लगभग पन्द्रह नई रचनाओं के हस्तलेखों से उद्धृत अंश दिए गए हैं। पुस्तक रूप में आयी इस शोध-कृति की भूमिका आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है।

'नमन' पत्रिका के प्रवेशांक में डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी, आचार्य– संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ ने उक्त कृति की काफी गम्भीर व सारग्राही समीक्षा प्रस्तुत की थी। पूर्ण विश्वास है कि अपभ्रंश साहित्य के अध्येताओं के लिए उक्त सामग्री काफी महत्त्वपूर्ण है। मेरी अभिलाषा है कि उक्त कृति का पुन: प्रकाशन हो, क्योंकि इतना महत्त्वपूर्ण कार्य अब अनुपलब्ध है। आशा है कि उनके पुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह व पुत्री डॉ. श्रद्धा सिंह इस दिशा में कुछ विचार करेंगे। वैसे, गुरु जी का प्रिय विद्यार्थी होने के कारण भविष्य में मैं भी इस दिशा में विचार कर सकता हूँ।

मौलिक प्रतिभा के धनी, परिश्रमी तथा संकल्पधर्मी आदरणीय गुरुवव प्रो. वासुदेव सिंह को शत्-शत् नमन।

●

हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल : एक विवेचन

प्रो. युगेश्वर *

'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल' डॉ. वासुदेव सिंह के अध्यापन-काल की पुस्तक है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत भी हुई थी। यह ग्रन्थ इतिहास का एक खण्ड है। इस विषय की बहुविध सामग्री का संकलन इस ग्रन्थ में हुआ है। २५५ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में अनेक इतिहासों का संग्रह है। पुस्तक कुल नौ शीर्षकों में बँटी है– (१) हिन्दी का विस्तार-क्षेत्र और उद्‌भव काल, (२) राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, (३) काल-निर्धारण तथा नामकरण, (४) उद्‌भवकालीन काव्य-रूप, (५) धार्मिक-आध्यात्मिक काव्य, (६) प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य, (७) श्रृंगारिक एवं रोमांचक काव्य, (८) खड़ी बोली तथा दक्खिनी का साहित्य और (९) उद्‌भवकालीन गद्य। इन नौ शीर्षकों में कुछ भी छूटा नहीं है। सब आ गया है। किसी भी पाठक की सन्तुष्टि के लिए पूरी सामग्री है। लेखक ने ठीक ही कहा है– 'सर्वांगीण विवेचन है।' हिन्दी इतिहास-लेखन में दक्खिनी हिन्दी साहित्य प्राय: छूट जाता है। यह साहित्य उत्तर का ही दक्खिनी रूप है। इसमें दक्खिन ने कुछ जोड़ा है, नया किया है– ऐसा नहीं लगता है। दक्खिनी के अधिकतर लेखक उत्तर से गये मुसलमान हैं। इनकी अभिव्यक्ति में उत्तर का इस्लामी या उर्दू-फारसी का स्वर अधिक मुखरित है।

लोग समझते हैं, गद्य का विकास मुख्यत: १९वीं शताब्दी में हुआ है। यह सच है। किन्तु, लेखक ने प्राचीन साहित्य में भी छिटपुट गद्य को खोज निकाला है। इसमें श्रीराम शर्मा, राहुल सांकृत्यायन एवं बाबूराम सक्सेना के ग्रन्थ अधिक उत्कृष्टता से सामने आए हैं।

लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में १०७ ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं का उपयोग किया है। किसी भी नदी का उद्‌गम देखिए– उसकी धारा बड़ी पतली होगी। नदी कम और बालू, मिट्टी, पहाड़, पौधे आदि अधिक होंगे। यह पुस्तक उद्‌भव अर्थात् स्रोतवाली है। अत: इसमें हिन्दी कम, अपभ्रंश आदि अधिक हो, तो आश्चर्य नहीं। स्रोत की खोज भी कठिन होती है। इसमें अपभ्रंश एवं जैन साहित्य के पर्वत से हिन्दी का स्रोत निकाला गया है। अत: जैन साहित्य का भी अच्छा संग्रह है।

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने भी अपभ्रंश को 'हिन्दी का आदि' कहा है। डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने अवहट्ट (अपभ्रंश का परवर्ती रूप) में हिन्दी का स्रोत खोजा है। यही काम राहुल सांकृत्यायन ने किया है। इस प्रक्रिया में अपभ्रंश अधिक हो जाता है। सिद्ध साहित्य, जैनकाव्य, प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य, श्रृंगारिक एवं रोमांचक काव्य के बहुसंख्य पृष्ठ अपभ्रंश से भरे हैं। राउरबेल, उक्तिव्यक्ति प्रकरण, वर्ण रत्नाकर भी स्रोत हैं। स्रोत पर करीब १५० से २०० पृष्ठ लगाए गये हैं। स्रोत्र को ढूँढ़ने या निकालने में उलझन भी

* पूर्व आचार्य– हिन्दी विभाग, म. गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

दिखती है। उन्हें साफ-साफ हिन्दी कहना भी कठिन है। किन्तु, इन्हें हिन्दी का स्रोत कहे बिना उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं होती है। स्रोत का क्षेत्र भी विशाल है। लेखक के शब्दों में इसे देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के उद्‌भवकाल की मुख्य देन है– विभिन्न काव्य-रूपों के प्रयोग। अनेक जातियों का संगम, नाना प्रकार की जातियों का समागम, भाषा की संक्रान्तिकालीन स्थिति तथा नई भाषाओं-विभाषाओं के जन्म के कारण इस युग में अनेक प्रकार के काव्य-रूपों का उद्‌भव दिखाई पड़ता है। इस युग में यदि एक ओर प्राकृत-अपभ्रंश से आगत परम्परा से रास, रासक, चरितकाव्य, कथाकाव्य, बेलि, मंगल, चर्चरी आदि काव्य-रूपों को अपनाया गया, तो दूसरी ओर राजस्थान के लोकजीवन के वैविध्य तथा साहित्य-परम्पराओं से ख्यात, बात, विगत, पीढ़ी, वंशावली, रासो, विलास, प्रकाश, रूपक, वचनिका आदि न जाने कितने काव्य-रूपों का उद्‌भव और विकास हुआ। इसके अध्ययन के बिना तद्‌युगीन साहित्य का सम्यक् आकलन नहीं किया जा सकता। लेखक की यह स्पष्ट स्थापना प्राक्कथन में है। उनका पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध भी अपभ्रंश से सम्बद्ध है। अत: उद्‌भवकाल का विश्लेषण करते समय उसका प्रभाव होना भी स्वाभाविक है।

हिन्दी में ब्रजभाषा की रचनाएँ प्रमुख हैं। कुछ अवधी और मैथिली में भी हैं। इनकी राजस्थानी और जैन काव्य से संगति नहीं बैठती है। नाथ, संत एवं विद्यापति आदि की रचनाओं को राजस्थानी से भिन्न मानने में कठिनाई होती है। लगता है, भाषा का अध्ययन कहीं रह गया है। बौद्धों की भाषा पालि है। जैनियों की अर्धमागधी। जबकि बौद्ध और जैन–दोनों का मूल क्षेत्र मगध है। दोनों ही (बुद्ध और महावीर) वर्षावास वैशाली में करते थे। यह स्थिति यहाँ है। रास, रासक, बेलि आदि का स्थान मुख्यत: राजस्थान है। हिन्दी साहित्य का मुख्य केन्द्र ब्रजमण्डल है। इसके प्रेरक भी दक्षिणी आचार्य थे।

विद्यापति ने 'गीत गोविन्द' से प्रेरणा ली थी। वे 'अभिनव जयदेव' कहे जाते थे। सूर आदि भक्त भागवत् से प्रेरित थे। कबीर आदि निर्गुण-मार्गी गीता आदि वेदांत वाले थे। तुलसीदास विशिष्टाद्वैती थे।

रहीम तुलसीदास के मित्र थे। वे भी वैष्णव थे। रामकृष्ण के उपासक थे। रसखान तो स्पष्टत: भागवत-भक्त थे। इन सबों के स्रोत जैनीकाव्य कहने में कठिनाई होती है। अपभ्रंश की भाषा को स्रोत मानते समय विषय का ध्यान रखना आवश्यक है। रासो की परम्परा हिन्दी में नहीं दिखती है। सभी सबसे प्रभाव लेते हैं। किन्तु, विद्यापति से बढ़कर हिन्दी-परम्परा भक्तों की है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक है। साहित्य केवल खोज का विषय रहा है। उसे परम्परा में ही नहीं, उपलब्ध वस्तु में भी दिखना चाहिए। हिन्दी का जनमानस एकाएक नहीं बदला। उसका मानस कबीर, तुलसी, सूर वाला है, न कि फाग, रास और बेलि वाला है।

प्रो. वासुदेव सिंह का परिश्रम स्तुत्य है। कर्मठ व्यक्ति ही इस प्रकार का ग्रन्थ रच सकता है।

●

हिन्दी साहित्य का आदिकाल : प्रो. वासुदेव सिंह की दृष्टि

डॉ. विनोद कुमार सिंह *

आचार्य-परम्परा के साहित्य मनीषी प्रो. वासुदेव सिंह का वैसे तो हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर समान अधिकार रहा है, किन्तु उनकी साहित्य-साधना का विशेष क्षेत्र प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास था। कबीर वाङ्मय के तो वे अप्रतिम समीक्षक एवं व्याख्याता थे। जहाँ एक ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर शोधकार्य ने इन्हें हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर मौलिक चिन्तन के लिए प्रेरित किया, फलतः इतिहास-लेखन की ओर अग्रसर हुए, वहीं दूसरी ओर; साहित्य और संगीत के संगम महामनीषी डॉ. जयदेव सिंह का सान्निध्य मध्यकालीन काव्य, विशेषतः कबीर वाङ्मय में एक समीक्षक, व्याख्याता एवं आधिकारिक विद्वान् के रूप में इन्हें स्थापित कर दिया।

'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर शोधकार्य के दौरान राजस्थान के जैन मन्दिरों, संस्थाओं एवं पुस्तकालयों में प्राचीन पाण्डुलिपियों का अवलोकन, अध्ययन एवं संग्रहण के उपरान्त प्रो. वासुदेव सिंह ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर मौलिक चिन्तन प्रारम्भ किया। आदिकाल का आरम्भ, नामकरण एवं कालावधि के सन्दर्भ में इन्होंने पूर्व इतिहासकारों की मान्यताओं का प्रामाणिक तर्कों एवं दृष्टान्तों द्वारा खण्डन करते हुए अपनी मौलिक मान्यता का मण्डन किया।

आदिकाल के आरम्भ पर विचार करते हुए इन्होंने लिखा है– ''हिन्दी साहित्य का आरम्भ कब से माना जाय, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। कुछ विद्वान् अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' सिद्ध करते हुए हिन्दी साहित्य का आरम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानते हैं, जबकि दूसरे लोग हिन्दी साहित्य का आरम्भ दसवीं-ग्यारहवीं सदी से मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' तथा रामकुमार वर्मा पहले मत को मानने वाले हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास व आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी दूसरे मत को। शुक्ल जी के अनुसार, प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।... मुंज और भोज के समय (सं. १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल सं. १०५० से सं. १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय से कुछ पीछे तक माना जा सकता है। इसके विपरीत; राहुल सांकृत्यायन के मत से, अपभ्रंश और हिन्दी में मूलतः कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही भाषाएँ हैं। अपभ्रंश और आज की

* सह आचार्य– पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

हिन्दी (खड़ी, ब्रज, अवधी) में अन्तर इतना ही है कि एक में शुद्ध संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग बिल्कुल वर्जित है, जबकि आज की साहित्यिक भाषा में मुश्किल से तद्भव शब्द प्रयोग होता है। पिछले वर्षों में अपभ्रंश-साहित्य का काफी अध्ययन हुआ है और बहुत-सी नई सामग्री प्रकाश में आई है। इस साहित्य के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से स्पष्ट होता जा रहा है कि आठवीं-नवीं सदी की भाषा और दसवीं सदी के बाद की भाषा एक ही नहीं है। आठवीं-नवीं सदी की भाषा मध्य भारतीय आर्यभाषाओं की अन्तिम कड़ी थी, जिसमें आधुनिक आर्य भाषाएँ जन्म ले रही थीं। दसवीं सदी के बाद के उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में यह प्रवृत्तियाँ अधिक उभरी हुई दिखाई पड़ती हैं। अतएव, हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल या आदिकाल दसवीं सदी से चौदहवीं सदी तक मानना उचित होगा।''

इसी प्रकार, आदिकाल के नामकरण पर प्रो. वासुदेव सिंह ने अपना मौलिक विचार व्यक्त करते हुए लिखा है– ''आदिकालीन प्रवृत्तियों के स्पष्ट न होने के कारण, उसके नामकरण पर भी मतभेद रहा है। प्राय: किसी युग के नामकरण के अवसर पर कृति, कर्त्ता, विषय और पद्धति– इनमें से किसी एक को आधार बनाया जाता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल को मिश्रबन्धुओं ने 'आरम्भिक काल' कहा है। राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों और सामन्तों को ध्यान में रखकर, इस युग को 'सिद्ध-सामन्त युग' नाम दिया है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने कर्त्ता के आधार पर इसे 'चारण काल' कहना समीचीन समझा है और रामचन्द्र शुक्ल ने वीर गाथाओं के प्राधान्य के कारण इसका नामकरण 'वीरगाथाकाल' किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने पूरे युग की कृतियों पर विचार करते हुए केवल १२ ग्रन्थों को प्रामाणिक बताया। इस युग की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने निर्णय किया कि उनमें से– (१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, (२) कुछ नोटिस मात्र हैं और (३) कुछ जैन-धर्म के उपदेश-विषयक ग्रन्थ हैं, अतएव उनकी गणना इस युग में नहीं हो सकती। उनके द्वारा प्रमाणित १२ ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

(१) विजयपाल रासो (नल्ल सिंह), (२) हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर), (३) कीर्तिलता (विद्यापति), (४) कीर्तिपताका (विद्यापति), (५) खुम्माण रासो (दलपति विजय), (६) पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदाई), (७) वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह), (८) जयचन्द्र प्रकाश (केदार भट्ट), (९) जयमयंकजस-चन्द्रिका (मधुकर भट्ट), (१०) परमाल रासो (जगनिक), (११) खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति की पदावली।

इन पुस्तकों के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्ष्य-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो और वीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सभी वीरगाथात्मक हैं। अत: आदिकाल का नाम 'वीरगाथाकाल' ही रखा जा सकता है। शुक्ल जी के बाद आदिकालीन साहित्य पर काशी शोधकार्य हुए हैं। बहुत-सी नई सामग्री भी प्रकाश में आयी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग पर विशेष रूप से अत्यन्त गम्भीरता से और मौलिक ढंग से विचार किया है। शुक्ल जी ने जिन १२ ग्रन्थों को प्रामाणिक माना था, परवर्ती खोजों से पता चला कि उनमें से छ: पीछे की रचनाएँ हैं, तीन नोटिस मात्र हैं और दो के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसका मूल रूप क्या था? इनका विवरण इस प्रकार है– (क) परवर्ती रचनाएँ– खुम्माण रासो, वीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, कीर्तिलता और पदावली। (ख) नोटिस मात्र– जयचन्द्र प्रकाश, जयमयंकजस-चन्द्रिका और कीर्तिपताका। (ग) मूल रूप सुरक्षित नहीं– परमाल रासो और पृथ्वीराज रासो।

इस प्रकार, शुक्ल जी द्वारा गिनाई गई १२ पुस्तकों में केवल एक 'खुसरो की पहेलियाँ' ही बची रहती है। उसके आधार पर इस युग को 'वीरगाथाकाल' नहीं कहा जा सकता। इसलिए द्विवेदी जी ने इसे 'आदिकाल' कहा है। भाषा की दृष्टि से इसे 'संक्रान्ति युग' कहा जा सकता है। भाषा, काव्य-रूप एवं काव्य-प्रवृत्तियों की दृष्टि से इस युग का सम्यक् नामकरण 'उद्‌भवकाल' हो सकता है।''

इस कालखण्ड की भाषा पर प्रकाश डालते हुए प्रो. वासुदेव सिंह ने लिखा है– ''भाषा की दृष्टि से इसे 'संक्रमण काल' कहा जा सकता है। इन शताब्दियों में भाषा में निरन्तर परिवर्तन या विकास हो रहा था। भाषा संश्लिष्ट तत्त्वों को क्रमशः त्यागती हुई वियोगात्मक बन रही थी। नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा था। जनता की बोली और साहित्यिक अपभ्रंश में काफी अन्तर आ गया था। कविगण भी नई भाषा को या जनभाषा को अपनाने लगे थे, किन्तु अभी प्राचीन के प्रति मोह भी बना हुआ था। यही नहीं, अभी पण्डित समाज में 'देवभाषा' का ही सम्मान था। इसलिए इसमें संस्कृत, अपभ्रंश और देशी भाषा– सभी में रचनाएँ हुईं। चूँकि इस युग की अपभ्रंश सातवीं-आठवीं सदी की अपभ्रंश नहीं रह गई थी, उसमें आधुनिक भाषा– हिन्दी– के अनेक तत्त्व आ गये थे, इसलिए उस समय की किसी रचना विशिष्ट के भाषा-निर्धारण में काफी मतभेद पाया जाता है। एक ही कृति की भाषा को एक विद्वान् ने अपभ्रंश कहा है, तो दूसरे ने अवहट्ट और तीसरे ने पुरानी हिन्दी या अन्य कोई नाम दिया है।''

इस कालखण्ड की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए प्रो. सिंह ने लिखा है– ''इस युग में किसी एक खास प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते; अपितु धर्म, नीति, शृंगार, वीर आदि कई प्रवृत्तियों का मेल दिखाई पड़ता है। इस काल में यदि एक ओर बौद्ध सिद्धों, नाथ योगियों और जैन मुनियों द्वारा धर्म एवं अध्यात्म-प्रधान साहित्य रचा गया, तो दूसरी ओर संस्कृत भाषा में अलंकरण-प्रधान प्रभूत साहित्य लिखा गया। यदि एक ओर ओज गुण सम्पन्न वीर रसात्मक साहित्य का सृजन हुआ, तो दूसरी ओर मानव-हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले शृंगार रस प्रधान प्रेमकाव्य का प्रणयन हुआ। यदि एक ओर ऐतिहासिक आख्यानों को लेकर चरितकाव्य लिखे गये, तो दूसरी ओर कल्पना सम्मत गीतिकाव्य की निर्झरिणी प्रवाहित हुई। इस काल में महाकाव्य भी लिखे गये और खण्डकाव्य भी। गीतिकाव्य की धारा फूटी और मुक्तकों का भी जोर रहा। इस युग में धार्मिक और लौकिक– दोनों काव्य-परम्पराओं का विकास हुआ।''

आदिकाल का नामकरण एवं कालावधि का निर्धारण करने के लिए प्रो. वासुदेव सिंह ने विवेच्य युग की भाषा, काव्य-रूप एवं काव्य-प्रवृत्तियों के साथ ही, तद्‌युगीन राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों एवं साहित्य का भी गहन अध्ययन एवं विवेचन किया। राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रित सत्ता के युद्धरत सामन्त-शासक, पश्चिमोत्तर प्रदेश से हो रहे मुस्लिम आक्रमण और भारत के अधिकांश क्षेत्रों में स्थापित हो रही विदेशी सत्ता के कारण जहाँ इस युग को इन्होंने अशान्त एवं कोलाहलपूर्ण माना है, वहीं शिक्षित, समृद्ध, विलासी उच्चवर्ग एवं निर्धन और शोषित निम्न वर्ग, जन्मना जातिगत श्रेष्ठता का कठोर बन्धन, निम्न वर्ग को हेय दृष्टि से देखने और नारी को पुरुष की भोग्या मात्र मानने की प्रवृत्ति के कारण विवेच्य काल की सामाजिक स्थिति को विषमतामूलक एवं दयनीय माना है। प्रो. सिंह की दृष्टि में तत्युगीन धार्मिक स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन– तीनों धर्मावलम्बी परस्पर संघर्षरत थे और अपने आन्तरिक दोषों के कारण जर्जर हो चुके थे। इसी कालखण्ड में दक्षिण

भारत में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रयास भी चल रहा था, जिसका प्रभाव उत्तर भारत में भी दिखाई दे रहा था। इन समस्त स्थितियों का समवेत प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर पड़ा। आदिकालीन साहित्य को प्रो. वासुदेव सिंह ने अपभ्रंश साहित्य, डिंगल साहित्य, पिंगल साहित्य, लोकभाषा काव्य एवं आदिकालीन अन्य साहित्य के नाम से, भाषा की दृष्टि से पाँच वर्गों में विभाजित करके, विवेचित किया है।

राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक स्थितियों से प्रभावित साहित्य, भाषा, काव्य-रूप एवं काव्य-प्रवृत्तियों की दृष्टि से दसवीं सदी से चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी तक के युग को प्रो. वासुदेव सिंह ने 'उद्‌भव काल' की संज्ञा से अभिहित किया है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि इनके द्वारा विवेच्य युग को 'उद्‌भव काल' नाम देना परवर्ती इतिहासकारों द्वारा व्यापक मान्यता पाता है या नहीं, वरन् महत्त्वपूर्ण यह है कि विवेच्य युग का सम्यक् नामकरण करते समय जिन तर्कों और दृष्टान्तों का इन्होंने सहारा लिया है, वह इनके मौलिक चिन्तन और गहन अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। प्रो. वासुदेव सिंह द्वारा विवेच्य युग को 'उद्‌भव काल' की संज्ञा प्रदान करना परवर्ती हिन्दी साहित्येतिहास-लेखकों के लिए मील का पत्थर सिद्ध होगा।

●

प्रो. वासुदेव सिंह का हिन्दी साहित्येतिहास लेखन दृष्टि और सम्भावनाएँ

*प्रो. आनन्द वर्धन शर्मा**

प्रो. वासुदेव सिंह ऐसे शिक्षाविद् थे, जिन्होंने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया और ये पुस्तकें विद्यार्थियों, शोधार्थियों और हिन्दी के सुधी पाठकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे न केवल अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि उनसे एक विशेष दृष्टि भी निर्मित होती है। इनमें से अनेक पुस्तकें साहित्य के इतिहास को रूपायित करती हैं और प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्य के इतिहास-लेखन को लेकर जो अपनी स्थापनाएँ हैं, उनकी तार्किक पुष्टि भी करती हैं। इस बात की प्रामाणिकता उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों के माध्यम से सिद्ध होती है।

वे कबीर, सूर और तुलसी के गम्भीर अध्येता थे। इसके साथ-ही-साथ; मध्यकाल में उनकी विशेष रुचि रही। 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' और 'हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' जैसी पुस्तकों का प्रणयन करने के साथ-साथ आपने नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' के तीसरे खण्ड का सम्पादन किया था। सन्त काव्य के मर्मज्ञ प्रो. वासुदेव सिंह की इतिहास-दृष्टि पर जब हम चर्चा करते हैं, तो यह भी पाते हैं कि उन्होंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' के 'उपोद्घात' में स्वयं लिखा है कि– ''विगत कई वर्षों से मेरे मन में साहित्य के इतिहास सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठते रहे हैं। साहित्य-इतिहास के लेखन में क्या कठिनाइयाँ हैं, समुचित काल-विभाजन एवं नामकरण कैसे किया जा सकता है और समकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में किसी रचनाकार का तटस्थ मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है– इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मैंने प्रस्तुत इतिहास लिखा है। उद्भव अथवा आदिकालीन सामग्री बहुत बाद में प्रकाश में आई है। उसके अध्ययन में भी विद्वानों की रुचि कम होती जा रही है, इसलिए इस युग के साहित्य के प्रति न्याय नहीं हो सका है। उसमें किसी लेखक को केवल वीरगाथाओं की परम्परा दिखाई दी और किसी को मात्र धार्मिक-आध्यात्मिक साहित्य की।'' इसी प्रकार, वे भक्तिकाल के अंतर्विभाजन को पर्याप्त नहीं मानते और इस विषय पर भी नए ढंग से सोचने का प्रयास करते हैं।

किसी भी चीज का इतिहास हमें उसके विषय में ही नहीं बताता, बल्कि भविष्य की ओर भी संकेत करता है। जब हम साहित्य के इतिहास-लेखन की बात करते हैं, तो पाते हैं कि हिन्दी साहित्य में सबसे पहले गार्सा द तासी ने इतिहास-लेखन किया, उसके बाद अनेक इतिहास लिखे गए। प्रो. वासुदेव सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' लिखते समय एक ऐसी समग्रतापूर्ण अवलोकन दृष्टि रखी, जिसने

* विजिटिंग प्रोफेसर– भारत विद्या विभाग, सोफिया विश्वविद्यालय, सोफिया, बल्गारिया।

नए ढंग से विचार करने के लिए प्रेरित भी किया। उन्होंने न केवल सभी इतिहासों का व्यापक अध्ययन किया, बल्कि उनमें अंतर्निहित विभिन्न बिन्दुओं की भी चर्चा की।

प्रो. सिंह इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि क्या गद्य और पद्य के साहित्य को एक साथ ही निरूपित किया जाना चाहिए या उनके लिए अलग-अलग इतिहास लिखे जाने चाहिए? वे यह भी उल्लेख करते हैं कि आचार्य शुक्ल ने दोनों का अलग-अलग खण्डों के अन्तर्गत अध्ययन किया है और जिन विद्वानों ने इस पर आपत्ति की है, उनकी भी चर्चा की है। प्रो. वासुदेव सिंह का कहना है कि इसका समाधान यह है कि गद्य और पद्य की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों का अलग अध्ययन किया जाए और इसी पद्धति को अधिक वैज्ञानिक मानते हुए उन्होंने इस समीक्षात्मक इतिहास में अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं।

प्रो. सिंह हिन्दी के विषय में जार्ज ग्रियर्सन, शिवदान सिंह चौहान, सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषाविदों की बातों को रखते हुए अपनी अवधारणाएँ प्रस्तुत करते हैं और लिखते हैं कि– ''वस्तुत: चटर्जी ने हिन्दी क्षेत्र में जिन स्वतंत्र भाषाओं की कल्पना की है, वे हिन्दी की बोलियाँ हैं। भाषा और बोली में भेद न करने के कारण ही यह भ्रम फैला है। भाषा में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक केन्द्रापगामी और दूसरी केन्द्राभिगामी। व्यक्ति की प्रवृत्ति केन्द्रापगामी होती है और समाज की प्रवृत्ति केन्द्राभिगामी होती है। प्रथम प्रवृत्ति से बोली का जन्म होता है और दूसरी से भाषा का विकास। इस प्रकार, बोली और भाषा में घात-प्रतिघात चलता रहता है। वस्तुत: दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। एक भाषा-क्षेत्र में कई बोलियाँ व्यवहृत होती हैं। व्यवहार में भाषा वह तत्व है, जो एक प्रकार के भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्प्रेषण का माध्यम है। इस प्रकार, भाषा का अर्थ जातीय बोलियों का एक समूह है। इनमें से कोई एक बोली राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से व्यापक रूप धारण करके शासन, साहित्य और शिक्षा का माध्यम बन जाने पर भाषा की पर्यायवाची बन जाती है। खड़ी बोली हिन्दी के मानक भाषा बनने के पीछे यही तर्क काम करता है और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भाषा और बोली की स्थिति क्या है।

प्रो. सिंह द्वारा दी गई यह मान्यता हमें स्पष्ट रूप से भाषा और बोली के अंतर को समझाती है। वे राहुल सांकृत्यायन की भी चर्चा करते हैं, मिश्रबंधुओं की भी, गुलेरी जी की भी तथा काशी प्रसाद जायसवाल की भी। हिन्दी और उर्दू के विवाद की ओर भी प्रो. सिंह ने संकेत किया है और लिखा है कि– ''सर सैयद अहमद खाँ के नेतृत्व में १९वीं शताब्दी में ही यह विवाद प्रारम्भ हो गया था और अंग्रेजों के शासन-काल में उर्दू-समर्थकों के प्रभाव के कारण हिन्दी को भी क्षति पहुँची। वे यह भी लिखते हैं कि यदि वास्तव में उर्दू को हिन्दी में अंतर्भुक्त करना है, तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा और समस्त उर्दू वाङ्मय को स्थान देना होगा। तभी प्रत्येक स्तर के पाठ्यक्रमों में ब्रज, अवधी, खड़ी बोली के समान ही उर्दू को भी सम्मिलित करना होगा। उर्दू के समान दक्खिनी हिन्दी को भी अपनाए जाने की आवश्यकता है।'' प्रो. वासुदेव सिंह का यह तर्क समीचीन लगता है।

हिन्दी साहित्य के काल-निर्धारण और नामकरण को लेकर भी उन्होंने व्यापक विचार किया है और इस विवादास्पद बिन्दु को उठाते हुए समग्रतापूर्वक चर्चा की है। उनका यह मानना कि– ''केवल किसी सामग्री का संकलन कर प्रस्तुत कर देना ही इतिहास नहीं होता, बल्कि साहित्य के इतिहासकार का यह दायित्व है कि वह केवल वृत्त-संग्रह ही न करे, बल्कि ग्रन्थों और उसके रचनाकारों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का भी विश्लेषण करे। प्रामाणिक रचनाओं में सौन्दर्य-तत्व खोजे और इसकी भी समीक्षा करे कि किसी रचना ने अपने सामयिक जीवन को किस हद तक प्रभावित किया है?'' उचित प्रतीत होता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासों की चर्चा करते हुए प्रोफेसर सिंह ने विभिन्न ग्रन्थों का विश्लेषण किया है और लिखा है कि लेखकों ने घटना, तिथियों एवं सन्-सम्वतों की उपेक्षा की, सामयिक तत्वों को महत्त्व नहीं दिया एवं व्यक्तियों का मूल्यांकन, लौकिक क्रिया-कलापों के आधार पर न करके चारित्रिक वैशिष्ट्य के आधार पर किया। अतएव, प्राचीन काल में इतिहास के नाम पर जो सामग्री मिलती है, उसमें भक्तों की प्रशंसात्मक जीवनियाँ हैं अथवा अधिक-से-अधिक कवियों या कृतियों की सूची। उपलब्ध हिन्दी साहित्य के इतिहासों का अवलोकन करते हुए प्रो. सिंह उनमें मुख्य रूप से तीन चरण पाते हैं और वे हैं– सामग्री-संकलन, उनका वर्गीकरण और विश्लेषण तथा प्रवृत्ति-विवेचन।

जहाँ प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे गार्सा द तासी, मौलवी करीमुद्दीन और शिव सिंह सेंगर के इतिहास को रखते हैं, वहीं दूसरे सोपान में नामकरण और वर्गीकरण की प्रवृतियों की चर्चा करते हुए ग्रियर्सन का उल्लेख करते हैं। ग्रियर्सन के बाद 'मिश्रबंधु विनोद' की चर्चा की गई है और उसके बाद एडविन ग्रीव्स तथा एफ. ई. के की।

उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का तीसरा चरण या सोपान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रारम्भ हुआ माना है। स्वयं आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि– ''शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ उगती रही हैं, उन सब के सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभागजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखलाई पड़ता है।''

प्रो. सिंह ने अपने 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' में 'काल-विभाजन और नामकरण' अध्याय में इस समस्या का व्यापक तौर पर विश्लेषण किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक अलग-अलग विद्वानों ने जो काल-विभाजन और नामकरण किया, वह पूरी तरह उपयुक्त नहीं है। किए गए काल-विभाजन और नामकरण में केवल एक ही प्रवृत्ति नहीं मिलती, बल्कि अलग-अलग अनेक प्रवृत्तियों के निदर्शन होते हैं।

मिश्रबंधुओं का नामकरण, आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया काल-विभाजन और नामकरण, डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा किया गया काल-विभाजन और नामकरण, गणपति चंद्र गुप्त, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. राम खेलावन पाण्डे आदि द्वारा किए गए नामकरण की चर्चा करते हुए किसी भी एक विद्वान् के सारे नामकरणों को यथावत ग्रहण किया जाए, इसके पक्ष में प्रोफेसर सिंह नहीं हैं, बल्कि वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों के नामकरण पर जब हम विचार करते हैं, तो अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

आदिकाल के लिए अनेक विद्वानों ने अलग-अलग नाम दिए हैं– आदिकाल, आरम्भिक काल, चारण काल, रासो काल, जय काल, सिद्ध-सामंत युग, आधार काल आदि-आदि। लेकिन प्रो. वासुदेव सिंह का मानना है कि भाषा की दृष्टि से यह संक्रान्ति-काल था और सभी रूपों की दृष्टि से प्रयोग काल, किन्तु समग्रता-बोध की दृष्टि से इसे 'उद्भव काल' कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ 'उद्भव' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भाषा के उद्भव तथा प्रवृत्तियों के आरम्भ का सूचक है। वे भक्तिकाल के नामकरण को तो विवादित नहीं मानते, लेकिन यह अवश्य मानते हैं कि यदि भक्तिकाल को सीधे-सीधे सन्त काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, राम काव्य और कृष्ण काव्य में बाँट दिया जाए, तो यह अधिक न्यायसंगत होगा। मध्यकाल की उत्तरवर्ती प्रवृत्ति, जिसे 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित किया गया या

'अलंकार काल' कहा गया, वह भी समस्त काव्य-प्रवृत्तियों का बोधक नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे 'शृंगार काल' भी कहा है। पर यह स्पष्ट है कि इस युग में भक्ति, नीति और वीरता से सम्बन्धित रचनाएँ भी लिखी गई हैं। इस विषय में डॉक्टर वासुदेव सिंह का कहना है कि यदि कोई ऐसा नामकरण किया जा सके, जिससे इन समस्त प्रवृत्तियों का बोध हो जाए, तो अधिक संगत होगा।

प्रोफेसर वासुदेव सिंह 'आधुनिक काल' के नामकरण को लेकर अपनी मान्यताएँ देते हुए कहते हैं कि– ''भारतेन्दु उसी अर्थ में आधुनिक नहीं हैं, जिस अर्थ में प्रसाद, पंत अथवा अज्ञेय। वस्तुत: कविता के क्षेत्र में पिछले १०० वर्षों में जितने परिवर्तन हुए हैं तथा जितनी काव्य-प्रवृत्तियाँ आई हैं, उतने उसके पूर्व कई सौ वर्षों में भी नहीं आई थीं। अत: इन परिवर्तनों और काव्य-प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक काल को कई खण्डों में विभक्त करना होगा। काव्य में परिवर्तन का संकेत भारतेन्दु के समय से मिलता है, इसलिए इसे 'जागरण काल' कहा जा सकता है। इसके बाद, महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते, काव्य-भाषा का प्रश्न खड़ा होता है, इसलिए इसे 'भाषा-परिवर्तन का युग' या 'सुधार काल' कहा जा सकता है।''

'छायावाद' के बारे में उन्होंने अलग से कोई नामकरण नहीं किया है और माना है कि छायावाद के बाद के युग को 'छायावादोत्तर काल' अथवा 'प्रगति-प्रयोग काल' कहा जा सकता है। उनकी मान्यता है कि पिछले १०० वर्षों में हिन्दी गद्य का जो आविर्भाव और परिष्कार हुआ, साथ ही; उसमें जो अनेक विधाओं का विकास हुआ, उसके आधार पर उसे 'गद्य काल' शीर्षक से अभिहित किया जाना चाहिए और उनका यह भी कहना है कि इसके अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से समस्त गद्य साहित्य का भी विकासात्मक अध्ययन करना होगा।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण की विस्तार से चर्चा करते हुए प्रो. वासुदेव सिंह न केवल अपने दृष्टिकोण से पाठकों को परिचित कराते हैं, बल्कि इस पूरे काल-विभाजन और नामकरण को नए ढंग से देखने, उस पर चर्चा करने और उसकी समग्र प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए नामकरण करने के आग्रही हैं।

●

साहित्येतिहास की सम्यक् दृष्टि

डॉ. रामसुधार सिंह *

डॉ. वासुदेव सिंह हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता तथा सुधी समीक्षक रहे हैं। एक योग्य एवं कुशल अध्यापक होने के कारण उनकी समीक्षकीय दृष्टि में सदैव विद्यार्थी रहा है। किसी भी विषय को तमाम अन्तर्विरोधों से अलग कर वैज्ञानिक दृष्टि के साथ सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत कर देना उन्हें पर्याप्त सन्तोष देता था और यही उनकी समीक्षा-पद्धति की मूलभूत विशेषता भी रही है। भले ही कोई उसे प्राध्यापकीय आलोचना कहकर टरका दे, लेकिन उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की। कबीर और तुलसी पर उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ आज भी विद्यार्थियों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। किसी भी समीक्षक की सामर्थ्य का सबसे बड़ा मापदण्ड यही है कि उसके द्वारा प्रस्तुत समीक्षा तटस्थ एवं वैज्ञानिक हो।

हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन की सुदीर्घ परम्परा रही है। गार्सा द तासी से लेकर अद्यावधि तक जो भी इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, उनमें आचार्य शुक्ल का इतिहास अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद छात्रों एवं साहित्येतिहास-लेखकों का मार्ग-निर्देशन करता रहा है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में समुचित काल-विभाजन करते हुए प्रत्येक काल के रचनाकारों का सम्यक् मूल्यांकन किया, फिर भी; काल-विभाजन एवं नामकरण से सम्बन्धित अनेक गुत्थियाँ अभी तक उलझी रही हैं। सबसे अधिक समस्या आदिकाल और आधुनिक काल के सम्बन्ध में रही है। डॉ. वासुदेव सिंह ने अपने इतिहास-ग्रन्थ **'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'** के अन्तर्गत अब तक के सभी प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करते हुए प्रत्येक काल का सुबोधपूर्ण विभाजन किया और समग्र इतिहास को इस रूप में प्रस्तुत किया, जो हिन्दी-साहित्य के जिज्ञासुओं को पूर्ण संतुष्टि दे सके।

प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ कुल पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय पूर्वपीठिका से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के विस्तार-क्षेत्र और उद्‌भव के विवेचन के उपरान्त साहित्येतिहास सम्बन्धी लेखन की आधारभूत सामग्री एवं स्रोतों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी अध्याय में काल-निर्धारण एवं नामकरण की समस्या तथा उसके मूलभूत आधारों का शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत है। डॉ. सिंह ने आदिकाल को 'उद्‌भव काल' नाम दिया है। इसके अन्तर्गत तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों की चर्चा करते हुए उद्‌भवकालीन काव्य-प्रवृत्तियों को धार्मिक-आध्यात्मिक काव्य, प्रशस्तिमूलक चरित काव्य, शृंगारिक एवं रोमांचक काव्य तथा स्फुट काव्य जैसे उपशीर्षकों में बाँटकर समग्र आदिकालीन साहित्य को एकसाथ समेटने का सार्थक प्रयास किया गया है। अब तक के इतिहास-ग्रन्थों में कुछ में किसी

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी

एक प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है, तो कुछ में दूसरी को प्रमुख प्रवृत्ति माना गया है। तद्युगीन काव्य एवं गद्य साहित्य को इस रूप में प्रस्तुत करना, निश्चित ही; सराहनीय प्रयास रहा है। भक्तिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में इतिहास-लेखकों में कोई मतभेद नहीं रहा है, किन्तु शुक्ल जी द्वारा किये गये अन्तर्विभाजन को लेकर असंगति सदैव रही है। शुक्ल जी ने भक्तिकाल को सगुण-निर्गुण नामक दो शाखाओं में बाँटकर उनकी भी दो-दो उपशाखाएँ निर्धारित की हैं। कबीर, तुलसी, जायसी आदि भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवियों पर आगे चलकर जो विशेष अध्ययन हुए, उसके आधार पर इस तरह का विभाजन कहीं से भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। कतिपय इतिहासकारों ने इस असंगति को दूर करने का प्रयास किया, किन्तु वहाँ भी उलझन की स्थिति बनी रही। डॉ. सिंह ने सम्पूर्ण भक्तिकाल को सीधे-सीधे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, कृष्णकाव्य तथा रामकाव्य जैसे चार अन्तर्विभाजन कर शुक्ल जी की मान्यता को नये रूप में प्रस्तुत किया, जिससे कहीं भी असंगति या विरोधाभास नहीं आ पाया। प्रेमाख्यानक काव्य को आध्यात्मिक प्रेमकाव्य, लौकिक प्रेमकाव्य तथा दक्खिनी हिन्दी के सूफी काव्य नामक तीन उपभागों में बाँटकर सूफी तथा सूफीतर प्रेमकाव्यों का अलग-अलग मूल्यांकन किया गया है। रीतिकाल के विभाजन में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की मान्यताओं का समन्वय करते हुए समग्र रीतिकाल का सम्यक् मूल्यांकन किया गया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन में सर्वाधिक विसंगतियाँ आधुनिक काल को लेकर रही हैं। इस काल में प्रभूत साहित्य की रचना हुई है और विविध विधाओं में निरन्तर लेखन होता जा रहा है। एक बड़ी समस्या 'आधुनिक' शब्द की सार्थकता को लेकर रही है। यद्यपि अनेक इतिहास-लेखकों ने आधुनिक काल पर अलग से इतिहास-ग्रन्थों की रचना की, किन्तु समस्त काव्य एवं गद्य साहित्य का स्पष्ट विवेचन सम्भव नहीं हो सका। शुक्ल जी ने गद्य-पद्य– दोनों का अलग-अलग खण्डों में विवेचन किया है। बाद में; कुछ इतिहासकारों ने छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसे विभाजन करते हुए इन कालों के गद्य एवं पद्य– दोनों का एकसाथ अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस तरह, दोनों दृष्टियों से समग्र आधुनिक काल का सम्यक् विवेचन नहीं हो पाया है। इन समस्याओं का सम्यक् समाधान प्रस्तुत करते हुए डॉ. सिंह ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में गद्य और पद्य की विभिन्न धाराओं तथा प्रवृत्तियों का अलग-अलग अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह पद्धति अधिक वैज्ञानिक एवं पाठकों के लिए अति सुविधाजनक रही है। इस इतिहास-ग्रन्थ की एक और विशेषता यह रही है कि प्रत्येक काल के अन्त में उस काल की समग्र मान्य विशिष्टताओं का एकसाथ मूल्यांकन किया गया है, जिससे तत्सम्बन्धी काल की समस्त कथ्य एवं शिल्प की विशेषताएँ समन्वित रूप में एक साथ उपलब्ध हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुस्तक साहित्येतिहास के पाठकों एवं छात्रों के समक्ष एक सरल, सुबोध एवं तटस्थ दृष्टि प्रस्तुत करती है।

●

प्रो. वासुदेव सिंह की साहित्येतिहास-दृष्टि

डॉ. श्रद्धा सिंह *

संसार में किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके कृतित्व के आधार पर निर्मित होता है। जब कृतित्व उदात्त हो, तो व्यक्तित्व असाधारण हो जाता है। प्रो. वासुदेव सिंह का व्यक्तित्व साहित्य-जगत् में अपने जिन कृतित्वों के लिये जाना जाता है, उसकी आधारभूमि तैयार होती है– कबीर एवं पूर्व मध्यकालीन अर्थात् भक्तिकालीन साहित्य सम्बन्धी गहन चिंतन एवं अध्ययन-मनन से।

उत्तर प्रदेश के सीतापुर जनपद के छोटे से गाँव पीतपुर के मध्यमवर्गीय परिवार में जन्में वासुदेव सिंह ने अपनी अध्ययन सम्बन्धी रुचि के कारण यह मुकाम हासिल करने में सफलता प्राप्त की। १९५६ ई. में आगरा विश्वविद्यालय से प्रथम स्थान प्राप्त कर, एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करते ही, उदय प्रताप महाविद्यालय में प्राध्यापक पद पर आपकी नियुक्ति हो गयी। यहाँ आने पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, बच्चन सिंह, नामवर सिंह, भोलाशंकर व्यास, शुकदेव सिंह, त्रिभुवन सिंह आदि के सान्निध्य और सम्पर्क में साहित्यिक रुचि को परिष्कार मिला और उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर अपना शोध-प्रबंध लिखना आरम्भ किया। किन्तु, दुर्भाग्यवश १९६० ई. में द्विवेदी जी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। ऐसे समय में, डॉ. मुंशीराम शर्मा ने अपनी कृपा-दृष्टि से उन्हें अपने निर्देशन में कार्य करने की अनुमति प्रदान की। किन्तु, द्विवेदी जी का सम्बल भी उन्हें बराबर मिलता रहा। न तो वासुदेव सिंह जी ने अपना धैर्य छोड़ा और न द्विवेदी जी ने अपनी छत्र-छाया। वासुदेव सिंह के शोध की सबसे बड़ी चुनौती थी– सामग्री का संकलन। ऐसे समय में, द्विवेदी जी ने ही उन्हें सलाह दी– सामग्री-संकलन हेतु यात्राएँ करने की। उनके इस दिशा-निर्देश का पालन करते हुए, अपने शोध-विषय से सम्बन्धित सामग्री का संकलन करने के लिये तमाम जैनाचार्यों से उन्होंने जयपुर में सम्पर्क स्थापित किया (द्विवेदी जी के निर्देशानुसार)। इसी सम्पर्क-अभियान में उनकी मुलाकात हुई पं० चैनसुखदास जी (न्यायतीर्थ, अध्यक्ष, दिगम्बर जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर) से, जिन्होंने जयपुर के सभी हस्तलिखित ग्रन्थों के भण्डारों को उन्हें सुलभ करा दिया। लगभग दो माह तक वहीं जयपुर के भण्डारों में रहकर उन्होंने आमेर शास्त्र-भण्डार, दिगंबर जैन मंदिर बाड़ा, तेरह पंथियों का शास्त्र-भण्डार, छावड़ों के मंदिर का शास्त्र-भण्डार, बधीचन्द मंदिर का शास्त्र-भण्डार और ठोलियों के मंदिर का शास्त्र-भण्डार भी देखा व अपने विषय से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया। इसी जयपुर-प्रवास के दौरान उन्हें अगरचंद नाहटा से भी भरपूर सामग्री मिली। सामग्री-संकलन के लिये उन्होंने राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर के श्री ए. एन. उपाध्याय तथा प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर

* प्रोफेसर– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

के संचालक डॉ. हीरालाल ओझा से भी सम्पर्क किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन धर्म व दर्शन के प्रोफेसर श्री महेन्द्र कुमार, स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पं. कैलाशचंद शास्त्री व नागरी प्रचारिणी सभा का भी सहारा लिया और जैन रहस्यवाद सम्बन्धी अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का संचय करके सिद्ध कर दिया कि असम्भव कुछ भी नहीं होता।

अपभ्रंश भाषा में उनकी पारंगतता और जैन दर्शन में गहरी पैठ– दोनों के मणिकांचन संयोग से यह शोध-प्रबंध अपूर्व है। शोध-विषयक अध्यवसाय और वैदुष्यपूर्ण विवेचन का अन्यतम उदाहरण है– यह शोध-प्रबंध। अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद की खोज में इन दोनों भाषाओं के तत्कालीन साहित्य को खूब खँगाला गया है। उन्होंने उपनिषद् साहित्य में इस रहस्यवाद की जड़ें ढूँढ़ निकाली हैं। अपने शोध के दौरान (आज की तरह गूगल और मल्टीमीडिया नहीं) उन्हें जहाँ भी ऐसे साहित्य या इससे सम्बन्धित ग्रन्थादि सामग्री उपलब्ध होने की तनिक भी गंध मिलती, वे आनन-फानन में, येन केन प्रकारेण वहाँ जा धमकते और कोई-न-कोई रत्न ढूँढ़ ही निकालते। इस सिलसिले में उन्होंने राजस्थान के पोथीखानों में जमकर छँटाई-चुनाई की। उनकी शोध-प्रवृत्ति की यायावरी का लोहा मानना ही पड़ेगा, क्योंकि उस दौर में उन्होंने राजस्थान के ग्रन्थालयों से कुछ ऐसी रचनाएँ (अपभ्रंश और हिन्दी की) खोज निकालीं, जो हस्तलिखित रूप में ही थीं, तब तक कहीं से प्रकाशित नहीं हुई थीं। विद्वानों के संज्ञान में भी नहीं थीं, मसलन– अपभ्रंश में आनन्द तिलक कृत 'आणन्दा', लक्ष्मीचन्द कृत 'दोहाणुवेहा', महयंदण मुनि कृत 'दोहा पाहुड़', छीहल कृत 'आत्म प्रतिबोध' इत्यादि। हिन्दी में भगवतीदास कृत 'श्री चूनरी', रूपचन्द कृत 'स्फुट पद', पाण्डे हेमराज कृत 'उपदेश दोहा शतक' आदि। इन ग्रन्थों के चुने हुए अंशों को शोध-ग्रन्थ के अंत में, परिशिष्ट में दिया गया है और इन सभी का गम्भीर अध्ययन कर, इनसे प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण उपयोग शोध-प्रबंध में किया गया है। उनका अनुभव है कि अभी भी अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन काव्य प्रभूत मात्रा में अनखोजे तथा उपेक्षित पड़े हैं। उन्हें प्रकाश में लाकर हिन्दी साहित्य का इतिहास पुनः लिखा जाना चाहिये।

रहस्य-साधना की परम्परा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषद् इसके आदि स्रोत हैं। तदनन्तर योगियों, तांत्रिकों, सिद्धों, नाथों, सन्तों आदि से होती हुई यह साधना अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है। मध्यकालीन काव्य-साधना में इस पद्धति को विशेष बल मिला।

जैन दर्शन, जिसे 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है (नास्तिको वेद निन्दकः), जिनकी आत्मा-परमात्मा, माया-मोक्ष सम्बन्धित धारणाएँ कुछ भिन्न हैं, बावजूद इसके; सभी दार्शनिक चिंतनों में जाने-अनजाने एक-दूसरे का प्रभाव, भाव-ग्रहण हो ही जाता है। जैन रहस्यवादियों ने भी अपने मूल रूप के साथ जाने-अनजाने उपनिषदों से प्रभाव ग्रहण किया। इन्हीं तथ्यों का अनुसंधान है– यह शोध-प्रबंध। कम सुविधा-सम्पन्न समय में दुर्लभ सामग्री का यह संकलन-कार्य आज के सुविधा-सम्पन्न समय में शोध कर रहे शोधार्थियों को कितनी प्रेरणा देगा– यह शोधार्थी ही जानें। बहरहाल; कालान्तर में यह शोध-प्रबंध विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका लिखी– हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने।

'हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल' वासुदेव सिंह के अध्यापन-काल की पुस्तक है, जिससे उनकी इतिहास-दृष्टि का पता चलता है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत भी हुई है। यद्यपि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास के एक खण्ड पर ही केन्द्रित है, किन्तु इसमें सामग्री बहुविध है। यह पुस्तक

कुल नौ शीर्षकों में बँटी है– हिन्दी का विस्तार-क्षेत्र और उद्‌भवकाल, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, काल-निर्धारण व नामकरण, उद्‌भवकालीन काव्य-रूप, धार्मिक-आध्यात्मिक काव्य, प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य, शृंगारिक एवं रोमांचक काव्य, खड़ी बोली तथा दक्खिनी हिन्दी का साहित्य तथा उद्‌भवकालीन गद्य। इन नौ शीर्षकों में सब कुछ आ गया है, कुछ भी नहीं छूटा है। 'काल-विभाजन व नामकरण' शीर्षक के अन्तर्गत आदिकाल के विभिन्न नामकरण-सम्बन्धी स्थापनाओं का विश्लेषण करते हुये उन्होंने इसमें आदिकाल को 'उद्‌भवकाल' अभिधान दिया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन में दक्खिनी हिन्दी का साहित्य प्राय: छूट जाता है, जबकि यह उत्तर का ही दक्खिनी रूप है। इसमें दक्खिन ने कुछ जोड़ा है, नया किया है– ऐसा नहीं लगता। दक्खिन के अधिकतर लेखक उत्तर से गए मुसलमान हैं। इनकी अभिव्यक्ति में उत्तर का इस्लामी या उर्दू-फारसी का स्वर अधिक मुखरित है। यह इस ग्रन्थ की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है। सामान्यत: गद्य, जिसे आधुनिक युग की विधा माना जाता है, यह सच भी है, किन्तु इस ग्रन्थ में प्राचीनकाल के छिट-पुट गद्य को खोज निकाला गया है।

इस पुस्तक में अपभ्रंश एवं जैन साहित्य के पर्वत से हिन्दी का स्रोत या उद्‌भव निकाला गया है, अत: जैन साहित्य भी इसमें प्रभूत परिमाण में है। सिद्ध साहित्य, जैनकाव्य, प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य, शृंगारिक एवं रोमांचक काव्य के बहुसंख्यक पृष्ठों में अपभ्रंश-साहित्य भरा पड़ा है, जो वस्तुत: हिन्दी के स्रोत हैं, जिनसे हिन्दी का उद्‌भव हुआ है। स्वयं लेखक के अनुसार– ''हिन्दी साहित्य के उद्‌भवकाल की मुख्य देन है– विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग। अनेक जातियों के संगम, भाषा की संक्रान्तिकालीन स्थिति तथा नयी विभाषाओं के जन्म के कारण इस युग में अनेक प्रकार के काव्य-रूपों का उद्‌भव दिखायी पड़ता है। एक ओर प्राकृत-अपभ्रंश परम्परा से आगत रास, रासक, चरित-काव्य, कथा-काव्य, बेलि, मंगल, चर्चरी आदि काव्य-रूपों को अपनाया गया, तो दूसरी ओर राजस्थान के लोकजीवन के वैविध्य तथा साहित्य-परम्पराओं से ख्यात, बात, विगत, पीढ़ी, वंशावली, रासो, विलास, प्रकाश, रूपक, बचनिका आदि न जाने कितने काव्य-रूपों का उद्‌भव और विकास हुआ। इनके अध्ययन के बिना तद्‌युगीन साहित्य का सम्यक् आँकलन नहीं किया जा सकता।'' ऐसा लेखक का स्पष्ट रूप से मानना है, जिसकी चर्चा उन्होंने प्राक्कथन में की है।

उद्‌भवकाल से आगे चलकर रास-रासो की परम्परा या धारा कहाँ से इनमें जुड़ी? किसने किसको कितना प्रभावित किया? राजस्थान से बहने वाली रास, रासक, बेलि, कहरा की धारा कब और कैसे दक्षिण के आचार्यों से प्रभावित ब्रजमण्डल तक पहुँची? रहीम, रसखान, तुलसी की परम्परा के स्रोत क्या हैं? – इन सभी प्रश्नों का उत्तर मिलता है हमें वासुदेव सिंह द्वारा रचित दूसरे इतिहास-ग्रन्थ– 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' में। गार्सा द तासी से लेकर अद्यावधि तक जो भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनमें आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित इतिहास-ग्रन्थ अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद छात्रों एवं इतिहास-लेखकों का मार्गदर्शन करता है। आचार्य शुक्ल के द्वारा लिखे गये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में समुचित काल-विभाजन करते हुए प्रत्येक काल के रचनाकारों का सम्यक् मूल्यांकन किया गया, फिर भी; काल-विभाजन व नामकरण सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ अभी तक उलझी रही हैं। सबसे अधिक समस्या आदिकाल व आधुनिक काल के सम्बन्ध में रही है। 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' पुस्तक में वासुदेव सिंह ने तासी से लेकर अब तक के सभी प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों की सम्यक् आलोचना करते हुये,

प्रत्येक काल का सुबोधपूर्ण विभाजन किया और समग्र इतिहास को इस प्रकार प्रस्तुत किया, जो हिन्दी साहित्य के जिज्ञासुओं को पूर्ण सन्तुष्टि दे सके।

हिन्दी के विस्तार-क्षेत्र व उद्‌भव के विवेचन के साथ ही; साहित्येतिहास-लेखन सम्बन्धी आधारभूत सामग्री एवं स्रोतों पर विस्तार से चर्चा करने के उपरान्त, पहले अध्याय में ही काल-निर्धारण एवं नामकरण की समस्या एवं उसके मूलभूत आधारों का शोधपूर्ण विवेचन किया गया है।

भक्तिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में तो इतिहास-ग्रन्थों में कोई मतभेद नहीं रहा है, किन्तु शुक्ल जी द्वारा दिये गये अन्तर्विभाजन को लेकर असंगति सदैव रही है। शुक्ल जी ने भक्तिकाल को सगुण-निर्गुण नामक दो शाखाओं में बाँटकर उनकी भी दो-दो उपशाखाएँ निर्धारित की हैं। किन्तु, बाद के अध्ययन में इस बँटवारे के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न खड़े किये गये और इस असंगति को दूर करने के प्रयास हुए। वासुदेव सिंह ने अपने इस इतिहास-ग्रन्थ में सम्पूर्ण भक्तिकाल को सीधे-सीधे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, कृष्णकाव्य तथा रामकाव्य के रूप में विभक्त कर आचार्य शुक्ल के द्वारा किए गए विभाजन का तर्कों से खण्डन किया और उसे नए रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें असंगति और विरोधाभास की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं। प्रेमाख्यानक काव्य, जिसे हम प्राय: 'सूफीकाव्य' नाम से जानते हैं- उसे सिंह साहब ने आध्यात्मिक प्रेमकाव्य, लौकिक प्रेमकाव्य और दक्खिनी हिन्दी के सूफीकाव्य नामक तीन उप विभागों में बाँटकर सूफी तथा सूफीतर प्रेमकाव्यों का अलग-अलग मूल्यांकन किया है।

रीतिकाल के विभाजन में आचार्य शुक्ल व आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की मान्यताओं का समन्वय करते हुए समग्र रीतिकाल का सम्यक् मूल्यांकन किया है। आधुनिक काल की चर्चा के क्रम में, आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में गद्य साहित्य व पद्य साहित्य का अलग-अलग खण्डों में विवेचन किया है। कुछ इतिहासकारों द्वारा छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसे विभाजन करते हुए इन काल-खण्डों के गद्य साहित्य व पद्य साहित्य का बहुत कुछ घालमेल भी हो गया है। यहाँ पर वासुदेव सिंह जी ने शुक्ल जी की पद्धति से सहमत होते हुए गद्य और पद्य की विभिन्न धाराओं तथा प्रवृत्तियों का अलग-अलग अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह पद्धति अधिक वैज्ञानिक एवं पाठकों के लिये अति सुविधाजनक है। इस इतिहास-ग्रन्थ की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक काल-खण्ड की चर्चा के उपरान्त में उस काल-खण्ड की समग्र मान्य विशेषताओं का एकसाथ मूल्यांकन किया गया है, जिससे सम्बन्धित काल-खण्ड की समूची काव्यगत एवं शिल्पगत विशेषताएँ समन्वित रूप में, एक स्थान पर उपलब्ध हो जाती हैं।

प्रो. वासुदेव सिंह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के स्थायी सदस्य थे और उसकी कार्यकारिणी में भी थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के प्रति पूर्ण समर्पित थे। सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास', जो सोलह खण्डों में प्रकाशित है, वासुदेव सिंह जी की प्रतिभा का प्रत्यक्ष साक्षी है। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' जैसे विशालकाय ग्रन्थ के तीसरे भाग के सम्पादक के रूप में भी अपना योगदान किया।

कुल मिलाकर, अपने साहित्यिक अवदान के रूप में आपने 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल' नामक साहित्येतिहास-ग्रन्थ में साहित्य के उद्‌भव काल की विवेचना की। 'मध्यकालीन काव्य-साधना' नामक पुस्तक में आपने कबीर की रचनाओं के शुद्ध पाठ का सम्पादन किया। 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' के अन्तर्गत अब तक सभी प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करते हुए प्रत्येक काल का सुबोधपूर्ण विभाजन किया। 'कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन' इनकी शोधपरक समीक्षा-

पुस्तक है। 'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' नामक पुस्तक में इन्होंने कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा प्रस्तुत की। सन्त साहित्य के सामाजिक महत्त्व को आलोकित करते हुए इन्होंने 'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक की रचना की। डॉ. जयदेव सिंह के साथ इन्होंने 'कबीर वाङ्मय' का साखी, सबद और रमैनी– तीन भागों में सम्पादन करते हुए सम्पूर्ण टीका प्रस्तुत की। इन्हीं के साथ 'कबीर वाणी पीयूष' और 'कबीर काव्य कोश' जैसे ग्रन्थों की रचना की। भक्तिकाल के समीक्षक के रूप में इन्होंने 'सूर : संदर्भ और दृष्टि' तथा 'तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि' ग्रन्थ की रचना की। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के साथ मिलकर इन्होंने 'राधाकृष्ण भक्त कोश' (पाँच खण्डों में) और 'श्रीराम विश्व कोश' का निर्माण किया। मानस के अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड एवं विनय पत्रिका की भी बेहद उत्कृष्ट टीका प्रस्तुत की। इस प्रकार, इन्होंने साहित्येतिहास-लेखक, आलोचक, इतिहास-अध्येता, दार्शनिक चिंतक, समाजशास्त्रीय समीक्षक, कोशकार एवं टीकाकार आदि की महत्त्वपूर्ण बहुआयामी भूमिका के साथ हिन्दी साहित्य की भरपूर सेवा की। इनकी साहित्यिक कृतियाँ मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य हैं, जिसमें अनुसंधान की विपुल सम्भावनाएँ मौजूद हैं। इनके साहित्यिक अवदान का संरक्षण, अनुरक्षण, संवर्धन करना साहित्य-जगत् का पुनीत कर्तव्य है।

●

प्रो. वासुदेव सिंह की इतिहास-दृष्टि

डॉ. रमाकान्त मिश्र *

इतिहास, वह भी साहित्य का, एक दूरन्त बौद्धिक प्राणायाम का परिणाम है। इसे न तो देश, काल और परिस्थिति की सीमा से सीमायित किया जा सकता है और न ही अतीत की रूपरेखा और सम्भावना मानकर वर्तमान से इसका अन्तर ही माना जा सकता है।'' जब भी प्रो. वासुदेव सिंह जी से हमने इतिहास के सम्बन्ध में जिक्र किया, उनका यही दो टूक जवाब होता था। वे स्पष्ट मानते थे कि जो लोग साहित्य के इतिहास-लेखन के पक्ष में हैं, उन्हें भी 'इतिहास' शब्द पर बहुत ध्यान देने की जरूरत है, क्योंकि इतिहास में कहीं-न-कहीं बीते समय की गन्ध की विद्यमानता रहा करती है, जबकि साहित्य कभी भी बीते हुए समय का न तो बोध कराता है और न ही उसमें अतीत की जिज्ञासा होती है। साहित्य तो कभी भी लिखा गया हो, चिर नवीन होता है, हमेशा वर्तमान में रहता है और सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक हुआ करता है। यही तो साहित्य का साहितत्त्व है। अन्यथा साहित्य का सभ्यता के इतिहास से क्या अलगाव होता?

जब कभी इतिहासगत प्रश्नों पर विचार होता, प्रो. सिंह एकदम भाव-विभोर हो जाते। ऐसा लगता, जैसे बहुत-कुछ सोच रहे हों अथवा जैसे ऋषियों ने मन्त्रों को देखकर 'ऋग्वेद' का रूपांकन किया था, उसी तरह प्रो. वासुदेव सिंह जी भी साहित्य के इतिहास को देखकर नवीन बोध का रूपांकन कर रहे हों। कुछ देर बाद, जब उनकी दृष्टि कुछ संयत लगती, तो वे कह उठते–''क्या कबीर की प्रासंगिकता आज कमजोर पड़ गयी है? जिस ऐक्य की बात कबीर-साहित्य में विद्यमान है, अगर आज उसका असर हो, तो शायद जीवन की प्रासंगिकता और उपादेयता— दोनों पर प्रश्नचिह्न लगना बन्द हो जाय और जो लोग आज जीवन से मृत्यु को श्रेयस्कर मानने लगे हैं, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण सकारात्मक हो जाय। जगत् में केवल श्रेयस व्यापार ही रह जाय, नकारात्मकता रहे ही न।''

फिर भी; हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा में, काल-विभाजन की समस्या पर वे बहुत विचार करते थे, किन्तु किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते थे कि वे जो भी काल-विभाजन हुए हैं, उसे उचित कहें या कुछ और। उनका मानना था कि– ''कोई ऐसा काल नहीं है, जिसमें किसी एक तरह की रचनाएँ हों। साहित्य में किस भाव को या किस प्रवृत्ति को प्रधान माना जाय और किस प्रवृत्ति को गौण; नहीं कहा जा सकता। विशेष रूप से, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आदिकाल या फिर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वीरगाथा काल का उद्धरण देते हुए प्रो. वासुदेव सिंह जी कहते कि शुक्ल जी ने वीरगाथात्मकता की लौ देखी और द्विवेदी जी समय की पूँछ पकड़कर जबर्दस्ती करते रहे। समीक्षकों को कहीं वीररसात्मकता दिखी, तो किसी ने शृंगार की प्रवृत्ति को प्रधान माना। किन्तु ये सभी मान्यताएँ एकांगी हैं। यह तो वही कहावत हुई कि जिसने हाथी

* प्राध्यापक– हिन्दी विभाग, देवेन्द्रनाथ जनता पी.जी. कॉलेज, हसनपुर, चन्दौली

का पाँव देखा, उसने हाथी को खम्भा के समान, जिसने पेट देखा, उसने कोल्हू के समान कह दिया। समग्रता-बोध सम्भवत: सबको मिलाकर नए सिरे से विचारणा से ही सम्भव है।'' जब कभी भी उनकी इन टिप्पणियों पर कुछ तर्क-वितर्क किया जाता, तो वे मुस्कुराते हुए समझाते कि– ''किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन करते समय कार्य-कारण सम्बन्धों पर अवश्य विचार करना चाहिए। कार्य का जितना अधिक महत्त्व है, उससे जरा भी कम महत्त्व कारण का नहीं हुआ करता।'' इस सम्बन्ध में वे पृथ्वीराज रासो की चर्चा करते और कहते कि– ''यदि धर्म की प्रबलता और प्रधानता समाज पर न होती, तो शायद पृथ्वीराज रासो की रचना न हो पाती। श्रृंगार की बात थोड़ी-सी है। थोड़ी आरम्भ में और थोड़ी अन्त में। बहुत सारी स्थिति और वर्णन वीररसात्मक है। किन्तु, सब कुछ के बावजूद; मन्दिर की अवतारणा ही इस तथ्य का उद्घोष है कि किसी भी स्थिति-परिस्थिति में भी धर्म की आस्था को नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। इस ओर भी ध्यान देने की जरूरत है।''

सूफी साहित्य की चर्चा करते समय प्रो. वासुदेव सिंह जी संयत और समन्वित रहते तथा इस्लाम और ईसाईयत के समन्वय की सराहना करते। साथ-ही-साथ सूफी साहित्य, सचेता जायसी के साहित्य की समन्वय की दृष्टि से भूरि-भूरि प्रशंसा करते और कहते कि– ''भक्तिकाल में तुलसीदास ने भारतीय विचार-धाराओं का ही समन्वय किया, किन्तु जायसी ने तो तीन-तीन धार्मिक भावनाओं, तीन-तीन दार्शनिक मतवादों तथा तीन-तीन सामाजिक प्रथाओं का समन्वय किया। वे भाव, मत-मतान्तर तथा प्रथाएँ थीं– भारतीय, पारसी और यूरोपीय।'' हँसते हुए प्रो. सिंह सूफी साहित्य को भारतीय संस्कृति, सभ्यता, सामाजिकता, दार्शनिकता और मान्यताओं का पोषक बताते और कहते कि यह जायसी का भारतीय प्रेम नहीं था, यह तो सूफी साधना-पद्धति और साहित्य की अपनी विशेषता थी।

भक्तिकाल और रीतिकाल को प्रो. सिंह यद्यपि 'काल' कहने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु अध्ययन की सुगमता के नाते कुछ कम कहते थे। वे यह मानते थे कि भक्ति, रीति या यों कहें कि श्रृंगार की प्रवृत्ति किसी भी काल की रचनाओं में समान रूप से व्याप्त है। रीतिकाल को श्रृंगारकाल कहने या श्रृंगारिक प्रवृत्ति की रचना मानने में उन्हें किंचित संकोच नहीं होता था, क्योंकि इन प्रवृत्तियों को जीवमात्र की सामान्य प्रवृत्ति के मूल में मानते थे। श्रृंगार को वे समीक्षकों की दृष्टि से नहीं, रचनाकार की दृष्टि से देखते थे, जहाँ नकारात्मकता का भाव लेशमात्र भी नहीं हुआ करता। यही तो साहित्य-बोध का 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' पक्ष है। आधुनिकताबोध को प्रो. सिंह उपादेय तो मानते थे, किन्तु इसे वे 'समय के साथ चलना' ही स्वीकार करते।

इस प्रकार, सुधी सचेता, मनस्वी और तटस्थ चिन्तक की दृष्टि में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर यदि चिन्तन-मनन किया जाय, तो हिन्दी साहित्य की एक अलग पहचान स्थिर हो सकती है और हिन्दी साहित्य की आरम्भिक रचनाओं का वर्तमान प्रासंगिक और उपादेय के साथ-साथ शाश्वत मानवीय मूल्यपरक रूप उजागर हो सकता है।

●

डॉ. वासुदेव सिंह कृत
'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'

*डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'**

डॉ. मोहन अवस्थी एवं डॉ. बच्चन सिंह ने जिस तरह 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने के उपरान्त क्रमश: 'हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास' और 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' लिखा है, ठीक वैसे ही; काशी विद्यापीठ में हिन्दी के आचार्य वासुदेव सिंह ने भी १९७३ ई. में सर्वप्रथम 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल' प्रकाशित कराया। कालान्तर में 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' (१९८२ ई.) प्रकाशित हुआ। यद्यपि इस पुस्तक में दो उपस्थापन किया गया है, जो भाषायी दृष्टिकोण से 'उद्‌भव काल' को 'संक्रान्ति काल' तथा काव्य-रूपों की दृष्टि से 'प्रयोग काल' भी माना गया है।

सम्पूर्ण पुस्तक कुल पाँच अध्यायों में विभाजित है। 'पूर्व पीठिका' के बाद क्रमश: उद्‌भव काल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल– कुल चार कालों का नामकरण किया गया है। 'उद्‌भव काल' का नामकरण छोड़कर शेष तीनों विहित परिपाटी का ही द्योतक है। काल-विभाजन एवं नामकरण के बहाने लेखक ने साहित्यिक इतिहास की मान्यताओं का भी उल्लेख कर दिया है– ''संसार परिवर्तनशील है। राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्रों में भी परिवर्तन होता रहता है और उस परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। समाज साहित्य को प्रभावित करता है और साहित्य समाज को। अतएव, साहित्य के इतिहास-लेखक का दायित्व होता है कि वह दिशा-परिवर्तनों और रूप-परिवर्तनों का अध्ययन करे और प्राय: समान प्रकृति-प्रवृत्ति के आधार पर काल-विभाजन और नामकरण करे।''[१] आगे उन्होंने 'उद्‌भव' को परिभाषित किया है– ''समग्रता-बोध की दृष्टि से इसे 'उद्‌भव काल' कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ 'उद्‌भव' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भाषा, काव्य-रूप तथा प्रवृत्तियों के आरम्भ का सूचक है।''[२] इस क्रम में, भक्तिकाल को सर्वमान्य स्वीकृति दी है, किन्तु रीतिकाल और आधुनिक काल का नामकरण करने के साथ ही; ऐसे नूतन और अधिक संगत नामकरण की सम्भावना पर जोर दिया है।

लेखक ने अपने इतिहास में सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों के साथ साहित्य-समीक्षा प्रस्तुत करते हुए तत्युगीन प्रवृत्तियों एवं काव्य-रूपों को केन्द्रित करके मूल्यांकन करने का प्रयास किया है और भक्तिकाल भी पुराने ढर्रे पर विभाजित-वर्णित है, किन्तु इसमें विषय एवं कवियों का वर्णन करके विस्तार अवश्य किया गया है। लेखक ने सूफियों के काव्य को आध्यात्मिक-लौकिक– दो धाराओं में विभाजित करके चिश्तिया, कादिरिया, नक्शबन्दिया तथा सुहरवर्दिया सम्प्रदायों के विकास और विस्तार का सम्यक् वर्णन किया है।

हिन्दी में कृष्णकाव्य-परम्परा विद्यापति से शुरू मानते हुए लेखक ने लिखा है– ''आधुनिक भाषाओं में विद्यापति की पदावली कृष्ण-प्रेम की प्रथम रसधारा है।''[३] रामकाव्य के वर्णन में नामोल्लेख न करते हुए, लेखक ने कामिल बुल्के की पुस्तक 'रामकथा : उद्‌भव और विकास' को केन्द्रित करके उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम के साथ विदेशों में रामकाव्य के विस्तार को रेखांकित किया है, जिससे अखिल विश्व का मानचित्र तैयार हो जाता है। पुस्तक में चीन, बर्मा, इण्डोनेशिया आदि अनेक देशों में चर्चित रामकथा के स्वरूप का वर्णन किया गया है और नाथमुनि से शुरू होकर रामानन्द के बाद तुलसी को सर्वश्रेष्ठ रचनाकार के रूप में अधिष्ठित किया गया है। अकेले तुलसी की १५ पृष्ठों में सांगोपांग व्यक्तित्व-कृतित्व

* विभागाध्यक्ष एवं सहायक आचार्य– प्रयोजनमूलक हिन्दी विभाग, सरगुजा विश्वविद्यालय, अम्बिकापुर (छ.ग.)

की चर्चा है। इस वर्णित इतिहास में शुक्ल जी की भाँति कवि के रूप में तुलसी ही कसौटी हैं। पीछे की रामकाव्य-परम्परा की विस्तृत शृंखला है, किन्तु सर्वप्रथम लेखक ने हनुमत्काव्य-परम्परा का वर्णन करके इतिहास में कुछ नूतन प्रयोग किया है, जैसे– अन्य भक्ति-काव्यधारा के विविध सम्प्रदाय हैं।

पुस्तक में 'रीतिकाव्य' में पाँच प्रकार की प्रवृत्तियों को दिखाया गया है, जिसमें रीतिशास्त्रीय केन्द्रीय रूप विद्यमान था– शृंगारिक काव्य, भक्ति काव्य, नीति काव्य, वीर काव्य और विविध काव्य। इन्होंने केशवदास का परिचय रामकाव्य-परम्परा में देते हुए केशव के प्रतिनिधि महाकाव्य को भक्तिकाल में रख दिया है, किन्तु आचार्यत्व की चर्चा रीतिकाल में करते हुए रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय शुक्ल जी के तथ्यों को काटकर स्थापित किया है– ''केशवदास ने काव्य के जिन अंगों पर विचार किया है, गम्भीरता और प्रौढ़ता में वे दूसरे कवियों की अपेक्षा हीन स्तर के भी नहीं हैं। वह कवि की अपेक्षा आचार्य के रूप में ही हिन्दी-जगत् में सम्मानित हैं। इसलिए केशवदास से सर्वांग निरूपक परम्परा का प्रवर्तन मानना अधिक समीचीन होगा।''[४] पुस्तक में आचार्यों का वर्णन - १. सर्वांग निरूपक, २. रस निरूपक, ३. अलंकार निरूपक तथा ४. छन्द निरूपक– इन्हीं चार रूपों में हुआ है, क्योंकि रीतिकाल में इन आचार्यों में रस, छन्द, अलंकार और अंग के सांगोपांग वर्णन की सहज प्रवृत्ति व्याप्त हो गयी थी।

आधुनिक काल को गद्य-पद्य के अन्तर्गत रखकर कई उपविभाग व कालखण्ड बनाये गये हैं। इन्होंने 'आधुनिक' शब्द को दोषगत मानते हुए भी इसे महत्त्व दिया है– ''आधुनिक शब्द किसी नवीन काव्य-प्रवृत्ति का बोधक नहीं है। वह समय-सूचक है, विषय-सूचक नहीं। जिस प्रकार भक्ति, रीति अथवा शृंगार शब्द से किसी खास प्रवृत्ति का बोध होता है, 'आधुनिक' शब्द से वैसी प्रवृत्ति की जानकारी नहीं होती।''[५]

आधुनिक काल का विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है–

(क) पद्य– १. संक्रान्ति काल (१८४३-१९०० ई.)

(अ) प्राचीन काव्यधारा (१८४३-१८६८ ई.)

(ब) नवजागरण (१८६९-१९०० ई.)

२. सुधारकाल (१९०१-१९५० ई.)

३. छायावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद (१९२०-१९३५ ई.)

४. प्रगतिवाद (१९३६-१९४२ ई.)

५. प्रयोगवाद और नई कविता (१९४३-अब तक)।

(ख) गद्य– इसके अन्तर्गत नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि का भी वर्णन करके अन्य प्रमुख विधाओं– आत्मकथा, जीवनी, नवगीत आदि का तथ्यात्मक वर्णन करने में लेखक ने परहेज किया है। वैसे पत्र-पत्रिकाओं की भी तालिका देकर इसकी नोटिस ले ली गयी है। दो टूक कह देना श्रेयष्कर होगा कि लगभग इन चार दशकों में लिखे गये विभिन्न इतिहासों में, इसकी महत्ता के कारण, इसका स्मरण अवश्य किया जायेगा। इसमें गम्भीर नातिदीर्घ विषयों का प्रतिपादन ठीक बन पड़ा है।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. वासुदेव सिंह - हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ.-२१

२. वही, पृ. - २३

३. वही, पृ. - १२८

४. वही, पृ. - २१५

५. वही, पृ. - २७९

●

मध्यकालीन काव्य के मौलिक चिन्तक

('मध्यकालीन काव्य-साधना' के आलोक में)

डॉ. कन्हैया सिंह*

विद्वान् में विद्या और विनय– दोनों का योग होता है। प्रो. वासुदेव सिंह इसके प्रत्यक्ष प्रमाण थे। सहज, सरल, स्नेही और संवेदनशील प्रो. सिंह कभी भी अपनी विद्वत्ता को किसी पर थोपते नहीं थे। यही कारण है कि जो उन्हें निकट से जानता था अथवा उनके कार्यों का अध्ययन द्वारा साक्षात्कार करता था, वही उन्हें सम्पूर्ण रीति से समझ सकता है। उन्होंने भक्तिभाव की चारों धाराओं के काव्य में अनुसन्धान के बिन्दुओं की तलाश की। कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास उनके अध्ययन के केन्द्र में थे। इनमें विशेष रमने की वृत्ति उनकी कबीर और तुलसी में ही थी।

कबीर का पाठ और काव्य-कौशल

बात कबीर से प्रारम्भ कर रहा हूँ। हिन्दी-जगत् या यों कहिए भारतीय साहित्य में कबीर के जो भी अध्येता हैं, वे तीन खण्डों में सम्पादित 'कबीर वाङ्मय' से परिचित होंगे। डॉ. जयदेव सिंह के साथ प्रो. वासुदेव सिंह ने यह सम्पादन किया। मैं पाठालोचन का विद्यार्थी हूँ, अत: यह जानता हूँ कि यह कार्य प्रो. वासुदेव सिंह का है, जयदेव सिंह के निर्देशन में अवश्य यह सम्पन्न हुआ। १९८१ ई. में प्रकाशित उनकी पुस्तक **'मध्यकालीन काव्य साधना'** में 'कबीर का प्रामाणिक साहित्य' शीर्षक लेख में, उन्होंने कबीर की रचनाओं के शुद्ध पाठ-सम्पादन की सरणी में, बाबू श्यामुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली', डॉ. रामकुमार वर्मा के 'कबीर', डॉ. पारसनाथ तिवारी की 'कबीर ग्रन्थावली', डॉ. शुकदेव सिंह के 'कबीर-बीजक' के पाठों की चर्चा विस्तार से की है। उन्होंने इन सम्पादकों की आधार-सामग्री का भी निर्देश किया है। शुकदेव सिंह ने 'बीजक' का सम्पादन किया, जो कबीर की पांथिक-परम्परा का स्वीकृत पाठ है, शेष ने सभा आदि की कबीर के पाठ की प्रतियों को आधार बनाया। श्यामसुन्दर दास ने सर्वप्रथम यह कार्य किया। अत: उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही और सभा-प्रति की परम्परा का वह एक प्रामाणिक पाठ भी है, पर उसमें समग्र उपलब्ध साखियों, सबदों, रमैनियों का विचार न होना, उच्चारण-दोष, शब्द-प्रत्यय में त्रुटियाँ आदि सीमाओं के साथ 'ग्रन्थावली' नाम प्रयोग भी भ्रामक था। वस्तुत: कबीर ने स्फुट दोहे, पद आदि कहे, जिनका संकलन उनका समग्र रचना-संसार है। उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा ही नहीं, तो ग्रन्थावली कैसे बन गयी?

इस विवेचन के द्वारा डॉ. सिंह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'बीजक' की परम्परा के पाठ को 'कबीर'

* राहुल नगर, आजमगढ़

के साहित्यिक सम्पादकों ने नहीं उपयुक्त समझा। कबीर-पंथी साधु 'बीजक' को ही कबीर की प्रामाणिक कृति मानते हैं और उनकी दृष्टि से यही ज्ञान की कुंजी है। इस सन्दर्भ में उनका निष्कर्ष है–

कबीर पंथियों में बीजक को ही सबसे प्रामाणिक और आदि ग्रन्थ माना गया है। विशप जी.एच. वेस्टकॉट ने लिखा है कि **''बीजक कबीर साहब की शिक्षा का प्रामाणिक ग्रन्थ मान लिया गया है। यह सम्भवतः १५७० ई. में या सिक्खों के ५वें गुरु अर्जुन द्वारा 'नानक की शिक्षा' आदि ग्रन्थ में लिखे जाने के बीस वर्ष बाद लिखा गया था। कबीरपंथी संतों द्वारा इसके पाठ-निर्धारण और टीका-भाष्य-लेखन के सम्बन्ध में समय-समय पर कार्य होते रहे हैं।''** उन्होंने इस क्रम में सात महत्त्वपूर्ण सम्पादनों का उल्लेख किया है। बलिया के प्रसिद्ध संत सदाफल देव ने भी 'बीजक' का एक भाष्य प्रस्तुत किया है। इस दिशा में सबसे अन्तिम और सर्वपाठ समावेशी 'बीजक' विचारदास (महन्थ-कबीर मठ, वाराणसी) का है। **''कबीर पंथियों के अतिरिक्त 'बीजक' पर कुछ अन्य लोगों ने भी कार्य किए हैं, जिनमें रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह जी कृत 'पाषण्ड खंडिनी टीका' और लाहौर से उर्दू में प्रकाशित मुंशी शिवव्रत लाल का 'कबीर-बीजक' मुख्य है। इनके अतिरिक्त; बीजक के और भी कई संस्करण उपलब्ध हैं। डॉ. पारसनाथ तिवारी ने ऐसे ३२ संस्करणों की सूची दी है।''** (म.का.सा., पृ. ५१)

डॉ. शुकदेव सिंह ने बीजक के पाठ पर नया कार्य किया और बताया कि यही कबीर का प्रामाणिक पाठ है। इन्होंने कबीर-पंथ की भगताही शाखा के बीजक को और भी अधिक महत्त्व दिया। प्रो. वासुदेव सिंह ने भी कबीर के इसी बीजक वाले पाठ को महत्त्वपूर्ण माना और शुकदेव सिंह द्वारा प्रस्तुत पाठ के सम्बन्ध में बताया– **''कबीर-वाणी के महत्त्वपूर्ण अंश के वैज्ञानिक पाठ के अभाव की पूर्ति का संकल्प लेकर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है। बीजक के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण के लिए विद्वान् लेखक ने लगभग १२ हस्तलेखों और तीन दर्जन के लगभग बीजक के मुद्रित संस्करणों का उपयोग किया है। ...लेखक के मत से उपर्युक्त सभी पाठों में 'भगताही बीजक' ही सबसे प्रामाणिक है।''** (वही, पृ. ६१)

इतने श्रम के साथ पूर्ववर्ती पाठों की छानबीन और अध्ययन-अनुशीलन के बाद उन्होंने 'कबीर-वाङ्मय' का सम्पादन किया, जिसमें ग्रन्थावली-परम्परा और बीजक-परम्परा के समस्त पाठों का विनियोग किया गया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि यही पाठ सबसे प्रामाणिक है, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि कबीर के उपलब्ध सभी साहित्य का उन्होंने सुसंगत और सुविचारित सम्पादन किया है। डॉ. जयदेव सिंह जैसे दर्शन और अध्यात्म-विधा के पण्डित के साथ इस पाठ की टीका भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितना इसका पाठ। जितना पाठ इस संकलन में है, सब कबीर का ही है– यह तो अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर इतना अवश्य है कि इसमें कबीर का कोई भी सम्भावित पाठ कदाचित छूटा नहीं है।

इतना ही नहीं; कबीर की काव्य-कला, प्रतीक, रूपक, अलंकारों के साथ ही उनकी भाषा का बड़ा ही बारीक और आलोचनात्मक अध्ययन उन्होंने अपने लेखों में प्रस्तुत किया है।

सूफी काव्य में गहरी पैठ

सूफी काव्य के सम्बन्ध में 'मध्यकालीन काव्य-साधना' में दो लेख हैं। एक 'अपभ्रंश के जैन चरित काव्य और हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य' शीर्षक से है। इसमें सूफी कविता की जो प्रबन्ध-परम्परा है, वह जैन चरित काव्यों की सरणि में है। शुक्ल जी आदि ने इसे फारसी की मसनवी शैली के ढंग का कहा था।

मसनवी का प्रभाव तो है, पर उसका अधिकतर गठन, रूप-स्वरूप जैन चरित काव्यों का है। यह बात प्रो. रामसिंह तोमर ने अपने शोध-प्रबन्ध 'अपभ्रंश काव्य' में तथा डॉ. नामवर सिंह ने अपने 'अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव' नामक ग्रन्थ में लिखा है। मैंने भी १९६८ ई. में प्रस्तुत अपने शोध-प्रबन्ध में इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। प्रो. वासुदेव सिंह ने इस विषय को अपने उपर्युक्त शीर्षक के १५ पृष्ठों के निबन्ध में, विस्तार से, उदाहरण सहित, मौलिक ढंग से दिखाया है। वस्तुत: अपभ्रंश के बाद लम्बे समय तक हिन्दी की प्रबन्ध-परम्परा सूफी और असूफी– दोनों जैन चरित काव्यों की शैली पर चली। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो से लेकर समूचे सूफी काव्य पर इसका प्रभाव है।

सूफी काव्य-चिन्तन की दिशा में डॉ. सिंह ने मुल्ला दाऊद के 'चंदायन' पर विस्तृत विमर्श किया है। यह सूफी प्रेमाख्यानों की परम्परा का प्रथम ग्रन्थ है, यद्यपि इसका रचनाकाल आदिकाल की सीमा में पड़ता है। बहुत दिनों बाद लंदन से इसकी एक प्रति डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त को मिली और उन्होंने इसका मुद्रित पाठ सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया। यह एक बड़ी उपलब्धि थी और इसका श्रेय परमेश्वरी लाल गुप्त को मिलना ही चाहिए। बाद में; डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने भी इसका एक सटीक संस्करण सम्पादित करके प्रकाशित किया। डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त के पाठ के आधार पर प्रो. सिंह ने 'चंदायन' की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की।

उन्होंने इसे सूफी प्रेमाख्यानों की प्रबन्ध-परम्परा का प्रथम काव्य सिद्ध करते हुए कहा कि इसमें सूफी-तत्त्व नहीं है, पर यह प्रेम काव्य एक श्रेष्ठ प्रेमकाव्य है। प्रस्तुत: प्रेम ही सूफी तत्त्व है, जो साधना का सार है। वही सूफी-साधना का साधन भी है और सिद्धि भी है। अत: उसमें सूफी-साधना के पारिभाषिक शब्द या प्रतीक या संकेत ढूँढ़ना व्यर्थ है। इस विषय पर मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में विचार किया है। इस पर विस्तार से विमर्श हो सकता है, जो इस लेख की परिधि में सम्भव नहीं है।

'चंदायन' की भाषा के सम्बन्ध में डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त ने भूमिका में एक प्रश्न उठाया है कि उनकी भाषा अवधी नहीं है। उसे वे एक मिली-जुली बोली का स्वरूप मानते हैं, जिसे 'हिंदवी' कहते हैं। इस सम्बन्ध में; अपने लेख में प्रो. सिंह ने विस्तार से विचार किया है। अवधी के व्याकरण के आधार पर चंदायन के व्याकरणिक रूप का उदाहरण सहित विश्लेषण करके उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि 'चंदायन' की भाषा अवधी ही है। उनका निष्कर्ष है– **''चंदायन की भाषा के इस संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौलाना दाऊद अवधी के प्रथम श्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने ठेठ जनभाषा में काव्य-रचना करके न केवल अपने भाषा-अधिकार का प्रमाण दिया, अपितु परवर्ती अवधी भाषा के कवियों के लिए एक आदर्श भी प्रस्तुत किया। यदि यह कहा जाय कि ब्रजभाषा के विकास में जो स्थान सूरदास का है, अवधी के प्रसार में वही स्थान मौलाना दाऊद का है– तो अतिशयोक्ति न होगी।''** (वही, पृ. १०७)

जब डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अपने स्वकीय संस्करण का पाठ प्रस्तुत किया, तो उसकी भूमिका में उन्होंने दाऊद के चंदायन की भाषा का विस्तृत विश्लेषण करके उसे अवधी सिद्ध किया था। प्रो. सिंह के निष्कर्ष माताप्रसाद गुप्त के निष्कर्षों के अनुरूप ही हैं।

प्रो. सिंह ने सूफी काव्य पर उतना कार्य नहीं किया, जितना कबीर और तुलसी पर किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे सूफी काव्य के गम्भीर अध्येता थे और उसमें उनकी मूलगामी पकड़ थी। मेरी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' की समीक्षा करते हुए जो विचार उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह उनके जायसी-काव्य

में गम्भीर अध्ययन के प्रमाण हैं। उन्होंने भारत में सूफियों के आगमन का उद्देश्य इस्लाम का प्रचार ही माना है और कई सूफी कवि भी इसी भावधारा के थे पर जायसी ने एक नयी जमीन और एक नयी दिशा का निर्माण किया। प्रो. सिंह के शब्दों में– **''डॉ. कन्हैया सिंह का निष्कर्ष भी लगभग इसी प्रकार का है। उनके अनुसार, जायसी ने एक परिपक्व सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय देते हुए एक ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया है, जिसमें यहाँ के मूल भारतीय हिन्दू समाज की सम्मान-रक्षा के साथ ही माटी का प्यार समाहित है। इसमें कट्टरपंथ, आक्रामकता और बेगानेपन की इस्लामी दृष्टि के खोखलेपन को दर्शाते हुए कवि ने इन दो भिन्न दिखती हुई जातियों में आत्मीयता और एकता का एक आधार प्रस्तुत किया है। वह आधार है– प्रेम और सहिष्णुता। इस दृष्टि से अमीर खुसरो और जायसी की दृष्टियों का अन्तर रेखांकित किया जा सकता है... डॉ. कन्हैया सिंह के शब्दों में– (जायसी ने) एक ऐसी संस्कृति का प्रकाश बिखेरा है, जो मानव-संस्कृति है और जो मानव-मात्र के अंतःकरण को अपनी दिव्य आभा से आलोकित करती है।''** (आलोचक का अन्तर्दर्शन, पृ. ७१)

सूर-काव्य में प्रवेश

'बल्लभ दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सूर-काव्य का मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने पुष्टिमार्ग, अष्टछाप, बल्लभ-दर्शन के मूल तत्त्वों का तात्त्विक विवेचन किया है। सूरदास पर बल्लभ-दर्शन के प्रभाव का प्रमाण सहित विश्लेषण भी किया है। 'रास लीला और सूरदास' में उन्होंने रासलीला के आध्यात्मिक स्वरूप का बड़ा ही मूलगामी विश्लेषण किया है। रामलीला प्रभु के साथ समरस होकर नित्य आनन्द की अनुभूति का ही प्रतीक रूप है। सूर के एक पद में कहा गया है–

नित्य धाम वृन्दावन स्याम,
नित्य रूप राधा ब्रज धाम ।
नित्य रास, जल नित्य बिहार,
नित्य मान खंडिताभिसार ।।
ब्रह्म रूप येई करतार,
करनहाल त्रिभुवन संसार।
नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर,
नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर ।। (पद-२८४५, सभा)

यह वैष्णव भक्ति के नाम, रूप, लीला और धाम– चारों का योग है। रास लीला के सूक्ष्म पक्ष का निष्कर्ष प्रो. सिंह ने इस प्रकार दिया है– **''इस नित्य लीला में भाग लेने का अधिकारी बन जाना ही भक्त के जीवन का लक्ष्य होता है। वैष्णव भक्त प्रभु की सत्ता में अपना विलीनीकरण नहीं चाहता। उसका लक्ष्य होता है– भगवान की लीला में सहभागी बनना। इसीलिए वह सालोक्य या सामीप्य (मुक्ति चाहता है– सायुज्य या सारूप्य नहीं। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दमय है। वैष्णव भक्त ने आनन्द को ही प्रेम या रस माना है। रास का प्रयोजन इसी रस या आनन्द की प्राप्ति है।''** (म.का.सा., पृ. १४१) इसीलिए राम को रस-रास और कृष्ण को रसिक कहते हैं।

इस क्रम में, उनका तीसरा निबन्ध 'कृष्ण-काव्य की परम्परा और सूरदास' है। यह निबन्ध एक शोधपरक निबन्ध है, जिसमें संस्कृत के कृष्ण-आख्यान ग्रन्थों तथा प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रन्थों की परम्परा में सूरकाव्य के विकास को रेखांकित किया गया है।

राम के भक्त और रामकाव्य के व्याख्याता

प्रो. सिंह राम के भक्त थे। राम और तुलसी– उनके साहित्यिक अध्ययन के ही नहीं, अपितु उनके जीवन के भी पाथेय थे। राम-नाम, राम-भक्ति और राम-भ्रमर तुलसी के सेतु से ही उन्होंने राम के परमभक्त और 'श्रीराम विश्वकोश' के प्रधान सम्पादक डॉ. भगवती प्रसाद सिंह से अन्वय-सम्बन्ध जोड़ लिया था। भगवती प्रसाद सिंह में संस्कार से पड़े राम-भक्ति के बीज को गोरखपुर में श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने पुष्पित और पल्लवित किया तथा प्रो. वासुदेव सिंह के इस संस्कार को भगवती प्रसाद सिंह ने प्रफुल्लित किया। 'मध्यकालीन काव्य साधना' में आधे से अधिक निबन्ध राम और तुलसी तथा उनके काव्य से सम्बन्धित हैं। इनमें राम-कथा के विविध पक्षों का विश्लेषण किया गया है। रामकथा : सांस्कृतिक सन्दर्भ, तुलसी का काव्य-दर्शन, तुलसी का विनय-भाव, तुलसी की भक्ति का स्वरूप, तुलसी की लोकतात्त्विक दृष्टि, रामकथा में रूपक-तत्त्व, रामजन्म के हेतु, मानस-परम्परा, मानस के देवता, मानस की भाषा, तुलसीदास की कृष्ण गीतावली, अग्नि-परीक्षा और सीता-निर्वासन, राम की कीर्तिपताका के दण्ड : लक्ष्मण– इन निबन्धों के शीर्षक हैं। इन पर समीक्षा के लिए एक स्वतन्त्र आलेख की आवश्यकता होगी। अत: इस सम्बन्ध में इतना ही कहूँगा कि प्रो. वासुदेव सिंह एक मौलिक शोधकर्त्ता और समीक्षक थे। वे गहराई से आलोच्य कृति का अध्ययन करते थे और उससे सम्बन्धित मूल ग्रन्थों को पढ़कर उनकी गहराई से पड़ताल करते थे। वे कही हुई बातों को दुहराने के आदी नहीं थे, अपितु नयी खोज और नयी स्थापना के लिए तत्पर रहते थे। इन निबन्धों की भी यही स्थिति है। उदाहरण के लिए 'मानस की भाषा' निबन्ध में उन्होंने पूर्ववर्ती मतों को बताकर कि कोई उसे बैसवाड़ी, कोई अवधी (पूर्वी-पश्चिमी दोनों) और कोई अवधी और ब्रज की मिली भाषा का रूप मानते हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी अवधी में ब्रज का मिश्रण मानते हैं और अम्बा प्रसाद 'सुमन' तो इसे 'ब्रजावधी' ही कहते हैं। प्रो. सिंह ने प्रत्येक काण्ड में अवधी और ब्रज के मिश्रण की क्या स्थिति है, इसका विश्लेषण किया है। साथ ही; उसके व्याकरण का विस्तृत विश्लेषण करके अध्ययन और अनुसन्धान में अपने को समर्पित किया। काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग की वे शोभा और शान थे।

●

हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन

पं. केशरीनाथ त्रिपाठी *

मैंने विद्वान् लेखक प्रो. वासुदेव सिंह की शोधपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' का अवलोकन किया। हिन्दी साहित्य को वैभव-सम्पन्न करने तथा उसके माध्यम से संसार को दिशा एवं आलोक प्रदान करने में सन्त कवियों की महत्ता स्वयंसिद्ध है। समाज और प्राणि मात्र के कल्याणार्थ उनकी परमार्थी दृष्टि ने अपने वर्तमान में जो भविष्यत् का अवलोकन किया, उसे निर्भीक वाणी प्रदान की। कितने ही सम्प्रदाय और पंथ जन्मे। दर्शन के तमाम स्वरूप लोक-विश्रुत हुए। यह भी सत्य है कि उनमें से अधिकांश की जन्मस्थली या कर्मस्थली वाराणसी रही है।

प्रो. वासुदेव सिंह ने कबीर को केन्द्र में रखकर, उनके पूर्ववर्ती तथा पश्चात् के सन्त कवियों पर अत्यन्त परिश्रम और सूक्ष्म अन्वेषण करके, इस पुस्तक की रचना की है। यह जहाँ सन्त कवियों की काव्यात्मक भाव-भूमि और रचनाधर्मिता पर प्रकाश डालती है, वहीं उनके कथन के निहितार्थ को भी उजागर करती है। प्रो. वासुदेव सिंह ने न केवल सन्त कवियों के वास्तविक इतिहास को समाज के समक्ष रखा है, वरन् उनके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष की भी विवेचना की है। पुस्तक पाठक को विषय की गहराई में उतारती है और उसकी जिज्ञासा बढ़ाती हुई सम्पूर्ण पाठ के प्रति उत्सुक करती है। यह लेखक की विशेषता है कि उसने एक शुष्क विषय को सरल और प्रवाहपूर्ण बना दिया है। समाज से विरक्त होकर समाज में रहने वाला ही समाज की सही चिन्ता कर सकता है और सत्य का समर्थक हो सकता है, वही सन्त कहलाने का अधिकारी है।

हिन्दी सन्त काव्य मूलत: भारतीय चिन्तन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, सहस्त्रों वर्षों की आध्यात्मिक चिन्ता का प्रतिफल है, तथापि इसको व्यापक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय तत्कालीन सामाजिक अव्यवस्था को है। वस्तुत: सामाजिक दृष्टि से यह न्याय और समानता का आन्दोलन है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में पिसती, ऊँच-नीच की भेद-भावना में कराती, तथाकथित अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति का आन्दोलन है, जो वर्ग-वैषम्य के अन्यायपूर्ण जुएँ को उतार फेंकने के लिए व्याकुल हो रही थी।

सन्त काव्य मूलत: लोकजीवन का काव्य है, जिसमें समाज के दलित-उपेक्षित-शोषित वर्ग की पीड़ा और उसकी इच्छा-आकांक्षाओं को मुखरित किया गया है; धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त कुरीतियों, बाह्याचारों और पाषण्डों पर तीखा प्रहार किया गया है, मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करने वाली मिथ्या चहारदीवारी को भग्न किया गया है, मुल्ला-पुरोहितों के प्रभुत्व की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं, समता, बन्धुत्व-भावना और मानवतावाद का शंखनाद किया गया है, नगर-संस्कृति की अपेक्षा बहुसंख्यक ग्राम-समाज को

* पूर्व राज्यपाल– पश्चिम बंगाल तथा पूर्व अध्यक्ष– विधान सभा, उत्तर प्रदेश

प्रमुखता दी गयी है तथा राजनीतिक पराभव और सामाजिक वैषम्य से हताश लोकजीवन में नूतन स्फूर्ति और आशा का संचार किया गया है।

इन सन्तों ने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता का उद्घोष करते हुए परमसत्य को निर्द्वन्द्व-निर्भीक वाणी में अभिव्यक्त किया तथा मिथ्या धारणाओं का कठोर शब्दावली में खण्डन किया। इस प्रकार, इन्होंने मानव-समाज के सामूहिक कल्याण की चर्चा की और धर्म-निरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। इसीलिए वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में सन्त-काव्य के वैचारिक मूल्यों की विशेष सार्थकता तथा आवश्यकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा गया है।

●

हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन

प्रो. श्यामधर सिंह *

'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' ग्रन्थ का विरचन सन्त साहित्य के महारथी विद्वद्वर प्रो. वासुदेव सिंह (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी) द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का श्रेय विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी को प्राप्त है। श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह हिन्दी सन्त काव्य के गौरव रहे हैं। उनकी जिह्वा में सरस्वती का निवास था। उनकी कलम में अद्‌भुत शक्ति थी। नि:सन्देह हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन कर हिन्दी साहित्यिक जगत् को उन्होंने एक नवीन दृष्टि दी है। प्रस्तुत रचना में उन्होंने न केवल सैद्धान्तिक उपागम के आधार पर सन्त काव्य में अंतर्विष्ट तथ्यों पर प्रकाश डाला है, प्रत्युत अनुभाविक उपागम के आधार पर अनेकानेक मठों और आश्रमों का वैयक्तिक अवलोकन कर, वैयक्तिक अध्ययन-प्रणाली के आधार पर महंतों एवं सन्तों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित कर, तथ्यों का संकलन कर, सन्तों की वाणियों के अन्तरतम में प्रवेश कर गूढ़ार्थों एवं रहस्यों को उद्‌घाटित किया है।

हिन्दी सन्त काव्य तथ्यत: भारतीय चिन्तन-परम्परा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, हजारों वर्षों के आध्यात्मिक चिन्तनों का उत्पाद है। वस्तुत: हिन्दी सन्त काव्य सिद्ध, नाथ, योगी, सूफी परम्परा में सम्बोधन, जागरण और धार्मिक रूढ़ियों के प्रत्याख्यान का साहित्य है। इस साहित्य की रचना तब हुई, जब छुआछूत, मूर्ति-पूजा, मन्दिर और वेद की पूज्यता से सम्बन्धित परम्पराएँ समाज को खण्डित कर रही थीं। जाति-पाँति के भीतर घृणा और ईर्ष्या के अवांछित तत्त्व विश्वास बन गये थे। कर्मकाण्ड, पूजा, नमाज का सम्बन्ध अध्यात्म से अधिक मनुष्य को छोटा-बड़ा करके देखने वाले प्रतिमान के रूप में विकसित हो रहा था। दलित एवं पिछड़ी जातियों, साधु, मंगता, भगत और जोगियों की प्रेरणा से धर्म, ईश्वर और मानव-प्रतिष्ठा से सम्बन्धित नई चेतना का उद्‌भव हो रहा था। शास्त्र-प्रमाण की जगह गुरु और ज्ञान, स्वसंवेद्य चिन्तन तथा आत्मविश्वास की नई भावनाओं का उदय हो रहा था। श्रमजीवी, दस्तकार वर्ग के भीतर से क्रान्तिकारी विचार समाज का सम्बोधन बन रहा था। सन्तों ने अपने चिन्तन, तप और तर्क के भीतर से ऐसी कविताओं का सृजन किया, जिनमें उनके पेशे से जुड़े शब्द, उनके नित्य के जीवन से जुड़े मुहावरे, आँख से देखे हुए सच, उनके उत्सव-पर्व तथा पूजन से जुड़े हुए संगीत-लय कविता की ताकत बन रहे थे।

प्रो. वासुदेव सिंह के शब्दों में– **''सन्त काव्य मूलत: लोकजीवन का काव्य है, जिसमें समाज के दलित-उपेक्षित-शोषित वर्ग की पीड़ा और उसकी इच्छा-आकांक्षाओं को मुखरित किया गया है, धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त कुरीतियों, बाह्याचारों और पाषण्डों पर तीखा प्रहार किया गया है,**

* पूर्व प्रोफेसर– समाजशास्त्र विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करने वाली चहारदीवारी को भग्न किया गया है, मुल्ला-पुरोहितों के प्रभुत्व की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं, समता, बंधुत्व-भावना और मानवतावाद का शंखनाद किया गया है, नगर संस्कृति की अपेक्षा बहुसंख्यक ग्राम-समाज को प्रमुखता दी गई है तथा राजनैतिक पराभव और सामाजिक वैषम्य से हताश लोकजीवन में नूतन स्फूर्ति और आशा का संचार किया गया है।''

एतदर्थ वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में सन्तकाव्य के वैचारिक मूल्यों की विशेष सार्थकता तथा आवश्यकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कलेवर को आठ अध्यायों में रखकर प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक का पुरोवाक् अत्यन्त ही सारगर्भित ढंग में प्रस्तुत किया गया है। यह पठनीय है।

प्रथम अध्याय 'भक्तिकाल : राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति' से सम्बन्धित है। कहना न होगा, किसी युग की साहित्यिक सम्पदा का सम्यक् अवबोध प्राप्त करने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक होता है। द्वितीय अध्याय 'हिन्दी के प्रमुख सन्त और सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित है। इसके अन्तर्गत 'सन्त' शब्द की विशद् व्याख्या की गयी है। सन्त-परम्परा के उद्भव एवं विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में पंथ एवं सम्प्रदाय जैसे सम्प्रत्ययों की भी चर्चा की गयी है, किन्तु समाजशास्त्रीय अर्थ में इनकी व्याख्या केवल कबीर पंथ तक ही सीमित है। तृतीय अध्याय 'हिन्दी सन्त काव्य : उद्भव और विकास' से सम्बन्धित है, जबकि चतुर्थ अध्याय 'कबीर के परवर्ती सन्त' नाम से उल्लिखित है। पंचम् अध्याय 'सन्त कवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक अवधारणा' के नाम से वर्णित है, जिसके अन्तर्गत कबीर-साहित्य और समाज-युगीन परिस्थितियों का विवरण विवृत है। षष्ट अध्याय के अन्तर्गत 'कबीर के परवर्ती सन्त कवियों का सामाजिक दर्शन' अन्तर्विष्ट है, जबकि सप्तम् अध्याय में 'सन्त कवियों का रचनात्मक पक्ष' समाविष्ट है। अन्तिम, अष्टम् अध्याय 'उपसंहार' से सम्बन्धित है। विद्वान् लेखक द्वारा कुल मिलाकर इस ग्रन्थ में हिन्दी सन्त काव्य का विस्तृत एवं विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। उपर्युक्त सभी अध्याय विषय-अनुक्रम एवं तार्किक क्रम में विरचित हैं। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया है कि सन्त कवियों का स्वर सदैव विद्रोही एवं खण्डनात्मक ही नहीं रहा है, वस्तुत: उनकी प्रकृति सर्जनात्मक रही है, प्रकार्यात्मक रही है एवं लोकमंगलकारी रही है। उनके काव्य में मानवतावादी तत्त्व अन्तर्निहित हैं, जो शाश्वत और धर्म, जाति तथा काल-निरपेक्ष हैं। उनका सन्देश किसी एक वर्ण, जाति, वर्ग, धर्म, देश अथवा काल तक सीमित नहीं है। वह सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है, चिरन्तन है। वह जितना अतीत में सार्थक था, उतना ही वर्तमान में प्रासंगिक है और भविष्य में भी उतना ही उपादेय बना रहेगा।

ग्रन्थ का अनुशीलन करने पर एक गहन शैक्षिक ऊर्जा की अनुभूति होती है, परन्तु एक प्रश्न मेरे मानस-पटल पर कौंध आता है कि क्या समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र में अदीक्षित अध्येता अध्ययन करने के लिए अधिकृत है? वहीं, किन्तु इस ग्रन्थ के प्रणयनकर्त्ता प्रो. वासुदेव सिंह ग्रन्थ-कलेवर व अन्तर्वस्तु को प्रस्तुत करने में एक सजग समाजशास्त्री की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुत: सन्तों की आत्मानुभूति-सम्पन्न जीवन-दृष्टि और उनकी सामाजिक चेतना का वैषयिक विश्लेषण जिस ढंग से प्रो. वासुदेव सिंह ने किया है, वह श्लाघनीय और स्तुत्य है, समाजशास्त्रीय पद्धतिशास्त्र से संयुक्त है। इस ग्रन्थ के विरचन में उन्होंने न केवल परिपाटी-विहीत काव्य-पद्धति का अनुसरण किया है, बल्कि समाजशास्त्रीय पद्धति एवं कार्य-विधि का भी अनुशीलन किया है। यह उनके व्यक्तित्व का अनुपम वैशिष्ट्य है। प्रो. वासुदेव

सिंह ने समय, स्वरूप और सुगन्धि की त्रिधारा लेकर जिस रूप में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, वह न केवल हिन्दी साहित्य-जगत् के अध्येताओं के लिए उपयोगी है, प्रत्युत् समाजशास्त्रीय जगत् के अध्येताओं के लिए भी उतना ही उपादेय है।

कहना न होगा कि मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलनों एवं आधुनिक धार्मिक आन्दोलनों से सम्बद्ध अध्ययन-विषयों का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों के लिए यह कृति बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण साबित होगी– ऐसी मेरी मान्यता है। सन्तों एवं भक्तों के जीवन के उत्स को समझने में तथा भक्ति-परम्परा का परीक्षण करने में यह कृति एक सशक्त आधारशिला के रूप में बहुत कार्यकारी सिद्ध हो सकती है।

●

हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

डॉ. उदय प्रताप सिंह *

प्रो. वासुदेव सिंह की पुण्यतिथि पर कुछ लिखते या कहते हुए उनका पूरा व्यक्तित्व आँखों के सामने आ जाता है। वह एक बहुत ही सफल अध्यापक, शोधकर्मी, स्पष्ट वक्ता तथा स्पष्ट विचारों वाले व्यक्ति थे। उनकी स्मरण-शक्ति आजीवन अच्छी रही। कक्षाओं में तुलसीदास पढ़ाते समय मानों उन्हें पूरा 'रामचरितमानस' और तुलसीदास के अन्य ग्रन्थ पूर्ण रूप से स्मरण हों। तमाम विश्वविद्यालयी 'दंद-फंद' से दूर प्रो. सिंह निरन्तर साहित्य-सेवा में लगे रहते थे। कट्टरता से दूर उनका व्यक्तित्व लेखन में भी प्रतिबिम्बित होता रहता था। उन्होंने वैसे तो कई पुस्तकों का सृजन किया; पर सब मिलाकर उनका श्रेष्ठतम कार्य सन्त साहित्य पर ही परिलक्षित होता है।

वह उदय प्रताप कॉलेज के दिनों से ही कुशल अध्येता के रूप में जाने जाते रहे। उत्तरोत्तर उनका अध्ययन गम्भीर होता गया और हिन्दी साहित्य, मुख्यत: हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए उनके लेखन की उपयोगिता बढ़ती गयी। वैसे; हिन्दी के स्वघोषित विद्वान् तो बनारस में बहुत हैं। संगोष्ठियों में जब वे अपनी विद्वत्ता की डींग हाँकते हैं, तो पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् भी निष्प्रभ हो जाते हैं। पर प्रो. सिंह इन आत्मश्लाघियों से दूर, बहुत दूर, अपने रचना-कर्म में ही निमग्न रहते थे। यही कारण है कि उनका 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' पढ़ने के बाद हिन्दी साहित्य का एक हजार वर्षों का जीवन आँखों के समक्ष स्पष्टत: तैरने लगता है। डींग हाँकी विद्वानों की एक भी रचना ऐसी नहीं, जो हिन्दी जिज्ञासुओं के योग्य हो।

प्रो. सिंह अपभ्रंश साहित्य के माध्यम से हिन्दी की यात्रा प्रारम्भ करते हैं और संत साहित्य–मध्यकाल तक आते-आते अपने को उसी पर केन्द्रित कर लेते हैं। बाबू जयदेव सिंह के सान्निध्य में उन्होंने कबीर पर महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। कहना न होगा कि प्रो. सिंह ने जिस मनोयोग से यह कार्य सम्पादित किया है, उसी का उत्तरवर्ती विकास उनकी आलोच्य कृति 'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' है।

'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्याय है। पहले अध्याय में भक्तिकालीन राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विश्लेषण है। मुगलकालीन सत्ता के हस्तक्षेपों से जनजीवन के प्रभावित होने के विश्लेषण इस अध्याय के प्रमुख विषय रहे हैं। साहित्य, कला और लोकजीवन में इन शासकों की नीतियाँ किन-किन रूपों में प्रभावी रही हैं, उसका स्पष्ट और बोधगम्य विश्लेषण तमाम आवश्यक तर्कों को खारिज कर देता है। यह तुगलक वंश से प्रारम्भ हो मुगल वंश के शाहजहाँ तक पहुँचता है। इसी काल में भक्ति आन्दोलन के प्रवाह ने अन्यान्य वैमत्यपरक विचारों को अपनी तीव्र धारा में प्रवाहित कर दिया है–

* बी.एफ.एस.–१३ हरनारायण विहार, सारनाथ, वाराणसी

यह भी लेखक की स्थापना है। दूसरा अध्याय संतों की परिभाषाओं से लेकर उनके सम्प्रदायों के विकासात्मक सोपान तक विस्तृत है। इसी क्रम में, विद्वान् लेखक प्रो. सिंह ने संत सम्प्रदायों की मौलिक अवधारणाओं को भी रेखांकित किया है। साथ ही; निर्गुण-सगुण के बंधमूल तात्पर्यों से हटकर, दोनों धाराओं के सनातन प्रवाह का पथ भी निर्देशित किया है। आचार्य शुक्ल के इस मत का खण्डन भी किया है कि 'निर्गुण ब्रह्म की उपासना हताश और कुण्ठित मनोवृत्ति का परिणाम है।' यह तो सनातन ब्रह्म-चिन्तन की प्रक्रिया है।

सन्तों के प्राकट्य और उनकी परम्परा को तीसरे अध्याय में सप्रमाण व्याख्यायित किया गया है। सन्त जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, स्वामी रामानन्द इत्यादि को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का यह उपक्रम प्रो. सिंह के गहन चिन्तन का परिचायक है। आचार्य रामानन्द से तो भक्ति की धारा ही फूट पड़ती है, जिसके सगुण और निर्गुण– दो तट हैं। मुख्यत: हिन्दी साहित्य के लिए यह विश्लेषण अर्थवान हो जाता है। कबीर के परवर्ती सम्प्रदाय वाले खण्ड में अनेक ऐसे संत, साहित्य और सम्प्रदायों का विवरण है, जो लेखक की अन्वेषी दृष्टि को प्रगट करता है। बिहार स्थित फतुहा इत्यादि मठों की सुदीर्घ और सम्पन्न परम्परा को इसी क्रम में वर्णित किया गया है। सूचना की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न अध्याय है, जिसमें उत्तरी भारत के शताधिक मठ-सम्प्रदायों की चर्चा समाज के सन्दर्भ में की गयी है।

पुस्तक के पाँचवें अध्याय में समस्त सन्तों के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। साथ ही; समाज और साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों की तलाश भी इस अध्याय की स्थापना प्रतीत होती है। इस क्रम में, लेखक ने आधुनिक समाजशास्त्रियों के विचार को पुस्तक में स्थान देकर साहित्य-समाज के सहसम्बन्धों को उजागर तो किया ही है, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को पुनर्परिभाषित करते हुए साहित्य को उससे जोड़ा भी है। साहित्य और समाज के घटकों को लेकर किया गया यह अध्ययन सन्त साहित्य के विज्ञ और जिज्ञासु जनों के लिए एक पाथेय सरीखा है।

सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध की इस अप्रतिम कृति में समाज, सन्त और साहित्य– सभी को जीवन्त बना दिया है। मानवता, सामाजिक एकता, सहिष्णुता, साम्य, समदर्शी, प्रेम, सत्य, परोपकार के सृजन और अहंकार के निरसन से सन्तों का साहित्य जन्म लेता है। यही स्वस्थ समाज के गुण हैं। भाईचारा, हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष– सबको एक दृष्टि से देखना–सन्तों का जीवन-दर्शन है।

सन्तों की इस शिक्षा में मात्र भौतिक समानता ही परिणाम नहीं दे सकती। अत: सन्तों की सामाजिक समरसता में ईश्वर को केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार करना ही होगा। मात्र धन-सम्पत्ति की समानता से एक-दूसरे के प्रति आदर और समरसता की सृष्टि नहीं हो सकती। उसके लिए सन्तों के इस ध्रुव वाक्य को मानना पड़ेगा कि 'एक नूर ते सब उत्पन्ना'— ईश्वर जगतपिता, उसकी संतान जीव। फिर उस संतान में छोटा-बड़ा कौन, ऊँच-नीच कौन, ब्राह्मण-शूद्र कौन? सबके रक्त का रंग तो लाल ही है। इन सारे सामाजिक सन्दर्भों से गुजरते हुए प्रो. सिंह की यह कृति हाल के वर्षों में सबसे अधिक चर्चित रही है।

●

प्रो. वासुदेव सिंह का समाज-दर्शन

डॉ. सविता भारद्वाज *

काशी विश्व की प्राचीनतम जीवन्त पुरी है। यह विश्व की सांस्कृतिक राजधानी मानी जा सकती है। अपनी ऊर्वर क्रोड में जिन रत्नों को सँजोकर रखती है, उनमें से एक भास्वर रत्न प्रो. वासुदेव सिंह जी का नाम लोक-विश्रुत है। प्रो. सिंह की कर्मस्थली भी काशी नगरी ही रही है। भारतीय मनीषा की आलोक छवि प्रो. वासुदेव सिंह जी ने आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५६ ई. में हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान प्राप्त कर अपने कुल गौरव को प्रदीप्त किया तथा सन् १९६२ में 'अपभ्रन्श और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' विषय पर गम्भीर शोधकार्य कर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। तदनन्तर, सुदीर्घ विमल कीर्तिमयी विश्वविद्यालयीय सेवा के उपरान्त सन् १९९६ में अवकाश ग्रहण किया। आजीवन हिन्दी साहित्य का सम्वर्धन करते रहे। उनकी कालजयी कृतियों में हिन्दी साहित्य का उद्भव काल (उ.प्र. सरकार द्वारा पुरस्कृत), हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, मध्यकालीन काव्य-साधना, कबीर वाङ्मय (भाग-१,२,३), कबीर काव्य कोश, कबीर : साहित्य, साधना और पंथ, राधाकृष्ण भक्तकोश (५ खण्डों में) तथा अन्य अनेक गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन तथा सम्पादन है, जिसके माध्यम से उन्होंने हिन्दी साहित्य-जगत् को समृद्ध किया।

सादगीपूर्ण वेश-भूषा, गरिमामण्डित व्यक्तित्व अपने पूतविचारों से जगर-मगर करता, गहन अनुचिन्तन में डूबी आँखें, बालसुलभ निश्छल उन्मुक्त हास– इस बात का बरबस परिचय दे देता कि इन आँखों ने कबीर की साखी, सबद, रमैनी को सच्चे अर्थों में देखा है, सुना है और जीवन में गुना भी है। शब्दों के जाल बुनना सरल होता है, किन्तु उन शब्दों के अर्थ-गाम्भीर्य को हृदयंगम करना तथा उसे अपनी जीवन-शैली का अनिवार्य अंग बनाना इतना सहज और सरल नहीं होता। किन्तु, प्रो. वासुदेव सिंह जी ने इसको चरितार्थ किया। वे पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन, कथा-वार्ता, वाचन-श्रवन से सर्वथा असम्पृक्त रहते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास कृत मानस का पारायण करना कभी विस्मृत नहीं करते। यही कारण है कि आपकी निर्गुनियाँ कलम में भी सगुन का रसबोध निरन्तर प्रवाहित होता रहा।

उनके उदधि सरीखे साहित्य-कोश से कुछ मोती चुनकर प्रस्तुत आलेख में पिरोने की अनथक चेष्टा की गयी है। प्रो. सिंह को धर्माडम्बरों से सख्त परहेज था। इनकी ऑड़ में पनपने वाले मिथ्याचारों से घृणा थी। धर्म के माध्यम से आयी हुई सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं को देखकर वे व्याकुल हो उठते। लेखनी के माध्यम से वे उसका निरन्तर प्रतिरोध करते रहे। उनकी सामाजिक चेतना का स्वर यहाँ पर विद्रोही हो उठता। उनका समाज-दर्शन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना का पोषक था। एतदर्थ, उनके समूचे साहित्य

* प्राचार्य– राजकीय महाविद्यालय, गाजीपुर, उत्तर प्रदेश

में मानवीय अस्तित्व का सतत् गरिमा-मण्डन दिखलायी पड़ता है। मानववाद के पक्षधर प्रो. वासुदेव सिंह की कालजयी कृति 'हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन' में उनके सामाजिक चिन्तन को मुखरता से अभिव्यक्ति मिली है। उनके साहित्य में लोकमाटी की सोंधी गमक है, तो लोक-जीवन अपनी नैसर्गिकता के कारण नागर-जीवन से श्रेष्ठ दिखाई पड़ता है। उनका सामाजिक चिन्तन रूढ़िगत दूषित मानसिकता के समूल उन्मूलन का उद्घोष है। वे मानव को मानव से दूर करने वाली जाति-पाँति रूपी विष-बेल के समूलोच्छेद की बात करते हैं। इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि यह अमरबेल सामाजिक-सत्व को सोख रही है। उनका सामाजिक दर्शन ममत्व एवं विश्व-बन्धुत्व का सतत् आकांक्षी है। वह सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण हेतु साहित्य में सामान्यजन को सूत्रबद्ध करने की बात कहता है।[१]

प्रो. वासुदेव सिंह जी के सामाजिक चिन्तन की निर्मिति सन्त कवियों के काव्य का आस्वादन कर हुई है। जिस प्रकार सन्त कवियों ने सड़ी-गली अप्रासंगिक हो चुकी महत्त्वहीन परम्पराओं की परिसमाप्ति की वकालत की है, ठीक उसी प्रकार प्रो. सिंह ने भी इन कुरीतियों का प्रबल विरोध किया है। किन्तु, उल्लेख्य तथ्य यह भी है कि सनातन परम्परा के सर्वथा खण्डन का प्रयास ही नहीं किया है, वरन् उन उदात्त मान्यताओं का महिमा-मण्डन भी किया है, जो समाज में मानवीय मूल्यों की उद्भावना करती हैं। इस दृष्टि से यह निष्कर्षित होता है, आपका समाज-दर्शन उग्र मानववादी चिन्तन नहीं है। यह एक सन्तुलित सोच का प्रतिफलन है।[२] इस बात की परिपुष्टि विवेच्य ग्रन्थ में वर्णित समाज की परिभाषा से स्वत: हो जाती है– **''निष्कर्ष रूप में यहाँ हम केवल इतना कहना पर्याप्त समझते हैं कि समाज के बिना, सामाजिक विरासत के बिना, व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्तित्व में नहीं आता और न ही आ सकता है।''**[३]

प्रो. सिंह को आधुनिकता प्रभावित तो करती है, किन्तु परम्परा के प्रति व्यामोह भी है। वे परिवार को समाज की मौलिक आधारभूत संस्था मानते हैं तथा इसके टूटने के विविध कारकों पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हैं। वे समाज में पनपती हुई भोगवादी वृत्ति के प्रति निराशा व्यक्त करते हैं तथा परिवार की सुदृढ़ता के निमित्त सार्थक उपायों को भी सुझाते हैं। कहते हैं– **''चाहे कितनी ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ क्यों न आएँ, परिवार समाप्त नहीं हो सकते। ...प्रेम और शान्ति की कामना– ऐसे मनोवैज्ञानिक कारण हैं, जो परिवार को टूटने नहीं देंगे। परिवार सदैव जीवित रहेगा।''**[४]

वे जाति-व्यवस्था के दुष्परिणामों की विस्तृत चर्चा करते हैं तथा 'जाति' शब्द की यथार्थ एवं समीचीन व्याख्या करते हुए सन्तुलित सामाजिक सोच से जन गण के मन को अपने अनुरूप करते हैं– **''जाति-व्यवस्था में समाज का विभाजन ऊँच-नीच की भावना पर आधारित होता है। वर्ण व्यक्ति के कर्तव्य-बोध का परिचायक है, जबकि जाति अधिकार-सूचक है।''** इस प्रकार, वे कर्त्तव्य-परायणता को अधिकार-बोध से अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करते हैं। अस्तु, वे प्राचीन भारतीय ऋषि-परम्परा की समकालीन कड़ी प्रतीत होते हैं।

किसी भी विचारक की विचारणा उसके नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण से अधिक स्पष्ट होती है। नारी के प्रति विश्व के लगभग सभी विचारकों ने परस्पर विरोधाभासी वक्तव्य दिए हैं, जिससे उनकी उदार/संकीर्ण मानसिकता का आभास होता है। नारी के विषय में प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भी अपने अभिमत दिए हैं। सन्त काव्य में उसका महिमा-मण्डन कम उपलब्ध होता है। नारी की झाँई भुजंग को भी अंधा बना सकती है। वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, माया है, मिथ्या है, ठगिनी है, अविद्या है, अज्ञान है, अन्धकार है। उससे

सर्वथा विरत रहने की बात कही गयी है। सभी बुराइयों का मूल माना गया है। किन्तु, सन्त काव्य का अध्येता मन इन विचारों को खारिज कर देता है। आप लिखते हैं– **''नारी को भी समाज में सम्मानजनक स्थान मिलना चाहिए। वह समाज की चेतन इकाई है। वह डाकिनी, पिशाचिनी, माया नहीं है। वह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। वह धन-सम्पत्ति-प्रदायिका लक्ष्मी है। वह उद्‌भव, स्थिति और संहारकारिणी है। समस्त क्लेशों का निवारण करने वाली है। सर्वश्रेयस्करी है। अतः उसको पूज्य मानना समाज-हित में सर्वोपरि है।''**

इस प्रकार, आपका समाज-दर्शन सामाजिक विसंगतियों पर कुठाराघात का दर्शन है। मानवीय चेतना का दर्शन है। समाज में सत्य, शिव और सुन्दर की प्रतिष्ठापना का पोषक है। जर्जर व्यवस्था के समूल नाश की सोच है। समाज में नवोन्मेष का बृहत् प्रसार है।

सन्दर्भ-संकेत

१. हिन्दी सन्त काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ-*VII*
२. वही, पृष्ठ-*VIII*
३. वही, पृ. १७४
४. वही, पृ. १७६

●

कबीर-मूल्यंकन की परम्परा और काशी

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह *

सैद्धान्तिक दाँव-पेंचों एवं जटिलताओं से परे मस्तमौला, अक्खड़ स्वभाव वाले कबीर ने तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था, जो ऊँच-नीच की श्रेणीबद्ध शृंखला पर आधारित थी, की प्रखर आलोचना करके उसे अपने दम पर चुनौती दी थी। सामाजिक विद्रूपताओं का उद्घाटन करके शोषण एवं गरीबी का 'आँखिन देखी' यथार्थ चित्रण किया था। भारतीय विवेकवाद (रेशनलिज्म) के इतिहास में प्रथम बार यदि किसी महान् चिन्तक ने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष किया और उससे सम्बद्ध रूढ़ियों व बाह्याडम्बरों का पर्दाफाश किया, तो वह धर्मयोद्धा कबीर ही थे, जिन्होंने हिन्दू व मुसलमान– दोनों धर्मों के सभी प्रकार के धार्मिक आडम्बरों पर अचूक तर्क-युक्त प्रहार किया, तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का पर्दाफाश किया। कबीर का कार्य-क्षेत्र मुख्यत: काशी था और धर्मान्धता का सबसे कट्टर रूप भी यहीं पर विद्यमान था।

कबीर की रचनाधर्मिता, सृजन-धर्म का स्थान मुख्यत: काशी रहा है, जहाँ उन्हें विरोध भी मिला और पहचान भी मिली, उलाहना भी मिली और सराहना भी मिली, प्रतिरोध भी मिला और प्रशंसा भी मिली। वस्तुत: तमाम प्रकार के द्वन्द्व काशी की परम्परा रही है। प्रशंसा-प्रतिरोध, उलाहना-सराहना– काशी की धरती की खासियत है। इसीलिए काशी में कबीर को जहाँ पण्डितों के विरोध का सामना करना पड़ा, वहीं साधारण जनता ने हाथों-हाथ लिया। जहाँ राजाज्ञा के तहत उन्हें हाथी से कुचलवाने का प्रयत्न हुआ, वहीं उनके समकालीन सन्तों ने उन्हें अवतार घोषित किया। इसी प्रकार, विद्वत्मण्डली ने जहाँ उनके कवित्व-रूप को नकारा, वहीं उनकी प्रतिभा से चमत्कृत होकर भूरि-भूरि प्रशंसा भी की।

वस्तुत: कबीर के आविर्भाव काल से लेकर अबतक उनकी वाणी के मूल्यांकन की एक समृद्ध परम्परा चली आ रही है। कबीर-वाणी की उपादेयता पर विश्व भर में नए सिरे से विचार-गोष्ठियाँ हो रही हैं। कबीर के समकालीन सन्तों ने कबीर-वाणी की विशिष्टता का ऑकलन करते हुए अपने विचार प्रकट किए हैं तथा परवर्ती सन्तों, टीकाकारों, भाष्यकारों तथा विद्वानों ने भी कबीर-काव्य की आलोचना करके उनके विचारों को समाज के सामने प्रकट किया है। सन्त रैदास, सन्त पीपा, सन्त धना से लेकर मलूकदास, सुन्दरदास, अबुल फजल आदि ने कबीर-काव्य के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। हिन्दीतर विद्वानों में आ. क्षितिमोहन सेन, रवीन्द्रनाथ टैगोर, आर.जी. राना डे, पाश्चात्य विचारकों में वेस्टकॉट, कुमारी अण्डरहिल, मैकॉलिफ, फर्खुहर, लिण्डा हेस आदि ने कबीर-वाणी की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किए हैं। कबीर के समकालीन पीपा ने कबीर के रचनात्मक अवदान को समाज के लिए उपयोगी बताते हुए कहा– **'जो कलि माँह कबीर न होते / तो वेद अरु कलियुग मिलिकरी भगति रसातल देते।'**[१]

* सह आचार्य– हिन्दी विभाग, नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

रैदास ने कबीर को 'हरि नाम' स्मरण करने वाला तथा जन्म-जन्म के बन्धनों से मुक्त होने वाला बताया है–

'हरि के नाम कबीर उजागर / जनम जनम के काटे कागर।'[२]

हिन्दी आलोचना के लगभग सौ वर्षीय इतिहास में कबीर के विचारों को लगभग हर आलोचक ने अपना विषय बनाया है। मिश्रबन्धु से लेकर डॉ. धर्मवीर तक हिन्दी आलोचकों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जो किसी-न-किसी रूप में कबीर की मान्यताओं का विश्लेषण करते हैं।

काशी, जो कबीर की जन्मस्थली है, यहाँ से कबीर की आलोचना सम्बन्धी कार्यों की एक लम्बी सूची है। हिन्दी में कबीर-वाणी के सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी सभा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। आलोचकों में हरिऔध के बाद बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'कबीर ग्रन्थावली' महत्त्वपूर्ण है, जिसका प्रकाशन १९२० ई. में हुआ। ग्रन्थावली की भूमिका के रूप में बाबू श्यामसुन्दर दास ने कबीर के जीवन से लेकर उनके विचारों तक का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अपनी आलोचक दृष्टि के माध्यम से उन्होंने कबीर को निर्गुण भक्त कवियों में सबसे अधिक बढ़-चढ़ कर माना है और हिन्दी जनता पर तुलसी के बाद कबीर को सर्वाधिक प्रभावशाली कवि माना है, किन्तु कबीर की आधी से अधिक रचनाओं को काव्य के दायरे से खारिज कर दिया है और उनकी भाषा को 'खिचड़ी' कहा है। यद्यपि कबीर की भाषा के सम्बन्ध में दिया गया श्यामसुन्दर दास का वक्तव्य पूर्वाग्रह-ग्रस्त है, फिर भी; कबीर-वाणी के संचयन और विवेचन में युगीन आवश्यकतानुसार किया गया उनका कार्य इसलिए महत्त्वपूर्ण कहा जाएगा, क्योंकि यह कबीर-समीक्षा में हिन्दी का दूसरा कार्य था, जो हिन्दी की प्रारम्भिक समीक्षा के लिहाज से उचित था।

बाबू श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' के प्रकाशन के अगले वर्ष ही आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाश में आया। यह ग्रन्थ भी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने प्रकाशित किया। हालाँकि आचार्य शुक्ल भी पूर्ववर्ती आलोचकों की भाँति कबीर की वाणी के सम्बन्ध में पूर्वाग्रह-ग्रस्त होकर अपना मत व्यक्त करते हैं, किन्तु कबीर की उपादेयता को भी नहीं नकारते। आचार्य शुक्ल कबीर के विचारों से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी उनकी वाणी के प्रभाव से अछूते न रहे। कबीर-वाणी की विलक्षणता एवं मानवीय प्रेम के उपदेश के कारण वह कबीर-वाणी को कुछ प्रशंसा के वाक्य दे गए हैं– ''यद्यपि वह पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्यपूर्ण बातें निकलती थीं।''[३] कबीर की भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं– ''कबीर की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं, जिनमें काव्य की ब्रज भाषा और कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।''[४] आचार्य शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में भी कबीर-वाणी की भारतीय सन्दर्भ में ग्राह्यता पर विचार किया है– ''कबीर की अटपटी वाणी से भी दोनों के दिल साफ न हुए। 'मनुष्य-मनुष्य के बीच रागात्मक सम्बन्ध है'– यह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। कबीर विधि-विरोधी थे और जायसी विधि पर आस्था रखने वाले। कबीर लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे और वे (जायसी) सम्मान करने वाले।''[५]

वस्तुत: आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि में वर्णाश्रम-धर्म का मेल स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतीय संस्कृति व विचारधारा के सम्बन्ध में, ब्राह्मणवादी विचारों के कारण, वह कबीर को समाज-सुधारक मानने के लिए तैयार हैं, किन्तु कवि के रूप में उन्हें कबीर से प्रिय तुलसी एवं जायसी हैं। निर्गुण पन्थ के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है– ''उधर शास्त्रों का पठन-पाठन लोगों में कम रह गया,

इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख बढ़ रहे थे, जो किसी 'सत्गुरु के प्रसाद' मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। भक्ति के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निन्दा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे और आर्य धर्म के सामाजिक तत्त्वों को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिए कल्याणकर नहीं।''[६]

कबीर-वाणी की समीक्षा के अगले चरण में १९४२ का वर्ष महत्त्वपूर्ण रहा है। इस वर्ष दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आए। पहला, डॉ. रामकुमार वर्मा का 'सन्त कबीर' और दूसरा, हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कबीर'। इनमें से हजारी प्रसाद द्विवेदी का सम्बन्ध काशी से रहा है। अत: प्रस्तुत निबन्ध में उन्हीं का विवेचन समीचीन होगा। हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रस्तुत पुस्तक कबीर-वाणी की समीक्षा की एक प्रामाणिक पुस्तक के रूप में आजतक लोकप्रिय है। कबीर-वाणी की समीक्षा में आज भी यह पुस्तक पाठकों-छात्रों का दिशा-निर्देशन मानक ग्रन्थ के रूप में करती है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार– ''कबीर में अस्वीकार का साहस था। उन्होंने कबीर को धर्मगुरु की संज्ञा दी, उनके भक्त-रूप का सम्यक् निरूपण किया, उनको क्रन्तिकारी पुरुष घोषित किया, हिन्दी का सबसे बड़ा व्यंग्यकार सिद्ध किया और उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर बताया।'' आचार्य द्विवेदी ने कबीर-वाणी का संग्रह भी प्रस्तुत किया है, जो आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित वाणी के समान है। प्रथम सौ पद ज्यों-के-त्यों आचार्य सेन द्वारा संकलित सौ पद ही हैं। कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए आचार्य द्विवेदी लिखते हैं– ''कबीदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति, जो इतने क्षेत्रों को उद्भासित कर सकी है, वो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। कबीरदास के पदों में जो महान् प्रकाश-पुञ्ज है, वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं।''[७]

कबीर को निर्गुण राम का सच्चा भक्त सिद्ध करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं– ''कबीर धर्मगुरु थे, इसीलिए उनकी वाणी का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए। वे मूलत: भक्त थे। भगवान् पर उनका विकल-अखण्ड विश्वास था।''[८] अपनी वैचारिकी को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं– ''जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्य की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नहीं होता, तब तक अशांति रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्धा रहेगी। कबीर साहब ने इस महती साधना का बीज बोया था।''[९] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी जहाँ कबीर को 'धर्मगुरु' कहकर उन्हें संकीर्ण दायरे में समेटने की कोशिश करते हैं, वहीं उन्हें 'मानवता का मार्गदर्शन कराने वाला योद्धा' भी सिद्ध करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनन्तर समीक्षा-जगत् में डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. सरनाम सिंह शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, पारसनाथ तिवारी, शिवकुमार मिश्र, डॉ. धर्मवीर, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. नजीर मुहम्मद, रामचन्द्र तिवारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

बीसवीं शताब्दी में काशी से जिन लोगों ने कबीर-वाणी के संकलन व समीक्षा का कार्य प्रमुख रूप से किया, उनमें डॉ. जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह, शुकदेव सिंह, विवेकदास, रामनिवास चाण्डक, विद्यानिवास मिश्र, नामवर सिंह आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव सिंह के संयुक्त प्रयास से 'कबीर वाङ्मय' भावार्थ बोधिनी टीका तीन खण्डों में प्रकाशित हुई। कबीर-वाणी को सुबोध बनाने की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। 'कबीर वाङ्मय' का उद्देश्य बताते हुए सम्पादक द्वय ने लिखा है– ''लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कबीर वाङ्मय की सुविस्तृत भावार्थ बोधिनी व्याख्या एवं उनके साहित्य, पंथ, दर्शन और साधना की प्रामाणिक

समीक्षा बनी। इसका प्रथम खण्ड 'रमैनी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। तीसरे खण्ड में साखियों की व्याख्या दी गई है। दूसरा खण्ड सबद या पद से सम्बद्ध है।''[१०]

सन् १९७८ में, कबीर पंथी विद्वान् आचार्य विवेकदास द्वारा सम्पादित दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। एक 'कबीर साहब' दूसरी 'कबीर साहित्य की प्रासंगिकता'। यह दोनों पुस्तकें इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उसमें विभिन्न विद्वानों के कबीर सम्बन्धी लेख प्रथम बार संकलित हुए। इन दोनों पुस्तकों में प्राय: कबीर के सम्पूर्ण व्यकित्व व कृतित्व की गहन समीक्षा की गई है। 'कबीर साहब' पुस्तक में कबीर की वर्णहीन विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। लेखक कहता है– ''कबीर इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न भगवान् बुद्ध के बाद सबसे तेजस्वी सन्त हैं। सौभाग्य से कबीर जाति के जुलाहा थे, जिस जाति की गिनती अन्त्यजों में होती है। सौभाग्य से वे काशी में उत्पन्न हुए, जो ब्राह्मणत्व का गढ़ था। ब्राह्मण-व्यवस्था के गढ़ में ही बैठकर वे ब्राह्मण-व्यवस्था पर गोली-बारी करते रहे। उन्होंने पहला प्रहार चातुर्वर्ण्य पर किया। ब्राह्मणों ने चातुर्वर्ण्य का प्रतिबन्ध लगाया था, कबीर ने इसके खिलाफ नया मूल्य स्थापित किया। उन्होंने कहा– 'हरिजन सई न जाति' अर्थात् भक्त के समान दूसरी जाति नहीं है। यानी जो भक्त है, वह अस्पृश्य होते हुए भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है।''[११]

विवेकदास द्वारा सम्पादित दूसरी पुस्तक 'कबीर साहित्य की प्रासंगिकता' में कबीर को नये सन्दर्भों से जोड़ते हुए उनकी वाणी की सामाजिक उपादेयता पर विचार-मन्थन किया गया है तथा कबीर को जन-कवि घोषित करते हुए 'यथार्थवादी' भी कहा गया है– ''मध्यकालीन आचार्यों में वह सबसे जनोन्मुख व यथार्थवादी थे। वे शास्त्रीय आचार्यों की परम्परा में न होकर जनसाधारण के आचार्य थे।''[१२] इस प्रकार, विवेकदास एक तरफ कबीर को बुद्ध की भाँति भगवान् का अवतार मानकर कबीर के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं, वहीं उन्हें यथार्थवादी जनकवि भी घोषित करते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९७८ में प्रकाशित डॉ. रामनिवास चाण्डक की पुस्तक 'कबीर : जीवन और दर्शन' में कबीर की वाणी को वेद-सम्मत एवं भाषा को संस्कृत-सम्मत बताया गया है।

वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' में कबीर-समीक्षा के नए पहलुओं को उजागर करने का उल्लेखनीय कार्य किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'कबीर' की अनेक स्थापनाओं के समर्थन में डॉ. नामवर सिंह ने अपना तर्क प्रस्तुत किया है। 'अस्वीकार का साहस' लेख में उन्होंने कबीर की समीक्षा-परम्परा की पड़ताल करते हुए विभिन्न विचारकों के कबीर सम्बन्धी विचारों की समीक्षा की है तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी को कबीर का सच्चा प्रतिष्ठापक माना है। 'कबीर' पुस्तक की प्रशंसा में नामवर सिंह लिखते हैं– ''दरअसल; इन सभी विशेषताओं का मूल स्रोत है– कबीर के असाधारण व्यक्तित्व का ठीक-ठीक उद्घाटन ही द्विवेदी जी का मुख्य लक्ष्य है। प्रसंगवश मुझे यह भी कहने में संकोच नहीं कि कबीर का व्यक्तित्व-विश्लेषण हिन्दी गद्य का गौरव है, जिसे किसी और बात के लिए न सही, केवल हिन्दी गद्य की शक्ति और सम्भावना का अनुभव करने के लिए पढ़ा जा सकता है।''[१३]

१९९१ में पं. विद्यानिवास मिश्र द्वारा सम्पादित 'कबीर वचनामृत' पुस्तक प्रकाशित हुई। मिश्र जी ने कबीर के पदों का विश्लेषण करते हुए लिखा है– ''कबीर के सबद का आकाश ही कुछ और है। बड़ा तपता है दिन में, बड़ा जुड़ाता है रात में। बाहरी व्यवहार में बड़ा निर्मम लगता है, पर एकान्त की निशा में बड़ा शीतल, बड़ा मनोहर, सुख के सपने जैसा लगता है। इतना दूर होते हुए भी अपना लगता है।''[१४]

नब्बे के दशक में कबीर के व्यक्तित्व व कृतित्व पर कई सम्पादित पुस्तकें भी प्रकाश में आईं, जिनमें विभिन्न आलोचकों ने कबीर-वाणी का अपने ढंग से विश्लेषण किया। इनमें डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित

'कबीर' में लेखकों ने कबीर के नाना पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इसमें आचार्य परशुराम चतुर्वेदी से लेकर डॉ. तारकनाथ बाली तक के समीक्षकों ने कबीर का विश्लेषण किया है।

डॉ. वासुदेव सिंह-जयदेव सिंह के संयुक्त प्रयास से 'कबीर-वाणी' का प्रकाशन सम्भव हुआ, जिसमें कबीर के व्यक्तित्व व कृतित्व का परिचय तो है ही, साथ ही; कबीर-वाणी का सटीक पाठ भी सम्मिलित है। कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लेखक कहते हैं– ''कबीर का व्यक्तित्व न केवल सन्त कवियों में, अपितु पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। हिन्दी साहित्य के लगभग बारह सौ वर्षों के इतिहास में, तुलसीदास को छोड़कर, इतना प्रतिभाशाली और महिमामण्डित व्यक्तित्व किसी दूसरे कवि का नहीं। वह हिन्दुओं के लिए वैष्णव भक्त, मुसलमानों के लिए पीर, सिक्खों के लिए भगत, कबीर पंथियों के लिए अवतार, आधुनिक राष्ट्रवादियों के लिए हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधायक, नव वेदान्तियों के लिए विश्वधर्म या मानवधर्म-प्रवर्तक, प्रगतिशील दृष्टि से समाज-सुधारक, जातिगत श्रेष्ठता के विरोधी, सामाजिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के पक्षधर, क्रान्तिकारी और समता, बन्धुत्व-भावना, न्याय तथा एकता के प्रतिपादक के रूप में मान्य हैं।''[१५] इसके अतिरिक्त; डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा लिखित 'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ', 'सन्तकाव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' व 'कबीर काव्य कोश' कबीर-वाणी की आलोचना के क्षेत्र में किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

कबीर-वाणी के सम्पादन की दो परम्पराएँ रही हैं– ग्रन्थावली-परम्परा और बीजक-परम्परा। इनमें से ग्रन्थावली-परम्परा का सम्बन्ध साहित्यिक विद्वानों से है और बीजक-परम्परा का सम्बन्ध कबीर मठों से है। साहित्यिक परम्परा से डॉ. शुकदेव सिंह अकेले ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने बीजक को अपना विषय बनाया है। शुकदेव सिंह जी का सम्बन्ध विवेकदास जी से भी बहुत आत्मीय था।

कबीर के शब्द-भाण्डार का विवेचन करते हुए डॉ. शुकदेव सिंह ने कबीर के शब्दों को अनुभव से आया हुआ बताया है। वह कहते हैं– ''कबीर का शब्द-जगत् काव्य-शब्दों के भीतर से नहीं आता। वे अनुभव की बड़ी दुनियाँ से अकाव्य-शब्दों को कविता में ले आते हैं। चाहे वह जुलाहे का करघा हो, चाहे साधु-पण्डा-मुल्ला का प्रपंच– तमाम तरह के स्रोतों से अपनी भाषा की रचना करते हैं और सिद्ध करते हैं कि कविता छन्द और अलंकार से नहीं, विचार व चिन्तन के तेज से द्युतिमान व सार्थक होती है।'' आचार्य शुक्ल के अनुसार– ''साहित्य समाज की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है और समाज की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य का स्वरूप भी बदलता रहता है।'' बदलती जीवन-स्थितियों के साथ साहित्य बदलता रहा है तथा साहित्य के बदलते रूप के साथ-साथ आलोचना के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। इस तरह, रचना और जीवन तथा रचना और आलोचना का एक द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है, जो क्रमश: एक दूसरे को प्रभावित करता रहता है।

हिन्दी साहित्य के दीर्घ इतिहास में कबीर ऐसे कवि हैं, जिनके मूल्यांकन की परम्परा बहुतेरे आरोहों-अवरोहों की रही है। बदलती रचना-दृष्टि के साथ कबीर को कभी रहस्यवादी, कभी साम्प्रदायिक, कभी विद्रोही, कभी क्रान्तिकारी कहकर आलोचकों ने उन्हें मूल्यांकित किया है। बदलती रचना-दृष्टि के साथ कबीर के मूल्यांकन का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया। कबीर के समकालीनों ने कबीर के भक्त रूप, ब्रह्म सम्बन्धी अवधारणा, सम्प्रदाय-निर्माण की चेष्टा तथा रहस्यवाद आदि पर दृष्टिपात किया है। सन्त पीपा से लेकर नाभादास तक ने कबीर का मूल्यांकन अपने समय-समाज की दृष्टि से किया है। आधुनिक युग में साहित्य को परखने की दो दृष्टियाँ प्रचलित हुईं– एक, शुद्ध साहित्यिक और दूसरी, समाज-सापेक्ष। कबीर के प्रारम्भिक आलोचक, जैसे– हरिऔध, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदि कबीर को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखते हुए उनके

काव्य में काव्यत्व का अभाव पाते हैं, तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, वासुदेव सिंह, नामवर सिंह, विवेकदास आदि कबीर को समाज-सापेक्ष दृष्टि से देखते हुए उन्हें युग-द्रष्टा, विद्रोही एवं क्रान्तिकारी कवि सिद्ध करते हैं।

कबीर के मूल्यांकन की परम्परा में कबीर के समकालीन सन्त पीपा से लेकर आजतक युग-दृष्टि व समीक्षा-दृष्टि के अनुसार व्यापक परिवर्तन हुए हैं, किन्तु आज भी कबीर के काव्य में नये स्वरों की तलाश जारी है। आज के परिप्रेक्ष्य में भी हिन्दी साहित्य के वाद-विवाद-संवाद में कबीर-काव्य एक चुनौती की तरह है। कबीर काशी में पले-बढ़े। उनकी साहित्यिक-सम्वेदना का विस्तार काशी के माहौल में हुआ। अत: काशी के आलोचकों से कबीर-मूल्यांकन की दिशा में विशेष उम्मीद की जा सकती है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि काशी की आलोचना-परम्परा, अपनी रचनात्मक सजगता से कबीर सम्बन्धी आलोचना को नवीन आयाम प्रदान करेगी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. डॉ. रामकुमार वर्मा– कबीर, पृ. ४४ २. गुरुग्रन्थ साहब
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. १६ ४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ४३-४४
५. जायसी ग्रन्थावली, पृ. ६६-६७
६. गोस्वामी तुलसीदास– नागरी प्रचारिणी सभा, द्वादश संस्करण, पृ. १४
७. कबीर, पृ. २२२ ८. कबीर, पृ. २१६-२१७
९. कबीर, पृ. १६३ १०. कबीर वाङ्मय-खण्ड तीन, पृ. २०
११. कबीर साहब, पृ. ६६ १२. कबीर साहब की प्रासंगिकता, पृ. ६८
१३. दूसरी परम्परा की खोज, पृ. ४५ १४. कबीर वचनामृत, पृ. ६
१५. कबीर : साहित्य, साधना और पन्थ, पृ. १७

●

कबीर की आलोचना-परम्परा में डॉ.वासुदेव सिंह का योगदान

डॉ. फहीम अहमद*

प्रेमचन्द ने साहित्य को जीवन की आलोचना कहा है। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। साथ ही; साहित्य की समालोचना भी बदलती जाती हैं। 'रचना तथा जीवन' और 'रचना तथा समालोचना' का एक द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है, जो एक-दूसरे को प्रभावित करता रहता है। हिन्दी साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर ऐसे कवि हैं, जिनके मूल्यांकन की दीर्घ परम्परा अनेक आरोहों-अवरोहों की रही है। कभी उन्हें मात्र उपदेशक, कभी रहस्यवादी, कभी क्रान्तिकारी, समाज-सुधारक, मानवतावाद का प्रवर्त्तक, कभी प्रगतिशील, तो कभी भारतीय चिन्तन-परम्परा की एक सूक्ष्म कड़ी, फक्कड़, मस्तमौला आदि विभिन्न रूपों में आँका गया है। यहाँ तक कि आज कुछ (अली सरदार जाफरी) आलोचक उन्हें इस्लानिक धारा का कवि स्थापित करने में लगे हैं, तो कुछ (डॉ. धर्मवीर) ने तीखे सवाल उठाकर कबीर को दलित कवि के दायरे में खींच लिया है।

कबीर के आविर्भाव के छ: सौ वर्षों के बीत जाने के बाद, आज भी उनकी वाणी मशाल की तरह जल रही है। कबीर आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितना अपने समय में थे। आज के सन्दर्भों में उनकी वाणी जीने की सही राह दिखाने में समर्थ है। कबीर अपने समय में जिन समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, आज भी कमोवेश वही समस्याएँ, कुछ नए रूप में, हमारे सामने हैं, जिनका समाधान कबीर-वाणी के सहज अनुसंधान से खोजा जा सकता है। साम्प्रदायिकता, जातिवाद, वर्ण-वर्ग की बढ़ती तकरार, आतंकवाद जैसी ज्वलन्त समस्याओं के मध्य कबीर-वाणी प्रकाश-स्तम्भ की भाँति सबका मार्ग प्रशस्त करती है।

हिन्दी साहित्य के आलोचकों-इतिहासकारों से लेकर पाश्चात्य आलोचकों तक ने कबीर-वाणी के मर्म को पहचान कर उसकी समीक्षा की है। कबीर-वाणी की शक्ति और विशिष्टता ही है कि हिन्दी के कमोवेश हर आलोचक-विद्वान् ने कबीर पर दृष्टिपात अवश्य किया है। कबीर के समय से ही उनकी वाणी की शक्ति समकालीन रचनाकारों को प्रभावित करने लगी थी। कबीर के समकालीन कवियों की प्रशंसात्मक काव्य-टिप्पणियाँ कबीर की प्रथम आलोचना के रूप में देखी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त; गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित वाणियों में भी कबीर के अवदान का जिक्र है। कबीर के परवर्ती सन्त-कवियों– दादू, सुन्दरदास, रज्जब, हरिदास निरंजनी, धरनीदास, दूलनदास, बुल्ला साहब, गुलाल साहब, चरनदास, गरीबदास, दरिया साहब, धरमदास, तुलसी साहब आदि ने कबीर के विचारों की मीमांसा अपने काव्य में की है। इन प्रशंसात्मक टीकाओं का सार है– कबीर को महान संत या अवतार

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– हिन्दी, महात्मा गाँधी मेमोरियल पी.जी.कॉलेज, चौधरी सराय, संभल (उत्तर प्रदेश)

रूप में स्थापित करना। वस्तुत: उक्त मीमांसा का आधार कबीर के प्रति अनन्य निष्ठा ही है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में, भक्तमालों की रचना के साथ, कबीर-मीमांसा में नए अध्याय जुड़े। नाभादास ने कबीर के व्यक्तित्व व कृतित्त्व को बखूबी वर्णित किया। कबीर सम्बन्धी छप्पय 'कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट् दर्शनी' को कबीर-वाणी की समीक्षा का प्रथम पुष्ट संकेत माना जा सकता है। लगभग इसी दृष्टि का परिचय भक्तमालकार राघवदास ने भी दिया है। वस्तुत: उन्नीसवीं शती के पूर्व तक की कबीर-वाणी की आलोचना को हम प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ कह सकते हैं, जिनमें कबीर की भक्ति तथा साधना का गुणगान किया गया है।

बीसवीं शताब्दी में कबीर-वाणी का व्यापक प्रचार-प्रसार विदेशों में हुआ। भारतीय धर्म-साधना के अध्ययन-क्रम में कई विदेशी लेखक-आलोचक कबीर से प्रभावित हुए। उन्होंने न केवल कबीर-वाणी का अनुवाद एवं प्रकाशन कराया, अपितु उनकी वाणी की समालोचना भी प्रस्तुत की। ऐसे अध्येताओं में एच.एच. विल्सन, वेस्टकॉट, मैकालिफ, अण्डरहिल, लिण्डा हेस, फर्कुहर, एफ.ई. के गार्सा द तासी, ग्रियर्सन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके विदेशी आलोचकों ने कबीर के धर्म, दर्शन एवं रहस्यवादी विचारों को प्रमुखता देने के साथ-साथ उनके सामाजिक अवदान की भी चर्चा की तथा उन्हें मध्यकाल का सबसे बड़ा साधक एवं समन्वयवादी माना।

हिन्दीतर अन्य भारतीय भाषाओं के आलोचकों में क्षितिमोहन सेन तथा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाम उल्लेखनीय हैं। क्षितिमोहन सेन ने कबीर की रचनाओं का संकलन चार भागों में किया तथा अपनी पुस्तक 'मेडिवल मिस्टिसिज्म' में कबीर को मध्यकाल का बड़ा रहस्यवादी कवि स्वीकार किया। इनकी पुस्तक 'कबीर के पद' स्थायी महत्त्व की है। इसी पुस्तक से प्रेरित होकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' लिखी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'वन हैण्ड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर' पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसकी भूमिका पाश्चात्य विदुषी कुमारी अण्डरहिल ने लिखी। यह पुस्तक कबीर की आलोचना-परम्परा में दूरगामी ख्याति की सिद्ध हुई। इसी पुस्तक से प्रभावित होकर पाश्चात्य चिन्तकों ने कबीर-वाणी के अनुवाद एवं विश्लेषण प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त; उर्दू, पंजाबी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी कबीर पर कई पुस्तकें आईं। आधुनिक काल में, गद्य के विकास के साथ-साथ, आलोचना का भी सूत्रपात हुआ। 'मिश्रबन्धु विनोद' व 'शिवसिंह सरोज' में कबीर-वाणी की समीक्षा के प्रारम्भिक संकेत हिन्दी खड़ी बोली गद्य में पहली बार मिलते हैं। इसके पश्चात्; हरिऔध कृत 'कबीर बचनावली' (१९१६ ई.) को हिन्दी खड़ी बोली की प्रथम कबीर-आलोचना मान सकते हैं, जिसमें 'मुखबंध' के अन्तर्गत कबीर के व्यक्तित्व व कृतित्त्व का पूर्ण परिचय मिलता है।

हरिऔध ने कबीर को वैष्णव एवं हिन्दू परम्परा का उद्धारक मानते हुए कबीर-वाणी के कुछ अंशों को कलुषित एवं अश्लील कहकर कबीर की उपेक्षा भी की है। अन्यत्र उन्होंने कबीर को क्रोधी, असंयमी एवं अशालीन भी सिद्ध किया है। कुछ पूर्वाग्रहों के चलते, कबीर के वास्तविक अवदान की पहचान नहीं कर पाने के कारण तथा विचारों की द्वन्द्वात्मकता के कारण, वे उनके साथ न्याय नहीं कर पाए हैं। सच तो यह है कि हरिऔध की पहुँच वर्ण-व्यवस्था के भीतर उपेक्षा का दंश झेलते कबीर की पीड़ा तक नहीं हो पाई है, जिसके कारण उनके खौलते तेजाबी विचारों को वे नहीं समझ पाए हैं। फिर भी; हिन्दी खड़ी बोली का कबीर सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ लिखने के कारण उनके कार्य को बेहतर कहा जा सकता है।

इसी क्रम में, श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' (१९२८ई.) की भूमिका में कबीर के जीवन

एवं काव्य का पूर्ण विवेचन किया गया है। हरिऔध की भाँति श्यामसुन्दर दास ने भी कबीर को वैष्णव ही माना। उन्होंने कबीर-वाणी को शुष्क बताते हुए उसकी आधी से अधिक कविता को दार्शनिक पद्य मात्र माना है तथा कबीर के काव्य में साहित्यिक तत्त्व की कमी को रेखांकित किया है। उन्होंने कबीर की भाषा को 'अस्थिर एवं पंचमेल खिचड़ी' कहा है।

सन् १९२९ ई. में प्रकाशित आ. शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कबीर को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। कबीर-वाणी की आलोचना-परम्परा में आ. शुक्ल ने अपने इतिहास व 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में कबीर को सही समय पर जनता को सँभालने वाला तो बताया, कबीर की प्रतिभा पर भी आकृष्ट हुए, किन्तु जायसी सहित सूर-तुलसी को वे बड़ा कवि मानते हैं और कबीर को कवि मानने से ही इंकार कर देते हैं।

सन् १९४२ में डॉ. रामकुमार वर्मा की 'संत कबीर' एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें द्विवेदी जी ने कबीर को स्थापित किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को पूर्ववर्ती आलोचकों की उपेक्षा-दृष्टि से निकालकर नई भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कबीर के भक्त रूप को प्राथमिकता दी, कबीर को क्रान्तिकारी एवं 'वाणी का डिक्टेटर' सिद्ध किया, किन्तु इस रूपों में कबीर का सम्यक् विश्लेषण नहीं किया। उन्होंने जहाँ कबीर को 'धर्म गुरु' की संज्ञा दी, वहीं कबीर के काव्यत्व को 'बाई प्रोडक्ट' या 'फोकट का माल' बताकर उसका उपहास भी किया है। आ. द्विवेदी की दृष्टि कबीर के प्रति उतनी उपेक्षा नहीं बरतती, जितनी पूर्ववर्ती आलोचकों ने बरती। कतिपय पूर्वाग्रहों को छोड़कर आ. द्विवेदी की आलोचना को युग-सन्दर्भों के अनुकूल सही माना जा सकता है।

आ. परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'कबीर साहित्य की परख' (सन् १९३४ ई.) ने भी कबीर को साहित्य-जगत् में स्थापित किया। आ. चतुर्वेदी ने कबीर की 'समन्वयात्मक दृष्टि' तथा 'सहज साधना' को विशेष रूप से उभारा। पूर्ववर्ती साधना-परम्परा का सम्यक् अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए आ. चतुर्वेदी ने उन परम्पराओं का कबीर पर प्रभाव स्पष्ट किया तथा कबीर के समय-समाज की विसंगतियों पर भी प्रकाश डाला तथा परम्परा के प्रभाव की चर्चा करते समय आ. द्विवेदी की तरह ही इन्होंने भी कबीर-वाणी को सिद्धों-नाथों से जोड़ा।

इसी क्रम में, प्रो. वासुदेव सिंह की पुस्तक 'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' स्थायी महत्त्व की सिद्ध हुई। डॉ. नामवर सिंह एवं डॉ. रामविलास शर्मा ने यूँ तो कबीर पर कोई पुस्तक नहीं लिखी, किन्तु मध्यकाल के विवेचन-क्रम में उन्होंने कबीर पर महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए। प्रख्यात् दलित चिन्तक डॉ. धर्मवीर ने 'कबीर के आलोचक' पुस्तक के माध्यम से कबीर को 'दलितों का धर्मगुरु' सिद्ध किया। अली सरदार जाफरी ने अपनी पुस्तक 'कबीर बानी' में कबीर को एक मुसलमान सूफी सिद्ध करने के सम्बन्ध ने तर्क दिए हैं।

इसके अतिरिक्त भी; हिन्दी में अनेक आलोचकों ने कबीर पर विचार किया है। पत्र-पत्रिकाओं में कबीर पर विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। कुल मिलाकर कबीर की आलोचना-परम्परा आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। कबीर-वाणी की आलोचना का एक लम्बा इतिहास रहा है। कबीर के समकालीन संत पीपा जी से लेकर डॉ. धर्मवीर तक आलोचना काफी आरोहों-अवरोहों से भरी है।

कबीर के आधुनिक आलोचकों में डॉ. रामचन्द्र तिवारी की 'कबीर मीनांसा' कबीर का समग्र आकलन युगीन दृष्टि से प्रस्तुत करती है। इन्होंने कबीर की काव्य-सम्वेदना को आधुनिक काव्य-सम्वेदना के समकक्ष खड़ा करते हुए उसे उच्च स्तर का माना है।

डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर-वाणी पर बृहद् कार्य किया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ कबीर वाङ्मय– साखी, सबद और रमैनी (तीन खण्ड) तथा कबीर काव्य-कोश व कबीर : साहित्य, साधना और पंथ के साथ एक सम्पादित ग्रन्थ 'कबीर' भी है। उन्होंने डॉ. जयदेव सिंह के साथ मिलकर 'कबीर वाणी पीयूष' पुस्तक सम्पादित की, जिसमें कबीर के कृतित्व के साथ उनकी वाणी की टीका भी प्रस्तुत की गयी है। वह 'भक्तिकाल' के समीक्षक के रूप में आलोचना-जगत् में विख्यात् हैं। उनकी ख्याति का मूल आधार उनका 'कबीर' सम्बन्धी समग्र आकलन है।

कबीर की आलोचना करते हुए उन्होंने कबीर के बहुआयामी व्यक्तित्व को पूरे मध्यकाल में अप्रतिम माना है। 'कबीर वाङ्मय' नामक पुस्तक में उन्होंने कबीर को प्रतिभाशाली एवं महिमामण्डित व्यक्तित्व बताया है– ''कबीरदास का व्यक्तित्व न केवल हिन्दी सन्त कवियों में, अपितु पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। हिन्दी-साहित्य के लगभग बारह सौ वर्षों के इतिहास में, तुलसीदास को छोड़कर, इतना प्रतिभाशाली एवं महिमामण्डित व्यक्तित्व दूसरे किसी कवि का नहीं है। यद्यपि उन्होंने 'मसि कागद' का स्पर्श नहीं किया था, तथापि उनके नाम से प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। कबीरपन्थियों का तो विश्वास है कि उनकी वाणी अनन्त है। वनस्पति में जितने पत्र एवं गंगा में जितना बालू का कण है, कबीर ने श्रीमुख से उतना ही कहा है।

'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' पुस्तक के पुरोवाक् में वह लिखते हैं– ''कबीर का व्यक्तित्व न केवल मध्यकालीन भक्तों में, अपितु समग्र हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। वह एक उच्चकोटि के साधक, क्रान्तदर्शी, समाज-सुधारक, मानवतावाद तथा समत्व भावना के प्रचारक एवं श्रेष्ठ कवि के रूप में सादर स्मरण किये जाते हैं।''[१]

डॉ. वासुदेव सिंह ने अपनी इस पुस्तक को आठ अध्यायों में विभक्त किया है। कबीर : व्यक्तित्व विश्लेषण तथा जीवन-वृत्त, कबीर का प्रामाणिक साहित्य, भारतीय चिन्तन-परम्परा और उसका कबीर पर प्रभाव, कबीर के दार्शनिक विचार एवं साधना-पद्धति, कबीर की भक्ति-भावना, कबीर-साहित्य और समाज, कबीर का कवि-रूप तथा कबीर-पन्थ। यह पुस्तक भी कमोबेश पूर्ववर्ती आलोचकों की आलोचना-दृष्टि को ही ध्यान में रखकर तैयार की गई है, क्योंकि उपर्युक्त शीर्षक 'कबीर-साहित्य के अध्ययन के विविध आयाम' लगभग पूर्ववर्ती विचार-परम्परा से प्रभावित हैं, लेकिन दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर की झलक भी मिलती है। डॉ. सिंह का दृष्टिकोण वस्तुतः नवीन चेतना से अनुप्राणित है, तभी वे कबीर के काव्य में वर्णित समाज को नई दृष्टि से देखते हैं– ''वह स्वभाव से संत थे, किन्तु कर्म से साधक और सुधारक। वह न समझौतावादी थे, न पलायनवादी। वह सामाजिक वैषम्य से क्षुब्ध थे। दलित और शोषित वर्ग के प्रति उनमें गहरी सहानुभूति थी। समाज-कल्याण उनका उद्देश्य था, इसलिए उनकी वाणी में समाज के विविध चित्र हैं। वस्तुतः वह अपने समय के सर्वाधिक जागरूक और संवेदनशील प्राणी थे।''[२]

डॉ. वासुदेव सिंह कबीर को इसी रूप में रेखांकित करते हैं। सामाजिक वैषम्य को कबीर ने अपनी रचनाओं में उजागर किया। उनकी वाणी के ऐसे ही प्रभावशाली उदाहरणों द्वारा कबीर-आलोचना को नई दिशा दी। कबीर को दलित और शोषित वर्ग का समर्थक बताकर न केवल उन्होंने अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया, अपितु बाद के आलोचकों को दिशा भी दी। डॉ. धर्मवीर जैसे दलित आलोचक कबीर की दलितवादी व्याख्या करते हैं, तो स्वतः डॉ. वासुदेव सिंह के उपर्युक्त कथन का स्मरण हो आता है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा को गहन दृष्टि से व्याख्यायित करते हुए डॉ. वासुदेव सिंह ने उसके विविध आयामों एवं प्रभावों का अनुशीलन किया है। उनका यह अनुशीलन अन्य पूर्ववर्ती आलोचकों से भिन्न तथा गूढ़ दृष्टि का परिचायक है। वैदिक युग, उपनिषदों का प्रभाव, शाक्त-साधना, बौद्ध, जैन, नाथ योगी-परम्परा तथा वैष्णव आन्दोलन, इस्लाम और सूफी दर्शन की विवेचना करते हुए कबीर-वाणी पर पड़े उनके प्रभावों के सम्बम्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं- ''कबीर की विचारधारा के निर्माण में न केवल उत्तर भारत के पूर्ववर्ती साधना-सम्प्रदायों का प्रभाव है, अपितु दक्षिण भारत के आचार्यों का भी योगदान है। .....कबीर ने न तो पूर्व परम्परा का अंध समर्थन किया है और न उसका पूर्ण परित्याग ही किया है। वस्तुत: वह मानते थे कि सभी प्राचीन गुणयुक्त नहीं है और न सभी नवीन दोष-युक्त है। जो विचारक हैं, वे परीक्षण करके गुणों को स्वीकार करते हैं। किन्तु जो मूढ़ हैं, उनकी दृष्टि दूसरों के निर्देश पर चलती है। उनमें परम्परा और प्रगतिशीलता का अद्‌भुत समन्वय है।''[३]

वस्तुत: डॉ. वासुदेव सिंह कबीर की सटीक आलोचना प्रस्तुत करते हैं। वे भारतीय साधना-परम्परा में कबीर को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार, कबीर न पूर्णतया परम्परा-सापेक्ष हैं, न निरपेक्ष। उनकी यह आलोचना-दृष्टि विवाद-मुक्त ही कही जाएगी। सभी परम्पराओं का सहृदय मूल्यांकन उनकी विराट् दृष्टि को दर्शाता है।

डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर की साधना-पद्धति पर नए ढंग से विचार किया है। उन्होंने भारतीय भक्ति-परम्परा का विवेचन करते हुए यह दर्शाया है कि कबीर पूर्ववर्ती भक्ति–परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए थे। डॉ. सिंह का यह आकलन कबीर को भक्त के रूप में नई दृष्टि से स्थापित करता है। 'कबीर-साहित्य और समाज' डॉ. वासुदेव सिंह की पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें उन्होंने कबीर की आविर्भाव-कालीन परिस्थितियों के साथ तत्कालीन समाज की विसंगतियों को भी उभारा है तथा कबीर को समाज-द्रष्टा बताते हुए तत्कालीन राजशाही की भी आलोचना की है। यहाँ उनके काव्य में सामन्तवाद-विरोधी चेतना देखी जा सकती है। डॉ. वासुदेव सिंह के अनुसार- ''कबीर ने यदि एक ओर सत्ता-मद में चूर शासकों को चेतावनी दी है, अन्याय और अत्याचार का विरोध किया है, तो दूसरी ओर सामान्य जनता को उन विषम परिस्थितियों से जूझते रहते हुए भी धैर्य धारण करने का परामर्श दिया है। उन्होंने सर्वसाधारण को यह विश्वास दिलाया कि शासकों का यह अत्याचार न अंतिम है, न शाश्वत। इन शक्तिशाली सामंतों के भी ऊपर एक महाशक्ति है, जो एक न एक दिन इनके गर्व को मिट्टी में मिला देगी।''[४]

यहाँ डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर-वाणी में व्याप्त सामन्तवाद-विरोधी चेतना का मूल्यांकन हिन्दी आलोचना में पहली बार किया। पूर्ववर्ती आलोचकों ने जहाँ कबीर को मूलत: आध्यात्मिक मानते हुए उनकी 'समाज-दृष्टि' का चलताऊ आकलन किया है, वहीं डॉ. वासुदेव सिंह ने सर्वथा नई दृष्टि का परिचय देते हुए कबीर के सामाजिक विचारों का आकलन किया है। वस्तुत: कबीर की दृष्टि से समाज की कोई भी विसंगति-बुराई छूटी नहीं थी। उसी तरह, डॉ. वासुदेव सिंह की दृष्टि से भी कबीर सम्बम्धी कोई भी पक्ष नहीं छूटा है। उन्होंने कबीर-काव्य की युगीन व्याख्या करते हुए कबीर को समाज का सबसे जागरूक एवं सम्वेदनशील प्राणी घोषित किया है।

कबीर ने सामन्ती समाज के एक गाँव का चित्र खींचते हुए बताया है कि ग्रामवासियों पर सरकारी अत्याचार बढ़ता जा रहा है, जिसके कारण गाँव में निवास करना दुष्कर एवं कष्टप्रद हो गया है।

कर्मचारी अत्यंत चतुर हैं, जो शोषण पर उतारू रहते हैं। न्यायहीन समाज में जीना मुहाल हो चला है। यातनाओं से तंग आकर गाँव छोड़ना ही आखिरी विकल्प बचता है–

''अब न बसहुँ इहि गाँऊ गुसांई।
तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम।।
नगर एक तहं जीव धरमहत, बसै जु पंथ किसान।
नैनूं नकटूं स्रवनू रसन्, इन्द्री कहा न माने हो राम।।
गाऊं के ठाकुर खेत को नापे, काइथ खरच न पारे।
जोरी जेवरी खेल पसारे, सब मिलि मोको मारैं हो राम।''[५]

कबीरकालीन वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत, बाह्यचार-खण्डन, मूर्ति-पूजा, मुस्लिम समाज की बुराइयाँ, सती-प्रथा, रीति-रिवाज जैसा कोई भी विषय डा.वासुदेव सिंह की दृष्टि से नहीं बच पाया है। उन्होंने कबीर-काव्य के इन अनछुए पहलुओं पर भी सम्यक् दृष्टिपात किया है, जो पूर्ववर्ती आलोचकों की दृष्टि से छूट गए थे या छोड़ दिए गए थे। डॉ. वासुदेव सिंह का यह आकलन पूर्णत: व्यावहारिक एवं पूर्वाग्रह-मुक्त कहा जाएगा। कबीरकालीन आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए डॉ. वासुदेव सिंह लिखते हैं– ''कबीर ने अपने युग की विषम आर्थिक परिस्थितियों को न केवल देखा था, अपितु उन्हें भोगा भी था। उन्होंने देखा था कि समाज में उत्पादक-वर्ग और भोक्ता-वर्ग में कितनी गहरी खाई है। एक ओर समाज का उच्चवर्ग बिना कोई श्रम किए हर प्रकार के सुख-वैभव में डूबा है, दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग न केवल उपेक्षा का शिकार है, अपितु अभावग्रस्त होकर नारकीय जीवन जीने के लिए विवश है। उनका काव्य किसान तथा विविध व्यवसायों में संलग्न लोगों के जीवन पर यथार्थ प्रकाश डालता है।''[६]

पूर्ववर्ती अधिकतर आलोचक कबीर की काव्य-प्रतिभा के तो कायल रहे, किन्तु उन्हें कवि मानने में संकोच करते हैं। डॉ. वासुदेव सिंह ने स्पष्ट किया है कि परम्पराबद्ध काव्य-मूल्यों द्वारा कबीर की आलोचना नहीं की जा सकती। कबीर का काव्य तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों से अर्जित स्वानुभूति पर निर्भर होने के कारण परम्परागत मूल्यों को नकारता है। उनका समग्र काव्य मानवीय सम्वेदना से जुड़ा हुआ है, इसलिए कबीर को श्रेष्ठ कवि की संज्ञा दी जा सकती है।

कबीर के काव्य में प्रतीक-परम्परा का आकलन करते हुए डॉ. वासुदेव सिंह ने उसे जीवन से सम्बद्ध माना है। कबीर की भाषा का भी वह सजग आकलन प्रस्तुत करते हैं। कबीर के शब्द-भण्डार, काव्य में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ और मुहावरे, अलंकार-विधान, उलटवाँसी, काव्य-रूप, शैली आदि के द्वारा कबीर-काव्य की मीमांसा प्रस्तुत की है तथा यह भी बताया है कि कबीर-काव्य में यह सब स्वत: प्रवाह में आ गए हैं। कबीर ने न तो कविता के लिए कविता की, न काव्य-रचना द्वारा अपनी धाक जमानी चाही है।

'कबीर वाणी पीयूष' में भी डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर के विविध पक्षों का विवेचन प्रस्तुत किया है। कबीर के 'राम' का विवेचन करते हुए वह लिखते हैं– ''परमार्थ के लिए, ईश्वर के लिए, परमचैतन्य के लिए कबीर ने 'राम' शब्द का प्रयोग किया है। उनका 'राम' निर्गुण है। कुछ लोगों ने शांकर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म को ही कबीर का निर्गुण राम समझा है, किन्तु कबीर के निर्गुण राम सर्वथा शांकर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के समान नहीं हैं।''[७]

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना'– पंक्ति उद्धृत करते हुए उन्होंने कबीर के राम को सगुण राम से

इतर– विश्वव्यापी राम बताया है। कबीर के अनुसार, आत्मा और राम एक ही हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं समझना चाहिए– 'आतम राम अवर नहिं दूजा।'

डॉ. वासुदेव सिंह की उक्त धारणा कबीर की 'राम सम्बम्धी मान्यता' को स्पष्ट कर देती है। वास्तव में; कबीर के राम सगुण-सरूप नहीं, निर्गुण एवं निराकार हैं। कबीर पन्थ-निर्माण के विरोधी थे, किन्तु उनकी लोक-कल्याणकारी वाणी पूरे भारतवर्ष में तेजी से फैली और उसने जन-जन का मार्गदर्शन किया। कबीर के नाम से कई गद्दियाँ और मठ सुदूरवर्ती पूर्वी और दक्षिणी भागों में बन गए, जहाँ कबीर के अनुयायियों ने उनकी वाणी के प्रचार-प्रसार के लिए साम्प्रदायिक रूप से कबीर-वाणी का उपयोग किया। इसी परम्परा का परिचय डॉ. वासुदेव सिंह ने अपनी पुस्तक 'कबीर : साहित्य, साधना और पन्थ' में गहन विश्लेषण के साथ प्रस्तुत किया है। इससे पूर्व, आचार्य रामचन्द्र तिवारी ने अपनी पुस्तक 'कबीर-मीमांसा' में परवर्ती संत-परम्परा के अन्तर्गत इसका थोड़ा परिचय अवश्य दिया था। डॉ. वासुदेव सिंह ने पूरे भारत वर्ष में फैले कबीर मठों का ऐतिहासिक एवं सामाजिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। पन्थ-परम्परा का परिचय देते हुए डॉ. वासुदेव सिंह लिखते हैं– ''पन्द्रहवीं शताब्दी के महान सन्त कवि महात्मा कबीरदास की लोक-कल्याणकारी वाणी का प्रभाव उनके जीवन में ही न केवल उत्तर भारत के विभिन्न अंचलों में पड़ने लगा था, अपितु सुदूरवर्ती पूर्वी और दक्षिणी भारत के क्षेत्रों में भी शिक्षित-अशिक्षित जन-समुदाय उनकी पीयूष वाणी का रसास्वादन कर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करने लगा था।''[८]

यही परम्परा आगे चलकर कबीर मठों के रूप में स्थापित हुई। डॉ. वासुदेव सिंह ने बड़े ही शोधपूर्ण ढंग से इन मठों की परम्परा का परिचय दिया है। पन्थ-परम्परा पर अपना निष्कर्ष देते हुए डॉ. वासुदेव सिंह लिखते हैं– ''कबीर ने सत्य को ही ईश्वर का प्रतीक बताया था। अत: कबीरपंथी सत्यपुरुष, सत्यनाम और सत्यलोक में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार, ईश्वर सत्य सरूपी है। सत्य के अतिरिक्त संसार में कुछ भी चिरंतन और मुक्तिदायक नहीं है। सत्य पुरुष ने ही इस सृष्टि का निर्माण किया है। जीव अपनी साधना से उसी में लय हो जाता है। इस प्रकार, अभ्यास और आचरण की शुद्धि को प्रमुखता देते हुए इस पन्थ ने भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शन किया और लोक-कल्याण का जीवंत सम्बल बना।''[९]

डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर के अध्येताओं को 'कबीर काव्य कोश के माध्यम से ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध कराया है, जिसके माध्यम से कबीर को पढ़ना और समझना काफी सरल हो गया है। कबीर-काव्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों के बारे में लोगों का भ्रम भी दूर हुआ है। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने कबीर की भाषिक क्षमता की पड़ताल करते हुए विविध बोलियों के शब्दों की मीमांसा की है–

''कबीर की भाषा की शक्ति और क्षमता का परिचय उनके शब्द-भण्डार से मिलता है। उनका शब्द-ज्ञान असीम था। तत्कालीन प्रचलित ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, बुन्देली, राजस्थानी, भोजपुरी आदि बोलियों के अतिरिक्त पंजाबी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं तथा अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्द उनके काव्य में अनायास और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने शब्दों का चयन जीवन के विस्तृत क्षेत्र से किया था। वस्तुत: शब्द-निर्माण का सबसे बडा कारखाना भारतीय गाँव रहे हैं, जहाँ विभिन्न वर्गों, व्यवसायों तथा जातियों के अधिकांश लोग रहते हैं। कबीर ने शब्दों को इसी विशाल जन-जीवन से लिया था। उनके द्वारा प्रयुक्त ऐसे बहुसंख्यक शब्द

अब खड़ी बोली में प्रचलित नहीं रह गए हैं। खड़ी बोली का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उसमें से लोहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, कलवार, कृषक आदि के जीवन और व्यवसाय से जिन शब्दों को लिया है, उनमे से अधिकांश अब अप्रचलित हो गए हैं। कुछ शब्द तो इतने व्यंजक और अर्थ-गाम्भीर्य-सम्पन्न हैं कि उनके पर्याय खड़ी बोली में खोजना बहुत कठिन है।''[१०]

डॉ. वासुदेव सिंह आधुनिक युग के सजग एवं विद्वान् आलोचक हैं। उन्होंने 'कबीर : साहित्य, साधना और पन्थ' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रस्तुत कर कबीर की आलोचना-परम्परा को नया आयाम दिया है। कबीर का सम्यक् अनुशीलन करती यह पुस्तक कबीर के भावालोक का तटस्थ आकलन प्रस्तुत करती है। कबीर के समाज-दर्शन के अन्तर्गत की गई कबीर के युग की व्याख्या इस पुस्तक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। कबीर के युग का ज्वलंत चित्रण उनके काव्य के आधार पर प्रस्तुत करना एक सुधी समीक्षक के ही गुण कहे जाएँगे। डॉ. वासुदेव सिंह अपनी नवीन समीक्षा-दृष्टि एवं आलोचना-पद्धति की विशिष्टता के कारण अपने कार्य को सही अंजाम तक पहुँचा सके हैं। उनका दृष्टिकोण पूर्ववर्ती आलोचकों से भिन्न तथा नवीन दृष्टि से अनुप्राणित होने के कारण विशेष महत्त्व का है। वस्तुतः डॉ. वासुदेव सिंह ऐसे सुधी आलोचक हैं, जिन्होंने कबीर-काव्य का गहन अनुशीलन करके भावी कबीर-समीक्षा को आधार प्रदान किया। उनकी दृष्टि से प्रभावित होकर कई भावी आलोचकों ने कबीर-काव्य की व्याख्या प्रस्तुत की तथा कबीर-काव्य को नए सन्दर्भों से जोड़ते हुए उसकी चेतना पर प्रकाश डाला। इस दृष्टि से डॉ. वासुदेव सिंह का कबीर-आलोचना सम्बन्धी कर्म महत्त्वपूर्ण कहा जाएगा।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. वासुदेव सिंह– कबीर : साहित्य, साधना और पन्थ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पुरोवाक्, प्रथम संस्करण-१९९३
२. वही
३. वही– पृष्ठ ८०
४. वही– पृष्ठ १५८
५. कबीर वांग्मय– खण्ड १ : शबद, पृष्ठ १०
६. वही– पृष्ठ १८६
७. डॉ. जयदेव सिंह /डॉ. वासुदेव सिंह, सम्पादक– कबीर वाणी पीयूष, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ ३०
८. डॉ. वासुदेव सिंह– कबीर : साहित्य, साधना और पन्थ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९९३, पृष्ठ २५३
९. वही– पृष्ठ २८०
१०. कबीर काव्य कोश, उपोद्घात, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

●

कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन
(एक समीक्षा-दृष्टि)

प्रो. ब्रह्मदेव मिश्र*

प्रो. वासुदेव सिंह का नाम हिन्दी के विद्वान् और कुशल प्रोफेसरों में किया जाता है। उन्होंने काव्यालोचन और इतिहास-लेखन में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है, जो उच्च कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए बहुमूल्य है। सम्प्रति नमन करते हुए अपनी दृष्टि उनकी शोधपरक समीक्षा-पुस्तक **'कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन'** पर केन्द्रित कर रहा हूँ।

प्राचीन काव्य का नया मूल्यांकन करना सहज और सरल कार्य नहीं है। पुनर्मूल्यांकन के एक कोण हो सकते हैं, किन्तु सबसे प्रथम और उपयोगी तत्त्व है– युगानुरूप उसकी प्रासंगिकता। प्रो. सिंह ने कबीर पर उपलब्ध लगभग सारी पुस्तकों का गहराई से अवलोकन और मनन करने के पश्चात् कबीर पर कलम चलाने का सार्थक प्रयास किया है। आज के युग में कबीर की प्रासंगिकता पर किसी प्रकार का प्रश्न उठाना बेमानी होगा। कबीर के व्यक्तित्व पर विचार करते हुए प्रो. सिंह ने जो निष्कर्ष दिया है, वह उल्लेखनीय है– ''वस्तुत: कबीर का व्यक्तित्व असाधारण था। वह स्वाधीन-चेता प्राणी थे, पक्षपात-रहित समीक्षक थे, निष्काम कर्मयोगी थे और एकता के पुजारी थे। उनमें विनयशीलता और अक्खड़पन का अद्‌भुत सामंजस्य था। वह वैष्णव भक्त थे, साथ ही; वैष्णव भक्तों के जप, माला, छापा, तिलक की निन्दा भी करते थे, वह कुण्डलिनी के जागरण द्वारा शरीर में ही स्थित परम ज्योति के साक्षात्कार का उपदेश देते थे और नाथयोगी 'अवधू' को ललकारते भी थे, मुल्ला और पण्डित– दोनों उनके कोप के शिकार थे, किन्तु वह स्वयं को 'राम का कुत्ता' कहने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे।'' (पृ. ५)

कहना न होगा कि कबीर का यह व्यक्तित्व अपने युग का इतना सशक्त था कि आज भी उसकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। प्रो. सिंह ने समीक्ष्य पुस्तक को सात अध्यायों में विभक्त किया है। 'व्यक्तित्व-विश्लेषण तथा जीवन-वृत्त' शीर्षक पहले अध्याय में उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व का सम्यक् विश्लेषण किया है और इस कार्य में सम्यक् उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। जीवन-वृत्त में 'कबीर' के जीवन और मृत्यु से सम्बद्ध विवाद तथा नामकरण, जाति, माता-पिता, पारिवारिक जीवन, विवाह, गुरु, काशीवास और वेष-भूषा आदि पर विचार करते हुए निष्कर्ष स्वरूप जो मन्तव्य दिया है, वह द्रष्टव्य है– ''कबीर का जन्म चाहे जिस परिवार में हुआ था, किन्तु वह जुलाहा-वंश में पाले गये थे। उनका पोषक परिवार वयनजीवी था। यह परिवार ऐसा था, जो मूलत: हिन्दू था, किन्तु दो-चार पीढ़ी पूर्व मुसलमान हो गया था। कबीर पर हिन्दू संस्कारों की गहरी

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

छाप थी। उन्होंने हिन्दू पौराणिक कथाओं, देवी-देवताओं और सन्दर्भों का जिस प्रकार उल्लेख किया है, वह उनके हिन्दू धर्म की गहरी जानकारी का परिचायक है। अहिंसा में कबीर की दृढ़ आस्था को उनके हिन्दू-संस्कारों का ही प्रभाव माना जायेगा।

कबीर के गुरु रामानंद थे, जिनसे उन्हें 'राम मंत्र' मिला था, तथापि उन्हें 'दिव्य गुरु' का भी साक्षात्कार हुआ था, जो स्वयं परमप्रभु परमात्मा ही थे।'' (पृ. २३-२४)

कहना समीचीन होगा कि अपनी शोधपरक दृष्टि का परिचय देते हुए प्रो. सिंह ने गहरे विश्लेषण के पश्चात् एक निर्भ्रान्त तथ्य तक पहुँचने का प्रयास किया है, जो स्तुत्य है।

'कबीर के दार्शनिक विचार' शीर्षक अध्याय में कबीर के ऊपर लगाये गये आरोप, कि उनमें विचारों की असंगति है, का खण्डन करते हुए प्रो. सिंह उन्हें मूलत: साधक मानते हुए स्पष्ट घोषित करते हैं कि उनके विचारों में असंगति नहीं है। ब्रह्म, जीव, जगत् के सम्बन्ध में उनके विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसी सन्दर्भ में यह उद्धरण विचारणीय है– ''उनकी साधना-पद्धति निजी अनुभव पर आधारित है, जिसमें कभी हठयोग का प्रभाव दिखाई पड़ता है; कभी वैष्णव भक्तों का स्वर, कभी सहजयानियों की शब्दावली मिल जाती है; कभी सूफियों की झलक। वस्तुत: उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया था, किसी बने-बनाये मार्ग पर नहीं चले। यह मौलिकता ही उनकी विलक्षणता है और इसको न समझ पाने के कारण ही प्राय: भ्रान्त निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं।'' (पृ. ३०)

इसके बाद; उन्होंने कबीर की ब्रह्म, माया, जीव-जगत् सम्बन्धी अवधारणा को विश्लेषित करते हुए जो निष्कर्ष दिये हैं, वे बड़े सारगर्भित हैं। ब्रह्म के सन्दर्भ में उनका मानना है कि– ''कबीर के राम 'रूप' नहीं 'गुण' की संज्ञा हैं। रूप तो नश्वर है। राम तो सत्य है, जो न कभी पैदा होता है, न मरता है। जिस प्रकार सत्य की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार राम की कोई सीमा नहीं। वह त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभावविनिर्मुक्त है, अलख है, अगम्य है। वह समस्त ज्ञात तत्त्वों से भिन्न है, फिर भी; सर्वमय है। वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है। वह 'गूँगे का गुड़' है। वह किसी भी दार्शनिक मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है। वह प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है। यही कबीर का निर्गुण राम है।'' (पृ. ३७)

माया के रूप का विश्लेषण करते हुए भी वो जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उसे भी देखना उचित होगा। उन्हीं के शब्दों में– ''कबीर की माया ऐसी मोहिनी शक्ति है, जिसमें अद्‌भुत सम्मोहन-क्षमता है। वह जान-बूझकर विश्व को पतनोन्मुख और पापमय जीवन-पद्धति की ओर ले जाती है। वह ब्रह्म और जीव के बीच आवरण का कार्य करती है। समस्त देवी-देवता, यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसके पाश में आबद्ध हैं।'' (पृ. ४३)

जीव और जगत् के सम्बन्ध में भी सविस्तार विवेचन करते हुए उन्होंने कबीर के तीन प्रतीकों का उल्लेख किया है– सूत्रधार, जुलाहा और बाजीगर तथा स्पष्ट किया है कि इनके द्वारा जगत् की निर्माण-प्रक्रिया का संकेत किया गया है। सूत्रधार की व्यंजना है कि सारे जगत् का वही नियन्ता है। वही सबको कठपुतली की तरह नचाता है। जुलाहे के रूप में वही विश्वविधाता, सम्पूर्ण जगत् रूपी ताने का प्रसार करता है। वह बाजीगर की तरह अपनी माया का खेल करके सारी सामग्री को समेट लेता है। जीव की विडम्बना यह है कि जीव उस ब्रह्म से संयुक्त न होकर सांसारिक विषयों में अनुरक्त रहता है। यही उसकी म्लानता का कारण है। इसीलिए वह सरोवर के पानी में डूबी हुई नलिनी की तरह कुम्हलाता है।

तीसरे अध्याय में, कबीर की साधना-पद्धति पर विचार करते हुए प्रो. सिंह ने 'सुरति शब्दयोग' अथवा 'नादानुसंधान' और कबीर के साथ जुड़े योग की विवेचना की है। अवधू, नाड़ियाँ, अनाहत नाद, अमृत आदि योग-तंत्र की शब्दावलियों का विश्लेषण करते हुए प्रो. सिंह कबीर के योग पर आते हैं और कहते हैं कि कबीर की साधना में योग, ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। नाथयोगी मुद्रा, बन्ध और क्लिष्ट प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी के जागरण की बात करते थे, किन्तु कबीर की मान्यता थी कि बिना कठोर साधना के, अजपाजप के द्वारा ही, प्राण और अपान अवरुद्ध हो जाते हैं और कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। कबीर इस धारणा का भी खण्डन करते हैं कि केवल कष्टसाध्य प्राणायाम, बन्ध और मुद्रा से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है। उनके अनुसार, उसका जागरण निदिध्यासन, भक्ति और जप से प्रियतम में निरन्तर सुरति से भी होता है।

कबीर ज्ञान को बड़ा महत्त्व देते हैं, पर पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभवगम्य ज्ञान को तरजीह देते हैं। वे परमतत्त्व के ज्ञान को महत्त्व देते हैं, जिसकी आग के प्रज्ज्वलित होने पर संचित कर्मों की झोली जल जाती है और क्रियमाण रूपी भिक्षा पात्र भी टूट जाता है और परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। कबीर की साधना में प्रेम को बड़ा महत्त्व दिया जाता है, जिसमें अनुराग, विरह और मिलन– तीनों पर उनकी अभिव्यक्तियों की झाँकी प्रो. सिंह ने प्रस्तुत की है।

चौथे अध्याय में, कबीर की भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रो. सिंह ने ज्ञान-भक्ति, सूफियों की प्रेम-साधना और कबीर तथा भक्ति-परम्परा और कबीर के साथ नारदी भक्ति और प्रेमाभक्ति का भी विश्लेषण किया है। कबीर की भक्ति की दुरूहता पर विचार करते हुए, उनकी भक्ति में शामिल प्रपत्ति, नाम-जप, गुरु-महिमा आदि पर गम्भीरता से विचार करते हुए, प्रो. सिंह जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह विचारणीय है– ''कबीर के भी 'मानव गुरु' रामानंद थे। उनसे कबीर को राम-नाम का मंत्र प्राप्त हुआ था, किन्तु उनके अतिरिक्त; कबीर को 'दिव्य गुरु' का भी साक्षात्कार हुआ था, जो स्वयं परमप्रभु ईश्वर ही थे।'' (पृ. ८५)

अपने इस मत के समर्थन में वे परशुराम चतुर्वेदी को भी उद्धृत करते हैं। प्रो. सिंह कबीर को मूल रूप से भक्त मानते हैं और इसलिए उन्हें भक्ति के ज्ञानमार्गी खाने में डालने का विरोध करते हैं।

कबीर की सामाजिक अवधारणा पर प्रो. वासुदेव सिंह विचार करते हुए युगीन परिस्थितियाँ, प्रभाव और प्रतिक्रिया, कबीर का युग-बोध, राजनीतिक स्थिति, सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति, विभिन्न सम्प्रदायों का स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था एवं जातिवाद, छुआछूत, बाह्याचार-खण्डन, तीर्थयात्रा, मूर्ति-पूजा, पुस्तकीय ज्ञान, मुस्लिम समाज एवं हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रतिपादन पर गम्भीरता से विचार करते हुए वे कबीर के नारी-विरोधी होने का खण्डन करते हैं। साथ ही; सती-प्रथा और रीति-रिवाज पर भी अपनी दृष्टि डालते हैं। उनका कहना है कि सामाजिक दृष्टि से कबीर बड़े जागरूक थे। अपनी युगीन समस्याओं के प्रति उनकी दृष्टि साफ थी। वे समाज-सुधारक तो नहीं थे, फिर भी; बड़ी निडरता से सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक कुरीतियों पर प्रहार करने से नहीं डरते थे। प्रो. वासुदेव सिंह का यह निष्कर्ष भी कबीर के प्रति भ्रान्त धारणाओं को दूर करने में नि:सन्देह सहायक होगा– ''कबीर ने तत्कालीन समाज के न केवल कलुषित यथार्थ का चित्रण किया है, न केवल सामाजिक विसंगतियों के उन्मूलन के लिए प्रयास किया है, अपितु लोकजीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हुए नए जीवन-मूल्यों को स्थापित किया है। वस्तुत: उनकी वाणी समाज में आस्था का नया स्वर लेकर आई है। इसी अर्थ में वह आज भी प्रासंगिक हैं।'' (पृ. ११८)

'कबीर का कवि-व्यक्तित्व और उनका रचना-विधान' का विवेचन करते हुए उन्होंने कबीर के काव्य

की सीमा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, प्रतीक-विधान और कबीर के प्रतीक-विधान, भाषा, लोकोक्ति और मुहावरे, अलंकार-विधान के अलावा उलटवाँसी और उनकी रहस्यमय संख्याओं पर भी दृष्टि डाली है। विस्तृत विवेचन में न जाकर यही कहना उचित होगा कि कबीर के कवि-व्यक्तित्व की समीक्षा काव्यशास्त्र के अनुसार करना समीचीन न होगा। कबीर का ईश्वर-प्रेम और उनकी अनुरक्ति ने ही उन्हें कवि बनाया और उनके युग-बोध ने उनके व्यक्तित्व को एक निडर समीक्षक का स्वरूप दिया।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में प्रो. सिंह ने 'कबीर के काव्य-रूप' पर भी विचार किया है। उनके द्वारा अपनायी गयी साखी, पद, रमैनी, चौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बंसत, चाँचर, बेलि, बिरहुली और हिंडोला रूपों की चर्चा की है, जो उनकी गहरी सोचपरकता का परिचायक है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कबीर को छन्दों का अच्छा ज्ञान था, मात्रिक छन्दों के साथ लोक छन्दों का भी गहरा अनुभव था। अवसरानुसार उनके छन्द स्वत: उनकी कविता के अंग बनकर प्रस्फुटित हुए।

प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने लेखन में कबीर के व्यक्तित्व की विनम्रता का परिचय दिया है और खण्डन करते हुए भी वे कहीं उग्रता का परिचय नहीं देते। इससे स्पष्ट है कि वे एक गम्भीर अध्येता और सुधी समीक्षक हैं, लेकिन अपनी बात को पूरे प्रमाण के साथ प्रस्तुत करने में वे किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। प्रो. वासुदेव सिंह की भाषा बड़ी निर्मल, सहज और बोधगम्य है। एक कुशल अध्यापक होने के नाते वे पाठकों पर अतिरिक्त भार डालने से भी बचते हैं। अन्तत: यही कहना समुचित होगा कि 'कबीर और उनके काव्य का नया मूल्यांकन' एक पठनीय पुस्तक है।

●

कबीरदर्शी प्रो. वासुदेव सिंह

डॉ. लक्ष्मी सिंह *

१९वीं शताब्दी भारतीय इतिहास में नवजागरण का काल था। भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, आडम्बरों के उन्मूलन हेतु अनेक महापुरुषों ने अथक प्रयास किए। इन सभी समाज-सुधारकों की मूल प्रेरणा वस्तुतः सन्त कबीर ही थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर से लेकर महात्मा गाँधी तक कबीर के अद्‌भुत व्यक्तित्व से प्रेरित थे। किन्तु कबीर के चिन्तक रूप को पूर्णरूपेण उद्‌घाटित करने का कार्य उस समय तक नहीं हो सका था। यूरोपीय विद्वानों ने जब भी भारतीय इतिहास, दर्शन अथवा साहित्य पर अपनी कलम उठाई, वे कहीं-न-कहीं पूर्वाग्रह-ग्रस्त हो जाते थे और भारत की प्रत्येक अच्छाई को यूरोप से आयातित सिद्ध करने में लग जाते थे। इस बात के अनेक प्रमाण हमें मिलते हैं, जैसे– शंकराचार्य, रामानुज और रामानन्द जैसे मनीषियों को ईसाईयत से प्रभावित बताना।

प्रो. वासुदेव सिंह ने पहली बार कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्त्व पर इस प्रकार प्रकाश डालने का स्तुत्य कार्य किया। उनके द्वारा कबीर पर जितना कार्य हुआ है, वह सचमुच 'गागर में सागर' भरने जैसा ही है। प्रो. सिंह ने कबीर पर कई ग्रन्थ लिखे हैं और कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। कबीर वाङ्मय के सम्पादन में उनकी शोधपरक दृष्टि दर्शनीय है। शोधपरक आलोचना डॉ. साहब को सबसे प्रिय थी। यही कारण है कि कबीर पर जैसी विवेचना आपने की, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। 'मध्यकालीन काव्य साधना' नामक आपका ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का ऐसा दर्पण है, जिसमें उस काल की दो धाराओं के आधार-स्तम्भ–तुलसी और कबीर– पर आपने समान रूप से दृष्टि डाली है और दोनों कवियों की सम्यक् समीक्षा की है।

'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' नामक ग्रन्थ में कबीर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व की जैसी समीक्षा मिलती है, मुझे नहीं लगता कि किसी अन्य ग्रन्थ में यह पूर्णता दिखी हो। कबीर की विचारधारा से सम्बन्धित तमाम भ्रान्तियों का समाधान आपने इस ग्रन्थ में किया है। वे कबीर को हिन्दुओं की दृष्टि से 'वैष्णवभक्त', मुसलमानों का 'पीर', सिक्खों का 'भगत', कबीर पंथियों के लिए 'अवतार' मानते हैं। इसके साथ ही; राष्ट्रीयता की दृष्टि से एकता के पक्षधर और मानवधर्म का प्रतिष्ठापक तो सिद्ध करते ही हैं, साथ ही; शोषितों की आवाज और क्रान्तिदर्शी भी मानते हैं। वर्तमान समय में कबीर की प्रासंगिकता और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएगी, यह डॉ. साहब की सूक्ष्म दृष्टि ने उसी समय देख लिया था कि यदि आज के सांस्कृतिक संकट के काल में– जब धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम पर अराजकता, आतंक और भय

* पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बुलानाला, वाराणसी

का वातावरण बन गया है, उससे बचाने का कार्य यदि कोई कर सकता है, तो वह कबीर की वाणी ही है, क्योंकि कबीर का धर्म सच्चा मानवधर्म है। विश्वबन्धुत्व की जैसी गूँज कबीर के उपदेशों में है, वैसी कहीं और नहीं। वे मानते थे कि कबीर का चिन्तन और कथन 'अनभै साँचा' है। वह ऐसे सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं, जो भयरहित और अनुभव पर आधारित है। सभी भारतीय मत-मतान्तरों का अध्ययन करने के पश्चात् वे कबीर को भारतीय चिन्तन-धारा की विकसित कड़ी मानते हैं। कबीर ज्ञानमार्गी हैं, भक्ति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं– प्राय: हम सभी ऐसा ही जानते हैं। प्रो. सिंह ने लिखा है कि यह हमारा भ्रम है। मूलत: कबीर सन्त थे, उनकी भक्ति भी उनकी विशिष्टताओं में से एक है। इसके लिए वे उनकी रचना से ही उदाहरण देते हुए इसे सिद्ध करते हैं। कबीर को हम समाज-सुधारक कहते हैं। इस विषय पर भी प्रो. साहब का स्पष्ट मत है कि कबीर ने कोई सुधारवादी आन्दोलन नहीं चलाया था। अत: उन्हें समाज-सुधारक कह देना पर्याप्त नहीं, बल्कि हमें समझना चाहिए कि कबीर अपने समय के सर्वाधिक जागरूक और सम्वेदनशील व्यक्ति थे। इसीलिए वे समाज की समस्त विसंगतियों पर पैनी नजर रखते हुए उन्हें दूर करने पर विचार करते रहते थे। उनकी चेतना आध्यात्मिक थी, स्वभाव से सन्त थे और कर्म से साधक और सुधारक। 'समझौता' और 'पलायन' शब्द कबीर के शब्दकोष में थे ही नहीं।

कबीर का व्यक्तित्व बड़ा ही विवादित रहा है। अन्य पक्षों की भाँति उनके कवि-रूप पर भी प्रश्न-चिह्न लगे हैं। इस सन्दर्भ में भी प्रो. सिंह ने अपने ग्रन्थ में जैसी व्याख्या की है, उसे पढ़कर सचमुच मैं चमत्कृत हो जाती हूँ। आपने काव्यशास्त्रीय उदाहरण से सिद्ध कर दिया है कि कबीर कवि ही नहीं, महाकवि हैं। रसवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। साहित्य का रस तो मनोविकारों पर आधारित होता है, किन्तु कबीर तो उस 'रस' की चर्चा करते हैं, जिसका असर कभी खत्म ही नहीं होता– 'हरि रस पीया जानिए, जे कबहूँ न मिटे खुमार'। सामान्य काव्य में रसों को आधार राग होता है, जबकि परमरस का आधार महाराग है। इस रस को प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य रस की कामना ही नहीं रह जाती।

श्रेष्ठ काव्य का लक्षण हृदय की सच्चाई और कल्पना को माना जाता है। पहले का सम्बन्ध कथ्य से और दूसरे का शिल्प से होता है। काव्य की परख इसी से होती है कि वह हमारी अनुभूति से, वह भी जीवन की सत्यता से, कितना जुड़ा है। इस दृष्टि से कबीर का काव्य अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान की अभिव्यक्ति है। उनकी कविता निजी जीवन की अनुभूतियों का निचोड़ है और लोकमंगल उनका उद्देश्य है। कबीर जनता के कवि हैं, उनका काव्य लोककल्याण की भावना से परिपूर्ण जनकाव्य है। वस्तुत: कबीर के काव्य को परम्परागत काव्य-मानकों पर रखकर देखने से ही हमें उनके कवि-रूप को लेकर भ्रम हो जाता है। अगर व्यापक समाज-बोध की दृष्टि अपना कर देखा जाए, तो कबीर के कवि होने पर कोई सन्देह नहीं रह जायेगा। एक कारण और भी बताया है डॉ. साहब ने कि कबीर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानते ही नहीं थे। काव्य-रचना इनका 'साध्य' नहीं था। वह तो एक साधनमात्र था– उनकी साधना-यात्रा का। इसलिए परम्परागत रूप में हम कबीर को भले ही कवि न मानें, पर तत्त्वदर्शी कवि के रूप में तो कबीर अन्यतम हैं।

'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ' में प्रो. सिंह ने उनके व्यक्तित्व; कृतित्व और दर्शन सम्बन्धी पक्षों पर विवेचन के बाद अन्त में उनके पंथ पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि कबीर स्वतन्त्रचेता संत थे, सत्य के निर्भीक वक्ता थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर सम्प्रदायों और पंथों का घोर विरोध किया है। ऐसे में; वे किसी पंथ के प्रवर्तक कैसे हो सकते हैं? वस्तुत: महापुरुषों के अनुयायी, उसकी सोच के

विपरीत, अपनी सोच के अनुसार, किसी पंथ या सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर लेते हैं और उक्त महापुरुष का नाम जोड़ देते हैं। कबीर के साथ भी ऐसा ही हुआ। कबीर के चार प्रमुख शिष्य माने जाते हैं– जग्गूदास, भगवानदास, श्रुतिगोपाल और धर्मदास। दो और नाम भी चर्चित हैं– तत्त्वा और जीवा। सम्भवत: इन्हीं छ: शिष्यों में से किसी ने कबीर-पंथ का प्रवर्तन किया होगा– ऐसा प्रो. सिंह का मानना है। जो भी हो, अस्तु; जैसे भी कबीर पंथ की स्थापना हुई हो, प्रो. साहब ने इस पंथ की सभी विशिष्टताओं, योगदान एवं महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए सिद्ध किया है कि कबीर ने भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शन किया और वे लोक-कल्याण का जीवन्त उदाहरण बने।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि प्रो. वासुदेव सिंह की यह कृति कबीर के समस्त सन्दर्भों के लिए अकेली ही पर्याप्त है। अन्त में; मैं कहना चाहूँगी कि मुझे गर्व है कि मैं ऐसे मनीषी की शिष्या हूँ। वे आज भी अपनी यश:काया से हमारे बीच हैं और हमेशा बने रहेंगे।

●

कबीर वाङ्मय : सिंहावलोकन

प्रो. श्रद्धा सिंह *

कबीर जैसे कालजयी रचनाकार, जिन्होंने अपने समय-समाज से लेकर आज तक के समय-समाज को अपनी वाणी से प्रभावित किया है और सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था की सटीक आलोचना की है, ऐसे कबीर की वाणी को गहराई से समझने के लिए आवश्यक है कि तमाम पंथों व सम्प्रदायों में छिटके, तमाम प्रक्षिप्तों व विभिन्नताओं से युक्त कबीर-वाणी का सटीक मूल पाठ्य-निर्धारण हो और फिर उसकी सटीक व्याख्या हो। जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह द्वारा प्रणीत 'कबीर वाङमय– भाग एक : रमैनी, भाग दो : सबद और भाग तीन : साखी– इस आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में किया गया एक सार्थक प्रयास है।

साहित्य का पाठक या गृहीता जब किसी कवि विशेष के सन्दर्भ में गहराई तथा व्यापकता– दोनों रूपों में प्रवीण होना चाहता है, तो सर्वप्रथम उसे रू-ब-रू होना होता है– अपने पाठ्य-कवि के मूल पाठ से। जब तक किसी कवि की सम्पूर्ण कविताओं के मर्म तक पाठक नहीं पहुँचेगा, तब तक वह उक्त कवि की सम्यक् समीक्षा-आलोचना करने का अधिकारी नियमत: नहीं बनता। साथ ही; किसी कवि की कविता तक गहराई से उतरने के लिए आवश्यक है– उसके शब्द-भण्डार की गहरी समझ। उक्त कवि विशेष की शब्द-सम्पदा के माध्यम से न केवल हम तत्युगीन समय-समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का आकलन कर सकते हैं, बल्कि कवि की मूल सम्वेदना तक भी आसानी से पहुँच सकते हैं। इस दृष्टि से टीका-भाष्य एवं कोश-लेखन की विधाएँ हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करती रही हैं। जबकि आज आधुनिक विद्वान् टीका एवं भाष्य लिखना अधिक सम्मान-जनक नहीं मानते और प्राय: मूल कृति के अध्ययन के बिना बड़े-बड़े समीक्षात्मक ग्रन्थ तैयार कर दिए जाते हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि आज का पाठक-वर्ग कवि की मूल रचना से प्राय: अपरिचित ही रह जाता है। आज हम आलोचनात्मक ग्रन्थों के माध्यम से किसी भी कवि-लेखक के विषय में सतही ज्ञान प्राप्त करने का शॉर्टकट अपनाने के आदी से हो गए हैं या कहें कि मजबूर हो गए हैं।

भारतीय वाङ्मय में टीका या भाष्य लिखने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है, जिनके माध्यम से बड़े-बड़े दुरूह ग्रन्थ सामान्य पाठकों के लिए भी सुगम बनते रहे हैं। यदि सायण, निघण्टु, महीधर जैसे टीकाकार एवं भाष्यकार न होते, तो वैदिक साहित्य हमारे लिए आज दुरूह ही होते। शंकराचार्य कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, पतंजलि कृत अष्टाध्यायी का महाभाष्य आदि हमें हमारी संस्कृति के सम्वाहक ग्रन्थों से अवगत कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसी प्रकार, हिन्दी साहित्य में 'चौरासी' और 'दो सौ बावन

* आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वैष्णवन की वार्ता' पर गो. हरिराय की 'भाव प्रकाश टीका', 'साहित्य लहरी' पर सरदार कवि की टीका, 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीकाएँ मिलती हैं। आधुनिक युग में राहुल सांकृत्यायन की टीकाओं व भाष्य के माध्यम से हम जहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य से सुगमतापूर्वक अवगत होते हैं, वहीं लाला भगवानदीन तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की टीकाओं के माध्यम से रीतिकालीन ग्रन्थों की सटीक व्याख्या से परिचित होते हैं। इसी प्रकार, यदि रवीन्द्रनाथ टैगोर 'वन हण्ड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर' के माध्यम से कबीर के सौ पदों को अंग्रेजी में अनूदित व व्याख्यायित न करते, तो आज कदाचित् कबीर की कविताओं की व्याख्या का दौर न शुरू हो पाता और कबीर आज 'कबीर' न बन पाते।

कबीर-वाणी पर अर्थ और व्याख्या की दृष्टि से अब तक दो क्षेत्रों में कार्य हुए हैं– बीजक या रमैनियों की टीका प्राय: कबीरपंथी साधुओं द्वारा की गई है और साखियों तथा पदों की व्याख्या साहित्यिक विद्वानों के द्वारा। किन्तु, इन टीकाओं में सटीक पाठ-निर्धारण, व्याकरणिक शुद्धि, छन्द-शुद्धि और सटीक व्याख्याओं का सर्वथा अभाव मिलता है। कबीर पंथी साधुओं द्वारा की गई व्याख्याओं में साहित्यिक गुणों का अभाव है, साथ ही; वे पूर्वाग्रह और पन्थाग्रह की मानसिकता से ग्रस्त भी हैं। फलत: इनके द्वारा की गई टीकाएँ साहित्य के पाठकों के लिए कम उपयोगी हैं।

कबीर के प्रामाणिक, सटीक, साहित्यिक पाठ-निर्धारण एवं व्याख्या की दृष्टि से जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह द्वारा की गई कबीर-कविता की भावार्थ बोधिनी व्याख्या आज कबीर-साहित्य को समझने की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं स्थापित कृति मानी जाती है। विद्वद्वय ने न केवल कबीर वाङ्मय– भाग एक, दो और तीन के माध्यम से सटीक पाठ-निर्धारण किया, अपितु सटीक व्याख्या भी प्रस्तुत की और 'कबीर काव्य कोश' के माध्यम से कबीर के शब्द-भण्डार को भी विश्लेषित एवं व्याख्यायित किया। किन्तु, किसी ग्रन्थ का सटीक पाठ-निर्धारण और सटीक व्याख्या या भाष्य लिखना एक तो अत्यन्त श्रम-साध्य, समय-साध्य अस्तु, धैर्य का काम होता है, ऊपर से 'दूसरे दर्जे का आलोचना कर्म' की पदवी पाने की पीड़ा से भी दो-चार होना पड़ता है। रामचरित मानस के काशीराज संस्करण, जो कि मानस का सर्वाधिक प्रामाणिक पाठ है, की भूमिका में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'इस कार्य में श्रम बहुत होता है, अर्थ-प्राप्ति कम। पहाड़ खोदा जाता है, चुहिया हाथ आती है।' इस उक्ति के पीछे यही दोयम दर्जे की आलोचना समझे जाने का ही दर्द निहित है। जबकि इससे उलट, किसी भी ग्रन्थ पर जब टीका या भाष्य लिखा जाता है, तब केवल उक्त कृति ही महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाती, बल्कि कृतिकार की मूल सम्वेदना को समझना भी पाठक एवं गृहीता वर्ग के लिए आसान हो जाता है। चाहे नामवर सिंह का आलोचना-कर्म हो या भगवान सिंह या रामविलास शर्मा का, इनकी आलोचना की आधारभूत सामग्री टीकाएँ एवं भाष्य ही बनती हैं। साहित्य के क्षेत्र में पहले दर्जे की आलोचना इसी तथाकथित दूसरे दर्जे की आलोचना– टीका-भाष्य– के आधार पर ही विकसित हुई है। आज रामस्वरूप चतुर्वेदी ('आधा हिन्दू रहिए' की व्याख्या के सन्दर्भ में) से टकराते समय नामवर सिंह भी वासुदेव सिंह द्वारा कबीर पर की गई टीका व भाष्य को उद्धृत करते हैं (सन्दर्भ 'आलोचना' पत्रिका)। वस्तुत: जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने कई वर्षों के कठिन व अनवरत श्रम से कबीर वाङ्मय– भाग एक में कबीर की रमैनियों का सटीक पाठ-निर्धारण व भाष्य किया है। भाग दो में वे सबद का सटीक पाठ-निर्धारण व प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसी भाग दो के परिशिष्ट में बीजक के अन्य काव्य-रूपों– ज्ञान चौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसन्त, चॉचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला की व्याख्या की गई है। गुरुद्वारों में कबीर के जो पद गाए जाते हैं, वे रागियों के द्वारा विभिन्न रागों में बद्ध किये गये थे। प्रारम्भ में रागियों

ने पदों के लिए जिन रागों का चयन किया था, वे अभी तक उसी रूप में चले आ रहे हैं। वाङ्मय के इस खण्ड के परिशिष्ट दो में उक्त रागों के भी लक्षण दिये गए हैं। कबीर वाङ्मय– भाग तीन में साखियों का प्रामाणिक पाठ-निर्धारण, संख्या, क्रम और अंगों के विभाजन के साथ-साथ सटीक भाष्य प्रस्तुत किया गया है। कबीर वाङ्मय– भाग एक की भूमिका में लेखक ने कहा है– ''अभी तक हमारे देखने में जो टीकाएँ आईं, वे सन्तोषजनक नहीं प्रतीत हुईं। कहीं-कहीं तो एक ही रमैनी की दो-दो, तीन-तीन विचारों के आधार पर व्याख्या लिखी गई है, जिनमें पूर्वापर-सामंजस्य नहीं दिखलाई पड़ता। इसी प्रकार, साखी आदि की व्याख्या में भी बहुत असमंजसता दिखाई पड़ी। कबीर-वाणी की सर्वसम्मत व्याख्या तो प्राय: सम्भव नहीं, किन्तु उनकी वाणी सही परिप्रेक्ष्य में समझी जा सके, इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु यह प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत अर्थ करने में यह दृष्टि रही है कि पूर्वापर-सामंजस्य बना रहे और कबीर को साधक कवि के रूप में वास्तविक सन्दर्भ में समझा जा सके।''

उक्त कथन पर कबीर वाङ्मय का सटीक पाठ-निर्धारण व भाष्य के अनन्तर वासुदेव सिंह ने 'कबीर काव्य कोश' के प्रणयन के माध्यम से कबीर के शब्दों के अक्षय भण्डार को पाठक-वर्ग के समक्ष चीर-फाड़कर रख दिया है। वस्तुत: कबीर का शब्द-भाण्डार असीम था। उनके शब्द-निर्माण का सबसे बड़ा कारखाना रहे भारतीय गाँव, जहाँ एक साथ विभिन्न वर्गों, व्यवसायों तथा जातियों के लोग रहते हैं। कबीर-काव्य में लोहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, कलवार, कृषक आदि के जीवन व व्यवसाय से सम्बन्धित शब्दों की भरमार है, जिसमें से अधिकांश शब्द अब अप्रचलित हो गए हैं। कुछ श्रमिक-जीवन सम्बन्धी शब्द तो ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं, जो इतने अर्थगाम्भीर्य-युक्त व व्यंजक हैं कि उनके पर्यायवाची के रूप में खड़ी बोली के शब्द ढूँढ़ना बहुत कठिन है। श्रमिक जीवन के अतिरिक्त तमाम देशज, अरबी, फारसी, तत्सम, तद्भव और नाथ योगियों की शब्दावलियाँ कबीर की कविता में भरी पड़ी हैं। कबीर की कविता को सर्वाधिक दुरूह बनाने वाले हैं– पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द, जो भिन्न-भिन्न साधना-सम्प्रदायों से भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं और वही शब्द कबीर-काव्य में आकर और भी भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अत: कबीर की कविताओं को भली-भाँति समझने के लिए इन शब्दों का निहितार्थ जानना अति आवश्यक हो जाता है। वासुदेव सिंह द्वारा तैयार किया गया उक्त कोश इसी आवश्यकता की पूर्ति का अनिवार्य साधन बन कर आता है। उपर्युक्त शब्द-भाण्डार के अतिरिक्त; तमाम पारिभाषित एवं प्रतीकात्मक शब्द, संख्यावाची शब्द, पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ, मिथकीय सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं के विवरण भी उक्त कोश में सन्दर्भ सहित व्याख्यायित किए गए हैं।

एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर की कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारतीय दर्शन और मनीषा को स्थापित करने के लिए किया था। कबीर सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का ही सुपरिणाम हुआ कि विभिन्न पाश्चात्य विद्वान् कबीर-साहित्य के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने न केवल विदेशी भाषाओं में कबीर-साहित्य का अनुवाद किया, बल्कि कबीर के ज्वलन्त विचारों का भी विश्व भर में प्रचार-प्रसार किया। अब यदि वासुदेव सिंह द्वारा की गई कबीर-वाङ्मय के सटीक मूल पाठ-निर्धारण एवं सटीक व्याख्या एवं 'कबीर काव्य कोश' का अंग्रेजी अनुवाद होता है, तो कबीर का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप और अधिक मुखर होगा, क्योंकि कबीर-वाणी के भावार्थ, शब्दार्थ व प्रामाणिक पाठ को ये टीकाएँ आधार प्रदान करती हैं और कबीर-वाणी को सुगम बनाती हैं।

●

'कबीर वाणी पीयूष' और डॉ. वासुदेव सिंह की रचना-दृष्टि

प्रो. रामकली सराफ *

डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कबीर वाणी पीयूष' कबीर को जानने और समझने की दृष्टि विकसित करने हेतु एक अहम पुस्तक है। ''यह कबीर की प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन है। कबीर-साहित्य मुख्य रूप से तीन भागों में बँटा है– रमैनी, साखी और सबद या पद। कबीर के सिद्धान्त, साधना और काव्य की विशेषताओं का समञ्जन प्रस्तुत पुस्तक का वैशिष्ट्य है। प्रक्षिप्त अंशों के मद्देनजर एक वैज्ञानिक नजरिया कबीर के सन्दर्भ में लेखक का उभरकर आता है, जिसके तहत, रचनाओं की व्याख्या के अतिरिक्त; सम्बद्ध अंशों में प्रयुक्त प्रतीकात्मक एवं पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत टिप्पणी एवं उसके काव्य-सौन्दर्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिससे पाठक उनकी वाणी का सुगमता से रसास्वादन कर सकें।'' (सम्पादकीय) कबीर के व्यक्तित्व-विश्लेषण, उनका प्रामाणिक साहित्य, दार्शनिक विचार एवं काव्य का सुष्ठु विश्लेषण पुस्तक को विशिष्ट रूप देता है।

साहित्य-रचना तथा उसका बोधात्मक स्वरूप बराबर अपने युग के सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक सन्दर्भों से प्रभावित होता रहा है। कबीर के व्यक्तित्व का विस्तृत अंकन करते हुए उनके कृतित्व को प्रमाणित ढंग से उपस्थित करने में लेखक की वैज्ञानिक दृष्टि समर्थ ढंग से उभरकर आयी है। इसमें स्पष्ट ढंग से उन्होंने कबीर-वाणी पर हुए कृत्य को प्रत्यक्ष करते हुए बताया है कि उनकी वाणी पर मुख्यत: दो क्षेत्रों में काम हुआ है– एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा, दूसरा कबीरपंथियों द्वारा। इनमें बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ. पारसनाथ तिवारी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त और डॉ. शुकदेव सिंह द्वारा जो पाठ-निर्धारण हुआ, उसे प्रामाणिक, वैज्ञानिक एवं सुसंगत माना गया। लेकिन, ''इनमें ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जो कि कबीर के समग्र साहित्य को एकसाथ उपलब्ध कराता हो।'' (कबीर वाणी पीयूष, पृ. २७)। जाहिर है कि डॉ. सिंह द्वारा किया गया महनीय प्रयास प्रामाणिकता और समग्रता की दृष्टि से पूर्ण जैसा है।

कबीर के दार्शनिक विचारों का जहाँ तक सवाल है, उन्होंने अद्वैत, बौद्धों, सिद्धों, नाथों, वैष्णव धर्म– सबके प्रभाव को ग्रहण किया, लेकिन सारी साधना-पद्धतियों के सम्मिश्रण के बावजूद उनकी अनुभूति अपनी है, सभी कुछ कबीरमय है, सबकी जीवित अनुभूतियाँ हैं। कबीर के लेखे परमतत्व को द्वैत-अद्वैत की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता– ''एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहौं तो गार/है जैसा-वैसा रहै, कहैं कबीर विचार।।''

उन्होंने राम, गोविन्द, केशव, हरि– इन सभी प्रचलित शब्दों को व्यापक ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त किया है, पौराणिक अवतार के अर्थ में नहीं। कबीर के शब्दों में– ''दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,

* पूर्व अध्यक्ष– हिन्दी विभाग एवं कला संकाय प्रमुख, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राम नाम कर मरम है आना।'' वस्तुत: कबीर ने कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म की अपेक्षा सर्वव्यापक चैतन्य स्वरूप 'ब्रह्म' की उपासना पर बल दिया, जो प्रत्येक प्राणी के भीतर मौजूद है। कबीर नाथपन्थी योगियों और सिद्धों से भिन्न दृष्टिकोण लेकर चल रहे थे। उनका साधनात्मक रहस्यवाद शून्य, अनाहत नाद, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ी, अष्टाचक्र, सहस्त्रदल कमल आदि को स्वीकार करता है। कबीर परम्परित शास्त्रीयतावादी चिन्तन– माया, जीव, ब्रह्म, जगत आदि– से अत्यधिक प्रभावित रहे। यही कारण है, उनके लेखे 'माया' भेद-ज्ञान पैदा करती है। अत: इनसे स्वयं को दूर कर वे साधना की ऊँचाई का संस्पर्श करते हुए 'सर्वब्रह्म' के ज्ञान की ओर मुड़ते हैं। ऐसा ब्रह्म, जो किसी दार्शनिक विचारधारा से आबद्ध न होकर स्वानुभूतिपरक ही अधिक है। कहीं-कहीं वे सगुण व्यक्त ब्रह्म को भी स्वीकार करते हैं, पर ब्रह्म का सूक्ष्म रूप ही उनको ग्राह्य है, जो भावनामूलक इन्द्रियातीत है। गुरु से प्रेम का मंत्र ग्रहण करके ही वे भाव-साधना द्वारा भक्ति-साधना की ओर उन्मुख हुए। तन्मयावस्था को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सुपथ की खोज में रत रहे। परमत्याग ही इस अवस्था का अधिकारी बनाता है– ''सीस उतारि पग तलि धरै, तब चखै प्रेम का स्वाद।'' इस प्रकार, अन्त:करण को शुद्ध करके साधक अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। उसमें कोई भेदभाव स्वीकार नहीं। यही सहज स्थिति है, जो स्वाभाविक रूप से भीतर सदा विद्यमान है, किसी भी साधक के द्वारा साध्य नहीं है। यह सहज देश-काल, रूप-रंग, आकार-वर्ण से परे है। इसी धरातल पर यही प्रियतम का मिलन है। 'आपा' अर्थात् अहंकार को त्याग कर 'आपा' (अपना वास्तविक सहज स्वरूप) पाया जाता है। निश्चित ही; कबीर की साधना-पद्धति, स्वानुभूतिमूलक है। इसी वजह से वे अपने अन्तर्निहित सत्य की ओर उन्मुख हो गुह्य-साधना में रत हुए। कबीर ने गगन-मण्डल से अमृत झरने की भी बात की, जिसका आस्वादन कर साधक अमर हो जाता है। 'अमर' से कबीर का तात्पर्य है– 'आवागमन से छुटकारा'। वस्तुत: कबीर ने जिस 'आनन्द' की अभिव्यक्ति की है, वह 'ब्रह्मानन्द सहोदर' न होकर सीधे 'ब्रह्मानन्द' ही है। ऐसे अतीन्द्रिय आत्मानन्द की अभिव्यंजना ही साहित्य का लक्ष्य है। छोटी-से-छोटी वस्तु में उसकी विभिन्नता व क्षुद्रता के बावजूद एक ऐसा सत्य है, जो सारी वस्तुओं में समान रूप से पाया जाता है। उसी को रवीन्द्रनाथ 'एक' कहते हैं। जहाँ 'एक' के साथ किसी वस्तु का सामंजस्य है, वहीं सौन्दर्य है और कला है। (डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी) कबीर ने इसी 'एक' की साधना की और उसे अपनी वाणी का विषय बनाया। ''उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है।''

दरअसल; कबीरदास सामंती प्रभुओं के वर्चस्व से अलग अपने एक भिन्न मार्ग का निर्माण करते हैं, जो अध्यात्म से जुड़ा होने के बावजूद सबके साथ होने के भाव से सम्पृक्त है। वे जिस वैयक्तिक चिंतन की ओर झुके, उसका कारण तत्कालीन शासकों की निर्ममता, शोषक-वृत्ति और हृदयहीनता ही रही। यही कारण है, भौतिक-सामाजिक सत्य के स्थान पर उन्हें गुह्य साधना का आश्रय लेना पड़ा। डॉ. सिंह बहुत सही लिखते हैं कि– ''यही वह बिन्दु है, जब हम कबीर के काव्य को परखते हैं, तब हम उन्हें उच्चकोटि का सिद्धहस्त कवि पाते हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति की अभिव्यक्ति है।'' (कबीर वाणी पीयूष, पृ. ६०-६१) कबीर ने स्वयं कहा है– ''तुम जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार। केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार।।'' (कबीर ग्रन्थावली– डॉ. पारसनाथ तिवारी, पद संख्या- १०) अर्थात् उनका काव्य कोई मनोरंजन की वस्तु नहीं है। उसमें अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। उसमें आत्मज्ञान के साधन का सार समझाया गया है। निश्चित ही; ब्रह्म के समतामूलक स्वरूप ने कबीर को सामाजिक समानता की श्रेष्ठ भूमि प्रदान की। तद्युगीन वैषम्यपूर्ण स्थितियों का समाधान न पाकर 'ब्रह्म के समत्व' के आधार पर मानव-मन की

समता पर बल देना कम महत्त्व की बात न थी। इस प्रकार, जनजीवन के भीतर समाहित अर्थ-तत्वों के वैचारिक संघर्ष के निर्णयों से स्वयं को जोड़ा। भक्तियुग में धर्म अनेक पंथों व सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। हिन्दू ही नहीं, वरन् इस्लाम में भी अनेक मत-मतान्तर थे, पर दोनों में मानवतावादी चेतना मुख्य थी। धार्मिक विद्वेष-भाव नहीं था। धार्मिक समरसता व सामंजस्य का ताना-बाना सर्वत्र था। अत: उनकी कविता निजी अनुभूति का निचोड़ है। इसका उद्देश्य है– 'लोकमंगल'। लोक का कल्याण, यानी लोक-सम्बद्धता। इसके मूल में प्रेम का भाव है। यही वजह है, कबीर ने अपनी प्रेममूलक साधना के बल पर ही जनसामान्य की भावना को आत्मसात् किया। उनके दु:ख-दर्द को समझा। यह प्रेम ही उनके लिए समस्त बाह्याचारों से परे समाज के भेदभाव से लड़ने का धारदार औजार था। इसी प्रेमतत्व में समूचे भक्ति-आन्दोलन की आत्मा का बहाव देखा जा सकता है।

इस प्रेम-वर्णन में कबीर ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, वे अत्यन्त व्यापक क्षेत्र से चुने गये हैं। इससे कबीर की गहरी अनुभूति का परिचय मिलता है। उन्होंने विरहिणी आत्मा की अभिलाषा, प्रतीक्षा, सन्देश, चिन्ता, उद्वेग, प्रलाप आदि के जो चित्र खींचे हैं, वे अत्यन्त मार्मिक हैं। निश्चित ही; डॉ. सिंह का मानना है कि प्रभु का प्रेम वह रसायन है, जो देहात्म-भाव को स्वरूप-भाव में परिणत कर देता है। वह पीने में अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर होता है, किन्तु उसको पीना कठिन है, क्योंकि पिलाने वाला गुरु मूल रूप में अहम का विनाश चाहता है– ''राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल। कबीर पीवन दुलभ है, माँगे सीस कलाल।।''

नि:संदेह कबीर की भक्ति प्रेममूलक भक्ति थी, जहाँ वे स्वयं को 'राम की बहुरिया' कहकर पुकारते हैं। एक ऐसी बहुरिया, जो कन्त को अपनी आँखों से ढाँपकर रखती है। जिसे न कोई अन्य देखे, न ही वह किसी अन्य को देखे– ''नैना अन्तरि आव तू, ज्यूँ हौ नैन झपेउ/ना हौं देखन और कूँ, ना तुझ देखन देउ।'' रामरस पीकर मन मस्त हो जाता है। वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है और चैतन्य के प्रकाश से तीनों लोक आलोकित हो जाते हैं। यही मिलन की अवस्था है। एक पद में वे कहते हैं कि– 'हे सौभाग्यवती वधुओं! तुम विवाह के मंगलगीत गाओ। मेरे घर राजा राम पति रूप में पधारे हैं। उसके साथ पाँचों तत्व भी सज-धजकर बाराती के रूप में आये हैं– ''दुलहिनी गावहु मंगल चार/ हम घरि आए हो राजा राम भरतार / तन रत करि मैं मन रति करिहौं, पाँचउ तत्त बराती। रामदेव मोरे पाहुने आए, मैं जोबन मैंमाती।''

कबीर ऐसे दर्शन को स्वीकार करके चलते हैं, जो अपने अन्तर्निहित सत्य की ओर उन्मुख हो। वह जिस सामाजिक समत्व पर बल देता था, उसके मूल में प्रेम था। उन्होंने अपनी प्रेममूलक भक्ति के बल पर ही जनसामान्य की भावना को आत्मसात् कर उनके दु:ख-दर्द को समझा। समाज बहुत व्यापक सत्ता है। उसके सारे अन्तर्विरोधों-विसंगतियों को पूरी तरह प्रतिबिम्बित करना चुनौती भरा काम रहा है। एक महाकाव्य-रचयिता के लिए तो यह बहुत हद तक सम्भव है कि साहित्य-बोध की व्यापक सामाजिक-प्रक्रिया को अपने में समेट ले, लेकिन एक मुक्तककार के लिए अपने दोहों, साखी, रमैनी-पदों में समाज की जटिलताओं की बहुआयामी प्रक्रियाओं को समेटना अपेक्षाकृत मुश्किल भरा काम है। लेकिन, व्यापक सामाजिक सम्बन्धों की सौन्दर्यबोधीय, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक जटिलता के ताने-बाने को कबीर ने रचनात्मक धरातल पर बखूबी स्वीकार किया।

भाषाई दृष्टि से कबीर सच्चे लोकनायक थे। उन्होंने अपनी बात लोकभाषा में कही। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्वीकार किया कि– ''भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया

है। बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है।'' (कबीर, पृ. २१७) अनेक अलंकार तुलसी के काव्य के समान स्वत: ही कबीर के पदों में अन्तर्ग्रन्थित दीखते हैं। इसी प्रकार चाँचर, बेलि, हिंडोला, बिरहुला, बसन्त, कहरा जैसे काव्य-रूप भी पदों की महत्ता को बढ़ाते हैं।

निश्चित ही; डॉ. वासुदेव सिंह ने प्रस्तुत पुस्तक में कबीर की सृजनधर्मिता के भीतर जाकर रचनाकार के समय के यथार्थ के साथ ही उसमें वर्णित यथार्थ को बड़ी भेदक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत किया है। एक ओर कबीर की मूल सम्वेदना पर विचार करते हुए उन्होंने उस समय विशेष के व्यापक सामाजिक एवं मानवीय सन्दर्भों से उसे सम्बद्ध कर अभिव्यक्त किया है, दूसरी ओर आज के जीवन में उनकी अर्थवत्ता को भी सुनिश्चित किया है। दरअसल; समसामयिक मूल्यगत अन्तर्विरोधों का अपना इतिहास है। अतएव उसकी सार्थकता की खोज अनिवार्य रूप से इतिहास-सम्बद्ध होती है। सामाजिक सन्दर्भों में बदलाव, नैरन्तर्य की जटिल प्रक्रिया समसामयिक मूल्यान्वेषण की दृष्टि का कारण बनती है। अत: ऐसे मूल्य एवं सन्दर्भ, जो आज की दृष्टि के अंग बन पाते हैं, वे वर्तमान में निश्चितरूपेण हमें बल देते हैं। यही वजह है, कबीर का समाज-दर्शन मूलत: अध्यात्म-दर्शन होने के बावजूद अपने निजी अनुभवों के आलोक में व्यापक लोक से रिश्ता कायम करता है। दरअसल; वे आज के जीवन और समाज के समक्ष उपस्थित प्रश्नों का समाधान कबीर-वाणी में ढूँढ़ते नजर आते हैं। दूसरी ओर, कबीर की रचनाओं– 'साखी', 'रमैनी' और 'सबद' के प्रामाणिक पदों की सारगर्भित व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार, डॉ. सिंह ने कबीर एवं उनकी रचनाओं के समय तथा उन पर उठे वाद-विवाद को भी बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से सम्वाद तक पहुँचाया है, जिसके विवेचन-विश्लेषण में डॉ. सिंह की प्रभावपूर्ण समर्थ आलोचना-दृष्टि का पता चलता है। यह दृष्टि ही है कि डॉ. सिंह कबीर की कविताओं की मूल सम्वेदना पर विचार करते हुए उसे केवल उस समय विशेष के व्यापक सामाजिक-मानवीय सन्दर्भों से जोड़कर ही नहीं देखते, वरन् उनकी समकालीनता व वर्तमान की प्रासंगिकता को भी बार-बार रेखांकित करते हैं। अवश्य ही; डॉ. सिंह की नजर में कविता कबीर के लिए साध्य न होकर साधन मात्र थी, जिसके द्वारा वे जन-जन में सत्य का प्रचार करना चाहते थे। उस सत्य का, जिसका उन्होंने स्वयं साक्षात्कार किया था। इसलिए उनके काव्य में अभिव्यक्तिजन्य सौन्दर्य खोजना निरर्थक है। उनमें तो केवल भाव-सौन्दर्य के ही मोती मिलेंगे। साथ ही; कबीर बनी-बनायी किसी लीक के अनुगामी न बनकर अपनी लीक का स्वयं निर्माण करते हैं। कबीर पर जब डॉ. सिंह की लेखनी चली, तो उनकी रचनात्मक अन्तर्दृष्टि गहन मानवीय अनुभवों से सम्पृक्त होकर ही आत्मीय, सच्चे एवं सार्थक लेखन में संलग्न हो सकती थी। उनकी गहन आलोचना-दृष्टि थमकर-ठहरकर समूचे परिदृश्य पर दृष्टि डालते हुए मनुष्य की दशा-दिशा मानवीय सम्वेदनीयता से रू-ब-रू हो, ऐसा संरचनात्मक गुणों वाला साहित्य, टीका-टिप्पणी प्रत्यक्ष करती है, जो आंतरिक धरातल पर हमेशा प्रासंगिक बनी रहे। सच ही; साहित्यकार की सोच, उसका चिंतन रचनाशीलता में ढलकर, उसके भीतर अन्तर्निहित रहकर, हमारे अनुभवों को पुनर्सृजित करके, उसी में सौन्दर्य की पुष्टि में रत होता है। तभी साहित्य सौन्दर्योपयोगी और जीवनोपयोगी होकर चिरस्थायी रूप ग्रहण करता है। कहना न होगा, डॉ. सिंह में ये गुण विद्यमान थे, जो उन्हें श्रेष्ठ रचनाकार की भूमिका में उतारते हैं। निश्चित ही; डॉ. सिंह की समझ, दृष्टि और लेखन-क्षमता अपनी विरासत का समुचित मूल्यांकन कर ठोस निष्कर्षों की ओर मुड़ती है। कबीर के सन्दर्भ में उनका स्पष्ट मानना था कि मनुष्य की समूची मूल्य-प्रक्रिया का निर्धारण व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में होना चाहिए और सारी रचनात्मकता का मूल सक्रिय मानववाद की प्रतिष्ठा ही है। ●

कबीर की 'रमैनी' में अभिव्यक्त पौराणिक सन्दर्भ और अन्तर्कथाएँ

(जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित 'रमैनी' के सन्दर्भ में)

डॉ. शगुफ्ता नियाज*

कबीर का साहित्य एक साधक चित्त की अनुभूति की गहराई है। कबीर का प्रमुख साहित्य तीन रूपों में विभक्त है– रमैनी, साखी तथा शबद या पद। रमैनी में जगत, साखी में जीव और सबद में ब्रह्म सम्बन्धी विचार हैं। 'रमैनी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है, १- जिसमें संसार के जीवों के रमण का विवेचन हुआ है, २- वेद–शास्त्र के विचारों में रमण कराने वाली और ३- एक छन्द विशेष, जिसमें मुख्य रूप से दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में जयदेव सिंह–वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित कबीर वाङ्मय : खण्ड-१ 'रमैनी' में अभिव्यक्त पौराणिक सन्दर्भ और अन्तर्कथाओं को बताते हुए जीव को लौकिक के माध्यम से अलौकिक का मार्ग बताया गया है–

(१)

जीव रूप यक अन्तर-वासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा।
इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारि के पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा विष्णु महेश नाम धरेऊ।
तब ब्रह्मा पूछल महतारी, को तोर पुरुष काकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई, तुम मोर पुरुष हमैं तोरि जोई।।
साखी– बाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय बिआय।
ऐसा पूत सपूत न देख्यो, जो बापै चीन्है धाय।।[१]

उपर्युक्त कविता की पहली पंक्ति में 'यक' शब्द जो आया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका आशय यह है– एक अखण्ड, देश-काल के भेद से रहित पारमार्थिक ज्योति। यही ज्योति जीव रूप के भीतर भी बास करती है (अन्तर्वासा)। सबके भीतर वही ज्योति प्रकाशमान है और यहाँ पर शब्द 'माया' पत्नी भी है और माता भी। इसके दो अर्थ हैं- (१) कारण रूप माया ईश्वर के प्राकट्य में सहायक होती है और कार्य रूप माया जीव की सृष्टि में सहायक बनती है। लेकिन दोनों में कोई भेद नहीं है। इसीलिए पिता रूप ईश्वर और पुत्र रूप जीव– दोनों की एक ही नारी हुई। (२) ईश्वर माया में कर्म बीजावपन करता है और जीव उसी से भोग पाता है। इसीलिए माया दोनों की नारी है।[२]

दूसरी व्याख्या अधिक संगत है–

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– हिन्दी विभाग, वीमेन्स कॉलेज, ए.एम.यू., अलीगढ़

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– ''सृष्टि को पैदा करने के लिए कालपुरुष (निरंजन) ने आद्याशक्ति या माया को उत्पन्न किया और उसके संयोग से सत्त्व-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण-प्रधान विष्णु और तमोगुण-प्रधान शिव की सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोक में चला गया। जाती बार माया से कहता गया कि इन पुत्रों को मेरा पता मत बताना। सो, इन्होंने बाद में, जब आद्याशक्ति वा माया से पूछा कि तू कौन है? तेरा पति कौन है? हम लोग कौन हैं? और हमारे पिता कौन हैं? तो माया ने जवाब दिया कि वही उनकी पिता हैं, वही माता और वही पत्नी भी।'' (कबीर, पृ. ५५)

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. ब्रह्मा– सृष्टि करने वाले देवता। मनुस्मृति के अनुसार, स्वयंभू भगवान् ने जल की सृष्टि करके उसमें जो बीज फेंका, उसी से ज्योतिर्मय अण्ड उत्पन्न हुआ, जिसके भीतर से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। भागवत् आदि पुराणों के अनुसार, भगवान् ने योगनिद्रा में पड़कर जब शयन किया, तब उनकी नाभि से एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।

२. विष्णु– हिन्दुओं के प्रमुख तीन देवताओं में से एक। इनके ऊपर सृष्टि की रक्षा का भार है। प्रजापति कश्यप के औरस और अदिति के गर्भ से इनकी उत्पत्ति हुई है। यह सृष्टि के कल्याण के लिए प्रत्येक युग में उत्पन्न होते हैं।

३. महेश– प्रमुख तीन देवताओं में से एक। इन पर सृष्टि के संहार का भार है। इनके सिर पर गंगा, मस्तक पर चन्द्रमा तथा तीसरा नेत्र, गले में साँप और नरमुण्ड की माला, शरीर में भस्म, परिधान व्याघ्रचर्म तथा साथ में पार्वती हैं। इनका निवास-स्थान कैलास है।[३]

(२)

कबीरदास कहते हैं कि उस इच्छारूपी नारी के तीन पुत्र हुए– ब्रह्मा, विष्णु और महेश। यह कोई नहीं मानता कि जीव की इच्छा से ब्रह्मा-विष्णु-महेश पैदा होते हैं। उन्होंने जो 'जीव रूप यक अन्तर वासा' कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि एक परमज्योति है और वही ज्योति जिसके अन्तर में विद्यमान रहती है, वह जीवरूप होता है। अत: इच्छा उसी परमज्योति की है, न कि जीव की–

तत्तुमसी इन्हके उपदेसा, ई उपनिषद कहैं संदेसा।
ई निस्वै इन्हके बड़ भारी, वाहि करें वर्णन अधिकारी।
परम तत्तु का निज परमाना, सनकादिक नारद सुक जाना।
जागबलिक औ जनक संवादा, दत्तात्रेय उहै रस स्वादा।
उहै राम वसिष्ठ मिलि गाई, उहै क्रिस्न ऊधौ समुझाई।
उहै बात जो जनक दिढ़ाई, देह धरे विदेह कहाई।।
साखी– कुल अभिमाना खोइ कै, जियत मुवा नहिं होय।
देखत जो नाह देखिया, अदिष्टि कहावै सोय।।[४]

उपर्युक्त पंक्तियों में कहा गया है कि यह उपनिषदों का सन्देश है कि न तू शरीर है, न ही मन है और न ही प्राण है।

ऋषियों के सही निश्चय यही हैं कि अधिकारी लोग इसी का वर्णन करते हैं। तेरे शरीर के भीतर जो

आत्मा है, वह ब्रह्म ही है और परमतत्त्व का प्रमाण स्वयं आत्मा है, वह ब्रह्म ही है। यही सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, नारद और शुकदेव ने भी माना है।

याज्ञवल्क्य और जनक-संवाद में इसी तत्त्व का चिन्तन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में दोनों का संवाद है। दत्तात्रेय ने यही अनुभव किया है। वशिष्ठ और राम के संवाद में भी यही विचार किया गया है। 'वशिष्ठ रामायण' या 'योगवाशिष्ठ' में राम प्रश्न पूछते हैं, वशिष्ठ उत्तर देते हैं। श्रीमद्भागवत् में कृष्ण ने उद्धव को यही उपदेश दिया है। इसी तथ्य में दृढ़ निश्चय होने के कारण जनक 'विदेह' कहलाये।

इसके अन्तर्गत भी सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. उपनिषद्– वैदिक वाङ्मय का अन्तिम क्रम, जिनमें आत्मा, परमात्मा आदि अध्यात्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है। दस मुख्य उपनिषदों पर शंकराचार्य आदि ने भाष्य लिखा है।

२. नारद– एक देवर्षि, ब्रह्मा जी के मानस-पुत्र। ये ही कालान्तर में देवगन्धर्व होकर उत्पन्न हुए। इन्होंने तीस लाख श्लोकों वाला महाभारत देवताओं को सुनाया था। इन्होंने दक्ष के पुत्रों को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया था।

३. शुकदेव– कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र। पुराणों के ज्ञाता। इन्होंने राजा परीक्षित को मृत्यु के पहले मोक्ष का उपदेश दिया था, जो इन्होंने अपने पिता और महाराज जनक से सीखा था।

४. याज्ञवल्क्य– वैशम्पायन के शिष्य एक प्रसिद्ध ऋषि। राजा जनक के दरबार में इन्होंने दार्शनिक विवाद में भाग लिया था। मैत्रेयी और गार्गी इनकी पत्नियाँ थीं। यह योगीश्वर याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह एक प्रसिद्ध स्मृतिकार भी थे।

५. जनक– मिथिला के राजवंशियों की एक उपाधि। सीता जी इसी कुल में उत्पन्न राजा सीरध्वज की पुत्री थीं। ये मोक्षतत्त्व के ज्ञाता थे। विदेह से उत्पन्न होने के कारण इन्हें 'विदेह' कहते हैं।

६. दत्तात्रेय– एक प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि, जो विष्णु के २४ अवतारों में से एक माने जाते हैं। यह परमयोगी तथा सिद्ध थे।

७. राम– त्रेता युग में कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र। विष्णु के अवतार। जन्मतिथि– चैत्र शुक्ला नवमी। वशिष्ठ द्वारा शिक्षा-प्राप्ति।

८. वशिष्ठ– एक प्राचीन ऋषि। वेदों के अनुसार मित्र और वरुण के पुत्र। सृष्टि के प्रथम काल में यह ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। ब्रह्मा के कहने से ये सूर्यवंश के पुरोहित हुए। यह ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा थे।

९. कृष्ण– देवक की पुत्री देवकी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र। विष्णु के अवतार। श्रीमद्भागवत् तथा अन्य पुराणों में विस्तृत जीवन-वृत्त।

१०. उद्धव– बृहस्पति के एक शिष्य, वृष्णियों के मन्त्री और श्रीकृष्ण के सखा। श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर यह गोकुल गये थे और फिर मथुरा लौट गये। श्रीकृष्ण के अनेक उपदेशों को सुनकर इन्होंने बदरिकाश्रम को अपना निवास-स्थान बनाया, जहाँ इनके जीवन के शेष दिन बीते थे।[५]

(३)

अब जो रमैनी प्रस्तुत की जा रही है, उसमें माया की शक्तियों को जिन सन्दर्भ-कथाओं से जोड़ा है, वो भी बहुत प्रभावकारी है-

आँधरि गुष्टि स्त्रिष्टि भौ बौरी, तीनि लोक मँह लागि ठगौरी।
ब्रह्महि ठग्यो नाग कहँ जारी, देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी।
राजठगौरी बिस्नुहि परी, चौदह भुवन केर चौधरी।
आदि अंत जाकि जनक न जानी, ताकर डर तुम काहेक मानी।[६]

अन्धकार में डालने वाली माया के आकर्षण से सारा लोक बावला हो गया है। (माया अन्धकार में डालने वाली है, इसीलिए उसे 'आँधरि गुष्टि' कहा गया है– विशेषण विपर्यय) माया की दो शक्तियाँ हैं– विक्षेप तथा आवरण। आवरण-शक्ति सत्य पर पर्दा डालती है और विक्षेप-शक्ति मिथ्या वस्तु को सामने लाती है। यही माया द्वारा अन्धा बनाना है तथा ठगने का काम है।

माया 'काम' को जन्म देती है, इसीलिए लोग काम के चक्कर में पड़ जाते हैं। ब्रह्मा माया के वश में आ गये। वह अपनी कन्या सरस्वती पर आसक्त हुए। माया ने नागों को जला डाला। नागों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। अत: वे सब जनमेजय के यज्ञ में नष्ट हो गये। माया ने देवताओं और शिव को भी ठगा। शिव काम के वश में हो गये। चौदहों लोकों के स्वामी विष्णु के भी पीछे माया पड़ गयी अर्थात् वह भी माया द्वारा ठगे गये। जिसके आदि-अन्त का पता जनक को भी न था, उसका डर तुम क्यों मानते हो? उसका भय छोड़कर आत्मस्वरूप पर विचार करो।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. शिव का मोहित होना– जब भगवान् शंकर ने सुना कि श्रीहरि ने स्त्री-रूप धारण करके असुरों को मोहित कर लिया और देवताओं को अमृत पिला दिया, तब यह सती देवी के साथ बैल पर सवार होकर समस्त भूतगणों को लेकर वहाँ गये, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं और उनसे प्रभु के स्त्री-रूप में अवतार के दर्शन की प्रार्थना की। उनके कहने पर भगवान् अन्तर्धान हो गये और थोड़ी देर बाद शिव ने देखा कि सामने एक सुन्दर उपवन है, उसमें एक अद्‌भुत सुन्दरी स्त्री गेंद खेल रही है। भगवान् शिव उसके अपूर्व सौन्दर्य पर काम-मोहित हो गये और सती के सामने ही कामातुर होकर उसके पीछे दौड़े और बलपूर्वक उसका आलिंगन करने लगे। वास्तव में; यह सुन्दरी भगवान् की रची हुई माया ही थी।

कुछ समय बाद भगवान् पुन: प्रकट हो गये और कहने लगे कि मेरी माया अपार है। वह ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नहीं सकते। भला आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पुरुष है, जो एक बार मेरी माया के फन्दे में फँसकर फिर स्वयं उससे निकल सके–

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः।।३९।।

(श्रीमद्‌भागवत्, ८/१२)

२. नाग-यज्ञ– एक बार परीक्षित आखेट के लिए गये हुए थे। प्यास लगने पर वह शमीक ऋषि के आश्रम में गये। वह तप-निरत थे। उनके न बोलने पर परीक्षित ने उनके गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया और चले आये। शमीक के पुत्र शृंगी ऋषि ने आने पर शाप दिया कि जिसने उनके पिता के गले में सर्प डाला हो, वह आज के सातवें दिन तक्षक साँप द्वारा ही कालकवलित हो। इस प्रकार, परीक्षित सर्पदंश से मृत्यु को प्राप्त हुए।

उनके पुत्र जनमेजय को जब मन्त्रियों ने पिता की मृत्यु का समाचार दिया, तब उन्होंने पिता की मृत्यु

का बदला लेने का निश्चय करके नाग-यज्ञ किया, जिसमें सहस्त्रों सर्प जलकर मर गये।

३. ब्रह्मा की आसक्ति– ब्रह्मा की कन्या सरस्वती बड़ी ही सुकुमारी और मनोहर थी। ब्रह्मा जी उसे देख कर एक बार मोहित हो गये। उन्हें ऐसा अधर्ममय आचरण करते देख उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियों ने समझाया कि आप मन में उत्पन्न काम के वेग को न रोककर पुत्री-गमन जैसा पाप करने का संकल्प कर रहे हैं। यह सर्वथा अनुचित है।[७]

(४)

नहिं परतीत जो यहि संसारा, दरब की चोट कठिन कै मारा।
तासे सेषहु जाइ लुकाई, काहू कैं परतीति न आई।
चले लोग सब मूल गँवाई, जम की बाढ़ि काटि नहिं जाई।
आजु काज है काल्हि अकाजा, चलेउ लादि दिगन्तर राजा।
सहज विचारत मूल गँवाई, लाभ ते हानि होय रे भाई।
बोछी मति चंदा गो अथई, त्रिकुटी संगम स्वामी बसई।
तबही बिस्नु कहा समुझाई, मिथुन आठ तुम जीतहु जाई।
तब सनकादिक तत्तु बिचारा, ज्यों धन पावहिं रंक अपारा।
भौ मरजाद बहुत सुख लागा, यहि लेखे सब संसय भागा।
देखिनि उतपति लागु न बारा, एक मरै एक करै विचारा।
मुए गए की कोई न कहई, झूठी आस लागि जग रहई।।
साखी– जरत जरत से बाँचिहो, काहे न करहु गोहारि।
विष विषया कै खायहु, राति दिवस मिलि झारि।।[८]

यह इन्द्रियगोचर संसार विश्वास के योग्य नहीं है अर्थात् वह पारमार्थिक सत्ता नहीं है। मायिक शक्ति या प्रकृति की चोट कठिन आघात के समान है अर्थात् मायिक पंचभूत आदि को देखकर जीव आक्रान्त हो जाता है और समझता है कि यही वास्तविक सत्ता है। उसके आचरण में शेष अर्थात् अविनाशी सत्य भी छिप जाता है। यह किसी की समझ में नहीं आता कि इस परिवर्तनशील जगत् के भीतर एक अपरिवर्तनीय तत्त्व भी है।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. चन्द्रमा का गुरु बृहस्पति की पत्नी में आसक्त होना– ब्रह्मा के पुत्र अत्रि थे। अत्रि के नेत्रों से चन्द्रमा का जन्म हुआ। चन्द्रमा ने बलपूर्वक बृहस्पति की पत्नी तारा को हर लिया। देवगुरु बृहस्पति ने अपनी पत्नी को लौटा देने के लिए उनसे बार-बार याचना की, परन्तु वे इतने मतवाले हो गये थे कि उन्होंने किसी भी प्रकार उनकी पत्नी को नहीं लौटाया। ऐसी परिस्थिति में देवता और दानवों में संग्राम छिड़ गया। तदनन्तर अंगिरा ऋषि ने ब्रह्मा जी के पास जाकर युद्ध बन्द कराने की प्रार्थना की। ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा को बहुत डाँटा-फटकारा और तारा को उसके पति बृहस्पति के हवाले कर दिया। तारा गर्भवती हो गयी थी। उससे 'बुध' का जन्म हुआ।

२. सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार– ये ब्रह्मा के मानस-पुत्र माने जाते हैं। ये बाल-ज्ञानी थे। इनका आध्यात्मिक महत्त्व भी है। 'सन्' शब्द का अर्थ है– चिरन्तन, शाश्वत।

सनक = चिरन्तन जीवित रहने वाला, अमर। सनन्दन = सदा आनन्द से परिपूर्ण।
सनातन = सदा से विद्यमान रहने वाला। सनत्कुमार = सदा यौवनपूर्ण रहने वाला, अजर।

यत: ये लोग कभी जीर्ण नहीं होते, सदा अमर रहते हैं, अत: ये मानव के चिरन्तन दिग्दर्शक और साधक के सनातन पथ-प्रदर्शक हैं।[९]

(५)

हिन्दू ही नहीं, इस्लाम धर्म की भी यह धारणा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'आदम' नामक एक पुरुष हुआ तथा 'हव्वा' नामक एक स्त्री हुई और उन्हीं से यह सृष्टि चली। यथा–

आदम आदि सुद्धि नहिं पाई, मामा हौवा कहाँ ते आई।
तहिया होते तुरुक न हिन्दू, न मा के रुधिर पिता के बिंदू।
तब नहिं होते गाय कसाई, तब कहु बिसमिल किन फुरमाई।
तब नहिं होते कुल औ जाती, दोजख भिस्त कवन उतपाती।
मन मसले की खबरि न जानै, मति भुलान दुइ दीन बखानै।।
साखी– संयोगे का गुन रवै, बिजोगे का गुन जाय।
जिभ्या स्वाद के कारने, कीन्हें बहुत उपाय।।[१०]

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. आदम– सामी अर्थात् मुसलमानी, यहूदी और क्रिस्तानी मतों के अनुसार, सृष्टि का सबसे पहला पुरुष आदम है। कहा जाता है कि खुदा ने फरिश्तों से मिट्टी मँगवा कर एक पुतला बनाया और उसमें जान (रूह) फूँक दी और उसे स्वर्ग में रहने की आज्ञा दी। उसने पाप-पुण्य रूपी वृक्ष के फल का स्वाद न लेने के लिए आदम को चेतावनी दे दी। परन्तु शैतान रूपी सर्प के बहकाने से कौतूहलवश उसने फल को चख लिया, जिसके कारण वह स्वर्ग से नीचे गिरा दिया गया।

२. हव्वा– आदम के साथ उत्पन्न की गई स्त्री। शैतान ने सर्प के रूप में पहले हव्वा को बहकाया कि इसका फल बहुत स्वादिष्ट है। स्त्री के स्वाभाविक कौतूहलवश हव्वा ने फल चखने के लिए हठ किया। फल चखने के परिणामस्वरूप आदम और हव्वा स्वर्ग से ढकेल दिये गये।[११]

(६)

माया ने जरासंध और शिशुपाल जैसे प्रतापी राजाओं का विनाश कर दिया। कार्तवीर्य अर्जुन भी जिस छल से मारा गया, वह माया का ही खेल था। ऐश्वर्यशाली रावण भी माया-मोह के वश में आकर नष्ट हो गया, जिसकी लंका सोने की दीवालों से सजी थी–

जरासिंधु सिसुपाल संहारा, सहस अरजुन छल ते मारा।
बड़ छली रावन सो गौ बीती, लंका रहल कंचन की भीती।
दुरजोधन अभिमानहि गैऊ, पंडव केर भेद नहिं पैऊ।
माया के डिंभ गैल सभ राजा, उत्तम मद्धिम बाजन बाजा।
सब चकवे बित धरनि समाना, एको जीव परतीत न माना।
कहँ लगि कहौं अचेतहि गैऊ, चेत अचेत झगर एक भैऊ।

साखी– ई माया जग मोहनी, मोहिसि सब जग धाय।
हरीचन्द सत कारने, घर घर गये बिकाय।।[१२]

अभिमान भी माया की आवरण-शक्ति की अभिव्यिक्ति है। उसी अभिमान से दुर्योधन नष्ट हुआ और उसको पाण्डवों की इस शक्ति का रहस्य ज्ञात न हो सका कि उनके सहायक श्रीकृष्ण हैं।

सभी बड़े-बड़े सम्राट्, जिनके नाम पर उत्तम और मध्यम बाजे बजते थे अर्थात् जो कीर्तिशाली थे, वे भी मायाजन्य अभिमान के कारण नष्ट हो गये। सभी चक्रवर्ती सम्राट् भी माया के वश में आकर धरती में विलीन हो गये अर्थात् नष्ट हो गये। छह प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् (बेनु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु और त्रिविक्रम) भी माया के कारण नष्ट (वित) होकर पृथ्वी में विलीन हो गये, फिर औरों की क्या गिनती? इतना होने पर भी किसी जीव को विश्वास नहीं होता कि माया संहारकारिणी है।

कहाँ तक कहूँ? सब अज्ञान के ही कारण नष्ट हो गये। ज्ञान और अज्ञान का एक झगड़ा मचा हुआ है। माया के कारण अज्ञान का जो साम्राज्य है, वह ज्ञान के मार्ग में बाधक रहता है।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. रावण– विश्रवा मुनि का पुत्र महाभारत (वन. २७५/७) के अनुसार, इसकी माता का नाम पुष्पोत्कटा था। अन्य ग्रन्थों में इसकी माँ का नाम कैकसी बताया गया है। ब्रह्मा जी के द्वारा इसको वर मिला था कि नर-वानर को छोड़ कर अन्य किसी के द्वारा यह नहीं मारा जा सकता। राम द्वारा इसका वध हुआ।

२. कंस– मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र था। वह कालनेमि दानव का अवतार था। जरासन्ध की पुत्री उसकी पत्नी थी। उसने अपने पिता को कैद करके राज्य अपने हाथ में ले लिया। उसने अपनी बहिन देवकी का विवाह वसुदेव से किया। किन्तु यह आकाशवाणी सुनकर कि वह देवकी के पुत्र द्वारा ही मारा जायगा, उसने देवकी को मार डालने का निश्चय किया। वसुदेव-देवकी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उसने बहिन को छोड़ तो दिया, किन्तु दोनों को कारागार में डाल दिया। कारागार में ही देवकी के छः शिशुओं की उसने हत्या कर दी। अन्त में; वह भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा मारा गया।

३. जरासन्ध– बिप्रचिति नामक दानव के अंश से उत्पन्न मगधराज बृहद्रथ का पुत्र था। यह दो टुकड़ों में उत्पन्न हुआ था। मगधराज के घर में जरा नामक राक्षसी की पूजा होती थी। उसने प्रसन्न होकर दोनों टुकड़ों को जोड़ दिया था, अतः बालक का नाम जरासन्ध पड़ा। यह भीमसेन द्वारा मारा गया।

४. शिशुपाल– यह चेदि देश का राजा तथा दमघोष का पुत्र था। यह युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में गया था और कृष्ण की अग्रपूजा का विरोध किया था। श्रीकृष्ण द्वारा इसका वध हुआ।

५. सहस्रार्जुन (कार्तवीर्य)– हैहय नरेश कृतवीर्य का पुत्र था। इसका पूरा नाम कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन था। इसने ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। परशुराम के द्वारा इसका वध किया गया।

६. दुर्योधन– धृतराष्ट्र और गान्धारी के सौ पुत्रों में से एक, जो सबसे बड़ा था। यह कुरुकुल को कलंकित करने वाला, दुर्बुद्धि तथा खोटे विचारों वाला था। यह गदा-युद्ध में प्रवीण था। पाण्डवों से यह बैर-भाव रखता था। इसने उनको राज्य का हिस्सा देना अस्वीकार कर दिया और छल से मार डालने के अनेक उपाय किये। इसके कारण महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। अन्त में; वह भीमसेन के द्वारा गदा-युद्ध में मारा गया।

७. पाण्डव– पाण्डू के पुत्र– युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। ये पाण्डव के नाम से विख्यात् थे। शतशृंग निवासी ऋषियों द्वारा इनका नामकरण हुआ था। द्रोणाचार्य से इन्होंने युद्ध-विद्या प्राप्त की थी। महाभारत-युद्ध में इन्होंने विजय प्राप्त की थी। अन्त में इनको स्वर्ग-प्राप्ति हुई।

८. हरिश्चन्द्र– इक्ष्वाकुवंशी राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सत्यवती था। ये दान और सत्यपालन के लिए प्रसिद्ध थे। इन्होंने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया था। ये याचकों के माँगने पर पाँच गुना अधिक धन देते थे। इन्द्र ने ईर्ष्यावश इनकी परीक्षा ली, जिसके लिए विश्वामित्र ऋषि चुने गये। दक्षिणा चुकाने के लिए वह कुटुम्ब सहित बिके। स्त्री ने दासी का काम स्वीकार किया। हरिश्चन्द्र चाण्डाल के यहाँ श्मशान की रखवाली करने को बाध्य हुए। राजा होते हुए भी इन्हें नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़े, पर वे अपने व्रत से न टले। अन्त में; अपनी परीक्षा में सफल हुए और परिवार सहित स्वर्ग गये।[१३]

(७)

मानिकपुरहि कबीर बसेरी, मद्दति सुनी सेख तकी केरी।
ऊ जे सुनी जौनपुर धामा, झूँसी सुनि पीरन को नामा।
इकइस पीर लिखे तेहि ठामा, खतमा पढ़ैं पैगम्बर नामा।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई, देखि मुकरबा रहा भुलाई।
नबी हबीबी के जो कामा, जहँ लै अमल सो सबै हरामा।।
साखी– सेख अकरदी सेख सकरदी, मानहु वचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलय, देखहु दिष्टि पसार।।[१४]

इस रमैनी में सद्गुरु ने यह बताया है कि माया के मोह से किस प्रकार बड़े-बड़े प्रतापी राजा भी नष्ट हो गये। उपर्युक्त पंक्ति में वह उसी माया के मोह का दूसरा परिणाम बतलाते हैं कि किस प्रकार उससे बड़े-बड़े सूफी और मौलाना भी अज्ञान के अन्धकारवश लोकाचार और काम्य कर्मों में लगे रहते हैं तथा वास्तविक तत्त्व को जानने का प्रयत्न नहीं करते। इसमें कबीर ने यह भी संकेत किया है कि जो बुतपरस्ती या मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं, वे भी पीरों की कब्र के सामने ऐसे कृत्य करते हैं, जो लोकाचार से कम नहीं है। इस पंक्ति से यह भी पता चलता है कि कबीर किसी समय मानिकपुर में रहे थे।

कबीरदास कहते हैं कि जब मैंने मानिकपुर में निवास किया था, उस समय शेख तकी नामक सूफी की प्रशंसा सुनी थी। वहीं पर मैंने जौनपुर नामक स्थान के सम्बन्ध में सुना और यह जाना कि झूँसी (प्रयागराज) पीरों (धर्म-गुरुओं) का स्थान है। वहाँ पर ऐसे इक्कीस पीरों के नाम कब्रों पर लिखे हुए हैं, जिनके सामने पैगम्बर के नाम का खुत्बा (प्रार्थना) पढ़ा जाता है। यह बात सुनकर मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि तुम लोग मकबरा या कब्र देखकर भूल गये हो। हबीब (प्रियतम) पैगम्बर के काम को लोकाचार में उपयोग करना निषिद्ध है।

हे शेख अकरदी और सकरदी! हमारी बात मानो और आँख खोलकर देखो। आदि-अंत अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय– सब माया के भीतर है। मकबरों के सामने धर्म-ग्रन्थों का पाठ माया-राज्य के भीतर ही है। मर्म कुछ और ही है।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. शेख तकी– प्रसिद्ध सूफी सन्त थे, जो इलाहबाद के पास झूँसी में रहते थे। ये सिकन्दर लोदी

के गुरु थे। कबीर से इनका सत्संग हुआ था।

२. मानिकपुर– इलाहाबाद से झाँसी जाने के मार्ग में एक रेलवे जंक्शन तथा कस्बा। कबीर साहब वहाँ कुछ दिन रहे थे।

३. शेख अकर्दी, शेख सकर्दी– सूफी सम्प्रदाय के साधु। कबीर से इनका संवाद हुआ था।[१५]

(८)

मरि गये ब्रह्मा नभ के वासी, सीव सहित मुए अविनासी।
मथुरा मरिगो कृस्न गुवारा, मरि मरि गए दसौ अवतारा।
मरि मरि गए भगति जिन ठानी, सरगुन महँ जिन निरगुन आनी।।
साखी– नाथ मछंदर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि कै, सभ परे काल की फाँस।।[१६]

उपर्युक्त पंक्ति में यह बताया गया है कि इन लोगों को भी मरण से छुटकारा नहीं मिला। शरीरधारी की मृत्यु अवश्यंभावी है।

ब्रह्मा, जो आकाश के वासी समझे जाते हैं, वह भी मृत्यु से न बच सके। देवता, जो अमर समझे जाते हैं, वे भी परमदेव शिव के सहित मृत्यु के चंगुल में आ गये। मथुरावासी कृष्ण गोपाल भी मृत्यु को प्राप्त हुए। दसों अवतार भी मृत्यु से छुटकारा न पा सके। बड़े-बड़े भक्त भी, जिन्होंने सगुण में निर्गुण की कामना की, काल-कवलित हो गये।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ, जो कि योगबल से अपना शरीर-परिवर्तन कर सकते थे, वे भी नहीं बचे और दत्तात्रेय तथा व्यास भी मृत्यु को प्राप्त हुए। कबीरदास पुकार-पुकार कर कहते हैं कि सभी काल के पाश में फँस गये।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. ब्रह्मा– सृष्टि के देवता। मनुस्मृति के अनुसार, स्वयंभू भगवान् ने जल की सृष्टि करके उसमें जो बीज फेंका, उसी से ज्योतिर्मय अण्ड उत्पन्न हुआ, जिसके भीतर से ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ। भागवत् आदि पुराणों के अनुसार, भगवान् ने योगनिद्रा में पड़कर जब शयन किया, तब उनकी नाभि से एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक कल्प का एक ब्रह्मा होता है।

२. शिव– संहार के देवता। इनका निवास-स्थान कैलास माना गया है। वैदिक काल के रुद्र ही पुराण काल में शिव, महादेव आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिर पर गंगा, मस्तक पर चन्द्रमा तथा तीसरा नेत्र, गले में साँप तथा नरमुण्ड-माला, शरीर में भस्म तथा व्याघ्रचर्म रहता है। इनके धनुष का नाम 'पिनाक' है। इनके पास 'पाशुपत' नामक प्रसिद्ध अस्त्र था। इन्हें 'नीलकण्ठ' और 'आशुतोष' भी कहते हैं।

३. कृष्ण– देवक की पुत्री देवकी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के पुत्र। यह विष्णु के २३वें अवतार थे। देवकी के आठवें गर्भ से भादों कृष्ण अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र तथा विजय मुहूर्त जयन्ती रात्रि में १२ बजे इनका जन्म हुआ था। कंस ने इनको मार डालने के अनेक प्रयत्न किये। अन्त में; वह स्वयं कृष्ण द्वारा मारा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवन्ती, सत्या, कालिन्दी, माद्री, मित्रबिन्दा तथा भद्रा से इनका विवाह हुआ था। महाभारत-युद्ध में इन्होंने अर्जुन के सारथी का काम किया था। एक दिन वह पीपल के वृक्ष के नीचे बैठे थे, तभी पैर में जरा नामक बहेलिये का तीर लग जाने से इनका स्वर्गवास हुआ।

४. मत्स्येन्द्रनाथ– प्रसिद्ध नाथपन्थी योगी। इनके अन्य नामों में मीनपाल, मीननाथ, मच्छेन्द्रपा, मच्छन्दरनाथ आदि प्रसिद्ध हैं। इन्हें जाति का मछुआ कहा जाता है। यह कामरूप के निवासी थे। कहा जाता है कि मछली के उदर में लालन-पालन होने के कारण इनका नाम 'मछन्दरनाथ' पड़ा। ये नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तकों में माने जाते हैं। इनका समय नवीं-दसवीं शती माना जाता है। इनके द्वारा संस्कृत में चार पुस्तकें– कौल-ज्ञान-निर्णय, अकुलवीरतन्त्र, कुलानन्द तथा ज्ञानकारिका– लिखी गईं, जिन्हें डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने सम्पादित करके प्रकाशित कराया है। हिन्दी में इनके कुछ पदों का संकलन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में किया है।

५. गोरखनाथ– गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य बताये जाते हैं। ये विक्रम की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विवाद है। गोरखनाथ के नाम पर संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक पुस्तकें मिलती हैं। गोरखनाथ ने सदाचार पर बहुत बल दिया है। इनकी साधना-पद्धति को 'हठयोग' कहते हैं। इनके सिद्धान्तों का प्रभाव भारत के अतिरिक्त अफगानिस्तान, लंका आदि पर भी पड़ा और वहाँ इनके अनेक अनुयायी हो गये।

६. दत्तात्रेय– एक प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि, पुराणानुसार विष्णु के २४ अवतारों में से एक माने जाते हैं। यह परमयोगी तथा सिद्ध थे।

७. व्यास– पराशर ऋषि के पुत्र श्रीकृष्णद्वैपायन, जिन्होंने वेदों का संग्रह, विभाग और सम्पादन किया था। कहा जाता है कि अट्ठारहों पुराण, भागवत्, महाभारत, वेदान्त-सूत्र आदि की रचना इन्होंने ही की थी। नदी के बीच एक द्वीप में जन्म होने के कारण इन्हें 'द्वैपायन' तथा रंग काला होने के कारण 'कृष्ण' कहते हैं। वेदों का संग्रह करने के कारण इन्हें 'व्यास' कहते हैं। 'व्यास' का अर्थ होता है– संग्रह करने वाला। इस प्रकार, 'व्यास' एक उपाधि भी है और 'व्यास' अनेक हुए हैं।[१७]

(९)

लोग जीवन भर ममत्व में फँसे रहते हैं, लेकिन किसी की भी सम्पत्ति उसके साथ नहीं जाती, चाहे वो राजा हो या रंक। प्रस्तुत 'रमैनी' में जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह जी ने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है। यथा-

गये राम औ गये लछमना, संग न गई सीता अस धना।
जात कौरवहिं लागु न बारा, गये भोज जिन साजल धारा।
गये पंडु कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन बुधि मति ठानी।
सर्व सोन की लंक उठाई, चलत बार कछु संग न लाई।
जाकी पुरी अंतरिछ छाई, सो हरिचन्द देखल नहिं जाई।
मुरुख मानुस बहुत सँजोवै, अपने मरे अवर लगि रोवै।
ना जानै अपनों मरि जैबे, टका दस बढ़ै अवर लै खैबे।।
साखी– अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गो रावणा, अपनी दसरथ नाथ।।[१८]

लक्ष्मण मृत्यु को प्राप्त हुए और राम भी उससे न बच सके। उनकी सीता जैसी पतिव्रता पत्नी भी मृत्यु के समय उनके साथ न जा सकीं। कौरव जैसे प्रतापी राजाओं को भी इस संसार से जाने में विलम्ब न लगा। राजा भोज, जिन्होंने धारा नगरी को सुन्दर रूप से सजाया था, वह भी इस लोक से चले गये। पाण्डु जैसे

राजा गये और उनकी कुन्ती जैसी रानी भी इस लोक से चली गईं। वह सहदेव भी गये, जिन्होंने मति और बुद्धि– दोनों को निश्चित रूप से सिद्ध कर लिया था।

रावण, जिसने सारी लंका को सोने से बनवाया था, वह भी संसार से चलते समय कुछ साथ न ले जा सका। राजा हरिश्चन्द्र, जिनका महल गगनचुम्बी था, वह भी अब नहीं दिखलाई देते अर्थात् वह भी मृत्यु को प्राप्त हुए।

विचारहीन मनुष्य बहुत कुछ संग्रह करता है। वह यह नहीं जानता कि उसकी धन-सम्पत्ति उसके मरने पर यहीं रह जायेगी। वह पुत्र-पत्नी आदि के लिए तो रोता रहता है, किन्तु यह नहीं सोचता कि वह स्वयं एक दिन मर जायेगा और यह धन किसी काम न आयेगा। अपने ममत्व के वश में वह ब्याज अथवा छल से धन को बढ़ाने का ही प्रयत्न करता रहता है, यह कभी नहीं सोचता कि उसकी मृत्यु के अनन्तर अन्य लोग उसका भोग करेंगे।

लोग जीवन भर ममत्व में फँसे रहते हैं और प्रत्येक वस्तु को अपनी समझकर उसकी रक्षा में लगे रहते हैं। लेकिन किसी की भी सम्पत्ति मरते समय साथ नहीं जाती। रावण ममत्व के चक्कर में पड़ा रहा और चलते समय कुछ साथ न ले गया। राजा दशरथ भी इसी प्रकार अपने साथ कुछ न ले गये।

सारी रमैनी का मुख्य भाव यही है कि पुत्र, कलत्र, सम्पत्ति आदि में ममत्व का भाव व्यर्थ है, क्योंकि मरणशील प्राणी को इनको यहीं छोड़कर जाना है।

इसके अन्तर्गत सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. राम– त्रेतायुग में कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, जो विष्णु भगवान् के मुख्य अवतारों में माने जाते हैं। इनकी पूरी कथा वाल्मीकि रामायण में दी हुई है। ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध मतावलम्बियों ने रामकथा को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।

२. लक्ष्मण– राजा दशरथ के चार पुत्रों में से तृतीय, जो सुमित्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनका विवाह सीरध्वज जनक की पुत्री उर्मिला से हुआ था। ये बड़े राम-भक्त थे। ये शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। ये बहुत तेजस्वी, वीर और शुद्ध चरित्र के थे।

३. सीता– वेदों के अनुसार सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी हैं। मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक की पुत्री भी सीता हैं, जो राम को ब्याही थीं। यह पृथ्वी से उत्पन्न मानी जाती हैं। यज्ञ के लिए जमीन जोतते समय राजा जनक को मिली थीं। राम ने शिव का धनुष तोड़ कर इनसे विवाह किया था। इन्हें लक्ष्मी का अवतार माना जाता है। लोकापवाद के कारण राम ने इन्हें त्याग दिया था, तब ये वाल्मीकि के आश्रम में रहीं। वहीं इनको लव-कुश नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अन्त में ये पृथ्वी में समा गईं।

४. कौरव– चन्द्रवंशी राजा कुरु के वंशज। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र 'कौरव' नाम से प्रसिद्ध हैं।

५. पाण्डु– प्राचीन काल के एक राजा का नाम, जो पाण्डव वंश के आदि पुरुष थे। विचित्रवीर्य क्षयरोग के कारण युवावस्था में ही मर गये। उनकी माता सत्यवती की आज्ञा तथा भीष्म की अनुमति से व्यास जी ने विचित्रवीर्य की विधवाओं– अम्बिका तथा अम्बालिका– से पाण्डुवंश की वृद्धि के लिए नियोग किया। अम्बालिका व्यास के उग्र रूप को देखकर डर गईं। अत: उसके गर्भ से पीले रंग का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'पाण्डु' पड़ा। यह एक राजर्षि थे।

६. कुन्ती– राजा कुन्तिभोज की पुत्री थीं। इनका विवाह पाण्डु से हुआ था और यह युधिष्ठिर, भीम

तथा अर्जुन की माता हुईं। इनका पहला नाम पृथा था, किन्तु कुन्तिभोज द्वारा पाले जाने के कारण 'कुन्ती' नाम पड़ा। महाभारत-युद्ध के पश्चात् ये धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन चली गईं, जहाँ इनकी मृत्यु हो गई।

७. सहदेव– राजा पाण्डु का सबसे छोटा पुत्र, जिसका जन्म दुर्वासा ऋषि के बतलाये मन्त्र के प्रभाव से तथा अश्विनीकुमारों के योग से हुआ था। इन्हें अपनी बुद्धि पर बड़ा गर्व था। ये हिमालय पर गलकर मरे।

८. भोज– मालवा के परमारवंशी एक राजा, जो संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके द्वारा विरचित व्याकरण, अलंकार आदि की कई पुस्तकें उपलब्ध हैं।

९. रावण– लंका का प्रसिद्ध राजा, जिसे युद्ध में राम ने मारा था। रावण सुमाली नामक राक्षस की पुत्री कैकसी का पुत्र था। उसके पिता का नाम विश्रवा था। विश्रवा पुलस्त्य मुनि के पुत्र थे। इसके दस सिर थे और रूप अत्यन्त विकराल तथा स्वभाव अति क्रूर था। इसने घोर तप करके ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त किया था कि नर-बानर को छोड़कर उसे कोई मार न सकेगा।

१०. लंका– भारत के दक्षिण का एक टापू, जहाँ रावण का राज्य होने के पहले कुबेर का आधिपत्य था। ऐसा माना जाता है कि रावण के समय यह टापू सोने का था। पहले यह कुबेर के अधीन था और कुबेर धन का स्वामी कहा जाता है। अत: निश्चय ही; यह टापू धन-धान्य से पूरिपूर्ण रहा होगा।[१९]

(१०)

बनावटी सिद्धों की माया में मासूम जनता किस तरह फँस जाती है, इस सन्दर्भ में यह पद प्रस्तुत है–

ऐसा जोग न देखा भाई, भूला फिरै लिये गफिलाई।
महादेव को पंथ चलावै, ऐसो बड़ो महंत कहावै।
हाट बजारै लावै तारी, काचे सिद्धहिं माया प्यारी।
कब दत्तै मावासी तोरी, कब सुखदेव तोपची जोरी।
नारद कब बन्दूक चलाई, व्यासदेव कब बंब बजाई।
करहिं लराई मति के मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा।
भये विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चले करोरा।।
साखी– तिय सुन्दरी न सोहई, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ।।[२०]

यहाँ उन महन्तों पर व्यंग्य किया गया है, जो धन-सम्पत्ति एकत्र कर महान् बन गये हैं। ये लोग दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिए खुले बाजार में बैठकर समाधि लगाते हैं और लोगों को अपनी सिद्धियाँ दिखला कर आकृष्ट करते हैं। कच्चे सिद्धों को माया ही प्रिय होती है अर्थात् वे माया में फँसे रहते हैं।

ये लोग प्राय: हाथ में परशु, भाला, त्रिशूल, तलवार, बन्दूक आदि लेकर झुण्ड-के-झुण्ड किसी कुम्भादि मेले में अथवा तीर्थ-स्थान में लोगों पर प्रभाव जमाने के लिए जुलूस निकालते हैं। जो सच्चा योगी होगा, उसका इन अस्त्रों से क्या सम्बन्ध? भला दत्तात्रेय ने कब किसी गढ़ को तोड़ा था? शुकदेव ने कब तोप चलाने वालों को एकत्र किया था? नारद ने कब बन्दूक चलाया था और व्यासदेव ने युद्ध के आह्वान के लिए कब दुंदुभि बजायी थी? ये नासमझ लोग धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर बराबर संघर्ष करते रहे हैं। ये लोग वस्तुत: गुणातीत सिद्ध योगी हैं या तरकश बाँधने वाले फौजी सिपाही? ऐसे लोग दिखावे में

बैरागी बने हुए हैं, किन्तु उनके अन्तर्मन में लोभ का साम्राज्य है। वे राग के शिकार बने हुए हैं। वे बाहर से बैरागी हैं, भीतर से रागी। वे लोग स्वर्णाभूषण धारण कर सन्त-वेश को लज्जित करते हैं। ऐसे लोग घोड़ा-घोड़ी आदि सवारियों का संग्रह करते हैं और दान में कुछ गाँव पाकर, करोड़पतियों की भाँति आचरण करते हैं।

इस रमैनी में सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. दत्तात्रेय– एक प्राचीन ऋषि, जो चौबीस अवतारों में से एक माने जाते हैं। यह परमयोगी तथा सिद्ध थे। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार, एक ब्राह्मण को जीवित कर देने के उपलक्ष्य में सती अनुसूया को देवताओं से वर मिला था कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके गर्भ से जन्म ग्रहण करेंगे। तद्नुसार, ब्रह्मा ने सोम बनकर, विष्णु ने दत्तात्रेय बन और शिव ने दुर्वासा के रूप में अनुसूया के घर जन्म लिया। यह बड़े योगी थे। सदा योग-साधना किया करते थे।

२. शुकदेव– कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र का नाम, जो पुराणों के बड़े ज्ञाता माने जाते हैं। इनका उपनयन-संस्कार स्वयं महादेव जी ने किया था और देवराज इन्द्र ने उन्हें कमण्डलु तथा आसन दिया। इन्होंने राजा परीक्षित को मृत्यु के पहले मोक्षधर्म दिया था, जो इन्होंने अपने पिता और महाराज जनक से सीखा था। वही 'भागवत् पुराण' है।

३. नारद– एक देवर्षि, जो ब्रह्मा जी के मानस-पुत्र हैं। ये ही कालान्तर में देवगन्धर्व होकर कश्यप द्वारा 'मुनि' के गर्भ से उत्पन्न हुए। इन्होंने तीस लाख श्लोकों वाला महाभारत देवताओं को सुनाया था। इन्होंने दक्ष के पुत्रों को सांख्य-ज्ञान का उपदेश दिया था, जिससे वे सबके सब विरक्त होकर घर से निकल गये थे।

४. व्यास– पराशर ऋषि के पुत्र श्रीकृष्णद्वैपायन, जिन्होंने वेदों का संग्रह, विभाग और सम्पादन किया था। ये एक धीवर-कन्या मत्स्यगन्धा, जिसे सत्यवती भी कहते हैं, के गर्भ से नदी के बीच एक टापू में पैदा हुए थे। टापू में जन्म होने के कारण इन्हें 'द्वैपायन', काला होने के कारण 'कृष्ण' और वेदों का संग्रह, विभाग, सम्पादन आदि करने के कारण 'व्यास' कहा जाता है। इन्होंने हिमालय की पवित्र तलहटी में पर्वतीय गुफा के भीतर, स्नानादि से निवृत्त हो, कुशासन पर बैठकर, ध्यान-योग में स्थित हो, महाभारत के स्वरूप पर विचार किया था। ये उत्तम व्रतधारी, निग्रहानुग्रह-समर्थ एवं सर्वज्ञ माने जाते हैं।

कहा जाता है कि अट्ठारहों पुराण, भागवत्, महाभारत और वेदान्त-सूत्र की रचना इन्होंने ही की थी। यह व्यास परम भक्त थे। इन्होंने भक्ति की विशद् व्याख्या की है।

एक अन्य मत से, व्यास कोई एक व्यक्ति नहीं है। प्रत्येक द्वापर में एक नये व्यास हुआ करते हैं। व्यास किसी का नाम नहीं, अपितु उपाधि या पदवी है। वेद-वृत्त में जो सीधा निकल जाय, उसका नाम वेदव्यास होता है। जितने व्यास हुए हैं, वे वेद और पुराण-तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता हुए हैं।[२१]

(११)

कबीर ने परमात्मा के असीम रूप को प्रस्तुत पद में दर्शाया है–

तेहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटि के रहहु सनाथा।
दसरथ कुल अवतरि नहीं आया, नहिं लंका के राव सताया।
नहीं देवकी के गर्भहिं आया, नहीं जसोदै गोद खेलाया।

प्रिथिमी रवन दवन नहिं करिया, पैठि पताल नहीं बलि छलिया।
नहीं बलिराज से माँड़ी रारी, नहिं हरिनाकुस बधल पछारी।
होय बराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया।
नहिं गोबरधन कर गहि धरिया, नहिं ग्वालन संग बन बन फिरिया।
गण्डक सालिगराम न सीला, मछ कछ होय जल नहीं हीला।
द्वारावती सरीर न छाड़ा, लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।।
साखी– कहैं कबीर पुकारि कै, वोहि पंथै मति भूल।
जेहि राखेहु अनुमान कै, सो थूल नहीं अस्थूल।।[२२]

परम सत्य के साथ लगो अर्थात् उसकी भक्ति करो और जन्म-मरण के दुःख से छूटकर, स्वयं स्वामीवान् होकर कृतकृत्य हो जाओ। नर-रूप में अथवा किसी अन्य रूप में उसकी उपासना व्यर्थ है। परमात्मा एक रूप में ससीम होकर नहीं रहता। उसने दशरथ के कुल में राम के रूप में अवतार नहीं लिया और न परमात्मा ने लंका के राजा रावण को ही सताया। यह कार्य तो राजा रामचन्द्र का था।

परमप्रभु देवकी के गर्भ में अवतरित नहीं हुए। उन्हें यशोदा ने गोद में नहीं खिलाया था। भगवान् ने पृथ्वी पर न तो रमण या क्रीड़ा की और न दुष्टों का दलन किया। ये सभी कार्य मानव कृष्ण और राम के हैं। ईश्वर ने बलि को छल करके पाताल नहीं भेजा। राजा बालि से प्रभु ने कभी युद्ध नहीं ठाना और न हिरण्यकशिपु को पछाड़ कर वध किया। बाराह के रूप में उन्होंने पृथ्वी को नहीं उठाया और न परशुराम के रूप में क्षत्रियों का विध्वंस कर पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन ही किया। उन्होंने कभी हाथ से गोवर्धन पर्वत नहीं उठाया और न गोप-गोपियों के साथ घूमे। वह कभी गण्डक नदी में पत्थर बनकर शालिग्राम रूप में प्रकट नहीं हुए और न मत्स्य या कच्छप होकर जल में प्रवेश किया। द्वारिका में प्रभु ने शरीर नहीं छोड़ा, कृष्ण ने छोड़ा। प्रभु ने जगन्नाथपुरी में अपने पिण्ड को स्थापित नहीं किया। ये सब अधिक-से-अधिक प्रभु के ऐश्वर्य और गरिमा के प्रतीक हो सकते हैं। असीम प्रभु ससीम होकर इस प्रकार अवतरित नहीं होता।

इस रमैनी में सन्दर्भ व अन्तर्कथाओं को जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–

१. दशरथ– इन्दुमती के गर्भ से उत्पन्न महाराज अज के पुत्र तथा इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न अयोध्या के राजा थे। ये पूर्व जन्म में स्वायम्भुव मनु थे। राम इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे।

२. लंका– भारत के दक्षिण का एक टापू, जहाँ रावण का राज्य होने के पहले कुबेर का आधिपत्य था। ऐसा कहा जाता है कि रावण के समय में यह टापू सोने का था। पहले यह कुबेर के अधीन था और कुबेर धन का मालिक कहा जाता है। अत: यह टापू, निश्चय ही; धन-धान्य से परिपूर्ण रहा होगा। शायद सोने की लंका का यही तात्पर्य हो।

३. रावण– लंका का प्रसिद्ध राजा, जिसे राम ने युद्ध में मारा था। विष्णु से पराजित होकर राक्षसगण पाताल भाग गये थे। इनमें सुमाली नामक एक राक्षस भी था, जिसके कैकसी या निकषा नामक एक पुत्री थी। रावण पुलस्त्य-पुत्र विश्रवा का लड़का था, जो इसी कैकसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इसके दस सिर थे और रूप अत्यन्त विकराल तथा स्वभाव अत्यन्त क्रूर था। रावण ने अपने सौतेले भाई कुबेर की समता करने की इच्छा से भाइयों सहित दस हजार वर्षों तक तपस्या की। इसके घोर तप से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान दिया कि नर-वानर को छोड़कर अन्य किसी के द्वारा इसका वध न हो सकेगा। सुमाली की सलाह

से इसने कुबेर की लंका पर अधिकार कर लिया। इसने राम की पत्नी सीता का हरण किया, फलस्वरूप बन्धु-बान्धवों समेत राम द्वारा मारा गया।

४. देवकी– उग्रसेन के भाई देवक की पुत्री, वसुदेव की पत्नी और भगवान् श्रीकृष्ण की माता। यह कंस की चचेरी बहिन थी। इनके विवाह के समय आकाशवाणी हुई थी कि इनके आठवें गर्भ से कंस का विनाश होगा। भादों कृष्णाष्टमी की आधी रात को इनके गर्भ से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ और उसी रात को यशोदा को एक पुत्री हुई। योगमाया के प्रभाव से सभी प्रहरी सो गये और वसुदेव रातोंरात कृष्ण को यशोदा के यहाँ रख आये और यशोदा की पुत्री को लाकर देवकी के पास सुला दिया। कंस ने उसे पत्थर पर पटक दिया।

५. यशोदा– नन्द गोप की पत्नी, जिन्होंने श्रीकृष्ण का लालन-पालन किया था।

६. बलि– दैत्य जाति का एक राजा था। यह विरोचन-सुरुचि का पुत्र तथा प्रह्लाद का पौत्र था। इसकी तीन पत्नियाँ थीं- अशना, विंध्यावली तथा सुदेष्णा। इसके बाण आदि सौ पुत्र तथा शकुनी और पूतना नामक दो पुत्रियाँ थीं।

एक बार नर्मदा के उत्तरी तट पर जब बलि भृगुकच्छ में अश्वमेध-यज्ञ कर रहा था, तब विष्णु वामन-रूप में वहाँ गये। बलि ने उनसे कुछ दान लेने की प्रार्थना की। उन्होंने केवल तीन पग भूमि माँगी। बलि से तीन पग भूमि मिल जाने पर वामन ने अपना विश्वरूप प्रकट किया और दो पग में पृथ्वी और आकाश नाप लेने के पश्चात् तीसरा पग रखने के लिए स्थान माँगा। बलि ने अपना मस्तक सामने रख दिया। इसी पर पैर रखकर हरि ने उसे पाताल भेज दिया।

बालि– बन्दर जाति का किष्किन्धा का राजा, सुग्रीव का ज्येष्ठ भ्राता तथा अंगद का पिता। एक बार सुमेरु पर्वत पर तपस्या करते समय ब्रह्मा की आँखों से गिरे।[२३]

कबीर वह परमतत्त्व हैं, जो अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों का मार्गदर्शन करने के लिए प्रत्येक युग में जन्म लेते हैं। देश के विभिन्न भागों में विद्यमान कबीर-पन्थियों और मठों की गद्दियों में कबीर का बहुत अधिक साहित्य मौखिक और लिखित रूप में विद्यमान है। कबीर पर लिखने वाले बड़े-बड़े विद्वान्, जैसे– श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली',[२४] डॉ. रामकुमार वर्मा की 'सन्त कबीर',[२५] डॉ. पारसनाथ तिवारी की 'कबीर ग्रन्थावली',[२६] डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली',[२७] हंसदास शास्त्री का 'कबीर बीजक',[२८] मोतीदास चेतनदास का 'कबीर साहब की बीजक',[२९] सदाफलदेव जी का 'बीजक-भाष्य',[३०] महात्मा पूरनदास का 'मूल बीजक',[३१] विचारदास का 'बीजक',[३२] कबीर साहब की 'शब्दावली',[३३] डॉ. शुकदेव सिंह का 'कबीर बीजक'[३४] आदि उपर्युक्त सभी के संकलन को देखने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि– जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह ने कबीर वाङ्मय; खण्ड-१ 'रमैनी' में जिस प्रकार भावार्थ-बोधनीय व्याख्या प्रस्तुत की है और उसमें सन्दर्भित पौराणिक अन्तर्कथाएँ जिस प्रकार रखी हैं, वो अन्यत्र दुर्लभ है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय : खण्ड-१ रमैनी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७४, पृ. १

२. वही– पृ. २ ३. कबीर वाङ्मय : खण्ड-१ रमैनी, पृ. १३५

४. जयदेव सिंह-वासुदेव सिंह, रमैनी-८, पृ. १६

५. वही– पृ. १३५ ६. रमैनी-११, पृ. २१
७. कबीर वाङ्मय : खण्ड-१ रमैनी, पृ. १३५-१३६
८. रमैनी-१३, पृ. २६ ९. वही, पृ. १३७-१३८ १०. रमैनी-४०, पृ. ६९
११. कबीर वाङ्मय : खण्ड-१ रमैनी, पृ. १३८
१२. रमैनी-४७, पृ. ७० १३. वही, पृ. १३९ १४. रमैनी-४८, पृ. ८०
१५. वही, पृ. १४० १६. रमैनी-५४, पृ. ८८ १७. वही, पृ. १४०
१८. रमैनी-५५, पृ. ८८-८९ १९. वही, पृ. १४१-१४२ २०. रमैनी-६९, पृ. १०६
२१. वही, पृ. १४३ २२. रमैनी-७५, पृ. ११६ २३. वही, पृ.१४३-१४४
२४. श्यामसुन्दर दास– कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ११ संस्करण, संवत् २०२७
२५. डॉ. रामकुमार वर्मा– सन्त कबीर, प्रकाशक : साहित्य भवन लि० प्रयाग- १९४३
२६. डॉ. पारसनाथ तिवारी– कबीर ग्रंथावली, प्र. हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६१
२७. सम्पादक माता प्रसाद गुप्त– कबीर ग्रन्थावली, प्रमाणिक प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण-१९६९
२८. सं. हंसदास शास्त्री– कबीर बीजक, प्र. कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बाराबंकी।
२९. मोतीदास चेतनदास– कबीर साहब की बीजक, कबीर प्रेस, सीयाबाग, बड़ौदा।
३०. सदाफलदेव जी– बीजक-भाष्य, प्रकाशन : मुक्ति पुस्तकालय, पकड़ी, बलिया, सं. २०१३
३१. पूरनदास– मूल बीजक, बम्बई, सं. १९९३
३२. विचारदास शास्त्री– बीजक, प्र. रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९२८ ई.
३३. कबीर साहब की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस, प्रयागराज, सन् १९५१ ई.
३४. डॉ. शुकदेव सिंह– कबीर बीजक, प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-१९७२

●

सगुण-निर्गुण और रमैनी : प्रो. वासुदेव सिंह की दृष्टि में

डॉ. इंदीवर *

सहज स्वभाव, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और मिलनसार प्रो. वासुदेव सिंह कुशल अध्यापक और साहित्य-मर्मज्ञ थे। उनका मुझे स्नेह प्राप्त था। मैं उनका जिज्ञासु पाठक था। उन दिनों मैं काशी विद्यापीठ के अध्यापक आवास में रहता था। शामें उनके सान्निध्य में कटती थीं। इनका उपयोग हम अपनी जिज्ञासा शान्त करने में करते। कभी उन्हें कुरेद कर रीतिकाल का पूरा रस लेते। वे रीतिकाल और सन्त साहित्य के कुशल व्याख्याता थे। मध्यकाल के कवियों में कबीर उन्हें अति प्रिय थे। कबीर पर उन्होंने जयदेव सिंह के साथ मिलकर अच्छा काम किया है। यह ग्रन्थ श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, परशुराम चतुर्वेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय आदि की परम्परा में महत्त्वपूर्ण है।

एक बार मैंने उनसे पूछा–''रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'लोकजीवन और साहित्य' में भक्ति साहित्य का आधार ढूँढ़ते हुए कहा है कि 'सन्त साहित्य का सामाजिक आधार जुलाहों, कारीगरों और व्यापारियों का भौतिक जीवन है।' मुझे लगता है, डॉ. शर्मा ने कलम की एक नोंक से हिन्दी के सम्पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य को भौतिक आधार वाला बना दिया। कबीर जुलाहा थे; यह तो ठीक, किन्तु सूर, तुलसी, नन्ददास, जायसी आदि कवि न तो कारीगर थे, न व्यापारी। इनके साहित्य में कुछ भी ऐसा नहीं, जिसका लाभ केवल जुलाहों, कारीगरों और व्यापारियों को मिले।''

प्रो. वासुदेव सिंह हँसे और बोले– ''डॉ. रामविलास शर्मा की लाचारी है। साहित्य तो बाहरी ढाँचा मात्र है, उसके मूल ढाँचे की खोज में उन्हें जुलाहा, कारीगर और व्यापारी की खोज करनी ही होगी। ऐसे दृष्टिकोण तथ्य की खोज न कर तथ्य को आरोपित करते हैं। जो नहीं है, उसकी भी कल्पना कर लेते हैं। तुलसी और कबीर की रचनाओं को आधार बनाकर अध्ययन करना चाहिए। तुलसी और कबीर में अनेक समानताएँ हैं।''

इसी तरह की अनेक समानताएँ और असमानताएँ उन्होंने बताईं। उनके कबीर सम्बन्धी ग्रन्थ 'कबीर काव्य कोश', 'कबीर वाणी पीयूष', 'साखी', 'सबद', 'रमैनी' आदि का अध्ययन करने पर साफ हो जाता है कि कबीर और तुलसी– दोनों ही प्राय: एक जैसे काल के हैं। दोनों में लोकभाषा का प्रबल आग्रह है। दोनों के उपास्य राम हैं, राम-नाम। दोनों वैष्णव हैं और रामानंद सम्प्रदाय के हैं। कबीर के राम और तुलसी के राम में मौलिक अंतर है। तुलसी के राम राजा, मर्यादा पुरुषोत्तम एवं परब्रह्म हैं। कबीर के राम केवल परब्रह्म हैं, किन्तु कबीर भी उन्हें बार-बार 'राजा राम' कहकर लीला पुरुषोत्तम की ओर संकेत करते दीखते हैं। परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने की कल्पना में पति-पत्नी का रूपक तुलसी की अपेक्षा सूर में मिलता है। तुलसी

* सा० ४/३६-पी-३-आर, बजरंग नगर, दौलतपुर रोड, पाण्डेयपुर, वाराणसी

और कबीर– दोनों ही योग के समर्थक हैं। हाँ, कबीर योग को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन भी मानते हैं। तुलसी उसे बहुत महत्त्व नहीं देते। दोनों ही सन्त सेवक-सेव्य भाव में विश्वास करते हैं। तुलसी और कबीर– दोनों में दीनता, विनय और आर्त्तभाव है। इनके बिना भक्ति सम्भव नहीं। तुलसी अपने तन के चाम का 'प्रभु की जूती' बनाना चाहते हैं, तो कबीर 'राम की कुतिया' हैं।

दोनों गुरु को महत्त्व देते हैं। दोनों में गुरु की वंदना है। दोनों के गुरु अलौकिक हैं। लौकिक भी हो सकते हैं, किन्तु उनका सम्मान अलौकिक है। कबीर पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी हैं। तुलसी भी वाक्य-ज्ञान (पुस्तकीय ज्ञान) को मुक्ति के लिए व्यर्थ मानते हैं। तुलसी ने स्वयं लिखा है। कबीर ने 'मसि कागद' छुए बिना– मौखिक ही– चारों युगों की बात कह दी। दोनों ही सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक अभिव्यक्ति के पक्ष में हैं। दोनों हिंसा-विरोधी और अहिंसा के समर्थक हैं। सत्य को प्रतिष्ठा देते हैं। दोनों ही षड् विकारों को त्यागने के पक्ष में हैं। भोग-विरोधी हैं। दोनों ही छुआछूत के विरोधी हैं, क्योंकि भगवान् के दरबार में सभी समान हैं। कबीर पूर्णत: निर्गुण-निराकार के प्रचारक हैं, इसलिए वे किसी सामाजिक स्वरूप की कल्पना नहीं करते। सामाजिक स्वरूप-निर्धारण करने वाले कवि हैं– तुलसीदास। तुलसी भक्ति में जाति को न मानकर भी सामाजिक व्यवस्था में इसे स्वीकार करते हैं। कबीर जाति-व्यवस्था को किसी भी स्तर पर नहीं मानते, किन्तु अपने को 'जुलाहा' कहते हैं। कबीर संसार और समाज, सामाजिक सम्बन्धों के प्रति रागादि को पूर्णत: व्यर्थ मानते हैं। अत: उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों की चर्चा नहीं की। संसार की अनित्यता का स्वर कबीर-साहित्य में अत्यन्त तीव्र और शक्ति के साथ प्रस्तुत हुआ है; इसलिए निर्गुण का मतलब ही हो गया– संसार की अनित्यता का वर्णन, 'राम नाम सत्य' का पर्याय। तुलसीदास को भी यह सब स्वीकार है, किन्तु वे समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। उनकी रचनाओं में समाज और सामाजिक सम्बन्ध विस्तृत और पुष्ट हैं। दोनों कवियों के यहाँ शृंगार का स्थान नहीं है, किन्तु कबीर स्त्री मात्र को एकभाव 'माया' मानकर देखते हैं, जबकि तुलसी के यहाँ स्त्रियों के अनेक रूप हैं। शूर्पणखा जैसी कामिनी माया है, तो कौशल्या और सीता जैसी माता और पत्नी भी हैं। कभी-कभी तो लगता है कि तुलसीदास आध्यात्मिकता की अपेक्षा सामाजिकता के कवि हैं। जो लोग तुलसी में केवल लोकमंगल देखते हैं, वे उनके आध्यात्मिक पक्ष को भूल जाते हैं। ऐसे ही लोग कबीर को 'सामाजिक परिवर्तन का कवि' मानते हैं। उनकी गहरी आध्यात्मिकता उन्हें नहीं दिखाई पड़ती है।

सामाजिकता को तुलसी अत्यन्त विस्तार देते हैं, तो कबीर आध्यात्मिकता में बहुत ऊँचे जाते हैं। समाज या किसी प्रकार के भूत के अभाव में वे वहाँ जाते हैं, जहाँ जाने में चींटी के पाँव भी लड़खड़ाते हैं। तुलसी कथाओं के माध्यम से सांसारिक सम्बन्धों और घटनाओं के मार्मिक स्थलों की अनुभूति कराते हैं, किन्तु कबीर को संसार से कुछ भी लेना-देना नहीं। वे हर समय संसार की नश्वरता का वर्णन करते हैं।

तुलसी के राम रक्षा का आश्वासन देते हैं। बहुत कठिनाई हुई, तो स्वयं उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु कबीर के राम को समाज से कुछ लेना-देना नहीं। वे समाज नहीं, व्यक्ति (विरला) की मुक्ति में विश्वास करते हैं। असल में; व्यक्ति-मुक्ति भी उनका कार्य नहीं। वे तो किसी भी प्रकार के कार्य-कारण से परे हैं। कबीर में निषेध की प्रधानता है। तुलसी सभी का निषेध नहीं करते, क्योंकि तुलसी के राम सामाजिक हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम और राजा हैं। निषेध के कारण ही कबीर किसी शास्त्र को नहीं मानते। किसी वचन को प्रमाण नहीं मानते। सद्गुरु के बताए मार्ग पर चलते हैं। उसे भी अंतिम नहीं मानते। स्वयं खोज करते हैं। इसलिए कबीर की शब्दावली परम्परित हो सकती है, किन्तु उनकी अनुभूतियाँ निजी हैं। तुलसी निजी अनुभव के कवि हैं। निजी अनुभव व्यक्ति के साथ नष्ट हो सकता है, किन्तु सामाजिक अनुभव समाज के

साथ रहकर 'शास्त्र' बन जाता है। इसीलिए तुलसीदास 'नाना पुराण निगमागम' को आधार मानते हैं। पुराणों का प्रभाव कबीर पर भी है, किन्तु वे पुराणों की गहराई में न जाकर कुछ गिनी-चुनी लोक-प्रचलित बातों को ही स्वीकार करते हैं। वे परम्परा के बिल्कुल विरोधी नहीं हैं। हाँ, साधना में सामाजिक अनुभव की अपेक्षा वैयक्तिकता का आधार कबीर को पुराकथाओं से दूर रखता है। बौद्ध-परम्परा का प्रभाव उतना नहीं है, जितना वैदिक परम्परा ने प्रभावित किया है, इसलिए कि कबीर मूलत: वेदांती हैं। वेदांत दर्शन के सन्त हैं। कबीर वेदांतिक परम्परा के रहस्यवादी हैं और रहस्यवाद का मुख्य आधार वेदांत है।

कबीर के नाम प्रचलित 'रमैनी' तुलसीदास के 'मानस' से बिल्कुल भिन्न है। इसमें राम, सीता, रावण की कथा न होकर निर्गुण-साधना एवं सृष्टि-विकास की वेदांती दृष्टि की प्रमुखता है। दोनों ही कवि 'मायावाद' से प्रभावित हैं। कबीर पर माया का विशेष प्रभाव है। कबीर की माया तुलसी की माया से अधिक विकराल है। कबीर के त्रिदेव भी माया के शिकार हैं। तुलसी में इसका संकेत भर है। इसीलिए कबीर में नारी पूर्णत: त्याज्य है। वे नारी को पूर्णत: छोड़ने के पक्ष में हैं– 'नारी बड़ा विकार'। उनके यहाँ नारी केवल कामिनी है। नारी के अन्य पक्षों की चर्चा कबीर नहीं करते। कबीर की माया अविद्या है, जबकि तुलसी के यहाँ माया के निर्माणकारी रूप भी हैं। तुलसी भक्ति-समर्थक और मुक्ति-विरोधी हैं– 'सगुणोपासक मोच्छ न लेहीं।' कबीर भी भक्त हैं, मोक्ष को एकाध बार अस्वीकार भी करते हैं– 'राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो', किन्तु उनकी मूल दृष्टि मोक्षप्रधान है। माया और माया-विलास से पूर्ण मुक्ति। नारी के प्रति करुणा तुलसी में कबीर की अपेक्षा अधिक है– 'कत विधि सृजी नारि जग माँहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाँहीं।' ऐसा लगता है कि तुलसी मनु के उस कथन का खण्डन कर रहे थे, जिसमें कहा गया है कि– 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।' कबीर के राम अकेले हैं। तुलसी के राम सीता-सहित हैं। इसके विपरीत; कबीर के यहाँ शिव, ब्रह्मा, विष्णु– सबकी स्त्रियाँ माया हैं। माया ही इनके घरों में पत्नी बन बैठी है। कबीर पर बौद्ध, वेदांत और योग– तीनों का प्रभाव है। इन तीनों में स्त्री त्याज्य है। अत: कबीर ने गृहस्थ जीवन को पूर्णत: अस्वीकार किया। लगता है, तुलसीदास संसार को सुन्दर बनाना चाहते थे और कबीर संसार से मुक्त होना चाहते थे, किन्तु विरक्ति दोनों में है। बिना विराग के मुक्ति सम्भव ही नहीं है। संसार का सुधार भी नहीं हो सकता है।

तुलसी और कबीर– दोनों ही आदर्शवादी हैं, किन्तु दोनों की दृष्टि ऊर्ध्वगामी है। दोनों के आदर्श ऊपर से आते हैं। कबीर राम को हृदय में देखते हैं और तुलसी उन्हें बाहर भी देखते हैं। सबमें, सबको राममय देखते हैं। कबीर इतने स्पष्ट न होकर भी सबकी एकता तो देखते ही हैं– सभी जीव ब्रह्म हैं, सभी मायाधीन हैं।

इस तरह, वासुदेव सिंह के सान्निध्य में कबीर पर बहुत कुछ समझने का अवसर मिला। उनके समस्त कबीर-साहित्य का निचोड़ जो मैंने समझा, इस प्रकार है–

दोनों ही कवि उदारता एवं सहिष्णुता का उपदेश करते हैं। परमात्मा के असाम्प्रदायिक रूप की स्थापना करते हैं। कबीर में झाड़-फटकार अधिक है। वे सभी सम्प्रदायों को सम्पूर्ण मानते हैं। तुलसीदास मुख्यत: अपनी बात कहते हैं। खण्डन-मण्डन के चक्कर में कम पड़ते हैं। कबीर में तर्क और आवेश की प्रधानता है, किन्तु तुलसी सहज ढंग से कहते हैं। कबीर अपने समाज और बाहरी आक्रमणकारी– दोनों से पीड़ित हैं, किन्तु तुलसी केवल बाहरी आक्रमण से प्रभावित हैं। फिर भी; वे प्राय: किसी आक्रमण की चर्चा से बचते हैं। सामयिकता की अपेक्षा शाश्वत एवं सनातन मूल्यों पर अधिक जोर देते हैं। पुराने कवि सामयिक और

सामाजिक सुधार की अपेक्षा मानव चरित्र-सुधार के सनातन तत्त्वों को प्रतिष्ठित करते थे। उनमें सामयिकता का आग्रह कम-से-कम होता था।

सन्त कबीर श्रद्धा-विरोधी नहीं हैं, किन्तु वे श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक जोर देते हैं। तुलसी में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य का समन्वय है। ये ही बातें कमोवेश कबीर में भी कही जा सकती हैं। तुलसीदास उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम– चारों के उपासक हैं। कबीर केवल 'नाम' के समर्थक हैं। अवतार में विश्वास के अभाव में रूप, लीला और धाम का सवाल ही नहीं उठता है। तुलसी को ईश्वर का निर्गुण-सगुण– दोनों रूप स्वीकार्य है। अकेले निर्गुण तो केवल निर्गुण है। सगुण को कबीर केवल अभिव्यक्ति या साधना की दृष्टि से साधना रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि भजन, कीर्तन, प्रेम, भक्ति आदि के लिए किसी-न-किसी प्रकार की सगुणता स्वीकार करनी ही पड़ती है। दोनों ही कवि मायामय जीव को तुच्छ मानते हैं, इसीलिए दोनों का उद्देश्य ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म सबके भीतर है। उसकी जानकारी की कोशिश ही साधना है। इसीलिए दोनों कवि भक्त को, गुरु को परमात्मा जैसा मानते हैं। कबीर गृहस्थी का विरोध कर भी गृहस्थ थे। तुलसी गृहस्थ धर्म के समर्थक होकर भी सन्यासी थे। तुलसी प्रबंध और मुक्तक– दोनों के रचनाकार हैं। कबीर केवल मुक्तक के रचनाकार हैं। निर्गुण में प्रबंध के लिए स्थान नहीं है। तुलसी की दृष्टि सम्पूर्ण जीवन वाली है। कबीर जीवन की विविधता में विश्वास नहीं करते हैं। परम्परा की दृष्टि से कबीर भी नारदी भक्ति में विश्वास करते हैं।

तुलसी ने कलिकाल को अपने युग की विपत्तियों का रूपक बनाया है, जबकि कबीर इसे माया के माध्यम से व्यक्त करते हैं। तुलसी बहुदेववादी भी हैं, कबीर बहुदेववाद के विरोधी हैं, किन्तु दोनों ही इस्लामी एकेश्वरवाद को अस्वीकार करते हैं। कबीर की दृष्टि में अन्य देव माया हैं–

जौ जांचा तौ केवल राम। आन देव सूं नाहीं काम।।

नवधा भक्ति दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु तुलसी सख्यभाव को नहीं स्वीकार करते हैं, जबकि कबीर के यहाँ पाद-सेवन का स्थान नहीं है। दोनों ही सत्संग को आवश्यक मानते हैं। 'सब कुछ' को गुरु-कृपा का फल मानते हैं। अमानी भक्ति, विषय-विरति, सृष्टि को ब्रह्ममय देखना, सन्तों का आदर, छलहीनता, सरलता, दैन्य, अनन्य शरणागति आदि दोनों में समान हैं।

काशी की प्रतिष्ठा को कबीर भी अस्वीकार नहीं करते। भक्ति की महत्ता की दृष्टि से वे मगहर में मरना चाहते हैं। मतलब कि वे मगहर को भी पवित्र बनाना चाहते हैं। क्या कबीर ने काशी छोड़कर गलती की? 'तजलों कासी मति भइ भोरी। प्राननाथ कहु का गति मोरी।' तुलसी काशी में बाहर से आए थे, कबीर काशी में ही पैदा हुए थे। दोनों देशी भाषा के लेखक हैं, किन्तु तुलसी पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है, जबकि कबीर की भाषा मिली-जुली और ऊबड़-खाबड़ है। कबीर में उलटवाँसी है। वे अपनी बात किसी-न-किसी प्रतीक के माध्यम से कहते हैं। कबीर के प्रतीक कठिन हैं, तुलसी सीधी भाषा में बोलते हैं। तुलसी सृष्टि में फैले परमात्म सत्य की अनुभूति कराना चाहते हैं, जबकि कबीर हृदय में स्थित ब्रह्म का साक्षात्कार कराना चाहते हैं।

तुलसी ने भाषा के माध्यम से वैदिक शास्त्र-परम्परा को जनसुलभ बनाया। आध्यात्मिक, नैतिक और शास्त्री मन का विश्वास बनाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने किसी जाति या धर्म का विरोध न कर स्वयं को बुलंद बनाने की शक्ति विकसित की। कबीर की पद्धति भिन्न है। वे मनुष्य को वहाँ ले जाते हैं, जहाँ सारे भेद, दु:ख और चिंताएँ लुप्त होकर केवल परम आनंद-सत्ता की अनुभूति रह जाती है। मनुष्य

मनोलोक का आनंद लेता है। कबीर की रचनाएँ बिना किसी शास्त्री तैयारी या प्रशिक्षण के एक ऐसा पुष्ट मन तैयार करती हैं, जहाँ शोक का नाम नहीं है। इसीलिए कबीर का प्रचार उन लोगों में भी अधिक हुआ, जो औपचारिक शिक्षा से वंचित थे। दोनों कवियों की रचनाओं ने एक ठोस आधार पर देश के मानस को पुष्ट किया। इन्हीं दोनों कवियों की शिक्षा का फल है कि आगे आने वाली सभी अभारतीय धार्मिक शिक्षाएँ प्रभाव नहीं डाल पाती हैं। कबीर चाहे जिस जाति के रहे हों, किन्तु उनका मुख्याधार वेदांत है। वे विधर्म को रोकते हैं। धर्म-परिवर्तन को रोकने में दोनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

किसी भी समाज को निर्गुण-सगुण– दोनों की आवश्यकता है। केवल निर्गुण समाज नहीं चला सकता। उससे व्यवस्था की आलोचना हो सकती है। निर्गुण-आलोचना सगुण की अपेक्षा अधिक प्रभावी होती है। समाज तो सगुण ही होगा, किन्तु निर्गुण के अभाव में सगुण समाज जड़ हो जाता है। इसीलिए तुलसी और कबीर– दोनों की महत्ता समान रूप की है। गृहस्थी और सन्यास, कर्म और ज्ञान– दोनों को मिलाकर ही भक्ति पूर्ण हुई है– कबीर के मुक्तकों ने तुलसी के मुक्तकों से अधिक प्रसिद्धि पाई। तुलसी के प्रबंध ने समाज को स्थायी और ठोस रचनात्मक आस्था दी।

ऐकांतिक भक्ति की दृष्टि से योग, यज्ञ, तप, तीर्थ, अध्ययनादि दोनों भक्तों को अस्वीकार हैं। दोनों ही 'शब्द प्रमाण' में विश्वास करते हैं। अंतर यह है कि तुलसी के प्रामाणिक शब्द शास्त्रों के हैं, जबकि कबीर के सद्गुरु के हैं। सद्गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा ही उन्हें शब्द प्रमाण की ओर ले जाती है। वे सद्गुरु के शब्दों की आत्मानुभूति भी करते हैं। तुलसी भी आत्मानुभूति को स्वीकार करते हैं, इसीलिए वे कहते हैं कि वाक्य-ज्ञान की अत्यन्त निपुणता प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति मन के अज्ञानांधकार को दूर नहीं कर सकता। भीतर के अधंकार को दूर करने के लिए तो भीतर की साधना आवश्यक है, किन्तु भीतर की साधना के साथ ही शास्त्र-परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। सन्त तुलसीदास जब कहते हैं कि– ''गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राज डगरो सो''– तो वे गुरु-वाक्य को महत्त्व देते हैं। गुरु ने ही दोनों (कबीर-तुलसी) को 'राम मंत्र' दिया है। दोनों राम को भजते हैं– 'न राँ रामाय नमः', 'न ओं नारायणाय नमः', न ओं वासुदेवाय नमः। सन्त कबीर तो जैसे राम के अतिरिक्त किसी को जानते ही नहीं। तुलसीदास भी स्पष्ट कहते हैं–

विश्वास एक राम नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को।
पढ़िबो पर्‌यो न छठी छमत ऋग्‌ु जजुर अथर्वन साम को।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को।
ज्ञान विराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह काम को। –विनय.

तुलसीदास और कबीर– दोनों ही केवल बाह्य साधन के विरोधी हैं। बाहर तो ठीक हो ही, किन्तु असली है– भीतर को शुद्ध रखना। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर– ये षट्विकार मन में रहते हैं। इन्हें मन से भगाना है और मन को पवित्र करना है। बिना मन को शुद्ध किए भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं। 'विनय-पत्रिका' में कहा गया है–

बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रंथि न छूटै।
अंतर मलिन, विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरै न उरग अनेक जतन बलमीक विविध विधि मारे।

तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।

जब दोनों को सृष्टि के चोर, डाकू (काम, क्रोधादि) लूटने लगते हैं, तो एक ही उपाय है– प्रभु की शरण में जाना। कबीरदास कहते हैं–

चोर तुम्हारा तुम्हारी अग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।

ऐसी ही बात तुलसीदास भी कहते हैं–

मैं एक अमित बटपारा, कोउ सुनै न मोर पुकारा।

दोनों ही भक्त शरीर की प्राप्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, इसलिए इस शरीर से परमार्थ साधना चाहिए। बाद में यह शरीर मिले, न मिले–

मानुख तन पायौ बड़े भाग– कबीर
बड़े भाग मानुस तन पावा– तुलसी

दोनों की भाषा भी एक है। दोनों ने भक्ति-विरोध की निंदा की है। दोनों के उपमान तीखे हैं। अत्यन्त प्रभावकारी हैं–

आपुन देहीं चुरुआ पांनी, तिहि निंदहि जिन गंगा आंनी। –कबीर
गारी देत नीच हरिचंद हू दधीच हू को आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है। –तुलसी

दोनों के उपमान पौराणिक हैं। दोनों के प्रभु भक्त-वत्सल हैं, इसीलिए कभी-कभी तुलसी और कबीर की पंक्तियाँ एक जैसी लगती हैं–

दीनदयाल क्रियाल दमोदर भगत बछल भै हारी।

यह पंक्ति कबीर की है, किन्तु तुलसी की भी हो सकती है। ऐसी ही दूसरी पंक्ति है–

है हरि भजन को परवान।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान।

यह कबीर की पंक्ति भी तुलसी से मिलती है। ऐसी जाने कितनी ही बातें कबीर और तुलसी में समान हैं, किन्तु असमानता भी कम नहीं है। दोनों का रामानंद या उनके सम्प्रदाय में दीक्षित होना लोक का दृढ़ विश्वास है। दोनों ही राम-भक्त हैं, अत: समानता का मिलना स्वाभाविक है। कठिनाई तब आती है, जब अनिवार्य विरोध दिखलाने के लिए तुलसी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। ये हैं–

साखी सबदी दोहरा कहि किहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुराना।। –तुलसी

× × ×

तुम जो कहा राम कोउ 'आना' –तुलसी

× × ×

अलखहि अलखहि क्या जपै, रामनाम जपु नीच। –तुलसी

ऐसे ही उद्धरण सन्त सूरदास से दिए जा सकते हैं। कहा जाता है कि कृष्ण द्वारा ब्रज भेजे गए उद्धव निर्गुण मार्ग के उपदेष्टा हैं। उनके उत्तर में गोपियाँ सगुण मार्ग की प्रस्थापना करती हैं। इस प्रकार, निर्गुण और सगुण मार्ग के निश्चित द्वन्द्व ही उभर कर आए हैं। किन्तु निर्गुण-सगुण का विभेद अनिवार्य नहीं है। हिन्दी साहित्य के बाहर तो निश्चय ही नहीं। हिन्दी में भी दोनों में दोनों का मेल दिखता है। सगुण का तो

आधार ही निर्गुण है। स्वयं शंकराचार्य सिद्धांत में अद्वैतवादी और व्यवहार में सगुणोपासक जैसे थे। वेदांत ने पारमार्थिक और व्यावहारिक– दो प्रकार के सत्य की कल्पना की है। परमार्थ में जगत मिथ्या है, किन्तु व्यवहार में वह है। भूख पारमार्थिक सत्य नहीं है, किन्तु उसे व्यावहारिक सत्य तो मानना ही पड़ेगा। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को आग जलाती है, पानी गलाता है, हवा सुखाती है। यह सब शरीर को होता है। परम तत्त्व आत्मा इन सबसे अलग है। सन्त कबीर की मुख्य दृष्टि उस परम तत्त्व पर है। तुलसी परम तत्त्व और व्यवहार तत्त्व– दोनों को जोड़ कर चलते हैं। कबीर परम तत्त्व को प्राप्त कर स्वयं वह हो जाने का उपदेश देते हैं, जबकि तुलसीदास परम तत्त्व का अवतरण नर रूप में करते हैं। यह नर तत्त्व उद्धारक भी है, आदर्श भी है। उसे प्राप्त कर फिर कोई कष्ट नहीं रह जाता है। दोनों ही साधक दो रास्तों से उसी परम तत्त्व को महत्त्वपूर्ण मानकर उससे जुड़ते हैं। तुलसीदास का रास्ता थोड़ा स्थूल, सर्वजन सुलभ है और कबीर की राह सूक्ष्म, अत: विरल के लिए है।

तुलसी और कबीर– दोनों की दृष्टि में संसार शून्य की दीवाल पर बना चित्र जैसा है। संसार-चित्र का आधार कोई भूत पदार्थ न होकर निर्गुण-निराकार अमूर्त्त परम तत्त्व है। यह परम तत्त्व स्वयं अपनी उपाधि से जुड़कर ईश्वर बनता है, इसीलिए वेदांत भी माया की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। माया, जो परम तत्त्व की भी उपाधि बनती है, वह परमेश शक्ति है। माया की परिभाषा देते हुए कहा गया है–

अव्यक्त नाम्नी परमेश शक्तिः अनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।। –शंकर

यह माया सतसत्-रहित, अनादि, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका एवं ज्ञान-विरोधिनी है। माया का यह स्वरूप दोनों सन्तों को मान्य है। तुलसीदास की विनय-पत्रिका का प्रसिद्ध पद है–

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे।

इसी बात को कबीर कहते हैं–

१. पाहन होय के सब गए, बिनु भितियन के चित्र।
२. जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सूतरधार।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रहिं लेहि निहार।

तुलसीदास जब सत्य, असत्य एवं सत्यासत्य– तीनों को भ्रम बताते हैं, तो उसका मतलब कबीर के नकार से है, क्योंकि जो भी कहा जाएगा, वह भ्रम होगा। परम तत्त्व मौन या अनुभूति का विषय है, उसे बताया नहीं जा सकता। बोलने से तत्त्व नष्ट हो जाता है– **'बोलत बोलत तत्व नसाई।'** जब संसार के लोग सोते हैं, तो तुलसी और कबीर– दोनों ही जागते हैं–

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तब कृपापात्र जन जागै ।

–विनय पत्रिका, पद ११९

इसी बात को तुलसीदास ने अन्य जगह भी कहा है–

एहि जड़ जामिनी जागहिं जोगी। परमारथी परपंच वियोगी।

इसे ही 'सुमिरन कौ अंग' में सन्त कबीर बार-बार कहते हैं–

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनाँ भी सोवणाँ लंबे पाँव पसारि।

ये सभी छन्द गीता के उस श्लोक जैसे हैं, जिसमें कहा गया है–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः। २/६९

सन्त कबीर ने 'सहज साधना' और 'महासुख' का प्रयोग किया है। इन्हें ही तुलसीदास 'सहज सुख' कहते हैं–

निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो।
जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख, विषम जाल अरुझान्यो।

–विनय पत्रिका, पद ८८

स्पष्ट है कि विषयों का साथ दु:सह दु:ख है और प्रभु का साथ सहज सुख है।

तुलसीदास के अनुसार, भक्ति और माया– दोनों स्त्री हैं, इसलिए भक्ति पर माया का वश नहीं चलता। ज्ञान का रास्ता कठिन है। ज्ञानी को माया का डर बना रहता है। ज्ञानी माया में फँस सकता है, किन्तु भक्त का माया कुछ नहीं बिगाड़ सकती, क्योंकि स्त्री स्त्री को नहीं मोह सकती– **'मोह न नारि नारि कर रूपा।'** अब कबीर तो अपने को 'राम की बहुरिया' ही कहते हैं। माया भी राम की शक्ति है। ऐसे में; दोनों का विरोध हो सकता है। मोहने का कहाँ सवाल है? भक्तों पर माया का वश नहीं चलता। भक्ति माया को खूब समझती है– **'तिरिया के तत तिरियै पै जाना।'** माया कुलटा है, इसलिए प्रभु को माया नहीं, भक्ति प्रिय है। क्यों कुलटा है माया? इसलिए कि यह सबको भ्रम में डालती है, परमात्मा-विमुख करती है, परम पुरुष को पहचानने में बाधा डालती है। इसकी अपेक्षा भक्ति प्रभु से जोड़ती है, जीव को प्रभु बना देती है। माया की उपाधि से जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता। भक्ति माया के अज्ञानांधकार को हटाकर परम प्रकाश प्रभु का साक्षात्कार कराती है।

राम-कथा के गायक शिव हैं। अध्यात्म रामायण और रामचरितमानस में तो यही है। कबीर के समय में सम्भव है अध्यात्म रामायण रहा हो। राम-कथा की शिव-कथन-परम्परा रही हो। कबीर शायद उसी की ओर संकेत कर कहते हैं–

महादेव मुनि अंत न पाया। उमा सहित उन जन्म गँवाया।

शिव अविनाशी माने जाते हैं, किन्तु कबीर कहते हैं– अविनाशी शिव भी मर गए। सगुण में निर्गुण की उपासना करने वाले भी मर गए–

मरि मरि गए भक्ति जिन्हि ठानी। सगुन माहि निर्गुन जिन्ह आनी।

अगर कबीरदास तुलसी के बाद होते, तो आलोचक इन्हें तुलसी की आलोचना समझते। किन्तु यह आलोचना सबके लिए है। सगुण में निर्गुण लाने का अर्थ है– सगुणोपासना। सगुणोपासना सन्त तुलसी के पहले भी थी। अत: यह आलोचना तुलसी के पूर्ववर्तियों की है।

तुलसी की विनय पत्रिका और रामचरितमानस– दोनों ही दो ढंग की भक्ति कहते हैं, करते हैं। वैसे ही; तुलसी और कबीर– दोनों की पद्धति भिन्न है, किन्तु दोनों ही एक ब्रह्म के उपासक हैं। तुलसी के यहाँ वह सगुण भी होता है। कबीर भी सगुण में व्याप्त, व्यापक ब्रह्म के उपासक हैं, इसलिए दोनों ही जीव की सत्ता में आस्था रखते हैं।

'रमैनी' नाम देखकर स्पष्ट होता है कि यह शब्द 'रामायण' के वजन पर बना है। आज-कल रामायण से सामान्य तात्पर्य तुलसी के रामचरितमानस से है। सामान्य लोग रामचरितमानस ही क्यों, कवितावली को

'कवित्त रामायण' तथा राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखी राम-कथा को 'राधेश्याम रामायण' कहते हैं। कबीरदास भी राम के उपासक थे। सम्भव है, शिष्यों के मन में राम की रमैनी की कल्पना आई हो। स्वयं कबीर साहब ने ही रमैनी लिखी हो। एक संदेह उपजता है। इस संदेह के कारण हैं। एक यह, तुलसीदास जी ने एक दोहे में साखी-सबदी का उल्लेख किया है–

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान।।

इसमें रमैनी की चर्चा नहीं है। इससे संदेह होता है कि उस समय तक रमैनी नहीं लिखी गई थी। सम्भव है, रमैनी के अति प्रचलन के अभाव में गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि उधर न गई हो, क्योंकि लोक में प्राय: साखी और सबद ही अधिक प्रचलित हैं। सन्त कबीर का सामान्य पाठक साखी अर्थात् दोहरा=दोहा और सबद अर्थात् पद को ही अधिक गाता है। सम्भव है कि रमैनी सम्प्रदाय में ही रह गई हो। बीजक में, सभी बीजकों में रमैनी है और बीजक 'गुप्त धन' के समान है। इसे सामान्यत: लोक या अनाधिकारी से बचाया जाता है। सम्प्रदाय की मान्यतानुसार 'रमैनी' की संख्या ६ लाख ९६ हजार मानी जाती है–**'छः लाख छानबे सहस रमैनी एक जीव पर होय'**- (बीजक की भूमिका– श्री हुजूरमणि प्रकाश साहब, सीया बाग, बड़ौदा, १९५५ ई.) स्पष्ट ही, यह संख्या अत्युक्ति पूर्ण लगती है। कुछ अनुसन्धाताओं के मतानुसार, सभी बीजकों में रमैनी की संख्या ८४ है। फिर गो. तुलसीदास ने रमैनी का उल्लेख क्यों नहीं किया? क्या 'कहिनी' और 'उपखान' में रमैनियों को सम्मिलित माना जाए? किन्तु कहानी और उपाख्यान का संकेत तो प्रेममार्गी कवियों से लिया जाता है। यह भी पता लगता है कि दोहे और चौपाई की परम्परा पुरानी है। सम्भव है, कबीर साहब ने कुछ रचनाएँ इन छन्दों में की हों। नाभादास ने कबीर की रमैनी को स्वीकार किया है– **'हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।'**

एक कठिनाई और है। स्वयं कबीर साहब ने एक जगह कहा है- **'साखी सबदी गावत भूले आतमराम न चीन्हा।'** यहाँ भी रमैनी का उल्लेख नहीं है। अब यह तो कहा नहीं जा सकता कि कबीर साहब भी रमैनी से अपरिचित थे। अगर रमैनी उनकी रचना है, तो उसका उल्लेख करना चाहिए था? यहाँ तो 'किहिनी' और 'उपखान' का उल्लेख भी नहीं है। रमैनी का विषय भी साखी-सबदी से बिल्कुल तो नहीं, कुछ भिन्न है। इसमें सिद्धांत पक्ष अधिक है। किन्तु अनेक रमैनियाँ ऐसी भी हैं, जो स्पष्टत: पदों (सबदी) के भावों से मिलती हैं। ऐसी भी रमैनियाँ हैं, जो डॉ. श्यामसुन्दर दास की प्रति में 'पदावली' के अन्तर्गत हैं। डॉ. शुकदेव सिंह के 'बीजक' और डॉ. जयदेव सिंह एवं डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'रमैनी' के अन्तर्गत हैं। इनमें मात्र दो का उदाहरण सम्भव है। डॉ. श्यामसुन्दर दास एवं डॉ. माताप्रसाद गुप्त की 'कबीर ग्रन्थावली' में–

जौ पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डाँड़ि किन सारै ।टेक।
उतपति ब्यंद कहाँ थै आया, जोति धरी अरु लागी माया।

दूसरा है– **बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई।**
बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्याँ क्यूँ होई बिचारा।

उक्त तीनों सम्पादकों ने इन्हें रमैनी के अन्तर्गत रखा है। यह तुलना और भी अधिक हो सकती है।

कहना इतना ही है कि रमैनी बिल्कुल भिन्न रचना नहीं है। एक नई प्रकार की भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु का प्रयोग करना है। फलत: लोगों को एक ही लेखक को कई लेखक मानने का भ्रम हो जाता है।

निराला जी ने 'राम की शक्ति पूजा' लिखी है, तो 'कुकुरमुत्ता' की भाषा-शैली बिल्कुल भिन्न है। ऐसे ही; प्रसाद के 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' की भाषा-शैली प्रसाद की कहानियों और नाटकों की भाषा से बिल्कुल भिन्न है। प्रेमचन्द ने जब जो समझा, लिखा। अब उन्हें अपनी पार्टी-विचारधारा के अधिक नजदीक लाने के क्रम में लोग उनकी कुछ ही रचनाओं को प्रामाणिक मानते हैं। शेष के बारे में कहना चाहते हैं कि वे प्रेमचन्द की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं। प्रेमचंद ने उन रचनाओं से मुँह मोड़ लिया था। जिन्हें वे मानते हैं, उनकी व्याख्या भी पार्टी-पक्ष में करते हैं। ऐसे ही; कबीर की साखियों, सबदों और रमैनियों का विभाजन भी स्वयं कबीर साहब का न होकर दूसरों का है। अपनी सुविधा के लिए लोगों ने साखियों में जीव, सबद में ब्रह्म एवं रमैनी में जगत सम्बन्धी विचारों की चर्चा की है। वस्तुत: जीव, जगत और ब्रह्म-विचार ही सन्तों के हैं, इसीलिए तीनों में तीनों के विचार मिले हैं। रमैनी में एक स्थान पर स्पष्ट कहा है कि परम तत्त्व अकथनी है। परम तत्त्व राम की रमैनी अर्थात् चरित्र का गुणगान नहीं हो सकता है–

जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह रमैनी गाई।

यहाँ रमैनी से अर्थ है– राम की कथा या गुणानुवाद। अब स्पष्ट है कि रमैनी का विषय क्या है? यहाँ संकेत ब्रह्म से है। सन्त कबीर उच्च कोटि के साधक थे। अत: उनकी सभी रचनाएँ परम तत्त्व के साक्षात्कार का परिणाम हैं। इसलिए 'साखी' (साक्षी) शब्द के आधार पर केवल साखियों को स्वसंवेद्य या स्वानुभूत मानना ठीक नहीं है। सभी रचनाओं में समानता हो। सम्भव है, सन्त कबीर ने दोहों और पदों को अलग-अलग समयों में गाया हो। इन्हें साखी, सबदी, रमैनी नाम शिष्यों ने अपनी सुविधा के लिए दिया हो।

कहरा, बसन्त, बेलि, बिरहुली, चाँचरि, हिंडोला, चौंतीसा, विप्रमतीसी आदि काव्य-रूपों को कबीर की रचना मानने में कठिनाई जान पड़ती है। कबीर के जिस मुक्त व्यक्तित्व की कल्पना हमारे दिमाग में है, लोक-चित्त में है, उसमें ये रचनाएँ बाधा पहुँचाती हैं। केवल मिलते विचारों के आधार पर कुछ कहना कठिन है। कबीर के नाम पर जो अनेक 'कबीरा', 'जोगीड़ा' आदि का प्रचार पाया जाता है, उनका आरम्भ इनसे जोड़ा जा सके, तो आश्चर्य नहीं। अनेक संग्रहकारों ने इन्हें अप्रामाणिक मानकर अपने संग्रहों में स्थान नहीं दिया है।

अंत में यह कि रमैनी के बारे में जब तक कुछ निश्चय न हो जाए, परम्परा के अनुसार इन्हें सन्त कबीर की रचना मानकर संग्रहों में स्थान देना ही होगा। एक महान् रचनाकार, जिसकी सारी की सारी रचनाएँ अलिखित और लोककण्ठ, वह भी अव्यवस्थित लोककण्ठ में प्रचलित हैं, उनके प्रामाणिक पाठ के बारे में अंतिम निर्णय हो भी क्या सकता है? केवल मानने की बात है।

●

कोश-लेखन-परम्परा और प्रो. वासुदेव सिंह

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह *

'कोश' किसी भाषा में पाए जाने वाले शब्द-प्रयोगों की जानकारी के लिए प्रस्थान-बिन्दु है। यहाँ से जिज्ञासु पाठ्य की नाभि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकता है, फिर परम्परा व प्रयोग की धारा में निमज्जित होकर अपने ज्ञान का परिष्कार व परिमार्जन करता है। कोश का सम्बन्ध प्राय: व्याकरण और अर्थ से होता है और किसी भी शास्त्र का व्याकरण उसकी प्रकृति व प्रवृत्ति से सम्बद्ध होता है। किसी भी भाषा का शब्द अपनी व्याकरणिक विशेषता के अतिरिक्त अर्थगत वैशिष्ट्य भी रखता है। किसी भी भाषा का वक्ता कुछ शब्दों के सम्बन्ध में सहज रूप से यह अनुभव करता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द का अर्थ उसकी धारणा में निहित होता है। वह सहजानुभूत अर्थ-सम्बन्ध न तो किसी प्रकार के ध्वनिगत साम्य अथवा वैषम्य से प्रभावित होता है, न किसी प्रकार की व्याकरणिक समानता से। अत: कुछ शब्दों की व्याकरणेतर व्याख्या अर्थ या सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में आती है।

इस प्रकार, कोशों से शब्दों के व्याकरणिक स्तर का पता तो चलता ही है, साथ ही; रूपान्तरण मूलक प्रत्ययों आदि की सक्रियता का बोध भी होता है। इसके साथ ही; चयनित शब्दों के स्थानिक अथवा क्षेत्रगत प्रयोगों का समुचित उल्लेख कोश का अनिवार्य धर्म है। एक कोश शब्दों से सम्बद्ध शैलीमूलक सूचनाएँ भी अनिवार्यत: देता है। सम्बद्ध शैलीमूलक सूचनाएँ देना तथा प्रयोग के विभिन्न स्तरों पर पाए जाने वाले अन्तरों का उल्लेख करना कोश का अनिवार्य धर्म होता है।

कोश वह पुस्तक है, जिसमें सामान्यतया वर्णानुक्रम से किसी भाषा के शब्दों अथवा विशेष विषयों अथवा लेखक आदि के सम्बन्ध में अध्ययन होता है।

A complete language description would require a grammatical Statement, a content description and a dictanory.

एक अच्छा कोश वह होता है, जिसमें आवश्यकतानुसार वे सब सूचनाएँ मिल जाएँ, जिनकी अपेक्षा है। इन सूचनाओं को प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। सामान्यतया कोश तीन प्रकार के होते हैं– (१) भाषा कोश, (२) विषय कोश तथा (३) लेखक कोश। इनके अतिरिक्त कृति कोश, अनुवाद कोश, विश्व कोश आदि भिन्न-भिन्न कोशों की परम्पराएँ पाई जाती हैं। भाषा कोश के ही अन्तर्गत शब्द कोश, शब्द-परिवार कोश, पर्यायवाची कोश, लोकोक्ति-मुहावरे कोश, प्रयोग कोश आदि आते हैं। विषय कोश के अन्तर्गत दर्शन कोश, मनोविज्ञान कोश, भाषा विज्ञान कोश, साहित्य कोश, समाजशास्त्र कोश, इतिहास कोश आदि आते हैं। इन कोशों की योजना दो प्रकार से सम्भव है– पहला, सम्पूर्ण विषय के शब्दों

* सह आचार्य– हिन्दी विभाग, नेहरु ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

का संग्रह वर्णानुक्रम की दृष्टि से किया जाए अथवा वर्गों व उपवर्गों में विषय का विभाजन करके उसका वर्णानुक्रम से संग्रह करने के उपरान्त विवेचन किया जाए। दूसरी विधि से, कालक्रमानुसार विषयों को एकसाथ अथवा वर्गों-उपवर्गों में विभाजित, संगृहीत व विवेचित किया जाए। इनसे विशेषीकरण के आकांक्षी जिज्ञासु पाठकों अथवा अनुसंधित्सु को विशेष लाभ हो सकता है। लेखक कोश विषय कोशों का ही एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। इसके अन्तर्गत जहाँ उपवर्गों में विभाजित विषयों के अलग-अलग कोश निर्मित होते हैं, वहाँ विशेष ज्ञान-विज्ञान के अन्तर्गत आने वाले लेखक-कृतिकारों की सम्पूर्ण रचनाओं के आधार पर कोश तैयार किया जाता है। जैसे– शेक्सपियर डिक्शनरी, तुलसी कोश, प्रसाद कोश, निराला कोश, केशव कोश आदि साहित्यिक विषय के अन्तर्गत आने वाले कोश हैं। इस प्रकार के कोशों की तैयारी अलग-अलग कृतियों में आने वाले शब्दों और प्रयोगों के अवर्णानुक्रमिक संग्रहों के आधार पर होती है। सम्पूर्ण रचनाओं को विस्तृत वर्गों में विभाजित करके वर्णानुक्रमता अथवा कालानुक्रमता के आधार पर कोश तैयार किए जाते हैं। इस प्रकार के कोशों का लाभ यह है कि एक लेखक या कृतिकार की सम्पूर्ण रचनाओं और उसके साहित्य में पाए जाने वाले शब्दों और प्रयोगों का एकत्र रूप मिल जाता है। इससे उसकी विचारधारा अथवा कार्य-प्रणाली का बोध हो सकता है।

इस दृष्टि से, प्रो. वासुदेव सिंह द्वारा प्रणीत 'कबीर काव्य कोश' विषय कोश के अन्तर्गत लेखक कोश की श्रेणी में आता है, जिसमें सन्त काव्यधारा के शीर्षस्थ कवि कबीर की वाणी में प्रयुक्त शब्दों का भण्डार है। बकौल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी– ''कबीर वाणी के डिक्टेटर थे। वो जब जैसे चाहते थे, वैसे शब्दों का प्रयोग कर लिया करते थे। बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर।'' अत: निश्चय ही; उनकी वाणी में प्रयुक्त शब्द सामान्यतया अपने परम्परित साधारण अर्थ को छोड़कर कुछ विशिष्ट अर्थ में, सन्दर्भ के अनुसार, नवीन भाव-भंगिमा का वहन करने लग जाते हैं। अत: स्वाभाविक है कि कबीर-वाणी का सही सन्दर्भों में, सही मायने में हृदयंगम करने के लिए पाठक को उनके शब्दों के प्रयोग की सन्दर्भगत जानकारी आवश्यक है। इसके साथ ही; बकौल आचार्य शुक्ल– ''कबीर की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।'' उसमें तत्कालीन ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, बुन्देली राजस्थानी, भोजपुरी, पंजाबी, गुजराती, अरबी, फारसी, देशज, तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त लोकजीवन से जुड़ी कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, लोहार, कलवार, कृषक आदि के जीवन व व्यवसाय से लिए गए शब्दों की भी भरमार है। उक्त शब्द-भाण्डार के अतिरिक्त; कबीर-काव्य को सर्वाधिक दुरूह बनाने वाले शब्द हैं– पारिभाषिक, प्रतीकात्मक एवं संख्यावाची। पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द, जो पूर्व परम्परा से लिए तो गए हैं, किन्तु उनमें उनकी निजी मान्यतानुसार अर्थगत परिवर्तन कर प्रयुक्त किए गए हैं। अत: उन प्रतीकात्मक एवं पारिभाषिक शब्दों के एकसाथ पारम्परिक एवं कबीर के सन्दर्भ में नवीन परिवर्तित-संशोधित अर्थों में प्रयोग– इन दोनों रूपों को जानने की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक संख्यावाची शब्दों का सम्बन्ध है, वे अधिकांशत: संकेतात्मक अभिव्यक्ति के रूप में आए हैं। अत: उन संख्याओं के विविध सन्दर्भगत संकेत तक सामान्य पाठक वर्ग का पहुँचना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस दुरूह कार्य को सुगम बनाने का ही कार्य 'कबीर काव्य कोश' के माध्यम से प्रो. सिंह ने करने का सार्थक प्रयास किया है। सम्पूर्ण 'कबीर काव्य कोश' चार उपवर्गों में विभाजित है– सामान्य शब्द, पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द, संख्यावाची शब्द एवं सन्दर्भ तथा अन्तर्कथाएँ। सन्दर्भ एवं अन्तर्कथाओं वाले उपवर्ग के अन्तर्गत कबीर-काव्य में पाए जाने वाले तमाम पौराणिक, ऐतिहासिक व मिथकीय सन्दर्भों के विषय में वर्णानुक्रम से परिचय व सन्दर्भयुक्त प्रयोग का विवरण दिया गया है। इस दृष्टि

से देखा जाए, तो 'कबीर काव्य कोश' कबीर-वाणी को सुगम बनाने का प्रस्थान-बिन्दु *(Starting point)* है।

राधाकृष्ण भक्त कोश– श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य तक में कृष्ण की भक्ति-भावना व जीवन-गाथा को अभिव्यक्ति मिलती आई है। परिणामत: कृष्ण-भक्त से सम्बन्धित विपुल सामग्री अब तक प्रकाश में आ चुकी है। अत: आवश्यकता होती है उन कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी समस्त साहित्य की एकसाथ संगृहीत सूची की। इस अभाव का तीव्र बोध हुआ डॉ. भगवती प्रसाद सिंह को, जिसमें उन्हें मनमाँगी मुराद तब मिली, जब जुलाई, सन् १९८१ में श्रीकृष्ण-जन्मभूमि सेवा संस्थान, मथुरा के नई दिल्ली स्थित कार्यालय से श्री हितशरण शर्मा का एक पत्र मिला, जिसमें 'राधाकृष्ण भक्त कोश' के सम्पादन का प्रस्ताव किया गया था। प्रारम्भ में तो राम-भक्तिकाव्य के मर्मज्ञ प्रो. भगवती प्रसाद सिंह 'राधाकृष्ण भक्त कोश' सम्बन्धी कार्य को हाथ में लेने से हिचकिचाते रहे, किन्तु धीरे-धीरे इस गुरुतर कार्य के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनती गईं और प्रो. वासुदेव सिंह के सह-सम्पादकत्व में प्रो. भगवती प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'राधाकृष्ण भक्त कोश' पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ। मध्यकाल में भक्तों ने राष्ट्रीय मानस को उद्वेलित करने के लिए सारे देश में अलख जगाया था। आलवार, शंकराचार्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, नरसी मेहता, रामानन्द, कबीर, शंकरदेव, अचलानंद दास, गुरु नानक, जगन्नाथदास-सहजानन्द स्वामी आदि आचार्यों एवं भक्तों द्वारा सुदूर देशों का पर्यटन और देश के कोने-कोने में स्थापित मठ, मन्दिर तथा बैठकें–उनके द्वारा राष्ट्रोद्धार हेतु किए गए महान् प्रयास के अविस्मरणीय स्मारक हैं। जाति, धर्म, वर्ग और क्षेत्रीयता की कल्पित सीमाओं को तोड़कर इस विशाल राष्ट्र में भावात्मक एकता की स्थापना– उनकी सबसे बड़ी देन थी।

राधाकृष्णभक्तों की अत्यन्त प्राचीन, प्रशस्त और विशाल परम्परा होते हुए भी अब तक इस विराट् समुदाय का स्वरूप-बोधक कोई आकर-ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया था। यद्यपि साम्प्रदायिक भक्तमालों, साहित्य के इतिहासों, शोध-प्रबन्धों तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों में एतद् विषयक प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है, जिसके माध्यम से उनके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है, किन्तु जो कवि या भक्त किसी साम्प्रदायिक पीठों से सम्बद्ध नहीं थे, एकान्त साधक थे, उनका समावेश इनमें नहीं हो पाया है, जो धीरे-धीरे काल-प्रवाह के साथ लुप्त होने की स्थिति में हैं। अत: ऐसे अमूल्य धरोहर को सँजोने की नितान्त आवश्यकता थी। इस दृष्टि से 'राधाकृष्ण भक्त कोश' भारतीय संस्कृति की एक अमूल्य धरोहर के रूप में सामने आता है, जिसमें भारत की सोलह भाषाओं के अतिरिक्त नेपाली भाषा में उपलब्ध कृष्ण-भक्तों के वृत्त, रचनाशैली के नमूने सहित यथासम्भव स्थानीय विद्वानों द्वारा तैयार कराकर संकलित किए गए हैं। कोश में आए समस्त चरित हिन्दी भाषा व नागरी लिपि में हैं। हिन्दीतर भाषाओं के भक्तों की रचनाओं के उदाहरण उनकी मूलभाषा, किन्तु नागरी लिपि में, हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत किए गए हैं, जिससे जिज्ञासु हिन्दी पाठक–हिन्दीतर भक्तों की मातृभाषा में रचित अमृतोत्तम पदावली का रसास्वादन कर सकें। इस प्रकार, प्रस्तुत कार्य कृष्ण-भक्ति साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण भारत वर्ष की सांस्कृतिक एकता की स्थापना का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास है।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि उक्त महत्त्वपूर्ण कार्य मेरे पिता (वासुदेव सिंह) के आवास पर ही अनवरत चार वर्षों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सम्पन्न हुआ। इस सारस्वत-यज्ञ का मैं प्रत्यक्ष द्रष्टा ही नहीं हूँ, बल्कि इस दिशा में मुझे व श्रद्धा सिंह को अपना श्रमदान करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। अपने

विद्यार्थी जीवन में ही तब हम लोगों ने कोश-निर्माण-शैली का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लिया था। तमाम भक्तों से सम्बन्धित जानकारियों को पहले कार्ड पर लिखा जाता था। फिर उन कार्डों को अकारादि क्रम से लगा-लगाकर, रबड़ बैण्ड से लपेट कर बण्डल बनाए जाते थे। अपने निजी अध्ययन का कार्य समाप्त करके हम लोग भी आदरणीय चाचा जी व पिता जी के इस अथक परिश्रमपूर्ण कार्य में सहयोग देने के लिए उतावले होकर उपस्थित हो जाया करते थे और विद्वत्द्वय द्वारा प्रदत्त कोश से सम्बन्धित कार्यों को सम्पादित करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते थे। उसी समय हम लोगों को कोश में आने वाले वर्णानुक्रमों के सम्बन्ध में काफी कुछ जानकारी भी उपलब्ध हो गई थी। हिन्दी वर्णमाला का कोश के अनुकूल क्रम-निर्धारण व कोश-निर्माण का गम्भीर श्रमसाध्य कार्य देखने व सीखने जैसी अनेक साहित्यिक गतिविधियों की जानकारियाँ हम लोगों को उनके सान्निध्य में सहज ही मिलती रहती थी, जिनके लिए मैं अपने आपको परम सौभाग्यशाली मानता हूँ और ऐसे साहित्यिक माहौल में आँख खोलने व पलने-बढ़ने पर गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

●

कबीर-साहित्य-विधा के पारखी
('कबीर काव्य कोश' के आईने में)

प्रो. सुमन जैन*

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं के अध्ययन, मनन और चिन्तन करने वाले प्रो. वासुदेव सिंह ने कबीर-साहित्य की विधा को पाठकों तक पहुँचाया। कबीर पर अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का लेखन, सम्पादन और प्रकाशन कर आपने कबीर-साहित्य की नींव पाठकों में मजबूत की। उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, जैसे– 'कबीर वाङ्मय-रमैनी', 'कबीर वाङ्मय-साखी', कबीर वाङ्मय-सबद' के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत् पुस्तक– 'कबीर काव्य कोश' मील का पत्थर है। इस सन्दर्भ में स्वयं कोशकार अपना वक्तव्य देते हुए लिखते हैं– ''कबीर में देशज शब्दों की भरमार है, जिनकी न केवल व्युत्पत्ति खोजना दुष्कर है, अपितु विद्वानों और टीकाकारों द्वारा प्राय: उनके गलत अर्थ भी दिये गये हैं। ऐसे कुछ शब्द हैं– 'कचावौ (धारण कराओ), करकम (झगड़ा), कालर (नोनी मिट्टी), खाँखरि (खोपड़ी), खाँगि (पशुओं का रोग), गहेजुआ (छछून्दर), कजौड़ी (समूह), चिंगवा (नली), चुहाड़ा (भंगी)।'' ऐसे शब्दों के भाव और व्युत्पत्ति को बताकर कोशकार ने हिन्दी पाठकों की रुचि और समझ को बढ़ाया है।

कबीर का शब्द और भाषा-ज्ञान असीम था। उनका शब्द-भाण्डार इस बात का परिचायक है। मध्यकाल में प्रचलित ब्रज, अवधी, बुन्देली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, भोजपुरी, खड़ी बोली के अतिरिक्त अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्द उनकी रचनाओं में अनायास अँटे पड़े हुए हैं। कबीर का कार्यक्षेत्र जितना विराट् था, उतना ही विराट् भाषा-संचयन था। लोक-बोलियों का जैसा व्यावहारिक प्रयोग कबीर के पास है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गाँव में रहने वाली विविध रोजी-रोटी पेशे से जुड़ी जातियाँ, यथा– नाई, बढ़ई, कुम्हार, जुलाहा, दुसाध, चमार, धोबी, पनिहारा, गोंड, कहार, लुहार, शंखकार, कसेरा, बढ़ई, चित्रकार, सुनार आदि के जीवन से कबीर ने शब्द-संचय किया है। भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन-मनन-चिन्तन के लिये कबीर का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान वैश्विक परिवेश में हमारी भाषाएँ मात खा रही हैं, जिससे संस्कृति का संकट गहराता जा रहा है। आज कम्प्यूटर के युग में हमारी देशज भाषा, जनजातियों की भाषा, प्राचीन भाषा, लोक-बोलियाँ मृत हो रही हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में प्रो. वासुदेव सिंह द्वारा सृजित और संकलित 'कबीर काव्य कोश' एक सांस्कृतिक धरोहर के रूप में भारतीय संस्कृति-भाषा-इतिहास में संरक्षित है।

* आचार्य– हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, का.हि.वि.वि., वाराणसी

कबीर की भाषा पर बात करते हुए कोशकार लिखते हैं– ''कबीर के समय तक अरबी-फारसी भाषा का भी प्रयोग काफी बढ़ गया था। अरबी मुस्लिम शासकों की धर्म-भाषा थी और फारसी राजभाषा। इसलिए मुस्लिम शासन में इन दोनों भाषाओं का प्रचार खूब बढ़ गया था। हिन्दी के सभी भक्त कवियों– सूर, तुलसी आदि ने भी इन भाषाओं के शब्दों का काफी मात्रा में प्रयोग किया है। कबीर में भी ऐसे शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं, जो उस समय तक जन-जीवन में घुल-मिल गये थे। कबीर में एक विशेषता और पायी जाती है। उन्होंने जब 'अवधू' को सम्बोधित किया है, तो प्राय: नाथ-पन्थियों की शब्दावली का प्रयोग किया है, जब हिन्दू विधि-विधानों का खण्डन किया है, तब संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है और जब मुल्ला-मौलवी को फटकारा है, तो फारसी-अरबी शब्दों का सहारा लिया है। इससे कथन में स्वाभाविकता आ ही गयी है, साथ ही; इससे कबीर के असीम शब्द-ज्ञान तथा सटीक शब्द-प्रयोग का भी प्रमाण मिल जाता है।''

कबीर का साहित्य बहुभाषा, देशज बोलियों का साहित्य है। कबीर-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के समय अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इस कठिनाई को सहज और बोधगम्य बनाने में 'कबीर काव्य कोश' पूरी तरह से 'गुरु' रूप में अपनी भूमिका सिद्ध करता है।

●

कबीर काव्य कोश : साधना का रहस्यलोक

डॉ. बृजबाला सिंह *

'दास कबीर जतन से ओढ़े ....।' हिन्दी साहित्य के विश्व-विश्रुत विद्वान् श्रद्धेय प्रो. वासुदेव सिंह द्वारा साधित ग्रन्थ 'कबीर काव्य कोश' को पढ़ते हुए सन्त कबीर का यह पद बार-बार स्मृतियों को झकझोरता है। जैसा देखा; कह दिया, बिना लाग-लपेट। बाहर-भीतर का सब एकमेव। दुर्भाव और कुभाव के भेद से मुक्त, वे समभाव रखने वाले व्यक्ति थे। सम्भवत: इसी उदात्त भाव ने उन्हें 'कबीर काव्य कोश' की निर्मिति के लिए प्रेरित किया। 'काव्य कोश' को सूक्ष्मता से देखने पर कबीर की साधना के तत्त्व प्रो. सिंह की रचनात्मक साधना में झलकने से लगते हैं। कबीर को पढ़ना-पढ़ाना, उन पर लिखना-बोलना– महज साहित्य-कर्म नहीं है। कबीर को समझने के लिए कबीर होना पड़ेगा। कबीर का अर्थ ही मैंने सर्वप्रथम देखा– ''कबीर फारसी का विशेषण है, जिसका अर्थ है– श्रेष्ठ या महान। इस कथन के साक्ष्य में कबीर की पंक्ति है– **जो कछु किया, सो हरि किया (ताथै) भया कबीर कबीर।**''[१]

कबीरपंथियों के मत से कबीर एक समय विशेष में उत्पन्न एक व्यक्ति की संज्ञा नहीं है। कबीर वह परमतत्त्व है, जो अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों का मार्गदर्शन करने के लिए प्रत्येक युग में अवतीर्ण होता है और सदुपदेश देता है–

जा दिन किरतम नां हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट।।

कबीरपंथियों का मानना है कि केवल कबीर को ही लक्ष्य (परमार्थ) तक पहुँचने का मार्ग ज्ञात था। स्वयं कबीर ने अपने विषय में लिखा है– **'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गहों नहिं हाथ।'** यह स्वीकारोक्ति उनके अन्त:प्रकाश से प्रसूत ज्ञान का प्रमाण है। उन्होंने कवि-कर्म की निंदा की है। उलटबासियों की रचना की। उलटबासी अर्थात् जो उल्टा लगे, पर अर्थ में उल्टा न हो। उलटे के समान, परन्तु तथ्य में पूरा-पूरा सीधा हो। उन्होंने अनुभवजन्य ज्ञान को श्रेष्ठ बताया, जो उनके रचना-कर्म का उत्स है। कबीर की स्वीकारोक्ति है–

तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू कहता उरझाई रे।।

कबीर के काव्य में निहित एवं समाहित गूढ़ प्रतीकों को, शब्दों को प्रो. वासुदेव सिंह ने इस काव्य कोश के माध्यम से सरल भी किया है और सुलभ भी। कबीर के विषय में 'कोश' में लिखा है– कबीर-संज्ञा पु. (अ०)। 'कबीर मंसूर' में बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत् का उत्पन्नकर्ता है। वह कभी गर्भ

* एसोसिएट प्रोफेसर (अ.प्रा.)– हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

में नहीं आता– सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीर साहब उसी सत्यपुरुष के अनागत वक्ता (भविष्य वक्ता) हैं। इनमें सब वे ही गुण हैं, जो उस सत्यपुरुष में हैं। वस्तुत: वे उससे अभिन्न हैं और संसार के त्राणकर्त्ता हैं। यही कबीर साहब सत्ययुग में 'सुकृति' नाम से, त्रेतायुग में 'मुनीन्द्र' नाम से, द्वापर में 'करुणामय स्वामी' नाम से और कलिकाल में 'कबीर' नाम से अवत्तीर्ण हुए हैं–

''कोउ काहू को हटा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना।'' र. १४-८-९[२]

'कबीर काव्य कोश' की निर्मिति न तो अचानक हुई है, न ही अनायास। यह सुनियोजित अध्ययन, लेखन, चिंतन तथा साधना की अनुकृति है, प्रतिबिम्ब है। इसका प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी से हुआ है। इसके दो संस्करण १९८७ तथा २०११ में आए हैं। सम्पूर्ण कोश को 'उपोद्घात', 'संकेत-विवृति' तथा शब्दों की चार कोटियों के द्वारा वैज्ञानिक बनाया गया है। 'कबीर काव्य कोश' के आमुख को कोशकार ने 'उपोद्घात' कहा है, लिखा है, जबकि सामान्यत: भूमिका, प्रस्तावना, अपनी बात जैसे शब्दों का ही प्रयोग देखने में आता है। 'उपोद्घात' विशेष अर्थ का संवाहक एवं सूचक है– कोई व्यवस्था या कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी तैयारी के लिए आरम्भ किया जाने वाला कोई कृत्य है। पाँच पृष्ठों (पृ. ५-९) के 'उपोद्घात' द्वारा विद्वान् रचनाकार ने कोश के विषय में सभी अनिवार्य तथा आवश्यक सूचनाएँ देकर हमारे लिए बोधगम्य बनाया है। प्रारम्भ ही कबीर की भाषा-शक्ति से हुआ है– ''उनका शब्द-ज्ञान असीम था। तत्कालीन प्रचलित ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, बुन्देली, राजस्थानी, भोजपुरी आदि बोलियों के अतिरिक्त पंजाबी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं तथा अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्द उनके काव्य में अनायास और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने शब्दों का चयन जीवन के विस्तृत क्षेत्र से किया था। वस्तुत: शब्द-निर्माण का सबसे बड़ा कारखाना भारतीय गाँव रहे हैं, जहाँ विभिन्न वर्गों, व्यवसायों तथा जातियों के अधिकांश लोग रहते हैं। कबीर ने शब्दों को इसी विशाल जन-जीवन से लिया था।''[३]

'कबीर काव्य कोश' बनाने का एक महत्तर उद्देश्य है। कबीर की उलटबासियाँ, देशज शब्दों का प्रयोग, प्रतीकात्मक शब्दों की बहुलता और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग उनके काव्य को सही सन्दर्भ में नहीं पहुँचा पाते। विद्वानों एवं टीकाकारों द्वारा भी गलत अर्थ कर दिया जाता है। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन अनेक साधना-सम्प्रदायों से शब्दों को लिया है, जो नये-नये सन्दर्भों में प्रयुक्त हैं और उनकी व्याख्या करना दुष्कर कार्य है। इस कोश-निर्माण के पीछे रचनाकार की यह मंशा रही है कि कबीर को अधिक बोधगम्य कवि बना सकें, जिसमें उसे पूर्णत: सफलता प्राप्त हुई है।

'संकेत-विवृति' का जहाँ तक प्रश्न है, इसमें पृ. ११-१३ तक (अर्थात् ८९) शब्द-संकेत हैं, जिनसे अर्थ को समझने में सुविधा होती है। जैसे अरबी के लिए 'अ.', अनुनासिक के लिए 'अनु.', अव्यय के लिए 'अव्य.', ज्ञान-चौंतीसा के लिए 'ज्ञानचौं.' तथा यौगिक के लिए 'यौ.' का प्रयोग किया गया है।

'कबीर काव्य कोश' में शब्दों के प्रकार एवं अर्थ को स्पष्ट रूप से जानने के पहले हमें उनकी भाषा की व्यापक परिधि को समझ लेना चाहिए। कबीर कवि नहीं थे। उन्होंने जीवन को अपनी आँखों से देखा था और उसे मन की भाषा में व्यक्त किया था। ''कबीर करघे पर उसके तार और सितार के बीच तारतम्य बनाने वाले अघोरी जोगी हैं। वे इस लोक से लेकर उस लोक तक के, तापस से लेकर मन और आत्मा का अध्यात्म अपनी-कविता में एकत्र करते हैं। वे जितने प्रभावशाली हैं, उतने ही रहस्यमय। जाति-पाँति और छुआछूत को राई जितना तुच्छ समझकर बुहारने का साहस उनमें है, तीर्थ-व्रत को व्यर्थ सिद्ध करने का साहस उनमें है, साथ ही; शब्द-सुरति, परम अध्यात्म को पाने की क्षमता भी उनमें है। उनकी भाषा 'करतब' नहीं है, 'कला' भी नहीं, जीवन का भाष्य, टीका और पूर्णत: जीवन है।''[४]

सम्पूर्ण कोश में शब्दों की चार कोटियाँ बनाकर बहुत ही वैज्ञानिक विधि से कबीर के वाङ्मय को समझाने का श्रमसाध्य कार्य लेखक ने किया है। इन शब्दों को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं–

१. सामान्य शब्द– इनकी संख्या सबसे अधिक है– पृ. १ से ३४७ तक। सामान्य से लगने वाले शब्द अनेक अर्थ के द्योतक हैं, जो कबीर के काव्य को विशेष सन्दर्भ प्रदान करते हैं। कुछ शब्दों को लेकर हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे–

अंड– इस शब्द का प्रयोग कबीर-काव्य में तीन विशिष्ट सन्दर्भों में हुआ है–

(i) अंड- संज्ञा पु. (सं) ब्रह्माण्ड, विश्व।

एकै अंड सकल चौरासी, भर्म भुला संसारा। (पद २९१-३)

(ii) अंड- संज्ञा पु. (सं.) बीज।

एक अंड ओंकार ते, सब जग भयो पसार। (र. २७-८)

(iii) अण्ड- संज्ञा पु. (सं.) अण्डज

प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा। (र. ३-४)[५]

इसी प्रकार अनेक शब्द हैं, जैसे– 'अलख'। यह माया के लिए भी प्रयोग किया गया है, ब्रह्म के लिए भी। सामान्यत: 'अलख' का अर्थ है– जो दिखाई न दे। इसी प्रकार 'अनल' शब्द को लें। इसके तीन अर्थ हैं– जठराग्नि, अग्नि और अगिन पाखी। सामान्य शब्दों की भी अच्छी प्रस्तुति है।

२. पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द– पृ. सं. ३४९-४१६ तक पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्दों का अर्थ– ससन्दर्भ बताया गया है। एक-दो शब्दों के उदाहरण रखना उचित होगा। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि– ''उनके काव्य को सर्वाधिक दुरूह बनाने वाले शब्द हैं– पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन अनेक साधना-सम्प्रदायों से शब्दों को ग्रहण किया है। ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्द हैं, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में नए-नए अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इस अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया में कबीर और आगे बढ़ गए हैं और कहीं-कहीं पर उन्होंने प्राचीन शब्दों का सर्वथा नये अर्थों में प्रयोग किया है।[६] हम केवल एक शब्द 'कँवल' के विविध अर्थ-सन्दर्भों को ही रखकर बात पूरी करेंगे–

कँवल १– संज्ञा पु. (सं. कमल), कमल के समान-प्राणशक्ति का चक्र।

गगन गरजि अंम्रित चुवै, कदली कँवल प्रकास। (सा. पर. (५) ४०-१)

कँवल २– संज्ञा पु. (सं. कमल) हृदयस्थ अन्तरात्मा। छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रथम खण्ड में भी यह बताया गया है कि इस शरीर रूपी ब्रह्मपुर में एक ऐसा वेश्म (निलय) है, जो कि सूक्ष्म पुण्डरीक अर्थात् कमल के समान है। वहीं परमात्मा का वास होता है। इसे ही कठोपनिषद् में 'प्रत्यगात्मा' कहा गया है और अरविन्द घोष ने *Psychic Being* कहा है। 'कँवल जू फूला फूल बिनु, को निरखै निज दास।' (सा. पर. (५) ५-२, ६-२, ७-१)

कँवल ३– संज्ञा पु. (सं. कमल) सहस्रार चक्र।

कँवल कुआँ में प्रेम रस, पीवैं बारंबार। (सा. लै. (१०) २-२)

कँवल ४– संज्ञा पु. (सं. कमल) प्रभु, ईश्वर।

चलि चलि रे भँवरा कँवल पास। (सब. १०६-१)

कँवल ५– संज्ञा पु. (सं. कमल) हृत्कमल

मन थिर होइ त कँवल प्रकासै, कँवला माँहि निरंजन बासै। (सब. ५४-५)[७]

कँवल का प्रयोग कबीर-काव्य में बहुतायत मिलता है। इन पाँच अर्थों को अच्छी तरह समझकर ही

हम उनके साहित्य का न्यायपूर्ण अध्ययन कर सकते हैं। इसी प्रकार, 'गंग', 'जल', 'तरवर', 'नारी' जैसे शब्दों का प्रयोग कबीर-काव्य में अनेक अर्थ-सन्दर्भों में आया है। इस कोश की सहायता से हम सही अर्थ को समझकर काव्य के मर्म तक पहुँच सकते हैं।

३. संख्यावाचक शब्द– कबीर के काव्य में संख्यावाचक शब्दों का भी प्रयोग-बाहुल्य है। इनके प्रयोग में उन्होंने प्राय: संकेतात्मक पद्धति का सहारा लिया है। अत: संख्यावाची शब्दों को भी अलग करके प्रस्तुत किया गया है।[८] ये संख्याएँ हैं– एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ:, सात, आठ, नौ, दस, चौदह, सोलह, अट्ठारह, उन्नीस, इक्कीस, पचीस, चौंतीस, छत्तीस, चौंसठ, बहत्तर, छानबे। हम चौंसठ संख्या का अर्थ-विश्लेषण करके कोशकार की लगन, अध्ययनशील मनस्विता, धैर्य एवं कबीर के प्रति निष्ठा का उल्लेख करना चाहते हैं।

चौंसठ (६४)– चौंसठि दीवा– संज्ञा पु. (सं. चतु:षष्ठि दीपक) चौंसठ दीपक अर्थात् चौंसठ कलाएँ– १. गीत, २. वाद्य, ३. नृत्य, ४. चित्रकारी, ५. भोजपत्र के पत्तों को तिलक की आकृति में काटना, ६. पूजन के लिए चावल और रंग-बिरंगे फूलों को सजाना, ७. घर या कमरों को फूलों से सजाना, ८. शरीर, कपड़ों और दाँतों पर रंग चढ़ाना, ९. फर्श पर मणियों को बिछाना, १०. शय्या की रचना, ११. उदक वाद्य, १२. जलघात, १३. मंत्र-तंत्रों के प्रयोग, १४. माला गूँथना, १५. सिर के आभूषणों को उचित रूप से धारण करना, १६. अपने को या दूसरों को वस्त्रालंकार से सजाना, १७. हाथी दाँत, शंख के अलंकारों को बनाना, १८. सुगंधित द्रव्य तैयार करना, १९. आभूषणों से मणियाँ सजाना, २०. इंद्रजाल की क्रीड़ाएँ करना, २१. बाजीकरण प्रयोग, २२. हाथ की सफाई, २३. भोजन बनाने का कौशल, २४. पेय पदार्थों को बनाने का कौशल, २५. सिलाई, २६. सूत से चित्र बनाना, २७. वाद्य-वादन, २८. पहेलियाँ बुझाना, २९. अन्त्याक्षरी, ३०. कठिन श्लोक कहना, ३१. पुस्तक-वाचन, ३२. नाटकादि का ज्ञान, ३३. कविता द्वारा समस्या-पूर्ति, ३४. बेंत और सरकंडे की वस्तुएँ बनाना, ३५. मीनाकारी व पच्चीकारी, ३६. बढ़ईगिरी, ३७. गृह-निर्माण कला, ३८. मणियों और रत्नों की परीक्षा, ३९. धातुशोधन, ४०. मणियों को रँगना, ४१. वृक्षायुर्वेद, ४२. भेंड़ा-मुर्गा आदि लड़ाना, ४३. तोता-मैना पढ़ाना, ४४. शरीर की मालिश की कला, ४५. सांकेतिक अक्षरों का अर्थ-ज्ञान, ४६. गुप्त भाषा विज्ञान, ४७. विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान, ४८. फूलों से रथ-गाड़ी आदि बनाना, ४९. शकुन-विचार, ५०. स्वचालित यंत्रों को बनाना, ५१. स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला, ५२. याद किये गए श्लोकों को दुहराना, ५३. विक्षिप्त अक्षरों से श्लोक बनाना, ५४-५५. शब्द कोशों और छन्दों का ज्ञान, ५६. काव्यालंकार का ज्ञान, ५७. बहुरूपियापन, ५८. वस्त्रधारण की कला, ५९. द्यूतक्रीड़ा की कला, ६०. पासा खेलना, ६१. बच्चों के खेलों का ज्ञान, ६२. आचारशास्त्र, ६३. विजय दिलाने वाली विद्याएँ तथा ६४. व्यायाम विद्या।

चौंसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि। (सा.गुरु (१) १७-१)[९]

४. सन्दर्भ और अन्तर्कथाएँ– कबीर को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का गहरा ज्ञान था। उन्होंने पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों का प्रयोग अपने काव्य में बहुत किया है। इन सन्दर्भों और अन्तर्कथाओं का विस्तार से उल्लेख करके कोशकार ने कबीर के पाठकों का बहुत ही सहयोग किया है। लगभग १२५ अन्तर्कथाओं एवं सन्दर्भों की खोज करके उन पर टिप्पणी करना साधना है, सामान्य सृजन नहीं। अकारादि क्रम से इन्हें कोश के अन्त में रखा गया है। कबीर के विषय में हम पहले लिख चुके हैं कि इन सबका अवगाहन करने हेतु पाठक को कोश का अध्ययन करना होगा। एक अन्तर्कथा 'ठग्यो त्रिपुरारी' का उल्लेख करना चाहूँगी।

ठग्यो त्रिपुरारी– शिव का मोहित होना। जब भगवान् शंकर ने सुना कि हरि ने स्त्री का रूप धारण

करके असुरों को मोहित कर लिया और देवताओं को अमृत पिला दिया, तब वह सती देवी के साथ बैल पर सवार होकर, समस्त भूतगणों को लेकर वहाँ गए, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं और उनसे प्रभु के स्त्री रूप में अवतार के दर्शन की प्रार्थना की। उनके कहने पर भगवान् अन्तर्ध्यान हो गये और थोड़ी देर बाद शिव ने देखा कि सामने एक उपवन है, जिसमें एक अद्‌भुत सुन्दरी स्त्री गेंद खेल रही है। भगवान् शिव उसके अपूर्व सौन्दर्य पर काम मोहित हो गए और सती के सामने ही कामातुर होकर उसके पीछे दौड़े और बलपूर्वक उसका आलिंगन करने लगे। वास्तव में; यह सुन्दरी भगवान् की रची हुई माया ही थी।

कुछ समय बाद भगवान् पुन: प्रकट हो गये और कहने लगे कि मेरी माया अपार है। वह ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नहीं सकते। भला आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पुरुष है, जो एक बार मेरी माया के फन्दे में फँस कर फिर स्वयं उससे निकल सके? (श्रीमद्‌भागवत्– ८/१२/३६-३९)

'ब्रह्महि ठग्यौ नाग कहँ जारी, देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी।' (र. ११-२)[१०]

कुछ अन्तर्कथाएँ देवी-देवताओं, मुनियों, योगियों, सन्यासियों, महाभोगियों, कवियों से सम्बन्धित हैं, जिन्हें पढ़ने पर नवीन दृष्टि बनती है। इसी प्रकार, रावण तथा कंस समेत अनेक असुरों के विषय में भी परिचयात्मक टिप्पणियाँ हैं। यह सब कुछ कहना आसान है, किन्तु इन पर शोध-सामग्री एकत्र करना, उनकी प्रामाणिकता की परख करना, समझ एवं प्रतिभा के योग से ही सम्भव हो सका है।

मैंने कोशकार प्रो. वासुदेव सिंह को निकट से देखा है, समझा है और सीखा है। वे गहन अध्येता थे, जिसकी छाप उनके व्यक्तित्व पर साफ दिखाई देती थी। वाणी की गम्भीरता कहीं भीतर के ज्ञान का द्योतन कराती थी। यह कहने में संकोच नहीं कि कबीर का कबीरत्त्व उनमें था। इसका प्रमाण 'कबीर काव्य कोश' की निर्मिति में ईमानदार अभिव्यक्ति है। कबीर की साधना का मूर्तिमान रूप यह कोश है, जिसके लिए हमारा साहित्यिक समाज, जिज्ञासुगण, शोधार्थी एवं कबीर-काव्य के सभी पाठक प्रो. वासुदेव सिंह के प्रति कृतज्ञ रहेंगे। शब्दकोशों की शृंखला में 'कबीर काव्य कोश' एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है– ऐसा अनुभव अवलोकन के उपरान्त किया जा सकेगा।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. वासुदेव सिंह– कबीर काव्य कोश, द्वितीय सं. २०११, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, पृ. ४२
२. वही, पृ. ४३७
३. वही, (उपोद्‌घात), पृ. ५
४. डॉ. शुकदेव सिंह– भये कबीर कबीर, प्रथम सं. २००५ ई., विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, पृ. ८९
५. डॉ. वासुदेव सिंह– कबीर काव्य कोश, द्वितीय सं. २०११ ई., विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, पृ. १,
६. वही, उपोद्‌घात पृ. ८
७. वही, पृ. ३५६
८. वही, (उपोद्‌घात), पृ. ८
९. वही, पृ. ४३१-४३२
१०. वही, पृ. ४४१

साहित्येतिहासकार एवं व्याख्याकार
('अयोध्याकाण्ड भाष्य' के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल*

बहुआयामी व्यक्तित्व-सम्पन्न विचारक, अत्यन्त लोकप्रिय अध्यापक, विश्रुत् विद्वान्, उच्चकोटि के आलोचक, गहन इतिहास-दृष्टि रखने वाले साहित्येतिहासकार, सतत् शोधरत, शोधार्थियों के उत्तम शोध-निर्देशक तथा सुगम-सुबोध लेखन में अग्रणी स्व. प्रो. वासुदेव सिंह संस्कृत साहित्य के भाष्यकार मल्लिनाथ की ही भाँति मध्यकालीन हिन्दी साहित्य (विशेषत: भक्ति साहित्य) के शीर्ष कोटि के भाष्यकार के रूप में प्रतिष्ठापित आचार्य कहे जा सकते हैं। 'कबीर वाङ्मय' (तीन भागों में) के भाष्यरूप में डॉ. जयदेव सिंह के साथ मिलकर, संत कबीर के साखी-सबद-रमैनी की व्याख्या प्रस्तुत करके, अब तक कबीर-वाणी पर लिखित समस्त टीका-साहित्य को उन्होंने पीछे छोड़ दिया। साथ ही; गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या के साथ 'विनय पत्रिका' की समीक्षा प्रस्तुत करके उन्होंने एक ऐतिहासिक महत्त्व की देन साहित्य को प्रदान की है।

सांगोपांग विवेचन की दृष्टि से कबीर वाङ्मय का समीक्षात्मक विवेचन, 'कबीर : साहित्य, साधना और पंथ', 'कबीर वाणी पीयूष' तथा 'कबीर काव्य कोश' के माध्यम से उन्होंने कबीर-साहित्य की लोकप्रियता में उल्लेखनीय वृद्धि की। इसी क्रम में, हिन्दी साहित्य के इतिहास की कड़ी में, उनके 'हिन्दी साहित्य का उद्भव काल', 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास', 'मध्यकालीन काव्य-साधना', 'हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' तथा 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियों में गिना गया है। उनके 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' से सूर एवं अष्टछाप के कवियों के काव्य का मर्मोद्घाटन बहुत अच्छी तरह से हुआ है। 'तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि' इसी माला का द्वितीय रत्न है। हिन्दी के ख्यातिलब्ध विद्वान् डॉ. भगवती प्रसाद सिंह के साथ मिलकर 'राधाकृष्ण भक्त कोश' (५ खण्डों में) और 'श्रीराम विश्वकोश' का प्रस्तुतीकरण डॉ. वासुदेव सिंह की यश:गाथा का स्वर्णिम पृष्ठ है। ये सारी कड़ियाँ विद्वानों के व्यक्तिगत पुस्तकागार की शोभा में चार चाँद लगाने वाली हैं।

जहाँ तक व्याख्याकार एवं भाष्यकार के रूप में उनके कृतित्त्व के मूल्यांकन एवं विवेचन का प्रश्न है, यहाँ केवल एक ग्रन्थ की चर्चा से अन्य ग्रन्थों के महत्त्व का प्रतिपादन स्वयं हो सकेगा। अत: अपनी इस बात की सम्पुष्टि के रूप में यहाँ उनके 'अयोध्याकाण्ड' (भाष्य) का सांकेतिक परिचय दे रहा हूँ। विश्वास है कि डॉ. सिंह की अन्य भाष्यात्मक कृतियों की बानगी इसी से प्राप्त हो जाएगी।

---

* प्राक्तन् आचार्य- हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कुल मिलाकर ५८० पृष्ठों की इस कृति में १३२ पृष्ठ तो 'भूमिका' के ही विस्तार में खप गये हैं। शेष में अयोध्याकाण्ड के ३२६ दोहों की व्याख्या का समावेश है। ज्ञातव्य है कि एक दोहा या सोरठा के पश्चात् ८ चौपाइयाँ और पुन: दोहा का क्रम पूरे काण्ड में समान रूप से चला है। इसमें कुछ चौपाइयाँ तो अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से पर्याप्त मत-वैभिन्य की सम्भावना से युक्त हैं। परन्तु डॉ. सिंह ने तत्सम्बन्धित मत-मतान्तरों के उल्लेख के साथ अपना निर्विवाद निर्णय देकर पाठकों की समस्याओं का निदान बड़े अच्छे ढंग से किया है।

इस ग्रन्थ की भूमिका-भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से गोस्वामी जी के जीवन-प्रसंग से जुड़े प्राय: सभी विवादग्रस्त तथ्यों पर डॉ. सिंह ने अपना तर्कपुष्ट अभिमत स्थापित किया है। चाहे गोसांई जी के जन्म-सम्वत् को निर्धारित करने का प्रश्न हो या जाति, माता-पिता, मूल निवास-स्थान या कौटुम्बिक स्थिति की बात हो, लेखक ने अपना दो टूक निर्णय दिया है। यह निर्णय निराधार न होकर पूर्णत: तर्कसंगत है। इसके पीछे गहन अध्ययन और तथ्यान्वेषी दृष्टि की दृढ़ पृष्ठभूमि है। इसी प्रकार, गोस्वामी जी की शिक्षा, उनका गार्हस्थ्य या विरक्त जीवन, उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति और समाज में उनके सम्मान या तिरस्कार आदि पर विभिन्न शोधकर्ताओं, कथावाचक व्यासों, विद्वानों तथा तत्सम्बन्धी लोक-मान्यताओं आदि पर तर्कसंगत प्रकाश डालने और इन सबका गहन परीक्षण करने के पश्चात् ही अपना निष्कर्ष लेखक द्वारा प्रस्थापित किया गया है। साथ ही; गोस्वामी जी के गुरुओं और उनके स्थानों पर भी प्रकाश डाला गया है। यह प्राय: सर्वविदित है कि गो. तुलसीदास की कृतियों की संख्या के प्रश्न पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किसी ने इनकी संख्या १४; तो किसी ने १८, किसी ने २५ और किसी ने ३० तक मानी है और उनके द्वारा अपने मत के समर्थन में तथ्य जुटाये गये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने उनके ३७ ग्रन्थों की सूची बनाई है, ग्रियर्सन ने ११, डॉ. उदयभानु सिंह ने प्रामाणिक के अतिरिक्त ३९ अप्रामाणिक रचनाओं की सूची प्रस्तुत की है। तात्पर्य यह– जितने मुख, उतनी बात। परन्तु पं. रामगुलाम द्विवेदी की भाँति ही डॉ. वासुदेव सिंह ने भी इन रचनाओं में से १२ को ही प्रामाणिक सिद्ध किया है। इसके निर्णय के पूर्व अनेक मान्यताओं को खण्डित करने का जटिल काम भी इन्हें करना पड़ा है।

गो. तुलसीदास की १२ प्रामाणिक रचनाओं का निर्धारण हो जाने के बाद भी अनेक समस्याओं पर निर्णायक मत देना शेष रह गया था– जैसे इनका रचनाकाल, रचनाक्रम, छंद संख्या, प्रामाणिक नामकरण और कुछ अन्य बातें, यथा– प्रक्षिप्त अंश या एक ग्रन्थ के दोहे-चौपाई या अन्य छन्द का किसी दूसरे ग्रन्थ में समाविष्ट होना। यह क्यों और कैसे हुआ– इसका भी समाधान इन्हें ढूँढ़ना पड़ा है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन १२ कृतियों का रचनाक्रम भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। इन सबका परीक्षण करके डॉ. वासुदेव सिंह ने जो क्रम निर्धारित किया है, उसके अनुसार यह क्रम इस प्रकार है–

१. वैराग्य सन्दीपनी।

२. रामलला नहछू– इसके सम्बन्ध में एक तर्क की बात यह उठाई गई है कि श्रीराम की बारात अयोध्या से तो गई नहीं, केवल बाराती गये, अत: नहछू के रूप में विवाह-गीत लिखे जाने का क्या औचित्य है? यदि जनेऊ के समय के ये गीत हैं, तो विवाह का नामोल्लेख और गाली-गीतों का समावेश क्यों है? इसका उत्तर भी डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा समाधानपरक ढंग से दिया गया है।

३. रामाज्ञा प्रश्न– इसके सम्बन्ध में एक जानकारी डॉ. सिंह द्वारा यह दी गई है कि तत्कालीन काशी

नरेश के क्रोध से प्रह्लादघाट निवासी पं. गंगाराम ज्योतिषी को बचाने के लिए सात काण्डों में विभक्त और 'श्रीरामशलाका' सहित इसकी रचना गोसांई जी ने की थी।

४. बरवै रामायण– डॉ. सिंह के अनुसार, सात काण्डों में विभक्त कुल ६९ बरवै छन्दों में रचित इस ग्रन्थ में छन्द संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने इसके छन्दों की संख्या ४०५ निर्धारित की है। इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिमत डॉ. सिंह ने नहीं दिया है।

५. पार्वती मंगल– इसमें शिव-पार्वती विवाह का वर्णन १६९ छन्दों में समाहित है। ये छन्द 'सोहर' और 'हरिगीतिका' में रचित हैं।

६. जानकी मंगल– इसमें मंगल और हरिगीतिका के २१६ छन्द हैं। इसके विषय़ में उल्लेखनीय बात यह है कि जनकपुर की वाटिका के प्रसंग के अभाव के साथ ही लक्ष्मण-परशुराम-संवाद की योजना लौटती हुई बारात के रास्ते में हुई भेंट के क्रम में वर्णित है।

७. कृष्ण गीतावली– इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग १६१६ वि. में, तो कुछ लोग १६२८ वि. में, कुछ सं. १६४३ वि. में, तो कुछ लोग १६५८ में इसकी रचना का सम्पन्न होना मानते हैं। उल्लेखनीय है कि इसके सात पद 'सूर' सागर' में भी पाये जाते हैं। यह प्रश्न अनुत्तरित है।

८. गीतावली– प्रो. सिंह के अनुसार, इसमें समाविष्ट रामकथा के अंश का नाम आरम्भ में 'पदावली रामायण' और 'आत्मनिवेदन' सम्बन्धी पदों के संग्रह का नाम 'राम गीतावली' था। आगे चलकर यह दो भागों में विभक्त हो गया। इस प्रकार, 'राम गीतावली' का नया नाम 'विनय पत्रिका' रख दिया गया। सं. १६२८ से १६६० के बीच स्वयं गोसांई जी ने ही ऐसा किया होगा। यह गीतावली विभिन्न रागों में निबद्ध और सात काण्डों में विभक्त ३२८ पदों की रचना है। इसमें परशुराम-संवाद नहीं है। इसके पाँच-छ: पद 'सूर सागर' में भी हैं। इसकी रचना मुख्यत: ब्रजभाषा में हुई है।

९. दोहावली– यह २३ सोरठा सहित ५७३ दोहों का संग्रह है। इसमें ८५ दोहे मानस के, 'वैराग्य सन्दीपनी' के २ दोहे और 'रामाज्ञा प्रश्न' के ३५ दोहे भी संकलित हैं। इस प्रकार, यह तीन स्वतन्त्र कृतियों के आंशिक मेल के साथ एक उत्तम ब्रजभाषा-कृति है। इसका संग्रहकाल भी विवाद-ग्रस्त है।

१०. कवितावली– सवैया, घनाक्षरी और छप्पय अदि छन्दों में रचित तथा सात काण्डों में विभक्त यह ३२५ छन्दों का ग्रन्थ है। इसमें 'रुद्रबीसी' और 'हनुमान बाहुक' का भी समावेश है। वस्तुत: यह 'बाहुक' नामक भाग इसके परिशिष्ट रूप में है। अन्य विद्वानों की भाँति डॉ. वासुदेव सिंह का भी मानना है कि 'मीन की शनीचरी', 'महामारी' और ४४ छन्दों के 'हनुमान बाहुक' के इसमें समावेश होने के कारण इसका रचनाकाल सं. १६८० के कुछ पूर्व होना चाहिए, जो गोस्वामी जी का वार्धक्य-काल था।

११. विनय पत्रिका– यह एक प्रकार का आवेदन-पत्र है, जिसमें ३७८ पदों का समावेश है। यह गोस्वामी जी द्वारा अपने आराध्य की सेवा में प्रस्तुत किया गया विस्तृत प्रार्थना-पत्र है। इसके प्रारम्भ में गणेश, सूर्य, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट और हनुमान आदि की वन्दना की गई है, ताकि वे श्रीराम की भक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य में सहायक हों। राजमहल के अन्त:पुर में श्रीराम का निवास है। वहाँ पहुँचने के पूर्व पड़ने वाली ड्यौढ़ियों पर अनेक रक्षक नियुक्त हैं। इनमें सर्वाधिक विशिष्ट हैं– श्री लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। अन्त में सीता माता की स्थिति है। बिना इनकी कृपा के आवेदन पत्र प्रभु तक नहीं पहुँचेगा– यह आशंकित था। अत: उनकी वन्दना करके उन्हें भी राजी करने का प्रयास किया गया है। सब मिलाकर गोस्वामी जी की यह

कृति अत्यन्त प्रौढ़ है। डॉ. वासुदेव सिंह ने इस ग्रन्थ का जो भाष्य प्रस्तुत किया है, वह उनकी विद्वत्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है।

१२. रामचरित मानस– इसे प्रारम्भ करने का काल तो दिया हुआ है, पर इसका समापन-काल अनुमान का विषय है। बाबा बेनी माधव के कथनानुसार यह कृति २ वर्ष ७ माह और २६ दिन में पूरी हुई थी अर्थात् अगहन मास सं. १६३३ में यह रचना समाप्त हुई। इसके बाल, अयोध्या और अरण्यकाण्ड की रचना अयोध्या में सम्पन्न हुई। शेष काण्ड काशी में रचे गये– डॉ. सिंह इस अभिमत के समर्थक हैं। उनकी सूचना के अनुसार, इसमें १८ मात्रिक और वर्णिक छन्द हैं।

इस क्रम में; उन्होंने गो. तुलसीदास के 'काव्य-दर्शन', 'उनकी भक्ति का स्वरूप', 'रामचरित मानस की भाषा', 'अयोध्याकाण्ड के कथानक का वैशिष्ट्य' और इसकी 'संवाद-योजना' पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जहाँ तक भाषा की संरचना और क्षेत्रीयता का प्रश्न है, वे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की इस मान्यता से सहमत प्रतीत होते हैं कि 'मानस' की भाषा 'ब्रज मिश्रित अवधी' भाषा है, अर्थात् 'खिचड़ी' भाषा है। इस भाषा में अरबी, फारसी, तुर्की, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, बुन्देली और भोजपुरी के शब्द प्रसंगत: यत्र-तत्र प्रयुक्त मिलते हैं। इसके उद्धरणों की खोज डॉ. सिंह ने बड़े श्रम से किया है। इस दृष्टि से इनका यह प्रयास मौलिक माना जा सकता है। लगे हाथ, उन्होंने भाषा-संरचना से सम्बद्ध व्याकरणिक अवयवों की विस्तार से चर्चा की है। साथ ही; मानस के सात काण्डों के रचना-क्रम को निर्धारित करने में उन्होंने पर्याप्त सावधानी का परिचय दिया है। उनका मानना है कि सर्वप्रथम अयोध्या काण्ड की रचना हुई थी। उसके पश्चात् बालकाण्ड का उत्तरार्द्ध रचा गया था, फिर शेष काण्ड रचे गये और अन्त में बालकाण्ड का पूर्वार्द्ध रचा गया। सबसे अन्त में मानसरोवर-रूपक की रचना सम्पन्न हुई।

अयोध्या काण्ड के मार्मिक प्रसंगों में डॉ. सिंह ने राम-वनगमन, केवट-प्रसंग, मार्ग में मिले ग्रामीण एवं वन्य नारी-नर, भरत-चरित्र और चित्रकूट-सभा आदि की गणना विशेष रूप से की है। इसी प्रकार, संवाद-योजना-प्रसंग में कैकेयी-मंथरा, दशरथ-कैकेयी, राम-कैकेयी, राम-कौशल्या, राम-सीता, लक्ष्मण-सुमित्रा, लक्ष्मण-निषाद, दशरथ-सुमन्त्र, भरत-कौशल्या, भरत-निषाद, राम-भरत, कौशल्या-सुनयना और जनक-सुनयना के बीच हुए संवादों को मनोमुग्धकारी सिद्ध किया है।

सब मिलाकर कहा जा सकता है कि डॉ. वासुदेव सिंह अपनी विद्वत्ता और प्रौढ़ अभिव्यक्ति-प्रामाण्य के आधार पर आचार्य-पद से विभूषित होने के सर्वथा अर्ह हैं।

●

अयोध्याकाण्ड भाष्य : एक मूल्यांकन

डॉ. रणजीत सिंह *

प्रख्यात् हिन्दी समीक्षक, इतिहासकार एवं महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के पूर्व हिन्दी आचार्य स्व. डॉ. वासुदेव सिंह एवं उनके सुपुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह की लेखनी से निःसृत उपर्युक्त ग्रन्थ अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। इसमें रामचरितमानस के हृदयस्थानीय 'अयोध्याकाण्ड' का प्रतिपद भाष्य प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक का लेखन भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा के अभ्यर्थियों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर भले ही किया गया हो, यह ग्रन्थ छात्रों और विद्वानों– दोनों के लिए एक आदर्श निकष (कसौटी का पत्थर) बनकर हमारे सामने आता है। यशस्वी पिता-पुत्र का यह प्रयास सुदूर अतीत में महाकवि बाणभट्ट और उनके पुत्र भूषणभट्ट के संयुक्त प्रयास 'कादम्बरी' की हमें याद दिलाता है। वैदुष्य की यह प्राचीन परम्परा इस तरह आज चरितार्थ हुई देखकर मन प्रसन्न हो उठता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या ५८० है और इसके दो प्रमुख खण्ड हैं– प्रथम, समीक्षाखण्ड (पृ. सं. १-१३२) और द्वितीय, अयोध्याकाण्ड : मूलपाठ और व्याख्या (पृ. सं. १३३-५८०)। ग्रन्थ का समीक्षा भाग भाष्य का परम उपकारक है और अपेक्षाकृत संक्षिप्त होते हुए भी 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। भाष्य वाला भाग विशाल है और आवश्यकता को देखते हुए उसकी विशालता एक गुण ही है। सम्पूर्ण भाष्य की योजना संस्कृत साहित्य में व्याख्या की बहुप्रचलित परम्परा का अनुसरण करके मनीषीद्वय ने अपने वैदुष्य और छात्र तथा विद्वानों के प्रति अपने दायित्व के निर्वाह का परिचय दिया है।

समीक्षाखण्ड नौ अध्यायों में विभक्त है। सर्वप्रथम गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण अत्यन्त संक्षेप में, परन्तु सारगर्भित रूप में किया गया है। इसे समास शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरे अध्याय में गोस्वामी तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं का विश्लेषण किया गया है। विषय दुरूह एवं विवादित होते हुए भी अत्यन्त सरल और हृदयंगम रूप में प्रस्तुत हुआ है। तृतीय अध्याय तुलसी के काव्य-दर्शन की मार्मिक व्याख्या करता है। चतुर्थ अध्याय में गोस्वामी जी की भक्ति के स्वरूप का विशद् विवेचन मिलता है। लेखकद्वय ने इस दुरूह विषय को बड़े ही सरल एवं सशक्त शब्दों में प्रस्तुत कर विद्यार्थियों का अच्छा मार्गदर्शन किया है। पाँचवाँ अध्याय रामचरितमानस की भाषा अवधी के प्रसंगानुकूल प्रयोग का सोदाहरण उदाहरण प्रस्तुत करता है। छठें अध्याय में अयोध्याकाण्ड के वैशिष्ट्य का विशद् प्रतिपादन मिलता है। मनीषीद्वय ने इसके विवेचन में रामायण, अध्यात्म रामायण आदि अनेक ग्रन्थों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है।

सातवाँ अध्याय रामचरितमानस (विशेष रूप से अयोध्याकाण्ड) के आठ प्रमुख पात्रों के शील-

* सेवानिवृत्त प्राचार्य– कालिकाधाम महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी

निरूपण (चरित्र-चित्रण) के लिए समर्पित है। इसको 'शील' शब्द से अभिहित करके प्रो. साहब ने अपने प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रति अगाध प्रेम को ही प्रदर्शित किया है। आठवाँ अध्याय संवाद-योजना जैसे महाकाव्य के महत्त्वपूर्ण भाग का विवेचन करता है। यह संवाद-योजना अयोध्याकाण्ड तक ही सीमित रखी गई है। अन्तिम नवम् अध्याय में अयोध्याकाण्ड के काव्य-सौष्ठव का विवेचन किया गया है। प्रसिद्ध समीक्षक एवं काव्यशास्त्री मम्मट का अनुसरण करते हुए प्रोफेसर साहब ने 'भाव' को प्रथम रस माना है, जो भक्तिरस का परिचायक है। इनके विशद् विवेचन के पश्चात् भाषा और अलंकार-विधान पर सोदाहरण बहुत-कुछ कहा गया है। यद्यपि गोस्वामी जी भाव-प्रवण रससिद्ध कवि थे, उनका आग्रह अलंकारों के प्रदर्शन के प्रति नहीं था, तथापि वे अलंकारों– शब्द एवं अर्थ– के प्रयोग में सिद्धहस्त थे। अनुप्रास, उपमा, रूपक और अर्थान्तरन्यास का प्रयोग तो वे प्रतिपद करने में समर्थ थे। लगभग सभी अलंकारों के उदाहरण मूल ग्रन्थ से प्रस्तुत किए गए हैं। अंतिम चरण में लेखकद्वय ने अयोध्याकाण्ड के छन्दों पर अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा भाग, जिसे 'भाष्य खण्ड' का नाम दिया गया है, निश्चित रूप से; पर्याप्त परिश्रम, सतत् अवधान तथा चिन्तन-मनन-निदिध्यासन की स्वरसवाही प्रक्रिया से गुजर कर ही लिखा जा सका होगा। प्रो. सिंह के शिष्यत्व के निकषग्रावा पर हिमांशु जी की अच्छी परीक्षा हुई होगी, इसका अनुमान मात्र सरसरी दृष्टि डालने से ही लग जाता है।

रामचरितमानस की रचना में जिस तरह गोस्वामी जी ने अपने इस स्वातं:सुखाय प्रवर्तित रचना हेतु अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं मनीषियों के दाय को स्वीकार करते हुए कहा था– **'नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि'–** उसी तर्ज पर डॉ. द्वय ने अयोध्याकाण्ड के भाष्य में ज्ञात-अज्ञात सभी सामग्री का उपयोग करते हुए अपने भाष्य को सर्वांगीणता प्रदान की है। प्राचीन साहित्यिक टीका-प्रणाली के सबसे बड़े कर्णधार मल्लिनाथ माने जाते हैं, जिन्होंने कालिदास, माघ, भारवि आदि अनेक महाकवियों के यशस्वी ग्रन्थों की टीका लिखी है। उनका लक्ष्य था–

'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेसितमुच्यते।।

इसी अन्वयपूर्वक व्याख्या और मूल ग्रन्थों के उद्धरण की प्रक्रिया को स्वीकार कर 'अयोध्याकाण्ड भाष्य' को एक अनुपम कृति का स्वरूप प्रदान किया गया है। इस महनीय ग्रन्थ के प्रणयन द्वारा समीक्षा के क्षेत्र में एक नये प्रकाश-स्तम्भ के आलोक में हम अध्येतागण अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं। प्रो. वासुदेव सिंह ने अपनी ऐतिहासिक कृतियों की माला में 'अयोध्याकाण्ड भाष्य' जैसी हीरकमणि को पिरोकर श्रीमद्भगवद्गीता के इस महावाक्य को चरितार्थ ही किया है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

ऐसे महनीय आचार्य (गीतोक्त) प्रो. वासुदेव सिंह की पुण्यतिथि के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि देना मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ और उनके सुपुत्र हिमांशु शेखर को आशीर्वाद देता हूँ कि अपने यशस्वी पिता के बताये मार्ग पर चलकर अपना जीवन धन्य करें।

●

वासुदेव सिंह का 'अयोध्याकाण्ड भाष्य'

प्रो. अवधेश प्रधान*

प्रो. वासुदेव सिंह काशी के हिन्दी आचार्यों में अपनी पाठ-केन्द्रित टीका-प्रतिभा के लिए सुविख्यात् रहे हैं। उन्होंने ठाकुर जयदेव सिंह के सान्निध्य में मध्यकालीन सन्तों की साधना और बानी के रहस्य का संधान किया था और उसका प्रसाद हिन्दी-जगत् को कबीर की बानी (साखी, सबद, रमैनी) की विस्तृत व्याख्या के रूप में वितरित किया। इधर मैंने उनका 'अयोध्याकाण्ड भाष्य' देखा, जो उन्होंने अपने सुपुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह के साथ प्रकाशित किया था। रामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड का साहित्यिक महत्त्व सुविदित है। ''इस काण्ड में एक ओर जहाँ जीवन का कटु यथार्थ अपने वीभत्स रूप में उपस्थित है, वहीं दूसरी ओर आदर्श का उच्चतम सोपान दिव्य आभा का प्रकाश विस्तीर्ण करता है। यथार्थ और आदर्श का यह द्वन्द्व और अंततः आदर्श की यथार्थ पर विजय– अयोध्याकाण्ड की मुख्य विशेषता है।'' (भूमिका से) अयोध्याकाण्ड के इसी वैशिष्ट्य से आकृष्ट होकर वासुदेव सिंह ने इसकी विस्तृत व्याख्या का निर्णय लिया। इसके अतिरिक्त; अनेक विश्वविद्यालयों में इसके अधिकांश प्रसंग पाठ्यक्रम में भी निर्धारित हैं। छात्रों का ध्यान रखकर उन्होंने आरम्भ में तुलसीदास के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व, प्रामाणिक रचनाएँ, काव्य-दर्शन, भक्ति का स्वरूप, मानस की भाषा, अयोध्याकाण्ड के कथानक का वैशिष्ट्य, शील-निरूपण और उसके बाद सम्वाद-योजना और काव्य-सौष्ठव सम्बन्धी विवेचना की है। उसके बाद; समूचे अयोध्याकाण्ड का भाष्य प्रस्तुत किया है। मूल पाठ के साथ शब्दार्थ और व्याख्या के साथ यथावश्यक विशेष टिप्पणियाँ दी गयीं हैं। अंतःकथाओं और पौराणिक प्रसंगों को विस्तार से बताया गया है और तुलसीदास की मूल पंक्तियों से मेल खाते हुए अनेक सन्दर्भ वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, भतृहरि शतक या अन्य नीति-ग्रन्थों से या उपनिषद् आदि से उद्धृत् किए गए हैं। कहीं-कहीं कवितावली, गीतावली, दोहावली, विनय-पत्रिका आदि से भी मिलती-जुलती पंक्तियाँ उद्धृत हैं। व्याख्या में मूल पाठ का निर्णय या क्लिष्ट पदों का अर्थापन करने में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र या मानस पीयूषकार की सूझों से भी सहायता ली है। अनेक शब्दों के संस्कृत या फारसी-अरबी तत्सम भी दे दिए हैं, जैसे-

'भए बहुत दिन अति **अवसेरी**।' सं. अवरोह-१. विलम्ब, २. चिंता।
'हाट बाट घर गली **अथाई**।' सं. अस्थानी- बैठक, चबूतरा।
'भा भिनुसार **गुहारा** लागा।' फा. गुजारा
'**कोतल** संग जाहिं जेरि आए।' अरबी-कोतल
'कुलिस कठिन उर भएउ न **बेहू**।' सं. वेध-छेद
'अबदेव'-उरेब (फारसी)।

---

* आचार्य (अ.प्रा.)– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेकिन 'हराँसू' शब्द के दो अलग-अलग तत्सम रूप बताए हैं। जैसे-**'सुनि मन भयउ न हरष हराँसू।'** फारसी > हिरास = दुःख, निराशा)' लेकिन **'भा मिथिलेसहि हृदय हराँसू'** (पृ.५०५) में इसका तत्सम बताया है– संस्कृत >'ह्रास'।

पहले ही दोहे में **'बरनेउँ रघुबर बिमल जसु'** का अर्थ करने के बाद 'विशेष' टिप्पणी में बताया है– 'यहाँ रघुबर शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य श्रीराम भी हो सकता है और भरत भी। अयोध्याकाण्ड में विशेष रूप से भरत-चरित की महिमा का गान है। 'रघुबर बिमल जसु' पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की टिप्पणी है कि अयोध्याकाण्ड में राम-यश नहीं, राम-वनवास का वर्णन है।.....अयोध्याकाण्ड के अंत में भी इस काण्ड के मुख्य चरित्र की चर्चा की गयी है और वह 'भरत चरित' कहा गया है–

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जे सादर सुनहिं.....(पृ.१३७)

'सुख सोहाग तुम्ह कहुँ दिन दूना' –इसका सीधा अर्थ यह है कि तुम्हारा सुख और सौभाग्य दिन-दिन दूना होगा। कैकेयी के प्रति मंथरा की इस उक्ति में निहित अन्य व्यंजनाओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''दिन दूना का एक भाव यह भी है कि अभी तक तो पति पर अधिकार था, जब तुम्हारे पुत्र भरत राजा हो जाएँगे, तब तुम्हारा सुख और अधिकार दूना हो जाएगा। 'दूना' में एक और व्यंजना हो सकती है– दूना अर्थात् अब सुख-सोहाग दो दिन भी नहीं शेष है। केवल आज भर है। प्रातःकाल होते ही दोनों न रहेंगे– न सुख, न सुहाग।'' (पृ. १६७)

'कुबरीं करि कबुली कैकेई, कपट छुरी उर पाहन टेई' –इस पंक्ति के अर्थ को लेकर पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने खूब माथा-पच्ची की है। 'करि' शब्द का अर्थ 'कसाइन' करके वासुदेव सिंह ने लिखा है– ''मंथरा रूपी कसाइन ने कैकेई रूपी बलि-पशु को काटने के लिए कपट रूपी छुरी को हृदय रूपी पत्थर पर तेज धार युक्त किया।'' 'विशेष' टिप्पणी में बताया है कि 'कबुली' के दो पाठ और मिलते हैं– 'कबूलि' और 'कुबलि।' विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'कुबलि' पाठ सही मानते थे, जिसका अर्थ है– निकृष्ट बलि। ''कैकेई का रूपक बलि-पशु से बाँधा गया है, पर स्त्री होने के कारण वह 'कुबलि' या निकृष्ट बलि है। नर की बलि दी जाती है, स्त्री की बलि का निषेध है। बकरा या भैंसा काटा जाता है, बकरी या भैंस नहीं।'' (पृ. १६८)

महाराज दशरथ ने कैकेयी को धिक्कारते हुए कहा– **'फिरि पछितैहसि अंत अभागी, मारसि गाइ नहारू लागी।'** 'नहारू' के तीन अर्थ दिए हैं– १. एक प्रकार का नसों में होने वाला रोग, २. सिंह या बाघ तथा ३. तृण। अर्थ किया है– 'अरी अभागिन! तू अंत में पछताएगी, क्योंकि तूने सिंह के धोखे में गाय को मार डाला हैं।' 'विशेष' टिप्पणी में ऊपर की पंक्ति के चार अर्थ दिए हैं। पहला अर्थ (नहारू- तृण)– तू तृण के लिए गाय को मारती है। 'राज्य' हुआ 'तृण', 'राम को वनवास' हुआ 'गाय को मारना'। दूसरा अर्थ (नहारू-शेर का बच्चा)– 'तू शेर के बच्चे के लिए गाय को मारती है।' भरत हुए 'शेर का बच्चा', राम को वनवास हुआ 'गाय को मारना'। तीसरा अर्थ (नहारू- सिंह)– 'तू सिंह के लिए गाय को मार रही है।' सिंह हुए 'भरत', गाय हुए 'राम'। चौथा अर्थ 'नहरूआ' नाम के रोग को लेकर है। ''नहरूआ एक रोग है, जो पैर की तली में होता है और उसमें से सूत्र के समान कोई वस्तु निकलती है। यदि वह बिना टूटे सम्पूर्ण निकल गयी, तो रोग अच्छा हो जाता है, अन्यथा वह सूत्र जहाँ से टूटेगा, वहाँ से छेद करके निकलेगा और बढ़ेगा। इस प्रकार, बारम्बार टूटने से सारा पैर सड़ जाता है और अन्त में मनुष्य की मृत्यु

हो जाती है। बिना पूरा सूत्र निकले, वह किसी प्रकार अच्छा नहीं होता। गाय की ताँत में उस सूत्र को बाँधकर प्रतिदिन उसे धीरे-धीरे खींचते चलते हैं और वह सूत्र बाहर निकल आता है। तात्पर्य यह है कि– 'तू नहारू रोग के लिए गाय को मार रही है', अर्थात् राम गाय के सदृश हैं और भरत नहरूआ रोग की भाँति।'' (पृ. १९४-१९५)

भरत ने अपनी माता कैकेयी पर दोषारोपण करते हुए कहा–

'मातु कुमत बढ़ई अघमूला, तेहि हमार हित कीन्ह बँसूला।
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमंत्रू।'

इसकी व्याख्या इस प्रकार है– 'कैकेयी की दुर्बुद्धि बढ़ई है, जो समस्त पापों की जड़ है। उसने हमारे हित को (कि मुझे राज्य मिलेगा) बँसुला बनाया, कलह अथवा विवाद रूपी अपावन लकड़ी से उसने कुजन्त्र (कोल्हू) तैयार किया और उसे कुमन्त्र पढ़कर अवध-भूमि में गाड़ दिया।' इस पंक्ति में एक विशेष तांत्रिक अभिचार का सन्दर्भ है। इस सन्दर्भ को समझे बिना मूल पाठ का अर्थ अच्छी तरह नहीं खुलता। सन्दर्भ में बताया गया है कि– ''शत्रु का अनिष्ट करने के लिए किसी निकृष्ट (अशुभ) घड़ी में बबूल अथवा बहेड़े की लकड़ी का कोल्हू बनाकर और शत्रु के पैरों के नीचे की मिट्टी लेकर उसका पुतला बनाते हैं। फिर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके, उसकी छाती पर शत्रु का नाम लिखकर, पुतले को कोल्हू में दबाते हैं। तत्पश्चात् अशुभ अथवा शत्रु-विनाशक मन्त्रों को पढ़कर उसे पृथ्वी में गाड़ देते हैं। इससे शत्रु का विनाश हो जाता है।'' (पृ. ४२१)

भरद्वाज मुनि ने भरत और समस्त अवधवासियों के स्वागत के लिए अपने तपोबल से विविध प्रकार की सुख-सुविधाओं का दिव्य प्रबंध किया। इस प्रसंग में– **'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।'** प्रश्न उठता है कि भरद्वाज मुनि ने राम के वनवास से दुःखी अयोध्यावासियों के लिए (स्रक) माला, चंदन और स्त्रियों (बनितादिक) आदि की व्यवस्था क्यों की? एक तो अत्यन्त करुण प्रसंग, दूसरे आश्रम, तीसरे भरद्वाज मुनि और चौथे तुलसीदास जैसा मर्यादावादी कवि। किसी भी तरह इसकी संगति नहीं बैठती। वासुदेव सिंह ने यहाँ 'काम दर्पण' का उद्धरण दिया है–

स्रग्गंधो वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूल भोजनम्।
भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः।

तुलसीदास ने इस श्लोक के आरम्भिक पदों की ही उद्धरणी कर दी है– 'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।'

भरत को सेना समेत आते हुए दूर से ही देखकर लक्ष्मण ने राम से रोषपूर्वक कहा– **'भरत हमहिं उपचार न थोरा।'** विशेष टिप्पणी में वासुदेव सिंह ने बताया है कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और लाला भगवानदीन– दोनों 'उपचार' के स्थान पर 'उपचरा' पाठ मानते थे। वासुदेव सिंह ने पाठ तो 'उपचार' ही रखा, लेकिन व्याख्या में अर्थ 'उपचरा' के अनुसार किया– ''भरत ने हमारे साथ कम दुर्व्यवहार नहीं किया है।'' (पृ. ४४६)

चित्रकूट की महिमा का बखान करते हुए तुलसीदास ने २३५वें दोहे में कहा है–

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राज पुर सुख सम्पदा सुकालु।।

अर्थात् विवेक रूपी सम्राट् मोह रूपी राजा पर उसके दल-बल सहित विजय प्राप्त करके निष्कंटक

राज्य कर रहा है। यहाँ वासुदेव सिंह ने एक अद्‌भुत जानकारी दी है– ''तुलसीदास के समकालीन जैन कवि बनारसीदास की एक स्वतंत्र रचना ही मिलती है, जिसका नाम है– मोह-विवेक-युद्ध।'' (पृ. ४५५)

राम और भरत के आपसी प्रेम को ब्रह्मा-विष्णु-महेश के लिए भी अगम्य बताते हुए तुलसीदास ने लिखा–

'सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर ताँती।'

वासुदेव सिंह ने 'गाँडर' का एक अर्थ बताया है– ''मूँज की तरह की एक घास, जिसमें बहुत सी गाँठें होती हैं। इसकी जड़ से खस बनती है। इसी आधार पर व्याख्या में यह अर्थ बताया है– ''क्या घास के रेशे से बनी हुयी तन्तु से सुन्दर राग बज सकता है?'' 'गाँडर' का एक अर्थ भेड़ भी होता है। संस्कृत में है– गड्डलिका। गाँडर से ही 'गड़ेरिया' बना है। इस आधार पर एक और अर्थ का उल्लेख 'विशेष' टिप्पणी में है– ''भेड़ की आँत छोटी होती है और वह लचीली भी नहीं होती है, अत: उसकी ताँत से सुंदर राग नहीं निकल सकता।'' (पृ. ४६४)

राजा जनक ने दूतों के द्वारा अयोध्या का समाचार पता कर लेने के बाद तत्काल प्रस्थान किया– **'दुघरी साधि चले ततकाला।'** अर्थात् 'द्विघटिका' मुहूर्त शोध कर तत्काल चल दिए। 'दुघरी' का अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'विशेष' टिप्पणी में, ज्योतिष की परम्परा के अनुसार, एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ स्पष्ट किया गया है– ''यह मुहूर्त होरा के अनुसार निकलता है। इसमें रात-दिन की साठ घड़ियों को दो-दो घड़ियों में विभक्त करते हैं, फिर राशि के अनुसार शुभाशुभ समय का विचार करते हैं। इसमें दिन का विचार नहीं किया जाता है। सब दिन सब ओर की यात्रा का विधान है। इस प्रकार का मुहूर्त उस समय देखा जाता है, जब यात्रा किसी दूसरे दिन पर टाली नहीं जा सकती।'' (पृ. ५०६)

तुलसीदास ने जहाँ किसी प्रयोजनवश किसी विशेष पर्याय का प्रयोग किया है, तो उसका अर्थ बताते हुए वासुदेव सिंह ने उस विशेष शब्द-प्रयोग का भी सौन्दर्य उद्‌घाटित किया है। तुलसीदास ने कैकेयी के लिए कहीं 'भरत मातु' का, तो कहीं 'कैकय-सुता' का प्रयोग जान-बूझकर किया है। तुलसी का ठेठ अवधी प्रयोग है– **''नैहर जनम भरब वह जाई।'** भरब = बिता दूँगी। इससे मिलता-जुलता जायसी का प्रयोग है– 'कैसे भरौं रैनि अँधियारी।' (जायसी– कैसे अँधेरी रात बिताऊँगी? इस प्रकार, इस पुस्तक में अयोध्याकाण्ड के भाष्य को सर्वथा नूतन एवं प्रामाणिक बनाने का सत्प्रयास किया गया है। एतदर्थ इसमें जहाँ एक ओर काव्य में निहित सौष्ठव, रस, अलंकार, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि को उद्‌घाटित किया गया है, वहीं दूसरी ओर महाकवि द्वारा प्रयुक्त पौराणिक सन्दर्भों और मिथकीय तत्त्वों का भी विवरण दिया गया है। इससे पाठक को रचना के मर्म तक पहुँचने में सुगमता मिली है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'अयोध्याकाण्ड भाष्य' को उपयोगी और भरा-पूरा बनाने के लिए वासुदेव सिंह ने भरपूर परिश्रम किया है। हिन्दी-जगत् इसके लिए हमेशा उन्हें याद रखेगा।

●

सुन्दरकाण्ड भाष्य : एक विवेचन

डॉ. मधु सिंह*

भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी भाषा-साहित्य के अनन्य सेवक, कृति पुरुष प्रो. वासुदेव सिंह की सर्जना अद्‌भुत है। वे भारतीय आचार्य की तरह विद्या की आधार-भूमि के अन्तर्गत साहित्य की प्रक्रिया पर विचार करते हैं। साहित्य उनके लिए केवल शब्द-विचार नहीं है, वह जीवन-अर्थ की ऐसी सजीव मंजूषा है, जो चारों ओर आलोक बिखेरती है।

आचार्य-परम्परा के साहित्य मनीषी प्रो. वासुदेव सिंह का वैसे तो हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर समान अधिकार रहा है, किन्तु उनकी साहित्य-साधना का विशेष क्षेत्र प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास था।

मध्यकालीन काव्य से गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड का भाष्य आपने और आपके सुपुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह ने लिखा है। आपने इसकी भूमिका में लिखा है– ''हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास में गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व अप्रतिम है। उनकी वाणी एक ऐसे समाधिस्थ चित्त की अभिव्यक्ति है, जिसमें भारतीय दर्शन, धर्म और कला का सुन्दर समन्वय है। इसमें कान्तासम्मित उपदेशों के साथ ही सद्य: परिनिर्वृत्ति की क्षमता भी है। इसमें मानव-जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान उपलब्ध होता है। वह लौकिक और आध्यात्मिक– दोनों क्षेत्रों का अद्‌भुत मार्गदर्शक ग्रन्थ है।''

तुलसी के काव्य-दर्शन में आपने लिखा है कि तुलसी की रचना का एक उद्देश्य है– स्वान्त:सुख, आत्म-प्रबोध और अपने सन्देह-मोह-भ्रम का निवारण तथा दूसरा है– जनकल्याण, लोकमंगल और जन-मोह का निराकरण। मानस में वे प्रथम प्रयोजन को अनेकश: व्यक्त करते हैं–

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा

× × ×

स्वान्तःस्तमः शान्तमे

× × ×

मोरे मन प्रबोध जेहि होई

× × ×

निज गिरा पाठनि करन कारन, रामजसु तुलसी कहनि।

× × ×

निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। करौ कथा भव सरिता तरनी।।

'तुलसी की भक्ति का स्वरूप' के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि– 'गोस्वामी जी का भक्तिमार्ग ज्ञान-विरोधी नहीं है। दोनों में अविरोध-भाव है। वह ज्ञान-मार्ग की निन्दा या तिरस्कार नहीं करते हैं, क्योंकि

* एसोसिएट प्रोफेसर– हिन्दी विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कॉलेज, वाराणसी

उनके मत में साध्य की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों का लक्ष्य एक है– भवसंभव क्लेश का निवारण– **'भगतिहीं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ।।'**

मानस का प्रतिपाद्य ही है– भक्ति का माहात्म्य-कथन। तुलसी-वाङ्मय तथा पूर्ववर्ती संस्कृत रामकथा-काव्य में हनुमान-स्वरूप में आपने क्रमशः तुलसी के समस्त काव्यों में वर्णित हनुमान के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया है, जिसमें हनुमान के विविध अलौकिक कार्यों तथा संकटमोचन स्वरूप का आख्यान मिलता है।

सुन्दरकाण्ड के नामकरण में आपने लिखा है कि– ''त्रिकूट पर्वत पर स्थित सुन्दर शिखर पर अशोक वाटिका थी। इस काण्ड की सम्पूर्ण घटना का केन्द्र-बिन्दु यही शिखर था, अतः इसका नाम 'सुन्दरकाण्ड' रखा गया।'' सुन्दरकाण्ड कथानक-विवेचन तथा पूर्ववर्ती कथानकों की तुलना में आपने लिखा है कि– ''सुन्दरकाण्ड दो खण्डों में विभक्त है– पूर्वार्द्ध में हनुमत् चरित है और उत्तरार्द्ध विभीषण चरित से सम्बद्ध है। वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में केवल पूर्वार्द्ध की घटनाओं का ही विवरण है। रामचरितमानस का सुन्दरकाण्ड वाल्मीकि अथवा अध्यात्म रामायण का अनुवाद मात्र नहीं है। गोस्वामी जी ने निजी काव्यानुभूति तथा भक्त्यात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप अनेक घटनाओं में संशोधन किया है। वस्तु-वर्णन में कुछ को संक्षिप्त किया है, कुछ को विस्तार दिया है और कतिपय नये प्रसंगों का भी समावेश किया है।

शील-निरूपण के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि– ''शील-निरूपण की दृष्टि से सुन्दरकाण्ड में दो पात्रों के नाम ही उल्लेखनीय हैं, वे हैं– हनुमान और विभीषण। हनुमान के चरित्र की विशेषता है– अतिशय विनम्रता तथा निरहंकारिता। विभीषण के चरित्र की विशेषता है– अनुकूलता का संकल्प-प्रतिकूलता का वर्जन, प्रभु से रक्षित होने का विश्वास, रक्षकरूप में भगवान का वरण, आत्मसमर्पण और दैन्य की पराकाष्ठा। निश्चय ही; यह प्रपत्तिमूलाभक्ति या शरणागति है।''

भाव एवं रस-योजना के सम्बन्ध में आपने उद्धृत किया है कि– ''तुलसीदास ने जहाँ एक ओर अत्यन्त विशाल फलक पर भाव-योजना की अभिकल्पना की है, वहाँ उसे अत्यन्त निपुणता के साथ सजाया-सँवारा भी है। वस्तुतः उनकी वाणी एक ऐसे समाधिस्थ चित्त की अभिव्यक्ति है, जिसमें भारतीय दर्शन, धर्म और कला का अद्भुत सामंजस्य है।''

इस काण्ड में प्रयुक्त प्रमुख रस शृंगार, वीर, भयानक और भक्ति हैं। 'कला-सौष्ठव' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने लिखा है कि इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ परिनिष्ठित अवधी है। प्रारम्भ में मंगलाचरण के श्लोक संस्कृत भाषा में हैं। अलंकारों के प्रयोग में अनुप्रास, वक्रोक्ति, श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण, विभावना, असंगति, विरोधाभास, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान आदि का प्रयोग किया गया है। छन्दों के प्रयोग में शार्दूल विक्रीड़ित, बसन्ततिलका और मंजुमालिनी का प्रयोग किया गया है। काव्य में प्रयुक्त पौराणिक सन्दर्भों और मिथकीय तत्त्वों का समग्र विवरण दिया गया है।

इसके बाद, सुन्दरकाण्ड के भाष्य में पदों की व्याख्या की गयी है और इसके साहित्यिक सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। आपके अनुसार– ''सुन्दरकाण्ड लौकिक और आध्यात्मिक– दोनों क्षेत्रों का मार्गदर्शक ग्रन्थ है। यदि एक ओर यह भक्ति का आकर ग्रन्थ है, तो दूसरी ओर उससे हमारी पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का समाधन भी प्राप्त होता है।''

स्पष्ट है, यह ग्रन्थ विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्रों एवं प्रशासनिक सेवा सम्बन्धी प्रतियोगी छात्रों के लिए बहुत ही उपयोगी होगा। ●

उत्तरकाण्ड भाष्य : एक समीक्षण

प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी *

संस्कृत साहित्य में जो स्थान कविकुलगुरु कालिदास का है, हिन्दी साहित्य में वही स्थान सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का है। उनका 'रघुवंश' महाकाव्य रघुकुल की महिमा को प्रकाशित करने वाला अमर ग्रन्थ है और साथ ही 'श्रुति सर्वस्व' भी है (श्रुतिसर्वस्वं रघुवंशम्)। इनका 'श्रीरामचरितमानस' भक्तिसुधा का अजस्रस्रोत, रामकथा का अप्रतिम निदर्शन होने के साथ ही 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' भी है। उपमा में कालिदास अद्वितीय हैं, तो रूपक में तुलसीदास बेजोड़ हैं। संस्कृत साहित्य से यदि कालिदास को हटा दिया जाए, तो वह निष्प्राण हो जायगा। ऐसी ही स्थिति तुलसीदास को निकालने पर हिन्दी साहित्य की भी हो सकती है। निश्चय ही; तुलसीदास हिन्दी काव्य के प्रतिमान हैं। ऐसे सिद्ध सन्त कवि पर लेखनी उठाना अत्यन्त साहस का कार्य है।

प्रो. वासुदेव सिंह का यश:काय उनके कर्तृत्व के रूप में आज भी हमारे समक्ष विराजमान है। वे हिन्दी भाषा-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् और प्रख्यात् समालोचक थे। अनेक भाषाविद् प्रो. सिंह संस्कृत साहित्य से भी पर्याप्त लगाव रखते थे। हिन्दी साहित्य में संस्कृत साहित्य के प्रभाव से वे सर्वथा परिचित थे। यही कारण है कि वे मूल उत्स के अनुसंधान में सदैव सफल रहते थे। तुलसी-साहित्य सदा से ही उनके अध्ययन का प्रिय क्षेत्र रहा है। वे तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। तुलसी के राम में उनका भी मन खूब रमता था। वे निरन्तर उस साहित्य-सुधा-सागर का अवगाहन करते रहते थे। परिणामत: अनेक टीकाओं और व्याख्याओं के रहते हुए भी उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के अपूर्व ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस' के विभिन्न काण्डों पर स्वतन्त्र रूप से अपना भाष्य प्रस्तुत किया। श्रीरामचरितमानस के प्रति उनके सहज आकर्षण के मूल में न केवल तुलसी का अचिन्त्य व्यक्तित्व है, अपितु तुलसीदास द्वारा अभिव्यक्त मानवीय मूल्यों से जुड़ी हुई गहरी सांस्कृतिक चेतना भी है। उनकी दृष्टि में श्रीरामचरितमानस भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है। वह हिन्दी का शिखरस्थ महाकाव्य तो है ही, विश्व के अंगुलिगण्य महाकाव्यों में भी एक है। वह केवल अतीत का ही गान नहीं करता, अपितु आगत और अनागत का भान भी कराता है। इस महाकाव्य में काव्य के समस्त उपादेय प्रयोजन घटित हैं। वह 'शिवेतरक्षति' भी करता है, 'कान्तासम्मित उपदेश' भी प्रदान करता है तथा 'सद्य: परिनिर्वृत्ति' तो उसका अमृत प्रसाद है ही। काव्यकार को तो उसने यशस्वी बनाया ही, उसका अध्येता और पारायणकर्ता भी यश का भाजन बनता है। उसमें मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान निहित है। वह लौकिक एवम् अध्यात्मिक– दोनों ही मार्गों का अनन्याद्भुत निर्देशक भी है। यदि संक्षेप में कहें; तो वह मानव की पूर्णता का प्रबल साधन और अभीष्ट साध्य भी है। भक्ति का ऐसा समन्वयपरक ग्रन्थ दुर्लभ है।

* प्राक्तन् आचार्य एवं अध्यक्ष– संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

श्रीरामचरितमानस का उत्तरकाण्ड रामकथा का तत्त्व-बिन्दु है। उत्तरकाण्ड में धर्म-दर्शन का मणिकांचन योग है, ज्ञान और भक्ति की निर्मल धारा का हार्दिक मिलन है। इसमें साधक तुलसीदास की भक्तिमती प्रज्ञा का अनिर्वचनीय परिस्पन्दन है। इसमें वस्तुत: वाग्देवता का स्पृहणीय अभिनन्दन है। आचार्य वासुदेव सिंह ने तात्त्विक चिन्तन और समीक्षा-कौशल के बल पर, उत्तरकाण्ड का भाष्य करते हुए, अत्यन्त सहजतया कविनिबद्ध भावों का प्रकाशन किया है। समीक्ष्य ग्रन्थ के पूर्वभाग में प्रो. वासुदेव सिंह ने गोस्वामी जी एवम् उनके कर्तृत्व के विविध पक्षों के सम्बन्ध में अत्यन्त वैदूष्यपूर्ण समीक्षात्मक एवं विवेचनात्मक आलेख प्रस्तुत किया है। अपनी भक्ति-साधना से भारतभूमि को आलोकित करने वाले सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का प्रामाणिक जीवन-परिचय आज भी अपेक्षित है। उनके कर्तृत्व का सम्यक् मूल्यांकन अद्यावधि विद्वानों का मुखापेक्षी है। सुधी विद्वान् प्रो. वासुदेव सिंह ने अपने संक्षिप्त, किन्तु गवेषणात्मक सारगर्भित आलेखों द्वारा इस अपेक्षा की पूर्ति का सार्थक प्रयत्न किया है। उन्होंने गोस्वामी जी का प्रामाणिक जीवन-परिचय (जन्मस्थान, स्थितिकारण) देते हुए उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उनके यथार्थ और आदर्श को रेखांकित किया है। एक महाकवि के रूप में उनका मूल्यांकन करने के साथ उनके काव्य-दर्शन की समीक्षा तथा एक उपासक भक्त के रूप में उनकी भक्ति के स्वरूप का विश्लेषण नितान्त समीचीन बन गया है। इन सभी आलेखों में जहाँ प्रो. सिंह का स्वोपज्ञ तुलसी-चिन्तन घिसे हुए चन्दन की तरह महक रहा है, वहीं ग्रन्थ के उत्तरभाग में, श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के भाष्य में, विद्वान् समीक्षक की सहृदयता का अपूर्व विलास चमत्कृत करता है। अपने भाष्य की पूर्व पीठिका के रूप में आपने महाकवि द्वारा उत्तरकाण्ड में प्रतिपादित कथावस्तु को अधिकृत करके तत्त्व-चिन्तन के रूप में संत-असंत-लक्षण, निर्गुण-सगुण-विवेक, जीवन-जगत् और माया का स्वरूप, ज्ञान-भक्ति-विवेचन तथा शैवों और वैष्णवों का समन्वय प्रस्तुत किया है, जो न केवल जिज्ञासुओं, अपितु अधिकारी विद्वानों के लिए भी सर्वथा उपादेय है।

जिस उत्तरकाण्ड का सर्वतोग्राह्य भाष्य प्रो. वासुदेव सिंह ने किया है, उसका वैशिष्ट्य-ख्यापन करना उनका प्रथम धर्म है। वे अपने कर्त्तव्य रूप धर्म के प्रति सतत् जागरूक थे। इसीलिए उन्होंने भाष्य करने से पूर्व मानस के उत्तरकाण्ड का वैशिष्ट्य मनोयोगपूर्वक प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' का भरपूर उपयोग किया है, क्योंकि मानस पर इन दोनों पूर्ववर्ती ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही; उन्होंने गोस्वामी जी की स्वयं की रचना 'कवितावली' के तद्विषयक कथ्य से उसकी तुलना भी की है। ऐसा करना भाष्यकार आचार्य वासुदेव सिंह की तत्त्वोन्मीलिनी व्यापक दृष्टि का परिचायक है। इन तीनों ग्रन्थों के तत्तद् वर्णित कथाकथ्यों के परिप्रेक्ष्य में मानस के उत्तरकाण्ड की विशिष्टता वस्तुत: महाकवि सन्तशिरोमणि तुलसीदास का प्रातिभ अवदान ही है।

अब बात उत्तरकाण्ड के भाष्य की। श्रीरामचरितमानस का यह उत्तरकाण्ड वस्तुत: अपने सभी पूर्ववर्ती काण्डों से उत्तरोत्तर सर्वोत्तर (सर्वोत्तम) होने के कारण अन्वर्थ संज्ञक है। इस काण्ड का प्रारम्भ तो रामराज्याभिषेक, वानरादि अतिथियों के सत्कार और विदाई तथा रामराज्य के वर्णन से सम्पृक्त है, किन्तु इसके पश्चात् तो 'रामचरित' की छत्रच्छाया में गम्भीर ज्ञान-पयोधि का मन्थन आरम्भ हो गया है। भक्ति और

ज्ञान के सारे उपादानों के साथ काग भुशुण्डि और गरुड़ का संवाद मानो श्रीरामचरितमानस की चरम दार्शनिक फलश्रुति के रूप में सहज ही उपन्यस्त हो गया है। उत्तरकाण्ड की सर्वोत्तरता का यही रहस्य है। ऐसे गूढ़ भावों से परिपूर्ण उत्तरकाण्ड का भाष्य करना कोई सरल कार्य नहीं है।

आचार्य वासुदेव सिंह ने भाष्य करने हेतु जो पद्धति अंगीकार की, वह सर्वथा उपयुक्त, प्रभावशाली और उपादेय है। मूल पाठ प्रस्तुत करके अन्वयानुसारी शब्दार्थ किया गया है। आवश्यकतानुसार कठिन अथवा दुर्बोध शब्दों के ही अर्थ दिये गये हैं। शब्दार्थ के पश्चात् यथावसर सन्दर्भ/प्रसंग का भी उल्लेख है, तत्पश्चात् मूलपाठ के समुद्धृत अंश की सर्वतोभावेन व्याख्या की गयी है। व्याख्यायित अंश में गुम्फित भावों अथवा विशिष्ट वस्तु का विश्लेषण 'विशेष' के अन्तर्गत किया गया है और आगत समस्याओं का समाधान भी किया गया है। आशय की विशदता के लिए अन्य ग्रन्थों से तत्तुल्यभावात्मक स्थलों को उद्धृत कर तुलनात्मक विवेचना की गयी है। भावोचित निष्कर्ष भी यत्र-तत्र संकेतित किया गया है। चौपाइयों और दोहों की काव्यशास्त्रीय समीक्षा भी की गयी है। छन्दोलक्षण, अलंकार-निरूपण तथा लक्षणपूर्वक उसे उस अंश में घटना, गुण-निरूपण, रस एवं ध्वनि का भी विवरण दिया गया है। इस प्रकार, व्याख्या (भाष्य) को हर दृष्टि से सर्वांगपूर्ण बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी है। यही कारण है कि उत्तरकाण्ड का यह भाष्य न केवल छात्रों-शोधार्थियों के लिए उपयोगी है, अपितु प्रत्येक काव्यरसिक, भक्त मानसानुरागियों के लिए भी सविशेष काम्य है।

श्रीरामचरितमानस-उत्तरकाण्ड के भाष्य में सर्वत्र आचार्य वासुदेव सिंह की स्वोपज्ञ प्रतिभा तथा प्रौढ़ प्रज्ञा, गूढ़ विषय को भी हस्तामलकवत् सर्वजन बोधगम्य करती हुई परिलक्षित होती है। निदर्शन के रूप में स्थाली-पुलाक-न्याय से कतिपय निदर्शन यहाँ प्रस्तुत करना असमीचीन न होगा।

उत्तरकाण्ड के कलियुग-वर्णन प्रसंग में गोस्वामी जी ने जो इस युग के गुण-दोष गिनाये हैं, वे गोस्वामी जी द्वारा स्वयं से उद्भावित नहीं हैं, अपितु उन्होंने उसे परम्परा से प्राप्त किया है। यथा, दोहा संख्या १०२ (ख) में वर्णित भाव–

'कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि-नाम ते पावहिं लोग।।

इसके मूल उत्स का संकेत भाष्यकार ने किया है–

कृते यद् ध्यायते विष्णुंत्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात्।।

(श्रीमद्भागवत्, १२३)

आगे–

कलिजुग सम नहिं आन जुग...।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।। १०३ (ख)

यह भाव पुराणों में आया है–

तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानकर्म च।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।

गोस्वामी जी ने विप्र द्वारा शिव के प्रसादनार्थ की गई स्तुति– **'नमामीशमीशाननिर्वाणरूपं...'** इत्यादि को 'भुजंगप्रयात' छन्द में क्यों निबद्ध किया? इस जिज्ञासा का समाधान भाष्यकार ने स्वोपज्ञ बुद्धि

से कितना स्वाभाविक और तर्कसम्मत किया है। भाष्यकार का कथन है कि 'भुजंगप्रयात' का अर्थ है– 'सर्प का (या की भाँति) जाना। यहाँ सर्प होने का शाप दिया गया है। अत: स्तुति 'भुजंगप्रयात' छन्द में की गयी है। व्यंजना यह है कि 'आपके अनुग्रह से ही इसका उद्धार होगा। इस पर कृपा कीजिए।' इसी प्रकार, गोस्वामी जी के कथन– **'ग्यान पंथ कृपान कै धारा...'** का भावसाम्य भाष्यकार कठोपनिषद् से ढूँढ निकालते हैं–

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया। दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

उत्तरकाण्ड के अन्त में गोस्वामी जी कतिपय जन के लिए 'मानस'को सुनाने का निषेध करते हैं–

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विजत द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।

इसकी व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार श्रीमद्भागवत् से भाव-साम्य का स्थल प्रस्तुत करते हैं–

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम।।
एदोंषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्।। **(११.२९)**

भाष्यकार आचार्य वासुदेव सिंह की विवेचक-बुद्धि का चमत्कार भी हमें यथावसर दृष्टिगोचर होता है। गोस्वमी जी ने उत्तरकाण्ड में ही, अन्त में, फलश्रुति का निर्देश करते हुए एक स्थल पर कूट प्रयोग किया है–

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुबर हरै।।

उपर्युक्त चौपाई में गोस्वामी जी का कथन है कि जो व्यक्ति 'सत पंच' मनोमुग्धकारी चौपाइयों को सम्यक् अर्थज्ञानपूर्वक हृदय में धारण करते हैं, श्रीराम उनके दारुण अविद्याजन्य पंच विकारों– काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर– को हर लेते हैं।

यहाँ चौपाई में आये हुए 'सत पंच' के संख्या विषयक अर्थ को लेकर मानस-प्रेमी विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। 'इसका यही अर्थ है' अथवा 'गोस्वामी जी को इतनी ही चौपाइयाँ अभिप्रेत हैं'– ऐसा विनिश्चयपूर्वक कहने में कोई एकमत नहीं है। वस्तुत: गोस्वामी जी किन और कितनी चौपाइयों की ओर संकेत कर रहे हैं– यह जानना अति दुष्कर है। दूसरी बात यह है कि गोस्वामी जी का मन्तव्य केवल उत्तरकाण्ड से है अथवा समस्त श्रीरामचरितमानस से? यथार्थत: उनके मन्तव्य को जानना बालू में से तेल निकालने के समान है।

आचार्य वासुदेव सिंह ने 'सत पंच' का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त विमर्श किया है। अत: एतद्विषयक उनकी विशद् व्याख्या यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा–

१. 'सत पंच' का अर्थ है– ५१०० (यह संख्या 'अंकानां वामतो गति:' के अनुसार दी गयी है)। मानस में चौपाई छन्द प्रमुख है; दोहा, सोरठा आदि इसी में समाहित हैं। चौपाई पुरइन के पत्ते हैं, जिनसे राम की महिमा रूपी जल ढँका हुआ है। किन्तु, मानस में चौपाइयों की संख्या केवल ५१०० नहीं है। अत: यह अर्थ तर्कसंगत नहीं है। मिश्र जी के अनुसार, किसी शाखा में ५१०० चौपाइयाँ नहीं हैं। अत: यह

कल्पना अभिप्रेत नहीं है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है–

इक्यावन सत सिद्ध है चौपाई तहँ चारु।
छंद सोरठा दोहरा दस रितु दस हजार।।

२. 'सत पंच'=५०० मनोहर चौपाइयों को खोजकर। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी ५०० चौपाइयाँ हैं? क्या अन्य चौपाइयाँ मनोहर नहीं हैं?

३. 'सत पंच' = ७+५=१२ चौपाइयाँ। १२ राशियाँ हैं और वर्ष में १२ महीने होते हैं।

४. 'सत पंच'=१०५ (सौ+पाँच)।

५. 'सत पंच' = ७×५=३५ चौपाइयाँ।

काग ने गरुड़ से समस्त राम-कथा ३५ चौपाइयों में कही है। **'कहहु काग रघुपति गुन गाहा'** से **'सुनि सब राम कथा खगनाहा'** तक कुल ३५ अर्धालियाँ हैं। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार, उत्तरकाण्ड में काग भुशुण्डि ने ३५ चौपाइयों में गरुड़ को पूरी राम-कथा सुनाई। उनका आरम्भ– **'प्रथमहिं अति अनुराग भवानी'** से करके **'कहत वचन मन परम उसाहा'** तक कहा है। यही इसका ठीक अर्थ है।

८. 'सत पंच' = ७ और ५ अर्थात् ७५।

७. 'सत पंच = ५७ (अंकानां वामतो गतिः के अनुसार)।

८. 'सत पंच= सच्चा पंच। रामायण सच्चा पंच है।

९. 'सत पंच'=कोई भी पाँच-सात अर्थात् अत्यल्प, कुछ। यह लोकोक्ति है (पाँच-सात=थोड़ा-बहुत)। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस अर्थ को ठीक मानते हैं। श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है–

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भगवतोद्भवम्।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्।।

श्रीमद्भगवत्गीता के माहात्म्य में तो स्पष्ट रूप से 'सत पंच' का उल्लेख मिलता है–

'गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम्।
द्वि त्रि एकं हृदये वा श्लोकानां यः पठेन्नरः।।

तात्पर्य यह कि किन्हीं भी ५-७ चौपाइयों का मनन-स्मरण करने से फल प्राप्त हो सकता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यद्यपि आचार्य वासुदेव सिंह ने अपना कोई अभिमत नहीं दिया है, किन्तु 'सत पंच' का व्यापक विमर्श श्लाघ्य है। कथंचित् आचार्य मिश्र का अभिमत उन्हें भी स्वीकार्य हो। यहाँ हम देखते हैं कि प्रो. सिंह ने 'सत पंच' की अर्थविषयक जितनी भी सम्भावनएँ हो सकती हैं, उन सबकी खोज-खबर ली है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि एक अच्छी व्याख्या के जितने भी गुण हो सकते हैं, वे सब इस व्याख्या (भाष्य) में विद्यमान हैं। भाषा सरल और प्रवाहमय है। वाक्यों की संरचना व्याकरण-सम्मत है और उसमें कृत्रिमता का अभाव है। एक आदर्श अध्यापक द्वारा किया गया यह भाष्य ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कक्षा में श्रीरामचरितमानस बोधपूर्वक पढ़ाया जा रहा हो। यही कारण है कि उत्तरकाण्ड के गम्भीर और दुरूह विषय को सामान्य पाठक को भी समझाने के लिए भाष्य में पर्याप्त स्पष्टता और सम्प्रेषणीयता है। अतः यह भाष्य, निश्चय ही; भाष्यकार आचार्य वासुदेव सिंह की साहित्य-तरल सहृदयता को अभिव्यंजित करता है। भाष्यकार के सहृदय व्यक्तित्व को हमारी शत्-शत् श्रद्धांजलि।

इति शम्।। ●

उत्तरकाण्ड-भाष्यकार : प्रो. वासुदेव सिंह

प्रो. शिवकुमार मिश्र*

गुरुवर प्रो. वासुदेव सिंह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने इतिहास, समीक्षा एवं सम्पादन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान तो दिया ही है, एक भाष्यकार के रूप में अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए उन्होंने **'रामचरित मानस'** के अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड का जो भाष्य किया है, वह विद्वानों एवं साहित्य-सुधी जनों में सादर समादृत है। उनका शिष्य होने के नाते आज मैं उनके भाष्यकार रूप **'उत्तरकाण्ड'** पर ही अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

भारतीय जीवन-दृष्टि को रूपायित, व्याख्यायित और परिष्कृत करने वाले मध्ययुगीन कवि-चिन्तकों में तुलसीदास का स्थान बहुत ऊँचा है। अत्यन्त विषम परिस्थिति में भी कटुता, निराशा, संकीर्णता आदि नकारात्मक मनोवृत्तियों से वे मुक्त रहे। उन्होंने पूर्ण उत्तरदायित्व-बोध के साथ समग्र भारतीय परम्परा और जनता से अपना तादात्म्य स्थापित कर भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को अपने साहित्य में चित्रित किया। हिन्दी के द्वारा ही यदि भारतीय संस्कृति को समझने और उसे आयत्त करने का आग्रह हो, तो आज भी तुलसी-साहित्य ही उसका सबसे बड़ा समर्थ माध्यम है। यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि तुलसी के विराट् व्यक्तित्व एवं साहित्य का अनुशीलन जिस बारीकी के साथ गुरुदेव प्रो. वासुदेव सिंह ने किया, वह मेरे बस की बात नहीं– **'गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी।'**

कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य के भाष्यकारों की परम्परा में गुरुदेव भी एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। मानस के उत्तरकाण्ड में **'उत्तर'** शब्द की व्याख्या ही गुरुदेव की मौलिकता को उद्‌घाटित कर देती है–

मन महुँ विप्र चरन सिरु नायो।
उत्तर दिसिहि विमान चलायो।।

आपने 'उत्तर' शब्द के तीन अर्थ प्रस्तुत किये हैं। प्रथम, उत्तर दिशा–अयोध्याकाण्ड के चरित्र के दो भाग हैं। राम के राज्याभिषेक तक पूर्व चरित्र है, इसके पश्चात् वनवास की कथा उत्तर चरित्र है। श्रीराम के वनवास के समय चित्रकूट, दण्डकारण्य, किष्किंधा, लंका आदि की घटनाएँ दक्षिण दिशा में होती हैं। रावण-वध के पश्चात् श्रीराम लंका से उत्तर दिशा (अयोध्या) की ओर आते हैं।

'उत्तर' का दूसरा अर्थ है– परवर्ती या बाद का। रामकथा को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। श्रीराम के जन्म से लेकर रावण-वध तक की कथा को पूर्ववर्ती कह सकते हैं तथा रावण-वध के पश्चात् श्रीराम के राज्याभिषेक से लेकर अन्य घटनाओं को परवर्ती कह सकते हैं। इस काण्ड में परवर्ती घटनाओं का वर्णन होने के कारण इसका नाम **'उत्तरकाण्ड'** रखा गया।

* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, म.गाँ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

'उत्तर' शब्द का तीसरा अर्थ है– जिज्ञासा का समाधान, किसी व्यक्ति के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर का। मानस के प्राय: सभी काण्डों में कुछ-न-कुछ प्रश्न पूछे गए हैं। उत्तरकाण्ड में सर्वाधिक संवाद हैं। पहले छ: काण्डों में पूछे गए सभी प्रश्नों के उत्तर (जवाब) इसी काण्ड में मिलते हैं। पूर्ववर्ती छहों काण्डों के अतिरिक्त इस काण्ड में उठाई गई शंकाओं का निवारण भी इसी काण्ड में किया गया है। अत: इसका नाम **'उत्तरकाण्ड'** रखा गया।

गुरुदेव ने तुलसी के **'मानस'** पर उपलब्ध लगभग सभी भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत पुस्तकों का गहराई से अवलोकन और चिन्तन करने के पश्चात् उत्तरकाण्ड का भाष्य करने का सार्थक प्रयास किया है। गुरुदेव ने समीक्ष्य पुस्तक को १४ अध्यायों में विभक्त किया है। तुलसीदास का जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व-विश्लेषण पहले अध्याय में है। अन्त:साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर तुलसी का व्यक्तित्व-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। गुरुदेव के शब्दों में– ''अपनी रस-सिक्त वाणी से जनमास को आलोकित करने वाले महाकवि तुलसीदास का जीवन-वृत्त आज भी तिमिराच्छादित है। अपने देश में आत्मकथा लिखने की परम्परा नहीं थी। गोस्वामी जी ने अपनी क्रमबद्ध जीवनी नहीं लिखी है। उनकी रचनाओं– विनयपत्रिका, बरवै रामायण और दोहावली में उनके जीवन-सम्बन्धी कतिपय संकेत-सूत्र अवश्य मिलते हैं, जिन्हें प्रामाणिक आधार माना जा सकता है।''

द्वितीय अध्याय में तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं पर विचार किया गया है। तीसरा अध्याय 'युग बोध : यथार्थ और आदर्श रूप' में सूक्ष्म समीक्षा-दृष्टि रखी गई है। चौथे अध्याय में तुलसी के काव्य-दर्शन का विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गुरुदेव के शब्दों में– ''गोस्वामी जी का यह 'स्वान्त: सुखाय' उन्हें अपने 'स्व' तक सीमित कर देने वाला नहीं है। वह विश्व की आत्मिक एकता या 'सर्वभूतात्मैक्यवाद' का प्रतिपादन है। 'स्वान्त:' में 'अंत:' शब्द अंत:करण का प्रतीक है, जो इस समष्टि का बोधक है। इससे समष्टि-सुख का अविरोध सम्बन्ध है। 'बहुजन हिताय' से ही उनके स्वान्त:सुख का लगाव है।'' वस्तुत: गोस्वामी जी में लोकमंगल और 'काव्य-कौशल' का चरम परिपाक मिलता है–

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।...

× × ×

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

पाँचवें अध्याय में भक्ति का स्वरूप तथा छठें अध्याय में मानस-परम्परा पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। गुरुदेव का ही भाव– ''यद्यपि मानस पर पुराणों की प्रतिपाद्य शैली और विषय– दोनों दृष्टियों से प्रभाव पड़ा है, किन्तु उसे 'पुराण' कहना उपयुक्त न होगा। वस्तुत: मानस के श्रोता-वक्ता-परम्परा के मूल में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश चरित-काव्यों के लक्षण-निर्वाह की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है, पुराण का रूप देने की भावना कम।'' आचार्य द्विवेदी का भी मत है कि– ''तुलसीदास ने जब एक बार अपनी रचना को 'कथा' कह दिया, तो उन्होंने उन सब रूढ़ियों का विधिवत पालन किया, जो प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं के लिए आवश्यक समझी जाती थीं।''

सातवें अध्याय में भाष्यकार ने उत्तरकाण्ड-कथासार एवं नामकरण की सार्थकता पर विचार किया है। आठवें अध्याय में पूर्ववर्ती रामकाव्यों से मानस के **'उत्तरकाण्ड'** का उत्तर बताते हुए तुलसी की मौलिकता को उद्घाटित किया गया है। सुधी समीक्षक के रूप में आपने तुलसी कृत 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' और 'कवितावली' के 'उत्तरकाण्ड' का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। साथ ही; अपने को तुलसी

की भावनाओं से जोड़कर 'मानस' का 'उत्तरकाण्ड' तथा 'कवितावली' का 'उत्तरकाण्ड' कथानक की दृष्टि से भिन्न है– इसे स्पष्ट करने का भरपूर प्रयास भी गुरुदेव ने किया है।

नवें अध्याय में संत-असंत-लक्षण' के तहत 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा एवं लक्षण बताते हुए तुलसी की दृष्टि में सभी लक्षणों को विवेचित किया गया है। 'मानस' के **'उत्तरकाण्ड'** में ही व्यवस्थित रूप से संत-असंत-लक्षण तथा संत और भक्त का अंतर भी स्पष्ट किया गया है। यथा–

संत विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी।।

दसवें अध्याय में मानस के 'उत्तरकाण्ड' का उदाहरण देकर प्रखर समीक्षक एवं भाष्यकार ने निर्गुण-सगुण को स्पष्ट करते हुए समन्वयवादी दृष्टि पर भी विचार-मंथन किया है। अपनी शोधपरक दृष्टि का परिचय देते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचने का सार्थक प्रयास किया है। ग्यारहवें एवं बारहवें अध्याय में जीव, जगत् तथा माया सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख करते हुए भारतीय वाङ्मय में माया के स्वरूप का विवेचन, जीव का लक्षण, प्रवृत्तियाँ, अवस्थाएँ तथा मानस-रोग आदि का विशद् विवेचन किया गया है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के अनुसार माया के स्वरूप को भी निर्धारित किया है।

तेरहवें अध्याय में ज्ञान-भक्ति-विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। तुलसी की विचार-सरणि को मुख्यत: गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, स्वामी करपात्री जी, श्री विजयानन्द त्रिपाठी आचार्य केशव प्रसाद मिश्र जैसे विविध विवेचकों-टीकाकारों ने रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञान-भक्ति का समन्वित रूप देखने-परखने का प्रयास किया है। इसी कड़ी में; गुरुदेव ने भी निश्छल मन से वैदिक भक्ति, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् और भक्ति, पुराण, भागवत धर्म, दक्षिण भारत में भक्ति, तुलसी की दृष्टि में भक्ति तथा भक्ति के भेद आदि का सफल गवेषक के रूप में समीचीन मूल्यांकन किया है। गुरुदेव के शब्दों में– ''ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र के समान है, जो अपनी रक्षा स्वयं करना जानता है, जबकि भक्त शिशु-समान है, जिसकी रक्षा का दायित्व माता-पिता पर होता है।''

अंति; चौदहवें अध्याय में, सांस्कृतिक-धार्मिक क्षेत्र में एक मुख्य अवदान 'शैव-वैष्णव-समन्वय की अवधारणा' पर एक समीक्षक की दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है। मूल पाठ एवं विशद् व्याख्या गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण के अनुसार प्रस्तुत की गयी है। इस तरह कहा जाय, तो गुरुदेव प्रो. वासुदेव सिंह जी पूरे जीवन भर एक ही बात अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग सन्दर्भों में, अलग-अलग स्थितियों में कहते रहे।

श्रद्धेय गुरुवर को सादर नमन्।

●

तुलसीदास और विनय-पत्रिका

प्रो. उमापति दीक्षित*

'विनय-पत्रिका' गोस्वामी जी की एक ऐसी रचना है, जिसमें कवि ने समाज-विश्लेषण की अपेक्षा आत्म-विश्लेषण किया है, किन्तु अपने माध्यम से उन्होंने विषय-वासना और भौतिक जगत के संघर्षों में डूबे मानव की मानसिक दशा का मार्मिक उद्‌घाटन भी किया है। विनय-पत्रिका भक्तिमय समर्पण का अप्रतिम ग्रन्थ है। इसमें भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त, आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव भी आवश्यक है। इन सबसे ओत-प्रोत विनय-पत्रिका आध्यात्मिक जीवन को प्रकाशित और परिलक्षित करती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में– ''भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा विनय-पत्रिका में देखा जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं। गोस्वामी जी की रामभक्ति वह पदार्थ है, जिससे जीवन में शक्ति, सरलता, प्रफुल्लता, पवित्रता आदि सबकुछ प्राप्त हो सकती है। आलम्बन की महत्त्व-भावना से प्रेरित, दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के जितने अंग हैं– भक्ति के कारण अंत:करण की जो और-और शुभवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, सबकी अभिव्यंजना विनय-पत्रिका के भीतर पा सकते हैं।''

आचार्य वासुदेव सिंह एवं उनके सुपुत्र डॉ. हिमांशु शेखर सिंह द्वारा 'तुलसीदास और विनय-पत्रिका' नाम से विनय-पत्रिका के विविध पक्षों पर यह अप्रतिम ग्रन्थ तैयार किया गया है। विषय को सर्वांगपूर्ण बनाने हेतु इसे दो खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित है और द्वितीय खण्ड में विनय-पत्रिका पर आलोचनात्मक लेख प्रस्तुत किया गया है। प्रथम खण्ड में गोस्वामी जी का जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व-विश्लेषण, उनकी प्रामाणिक रचनाओं का परिचय, उनका काव्य-दर्शन, भक्ति का स्वरूप, रामकथा के सांस्कृतिक सन्दर्भ, तुलसी का विनय-भाव, तुलसी की लोकतात्विक दृष्टि, रामकथा के सांस्कृतिक सन्दर्भ, रामकथा में रूपक-तत्व तथा द्वितीय खण्ड में विनय-पत्रिका की स्वरूप-संरचना, भक्ति-भावना तथा प्रपत्तिमूला भक्ति, दार्शनिक सिद्धांत तथा काव्य-सौन्दर्य गम्भीरतापूर्वक विवेचित किया गया है।

गीति-काव्य में कवि अपने आत्म की अभिव्यक्ति करता है। वस्तुत: स्वानुभूति ही गीति-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आत्म-निवेदनपरक गीति-साहित्य में 'विनय-पत्रिका' की समता की दूसरी रचना हिन्दी साहित्य में नहीं है। आलोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि इसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ आत्म-निवेदनपरक गीति साहित्य में भी होनी चाहिए। इसके पदों में मन को जगत की ओर से खींचकर प्रभु के चरणों में अपने को लगाने के लिए उद्‌बोधन है। यहाँ एक ओर संसार की असारता और उसके मिथ्यात्व

* विभागाध्यक्ष– नवीकरण एवं भाषा प्रसार विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (उ.प्र.)-२८२००५

का प्रतिपादन किया गया है, दूसरी ओर यह भी समझाया गया है कि राम से बढ़कर दूसरा स्वामी नहीं है। वे सर्वसमर्थ और करुणासिंधु हैं, इसलिए तुलसी ने उनके सम्मुख अपने को सभी प्रकार से हीन, मलीन और निराश्रय कहा है, जिससे वे द्रवित होकर दास को अपने चरणों की शरण में रख लें और उसके जन्म-जन्मांतर की साध पूरी हो।

'विनय-पत्रिका' के ही एक प्रसिद्ध पद में गोस्वामी जी ने कहा है–

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो।

तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं। उनकी भक्ति दास्य-भाव की है। उन्होंने सर्वतोभावेन अपने इष्ट के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया है। अपने मूढ़ मन की भर्त्सना करते हुए अपनी विवशता तथा अपने कृत्यों पर खीझ व्यक्त करते हुए आत्म-निवेदन की झलक देखिए–

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
या के लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो।।
शीतल मधुर पीयूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनि खोयो।
बहु भाँतिन करत मोह-बस वृथहिं मन्द गति बारि बिलोयो।।

तुलसी की भक्ति व्यक्ति और समाज– दोनों का कल्याण करने वाली है। व्यक्तित्व का परिष्कार अहंकार के शमन से होता है। इसलिए सम्पूर्ण 'विनय-पत्रिका' में तुलसी ने अहंकार के शमन का निर्देश किया है। सामाजिक कल्याण या लोकहित के लिए उन्होंने जिस भक्ति का उल्लेख किया है, वह एक प्रकार से जीवन-दर्शन है। वे कहते हैं–

'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ संयुत बिरति बिबेक।'

इस कथन में केवल भक्ति की बात न कहकर भक्ति-पथ की बात कही गयी है। इस पथ में भक्ति के अतिरिक्त विरति और विवेक का भी समन्वय हो गया है। तुलसी की भक्ति-पद्धति में ज्ञान, कर्म और भक्ति– तीनों साधनों का समन्वय हुआ है। यह भक्ति सभी सुखों की खानि मणिरूपा है, जिसके शाश्वत प्रकाश में जीवन का पथ आलोकित हो सकता है। तुलसीदास जी ने जप, तप, नियम, योग, संयम, व्रत, दान, तीर्थाटन, विद्या, विनय, विज्ञान आदि सभी सत्कार्यों की गणना की है। उन्होंने रामभक्ति की भूमिका के अन्तर्गत ही अन्य देवी-देवताओं की भक्ति को भी माना है। जीवन की सभी समस्याओं का समाधान तुलसी ने रामभक्ति में ही देखा है। मानव-समाज के समस्त नैतिक कार्यों का परिणाम और मानव-जीवन में पूज्य सभी देवी-देवताओं की भक्ति का अंतिम फल रामभक्ति की प्राप्ति ही मानते हैं।

भक्ति से तात्पर्य भगवान् की सेवा से है। इसकी व्युत्पत्ति 'भज सेवायम्' धातु से मानी गई है। सामान्य व्यवहार में अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा-समन्वित प्रेम को ही भक्ति कहा जाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसके विषय में कहा है– ''भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।'' तदनुसार 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी जी ने भक्ति-सिद्धान्त के विविध पुष्प-रसों को निचोड़कर उड़ेल दिया है। तुलसी की दृष्टि में ब्रह्मादिक त्रिदेव राम के ही अंश हैं। रामचरितमानस में तुलसी ने ब्रह्म की व्यावहारिक विवेचना की है और उसी को विनय-पत्रिका में सैद्धांतिक रूप दे दिया है। विभिन्न दर्शन-पद्धतियों और भक्ति-शास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रन्थों से सम्यक् प्रभाव ग्रहण कर उनका यथा आवश्यक उपयोग भी किया है। अनुभूति-प्रधान होने के कारण विनय-पत्रिका की प्रभविष्णुता श्लाघ्य है। वैसे तो गोस्वामी जी

ने अपने सभी ग्रन्थों में राम के सामने अपनी दीनता स्वीकार की है, परन्तु विनय-पत्रिका उनके आत्म-निवेदन से पूर्ण होने के कारण दैन्य-भाव से अधिक पूर्ण है–

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी।।

गोस्वामी जी ने राम के सम्मुख अपने आपको दीन ही नहीं, भिखारी भी घोषित कर दिया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है– ''भक्ति-मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म-भावना का भावनात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईस्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्व-चिंतन या ज्ञान की प्राकृत-पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है।''

तुलसी ने भक्ति के नौ साधनों का भी उल्लेख किया है– भजन, शरणागत-भाव, चरित्र-श्रवण, मनन-कीर्तन-सत्संग, संत-स्वभाव-प्राप्ति का प्रयास, स्वरूप का ध्यान, तीर्थ-सेवन, ब्राह्मण-सेवा तथा शिव-हनुमान की भक्ति। इसी के साथ तुलसी की भक्ति की कुछ अपनी विशिष्ट विशिष्टताएँ भी हैं– भक्ति का सामाजीकरण, मानव की महत्ता, मोक्ष की अवहेलना आदि। उनका क्रांतिकारी विधान यह रहा है कि उन्होंने भक्ति को कुल, ज्ञान, सम्पत्ति आदि की समीक्षा से मुक्त कर मानव-मात्र के लिए सुलभ बना दिया। इसीलिए तुलसी ने उन भक्तों का ही बार-बार स्मरण किया, जो नीच जाति के थे। शबरी, निषाद, गणिका आदि दीन-दलितों पर ही राम की विशेष कृपा है। वे गरीब-निवाज, पतित-पावन, दीन-दयालु हैं।

तुलसी उत्कृष्ट कोटि के निश्छल भक्त थे। उन्होंने अनन्य भावना को उभारते हुए सिद्ध किया है कि प्रभु के प्रति निस्वार्थ प्रेम ही भक्ति है। उनकी भक्ति-भावना में गहन प्रेम, अटूट श्रद्धा, परम विश्वास एवं गहन प्रतीति के साथ ही प्रेम की तन्मयता और अनन्यता का भाव बराबर बना रहा है। अनन्य भक्त के लिए अपने इष्ट को छोड़कर दूसरा कोई नहीं, वही सब कुछ हैं–

ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो।
तात, मात, गुरु सखा, तू सब बिधि हितु मेरो।।
तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावै।
ज्यों-ज्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै।।

●

सूर-सुधा : एक मूल्यांकन

डॉ. सुमन तिवारी *

हिन्दी साहित्य-जगत् के ख्यातिलब्ध लेखकों में डॉ. वासुदेव सिंह एक बड़ा नाम है। वे बड़े लेखक हैं। उनके पास एक बड़ा विजन है, स्वप्न है और दृष्टि है। उन्होंने प्राचीन तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर लगभग सोलह पुस्तकों की रचनाएँ की हैं। इनकी रचना 'सूर-सुधा' प्रशासनिक सेवा के सन्दर्भ में लिखी गयी एक महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें 'सूरसागर' से सम्बन्धित लगभग १२५ पदों का मूलपाठ सन्दर्भ, व्याख्या तथा टिप्पणी के साथ प्रकाशित है। महाकवि सूरदास के विषय में वैसे तो अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका है, परन्तु यह खेद का विषय है कि आज भी उनके जीवन और साहित्य के विषय में विभिन्न मत अस्तित्त्व में हैं। इस विषय में दृढ़तापूर्वक 'इदमित्थम्' कहना दुष्कर प्रतीत होता है। वस्तुत: सूरदास जी की जन्मतिथि और जीवन-वृत्त के विषय में सन्देह के लिए बहुत स्थान है। किन्तु, उनके अस्तित्व के विषय में 'ननु-नच' करने की लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं है। सूरदास के जीवन-चरित्र का निर्धारण करने के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री को अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य– दो रूपों में विभक्त कर देखा जा सकता है। सूरदास की जन्मतिथि के सम्बन्ध में डॉ. वासुदेव सिंह ने अपनी रचना 'सूर-सुधा' में उनके दो ग्रन्थों– 'सूर सारावली' तथा 'साहित्य लहरी' के पदों के आधार पर विवेचन किया है–

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।।

इस पद के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सूर सारावली' की रचना सूरदास ने ६७ वर्ष की अवस्था में की थी। सूरदास जी की जन्मतिथि पर प्रकाश डालने के लिए उन्होंने 'साहित्य लहरी' का यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है–

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संवत पेख।

उपर्युक्त पद में आये 'रसन' शब्द को लेकर विद्वानों ने आपस में अनेक विवाद किये। डॉ. वासुदेव सिंह ने डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि– ''वर्मा जी 'अंकानां वामतो गति:' मानते हुए मुनि का सात, रसन का एक, रस का छ: एवं दसन गौरीनन्द का एक अर्थ लेकर 'साहित्य लहरी' का रचना-काल १६१७ मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक विद्वानों के विचारों का उल्लेख करते हुए अंत में यह माना है कि सूरदास जी का प्रादुर्भाव विक्रम की १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।'' (पृ. ७-८)

सूरदास जी की जन्मतिथि की ही भाँति उनके जन्मस्थान, वंश, जाति, कुटुम्ब तथा माता-पिता

* सहायक आचार्य– हिन्दी विभाग, आर्य महिला पीजी कॉलेज, वाराणसी

के विषय में भी अनेक भ्रान्तियाँ हैं। सूरदास जन्मान्ध थे अथवा नहीं? यह प्रश्न भी विद्वानों के लिए विचारणीय है। कुछ विद्वान् उनका उत्कृष्ट शृंगार-वर्णन देखकर उन्हें जन्मान्ध नहीं मानते हैं। उनको जन्मान्ध न मानने का दूसरा कारण जनश्रुतियों पर आधारित है। 'सूर-सुधा' में वर्णित है कि सूरदास जी सीही गाँव की किसी रूपवती स्त्री पर आसक्त हो गये थे और अंत में उसी के द्वारा नेत्र फुड़वाकर कृष्ण के सौन्दर्य-चिन्तन में निरत हो गये। किन्तु, आज यह स्पष्ट हो चुका है कि यह जनश्रुति सूरदास के सम्बन्ध में न होकर विल्व मंगल सूरदास के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। अनेक तथ्यों तथा पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि सूरदास जी जन्मान्ध थे। 'सूर-सुधा' में एक स्थान पर यह भी उल्लेख मिलता है कि सूरदास का अकबर तथा तुलसीदास जी से मिलन हुआ था। अकबर ने सूरदास जी से अपना यशोगान करने को कहा, परन्तु– ''मन में रह्यौ नाहिंन ठौर'' गाकर उनके यहाँ से वे चल दिये थे। 'सूर' एवं 'तुलसी' से मिलन का उल्लेख 'मूल गोसांई चरित' तथा 'प्राचीन वार्ता रहस्य' में भी मिलता है। सूरदास जी की मृत्यु के सम्बन्ध में सुनिश्चित जानकारी के लिए कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलता है, परन्तु अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इनकी मृत्यु १७वीं शती प्रमाणित होती है। अन्य बातों की भाँति सूर-साहित्य भी आज विवाद का विषय बना हुआ है। ऐसा माना जाता है कि जन्मान्ध होने के कारण उन्होंने स्वयं कुछ भी नहीं लिखा है। उनके सहयोगी कीर्तनकारों तथा भक्तों ने उनकी रचनाओं का संग्रह किया था। डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''डॉ. प्रभुदयाल मीतल कृष्ण-भक्ति के प्रमुख अन्वेषी रहे हैं। उनके अथक परिश्रम से सूरदास कृत ६१ ग्रन्थों का पता चला, परन्तु प्रामाणिकता की गहराई पर विचार करने के पश्चात् सूर सारावली, साहित्य लहरी, सूरसागर तथा विनय पदावली ही प्रमाणित रूप से सूर-कृत माना गया है।'' (सूर-सुधा, पृ. १४)

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कृष्णकाव्य-परम्परा को प्रवाहित करने वाले प्रथम कवि 'मैथिल कोकिल' विद्यापति को माना जाता है। विद्यापति की रचनाओं पर गीत गोविन्दकार जयदेव का विशेष प्रभाव दिखायी देता है। डॉ. वासुदेव सिंह कृष्णकाव्य-परम्परा का आरम्भ अवतारी कृष्ण के पूर्णावतार से मानते हुए उन्हें सात्विक गुणों से सम्पन्न, कर्मयोगी, पूर्णज्ञानी, आनन्दस्वरूप तथा सत्-चित्-आनन्द से पूर्ण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, ''भारतीय वाङ्मय में श्रीकृष्ण के स्वरूप-विकास के पाँच सोपान मिलते हैं– वैदिक कालीन कृष्ण, उपनिषदों के कृष्ण, महाभारत के कृष्ण और श्रीमद्भागवत् के कृष्ण।'' कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक कालीन कृष्ण और महाभारत कालीन कृष्ण– दोनों अलग-अलग हैं। परन्तु, इस प्रकार की कल्पना को निराधार बताते हुए डॉ. वासुदेव सिंह का मत है कि वस्तुतः कृष्ण एक ही थे और क्राइस्ट के जन्म की कई शताब्दियों पूर्व ही उनके चरित्र का विकास हो चुका था। कृष्ण का वर्णन पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में काव्य तथा नाटकों के माध्यम से विस्तार पाता है। कृष्ण के साथ-साथ राधा का वर्णन करते हुए डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''राधा की कल्पना भारतीय काव्य और दर्शन की महत्तम उपलब्धि है। वह तारुण्य तथा लावण्य की मनोरम मूर्ति हैं, भक्ति तथा अनुरक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति हैं, प्रेमाभक्ति की अपूर्व निधि हैं। कवियों, भक्तों तथा शिल्पियों ने उनकी नित्य नूतन रमणीयता को अपनी कला का आधार बनाया है। वह रासेश्वरी हैं और कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। वह सोलह हजार गोपियों की प्रतिनिधिरूपा हैं।'' (पृ. १९)

श्रीकृष्ण की इस लीला-सहचरी का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है। राधा का वर्णन ईसा के बाद तीसरी शताब्दी से मिलता है। महाभारत के दसवें मण्डल में एक स्थान पर वर्णित है कि–

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः।।

'अनया राधितो' के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ राधा का ही वर्णन होगा। भागवत् के अतिरिक्त पद्मपुराण, देवी भागवत्, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, मत्स्यपुराण आदि में राधा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी राधा-कृष्ण का वर्णन मिलता है। बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रचार-प्रसार का श्रेय 'अष्टछाप' के कवियों को है। इन अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। बल्लभाचार्य ने तो इन्हें 'भक्ति का समुद्र' तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'पुष्टिमार्ग का जहाज' की संज्ञा प्रदान की है। श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध की कृष्ण-लीला को तीन रूपों में विभक्त कर सूरदास जी ने इनका अत्यन्त सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कुछ विद्वान् 'सूरसागर' को 'श्रीमद्भागवत्' का अनुवाद मानते हैं, परन्तु भ्रमरगीत की नयी भाव-भूमि तैयार कर सूरदास जी ने अपनी मौलिकता का ज्वलंत प्रमाण दिया है।

कृष्ण-भक्त सूरदास जी ने अपनी भक्ति में प्रेमतत्त्व को अधिक प्रधानता प्रदान की है, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भगवत्-प्रेम से ही भव-सागर को पार किया जा सकता है। परन्तु, इसके लिए भक्त को एक निष्काम योगी की भाँति राग-द्वेष, मान-अपमान का त्याग कर प्रभु के चरणों में स्वयं को समर्पित करना होगा। डॉ. वासुदेव सिंह भक्ति-परम्परा का आरम्भ वेदों से स्वीकार करते हुए कहते हैं कि– ''उस युग के प्रमुख देवता इन्द्र, वरुण तथा अग्नि थे। विष्णु को उस समय कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के समय तक आते-आते विष्णु को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ। भक्ति के विकास में भागवत् धर्म का विशिष्ट स्थान है। श्रीकृष्ण को भागवत् धर्म का संस्थापक माना जाता है। ज्ञान, शौर्य, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज– इन छः गुणों से युक्त होने के कारण 'वासुदेव' ही 'भगवान्' कहे जाते हैं।'' (पृ. २८)

'भक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति के दो भेद– वैधी तथा रागानुगा भक्ति– को स्वीकार किया गया है। वैधी भक्ति शास्त्रानुमोदित विधि है और रागानुगा भक्ति प्रेम पर अवलम्बित है। रागानुगा भक्ति के दो भेद– 'काम रूपा' तथा 'सम्बन्ध रूपा'– माना गया है। गोपियों की भक्ति 'काम रूपा' है। 'सम्बन्ध रूपा' भक्ति के चार प्रकार– दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य– माने गये हैं। दास्य भक्ति के हनुमान, सख्य भक्ति के उद्धव, अर्जुन और सुदामा, वात्सल्य भक्ति के नन्द, यशोदा, वसुदेव और देवकी तथा दाम्पत्य भक्ति के राधा और रुक्मिणी को आदर्श माना जाता है। भक्ति की परम्परा में सूरदास जी की भक्ति बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग से प्रभावित है। पुष्टि का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' होता है। बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व सूरदास जी निर्गुणियाँ भजन गाया करते थे। वे राम तथा कृष्ण में कोई भेद नहीं मानते थे। सूरसागर के 'नवम् स्कन्ध' में पूरी राम-कथा का वर्णन मिलता है। वस्तुतः वे चतुर्व्यूह सिद्धान्त में आस्था रखने वाले हैं। रामावतार में वे राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा कृष्णावतार में वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के प्रति आस्थावान थे। इन अवतारों में शक्ति रूपा सीता तथा राधा भी भाग लेती हैं। डॉ. वासुदेव सिंह ने अपनी रचना 'सूर-सुधा' में लिखा है कि– ''सामान्यतः सूर रागानुगा भक्ति के अनुयायी हैं, किन्तु उन्होंने अन्य प्रकार के भक्ति-भावों के प्रति भी आस्था व्यक्त की है। भक्ति के अनेक भेदों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि सूरसागर के ३९४ पद सकाम तथा निष्काम भक्ति से सम्बन्धित, ३९४ पद तजो गुणी, रजोगुणी, सात्विकी तथा शुद्धा भक्ति से सम्बन्धित तथा ४४९ पद नवधा भक्ति से सम्बन्धित हैं।'' (पृ. ३३)

स्वामी बल्लभाचार्य का दर्शन 'शुद्धाद्वैतवाद' का प्रतिपादन करता है। शंकराचार्य ने जहाँ-जहाँ माया का अस्तित्व बताया, बल्लभाचार्य ने वहाँ-वहाँ ब्रह्म का प्रतिपादन किया। जीव के सम्बन्ध में बल्लभाचार्य का मत है कि जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण सत्य है। जगत् के सम्बन्ध में बल्लभाचार्य का मत

है कि जगत् संसार का पर्यायवाची नहीं है। जगत् सत्य है। वह ब्रह्म का सत् रूप है, किन्तु संसार जीव के अहंतात्मक मन की उपज है। बल्लभाचार्य माया को भिन्न पदार्थ नहीं मानते। उसे भगवान् की सर्वभावन सामर्थ्यरूपा शक्ति कहते हैं। वे माया को ब्रह्म की शक्ति तथा सर्जन-कला मानते हैं। बल्लभाचार्य के इन समस्त सिद्धान्तों का दर्शन सूरदास जी की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने ब्रह्म, माया, जगत् तथा जीव का जो निरूपण किया है, वह बहुत कुछ महाप्रभु के सिद्धान्तों के अनुरूप है। सूर-सुधा में डॉ. वासुदेव सिंह जी इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन पुष्ट प्रमाणों के द्वारा करते हैं। (पृ. ४३) 'सूर सारावली' का उदाहरण देकर उन्होंने स्पष्ट किया है कि– ''कृष्ण ही परमब्रह्म परमेश्वर हैं। वह अवतरित होकर लीला करते हैं। वह अखण्ड रस-रूप हैं। वह सनातन तत्त्व हैं और घट-घट में परिव्याप्त हैं।'' सूरदास ने बल्लभाचार्य के समान ही जीव के तीन भेदों को स्वीकार किया है। गोपियाँ शुद्ध जीव की कोटि में आती हैं, जो उनकी लीला सहचरी हैं। जीव प्रभु का अंश है, किन्तु माया के प्रभाव से वह आत्मस्वरूप को भूलकर संसार में भटकने लगता है। भ्रमरगीत के 'गोपी-उद्धव-संवाद' में भी उन्होंने मायावाद का खण्डन किया है। सूरदास जी के रास, मुरली, वृन्दावन आदि का वर्णन प्रतीकात्मक है। उसका आध्यात्मिक पक्ष बल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के ही अनुरूप है।

सूरदास जी वात्सल्य-वर्णन के श्रेष्ठतम कवि माने जाते हैं। इनके वात्सल्य-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने आलम्बन के रूप में पुत्र ही नहीं, पुत्री को भी स्वीकार किया है। कृष्ण के साथ ही राधा के प्रति भी वात्सल्य-भाव का चित्रण सूरदास जी की रचनाओं में मिलता है। डॉ. वासुदेव सिंह ने अपनी कृति 'सूर-सुधा' में लिखा है कि– ''शास्त्रीय दृष्टि से कृष्ण वात्सल्य रस के आलम्बन हैं, 'नन्द-यशोदा' आश्रय हैं, कृष्ण की विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ उद्दीपन हैं। उन क्रीड़ाओं को देखकर 'नन्द-यशोदा' में उत्पन्न होने वाले सात्विक भाव– हर्ष, पुलक, रोमांच आदि– अनुभाव हैं तथा उनका कभी शंकित होना, कभी गर्व करना, कभी आनन्दित होना– संचारी है।'' (पृ. ४८)

वात्सल्य रस का यह अलौकिक वर्णन कृष्ण-जन्म से ही आरम्भ होता है, परन्तु गोकुल-लीला तथा वृन्दावन-लीला के अधिकांश पद वात्सल्य रस के अन्तर्गत आते हैं। कृष्ण की बाल-लीला का जितना सजीव चित्रण सूरदास जी की रचनाओं में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण बड़े होकर अपनी विविध मनोरम क्रीड़ाओं के द्वारा अपनी माता को आनन्दित करते हैं। कभी तंग करते हैं, कभी मैया-मैया पुकारते हैं, कभी चोटी बढ़ाने की जिद् करते हैं। डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''कृष्ण बाल-सुलभ चेष्टाओं के साथ ही अलौकिक कृत्य भी करते हैं। उनकी माधुर्य लीला के साथ ऐश्वर्य लीला का वर्णन कृष्ण के अवतारी स्वरूप का व्यञ्जक है। पूतना-वध, यमलार्जुन-उद्धार, मुख में ही अखिल ब्रह्माण्ड को दिखाना आदि कार्य कृष्ण को सामान्य शिशु से अलग कर, उनके ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करता है। उनके लोकरंजक लीला का प्रयोजन भक्ति की महिमा का उद्घाटन करना है।'' (पृ. ५१)

यह अगम-अगोचर ब्रह्म भक्तों के वश में रहता है तथा उनकी मनोकामनाओं को पूर्ण करने के लिए नाना प्रकार के चरित्र करता है। इस विषय में तुलसीदास जी की मान्यता भी यही है कि– ''निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्तों के कल्याण के लिए मनुष्य रूप में अवतरित होता है तथा अपनी लीलाओं के द्वारा उनकी इच्छा की पूर्ति करता है। रसखान की भी मान्यता है कि वेद जिस ब्रह्म को अछेद, अभेद, अखण्ड, अनन्त बताते हैं– ''ताहि अहीर कि छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पे नाच नचावैं।''

सूरदास जी के वात्सल्य-वर्णन की भाँति ही उनका शृंगार-वर्णन भी हिन्दी साहित्य में अनूठा है। कृष्ण तथा गोपिकाओं का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक तथा अलौकिक है। शुक्ल जी के शब्दों में– ''इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप

में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्बी-चौड़ी कथा खड़ी होती है।'' (सूरसागर- पृ. १३२)

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इसकी विशिष्टता का निरूपण करते हुए कहते हैं कि– ''सूरसागर में गोपियों की विविध प्रेम-लीलाओं का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि इसे स्त्री-चरित्र का विशाल काव्य कहा जाय, तो अनुचित न होगा। माता के वात्सल्य में तो वह बेजोड़ है ही; प्रेमिका का, पत्नी का, कुमारी का, गृहिणी का, गोपवधू का, परिहास पेशला का, चुहल करने वाली का, विरहिणी का, वासकसज्जा का, प्रोषित पतिका का वह अद्‌भुत, स्वाभाविक और सरस चित्रण करता है।'' (सूरदास : विविध सन्दर्भों में, सं. जगन्नाथ सेठ, पृ. ०२)

सूरदास जी ने शृंगार के संयोग तथा वियोग– दोनों रूपों का सजीव चित्रण किया है। चीर-हरण, रासलीला के अतिरिक्त अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जहाँ संयोग शृंगार का वर्णन है। वियोग शृंगार नंद तथा यशोदा के वात्सल्यजन्य वियोग से आरम्भ होता है, जिसमें आचार्यों द्वारा वर्णित विरह की समस्त दशाएँ वर्णित हैं। सूरदास जी ने कृष्ण तथा गोपियों के महारास का भी अत्यन्त जीवन्त चित्रण उपस्थित किया है। महारास दिव्यभाव का अमृतानन्द है। वहाँ रस-ही-रस है। वह भारतीय जीवन-दर्शन में सामाजिक उल्लास तथा सामंजस्य का प्रतीक है। वह प्रेम-प्रदर्शन या कौमुदी-महोत्सव मात्र नहीं; बल्कि जाति, लिंग, भेद, वर्ग आदि से परे एक सहभाव या साहचर्य की प्रतीति है। यहाँ नर तथा नारी में कोई भेद नहीं रह जाता। जब इसे विषयों से उदासीन होकर देखते हैं, तब नारी संसार की आदि शक्ति के रूप में दृष्टिगत होती है। रासलीला ईश्वर से मिलन की मधुर कथा है। यह शरणापन्न स्थिति है। गोपिकाएँ कृष्ण के चरणों में पूर्णतया समर्पित हैं। इन्हें संसार की कोई चिन्ता नहीं है। समस्त सांसारिक दुर्बलताएँ समाप्त हो गयी हैं। सूरदास जी ने शारदीय रास का विस्तृत वर्णन किया है। डॉ. वासुदेव सिंह ने 'सूर-सुधा' में लिखा है कि– ''शरदकालीन नैसर्गिक सुषमा को देखकर श्रीकृष्ण के मन में रास की इच्छा जाग्रत होने लगी। वृन्दावन का रम्य वातावरण, चाँदनी-युक्त धवल रात्रि, यमुना का तट, त्रिविध समीर– ऐसे मोहक वातावरण में श्रीकृष्ण मुरली बजाते हैं।'' (पृ. ७१)

भागवत्कार ने भी लिखा है कि– ''काम का विनाश कर डालने वाले उस वंशी-गीत को सुनकर श्रीकृष्ण द्वारा ब्रजांगनाओं के मन का अपहरण कर लिया गया। ऐसा उदात्त गीत, जिसने काम का उच्छेद व उदात्तीकरण कर दिया। वंशी-ध्वनि से आबद्ध गोपिकाएँ यमुना तट पर दौड़ी चली जाती हैं। यहाँ पूर्ण ब्रह्म जीवों पर कृपा करने के लिए मनुष्य रूप धारण कर विविध लीलाएँ करते हैं। इस रासमण्डल में सभी प्रेम-पुलकित हैं। श्रीकृष्ण के साथ नृत्य मानों महामुक्ति है। यही जीवन का छलकता हुआ प्रेम है, जो मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखाता है।

शारदीय रास के अतिरिक्त बासन्ती रास का भी वर्णन सूरदास जी की रचनाओं में मिलता है, जिसका विस्तृत वर्णन 'सूर-सुधा' में वर्णित है। बासन्ती रास के अन्तर्गत आने के कारण इसे 'फाग' या 'फगुवा' के नाम से भी जाना जाता है। आज भी बसन्त ऋतु में, होली के अवसर पर, उत्तर भारत में 'फगुवा' गाने का प्रचलन है। डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''सूरदास में भी तुलसी के समान ही लोक-वेद का समन्वय मिलता है। उन्होंने प्रचलित लोक-रीतियों को अध्यात्म के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। फागु की लोक-प्रचलित क्रीड़ा को भी उन्होंने भक्ति-तत्त्व से समन्वित कर दिया है। उनके मतानुसार, रास सामान्य नहीं है। वृन्दावन ही वह बैकुण्ठ है, जो प्रभु का नित्यलीला धाम है।'' (पृ. ७५)

रासलीला की ही भाँति सूरदास जी का 'भ्रमरगीत' भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भ्रमरगीत का मूल स्रोत तो श्रीमद्‌भागवत् है, परन्तु भागवत् तथा सूरदास जी के भ्रमरगीत में अंतर

है। इस अंतर को स्पष्ट करते हुए डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''भागवत् के उद्धव कृष्ण के प्रिय सखा, बृहस्पति के शिष्य और परम तत्त्वज्ञानी हैं। श्रीकृष्ण उन्हें अपने माता-पिता को सांत्वना देने के लिए तथा गोपिकाओं को आश्वासन देने के लिए ब्रज भेजते हैं। सूर के उद्धव भक्ति-मार्ग के विरोधी हैं। वे अद्वैतवादी, अहंवादी तथा ज्ञानमार्गी हैं। वे योग-साधना में विश्वास करते हैं। भागवत् के उद्धव श्रीकृष्ण का सन्देश देते हैं, परन्तु सूर के उद्धव अपने ज्ञान-योग का उपदेश देते हैं। सूर के भ्रमरगीत में ज्ञान, योग, भक्ति, निर्गुण, सगुण आदि पर वाद-विवाद दिखाया गया है, जो भागवत् में नहीं है। भागवत् में कृष्ण का सन्देश भक्तिपरक ही है; परन्तु सूर के उद्धव भक्ति का खण्डन करके ज्ञान, योग और निर्गुण का प्रतिपादन करते हैं। भागवत् में उद्धव का रथ तथा वेश-भूषा कृष्ण के सदृश ही बताया गया है, किन्तु सूर ने उन्हें कृष्ण के समान श्याम वर्ण का बताकर भ्रमर से ही तादात्म्य स्थापित किया है। भागवत् के उद्धव सान्ध्य बेला में ब्रज में प्रवेश करते हैं, गोपियों को उनके आगमन का समाचार प्रात:काल चलता है। किन्तु सूर के उद्धव दिन में ही ब्रज में आते हैं और गोपियाँ उन्हें दूर से ही ब्रज में आता हुआ देखती हैं।'' (पृ. ७९)

सूरदास जी का भ्रमरगीत साहित्यिक तथा धार्मिक– दोनों दृष्टियों से उस समय के वैष्णव आन्दोलन का चित्र उभारता है। उन्होंने 'भ्रमरगीत' के द्वारा भक्ति के सहज मार्ग का प्रतिपादन किया है तथा भ्रमरगीत के माध्यम से योग और ज्ञान का विरोध करके 'भगति के सूधो मारग' की प्रतिष्ठा की है। इसीलिए यह सांस्कृतिक सुरक्षा का अभेद्य कवच है।

सूरदास जी की काव्य-भाषा पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने अपनी कृति में वर्णन किया है कि सूरदास जी की भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें सहजता तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। माधुर्य गुण से सम्पन्न, पदों की वर्ण-योजना और संगीतात्मकता के साथ ही वात्सल्य और श्रृंगार के लिए जिस मधुरावृत्ति की अपेक्षा होती है, वह सूर की रचनाओं में सहज ही प्राप्त है। डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है कि– ''सूरदास जी की रचनाओं में जिन कृष्ण तथा गोपिकाओं की लीला-मान का वर्णन मिलता है, वे एक सामान्य घराने के बालक-बालिकाएँ हैं। कृष्ण का लालन-पालन भी इसी तरह के सामान्य परिवार में हुआ है, जिसका प्रतिनिधित्व आज भी गाँवों की अस्सी प्रतिशत जनता करती है। कृष्ण का साधारण बालक की तरह धूल में लोटना, गाय चराना, मिट्टी खाना, गोपिकाओं की गगरी फोड़ना, दही-मक्खन तथा रोटी खाना आदि प्रसंग किसी आभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित न होकर एक सामान्य पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित हैं। कृष्ण का समग्र जीवन एक आम आदमी का जीवन है। सूर की राधा भी कोई राजकुमारी नहीं; बल्कि एक साधारण कृषक वृषभानु की पुत्री है। उसमें आभिजात्य बालिका का दर्प नहीं है, बल्कि भोली-भाली कृषक बालिका का सहज क्रीड़ानुराग है। इस प्रकार, सूरदास जी ने अपने काव्य में पिछड़े वर्ग के ऐसे लोगों को महत्त्व प्रदान किया है, जिनकी समस्याओं के समाधान के लिए आज भी सभी राजनीतिक दल घोषणा करते हैं।'' (पृ. १४)

प्रस्तुत रचना– 'सूर-सुधा'– में विनय, भक्ति तथा गोकुल-लीला सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पदों की व्याख्या भी संकलित है, जो काव्यगत सौन्दर्य के साथ उद्घाटित है। सूरदास द्वारा रचित 'सूर-सागर' से सम्बन्धित पदों पर समीक्षात्मक निबन्ध भी संकलित हैं, जिनमें सूरदास के जन्म से लेकर कृष्णकाव्य-परम्परा में सूरदास का अवदान, बल्लभ-दर्शन का सूरदास की रचनाओं पर प्रभाव, भक्ति, वात्सल्य, श्रृंगार, भ्रमरगीत की दार्शनिक तथा साहित्यिक महत्ता आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी भी उपलब्ध है। सूरदास की काव्य-प्रतिभा को समझने के लिए यह रचना अत्यन्त उपयोगी है।

●

सूर : सन्दर्भ और दृष्टि

प्रो. उमापति दीक्षित *

सौन्दर्य और तद्जन्य प्रेम को परखने की जैसी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूरदास जी को प्राप्त थी, वैसी हिन्दी साहित्य के अन्य कवियों को नहीं। उन्होंने मानव के सज्जित और स्वाभाविक बहिरंग रूप, चेष्टाओं और अन्तरंग अनुभूतियों के निरीक्षण की जैसी प्रतिभा प्राप्त की थी, वैसी ही सृष्टि में प्रसारित यावत् सौन्दर्य को परखने की भी। भक्तिकाल में सूरदास ही एक ऐसे व्यक्ति हुए, जिनके विषय में यह निश्चित करना सहज नहीं कि कवि सूरदास का व्यक्तित्व सबल था अथवा भक्त सूरदास का। प्रख्यात् साहित्यकार प्रो. वासुदेव सिंह एवं डॉ. केशव प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' में सूर के विविध पक्षों के मर्म को भारतवर्ष के शीर्षस्थ लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों एवं चिन्तकों ने अपने गहन चिन्तन से सम्पृक्त कर ग्रन्थ की महत्ता को अक्षुण्ण कर दिया है।

सूरदास की बहुमुखी प्रतिभा के बारे में एक ही जगह विविध विषयों पर उच्चकोटि के लेखों को लिपिबद्ध करके सम्पादक द्वय ने शोथार्थियों एवं विद्यार्थियों का जो हित किया है, उसके महत्त्व को शब्दों में बाँध पाना दुस्तर कार्य है। ग्रन्थ में जहाँ महाकवि और अनन्य भक्त सूरदास के जीवन के बारे में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने शीर्षक 'सूरदास' एवं डॉ. रमेश चन्द्र सिंह ने 'सूरदास : जीवन-रेखा' तथा डॉ. विवेकी राय ने 'सूरदास : मेरी दृष्टि में' के माध्यम से लोकजीवन में प्रचलित उनकी जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, यश, जाति, जन्मान्ध सम्बन्धी भ्रान्तियों के बारे में तथ्यात्मक प्रमाणों के आलोक में निराकरण प्रस्तुत किया है, वहीं अनुसंधानोपरान्त प्रामाणिकता की कसौटी पर डॉ. प्रभुदयाल मित्तल महोदय ने निम्नांकित प्रमुख ६१ ग्रन्थों, जो सूर नाम से प्रचलित-प्रकाशित हैं– सूरसागर, विनय पदावली, सारावली, साहित्य लहरी, सेवाफल, सहस्त्र-नामावली, सूर पचीसी, सूर साठी, सूर छत्तीसी, सूर बहत्तरी, सूर रामायण, सूर शतक, दृष्टकूट पद, गूढ़ार्थ पद, महादेव लीला, नाग लीला, गोवर्धन लीला, चीरहरण लीला, दान लीला, प्राण प्यारी (श्याम सगाई), राधा मंगल, राधाकृष्ण मंगल, राधा नख-शिख, स्वामिनी स्वरूप वर्णन, ठाकुर जी कौ रूप वर्णन, राधा रस केलि, मान सागर, मान लीला, रास लीला, अक्रूर लीला, गोपी विरह (उद्धव सम्वाद), भ्रमर गीत, रुक्मिणी मंगल, द्रोपदी भजन, सुदामा-लीला, दशम स्कन्ध भाषा, भागवत भाषा, सूररत्न, सूरसागर सार, सूर मंजरी, विष्णु पद, राग भाषा, अष्टपदी, बेनीमाधो की बारहमासी, बाँसुरी लीला, ब्याहुलो, कबीर राधा नख-शिख, सूर गीता, चरण चिह्न, दोहावली, रामजन्म, एकादश माहात्म्य, नल-दमयंती (नल दमन), गोपाल गारी, बारहमासा, रामजी का बारहमासा, विसातिन लीला, मोरध्वज कथा, रुक्मांगद कथा, अर्जुन गीता और हरिवंश टीका (संस्कृत)– का जिक्र किया है। प्रामाणिकता के अभाव में

* विभागाध्यक्ष– नवीकरण एवं भाषा प्रसार विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, उ.प्र.

उपर्युक्त अनेक रचनाओं को डॉ. मित्तल ने विचारणीय एवं परीक्षणीय बताया है। सूर सागर, विनय पदावली, सारावली और साहित्य लहरी– इन्हीं चार ग्रन्थों की महत्ता एवं प्रामाणिकता सर्वमान्य है।

इसी क्रम में, विद्वदवरेण्य आचार्य वासुदेव सिंह जी ने सिद्ध गायक, प्रसिद्ध संगीतशास्त्री, संसिद्ध कीर्तनियाँ, रस-सिद्ध महाकवि और भक्तिसिद्ध कृष्ण-भक्त सूरस्वामी या सूरदास जी के उपास्य देव कृष्ण जी के सम्बन्ध में 'कृष्ण भक्ति काव्य : एक सिंहावलोकन' शीर्षक के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों एवं निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य (गौड़ीय) सम्प्रदाय, राधाबल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय तथा ललित सम्प्रदाय के अतिरिक्त; सम्प्रदायेत्तर कृष्ण-भक्त कवियों से भी अवगत कराया है। कृष्ण-कथा का व्यापक प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर है। अत: आचार्य वासुदेव सिंह का यह कथन कि– ''हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने में कृष्ण-भक्त कवियों का बहुत बड़ा योगदान है''– सिद्ध एवं प्रमाणित है।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के लेख 'सूर साहित्य की आस्वाद भूमियाँ : अप्राकृत-प्राकृत' में डॉ. त्रिपाठी जी ने हर सार्थक कवि को किसी-न-किसी रूप में अपने समय और समाज के देसी सन्दर्भों से जुड़ा होना बताया है। तदनुरूप महाकवि सूरदास की कृतियों में मध्यकालीन ब्रजमण्डल का लोकजीवन अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के लेख 'सूर के काव्य में शरणागति' में, सूरदास की दृष्टि में, उद्धार का मार्ग प्रभु-शरण लेना ही है। शरणागति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है– आत्म निक्षेप...पूर्ण आत्म समर्पण। अपनी भौतिक-सांसारिक स्थिति के सम्बन्ध में सूरदास को प्रभु से कुछ नहीं कहना है। 'भ्रमरगीत-परम्परा और विकास : सूर के सन्दर्भ में' नामक डॉ. राजेन्द्र कुमार वर्मा के लेख में विशेष बात यह है कि भ्रमरगीत के प्रसंग को भक्तिकाल में केवल बल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने ही पल्लवित-पुष्पित किया। निम्बार्क, चैतन्य, राधाबल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियों में नित्य विहार तथा कुंज एवं निकुंज लीलाओं की माधुर्यनिष्ठ स्वीकृति से भ्रमरगीत के मूल विधान में सर्वाधिक योगदान बल्लभ सम्प्रदाय के कृष्णभक्त रचनाकारों– विशेषकर सूरदास का रहा।

सूर के काव्य में शरणागति, अभिनव उद्‌भावना, रोमांटिक प्रवृत्ति, दार्शनिक मान्यताएँ एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में एक से बढ़कर एक ज्ञानवर्द्धक लेखों का संकलन 'सूर : सन्दर्भ और दृष्टि' में है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह जी ने अपने सारगर्भित एवं गम्भीर लेख द्वारा सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास एवं महाकवि भक्त सूरदास को आमने-सामने रख मूल्यांकित किया है, जिसमें सूर का अपना महत्त्व बरकरार है और उनकी उपेक्षा किसी काल में नहीं की जा सकती।

अन्तत: आचार्य वासुदेव सिंह जी एवं आचार्य केशव प्रसाद सिंह जी द्वारा सम्पादित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की लोकप्रियता हिन्दी साहित्य में सुधी विद्वद्‌जनों, अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के बीच सदा-सर्वदा बनी रहेगी और यह सभी का मार्गदर्शन और ज्ञान-पिपासा की तृप्ति करती रहेगी– ऐसा मेरा विश्वास है।

●

षष्ठ सोपान

संग्रहणीय पत्र

प्रो. वासुदेव सिंह के देहावसान पर किए गए नेत्रदान का प्रमाण-पत्र

B.H.U. EYE BANK
DEPARTMENT OF OPHTHALMOLOGY
INSTITUTE OF MEDICAL SCIENCES
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI – 221005

18.01.2008

TO WHOM IT MAY CONCERN

This is to certify that Late Prof. Basudeo Singh, father of Dr. Himanshu Shekhar Singh, resident of C 33/147-32 A, Acharya Narendra Deo Nagar, Chandua, Chhittupur, Varanasi – 221002, donated his eyes after his death on 27.01.2007 to BHU Eye Bank, Department of Ophthalmol0gy, Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University. The eyes donated were then successfully transplanted to two patients.

We are sincerely thankful to the family for this noble deed. We also request to continue this as their family tradition and persuade other people for this noble act.

(Dr. O.P.S. Maurya,)
In-charge
BHU Eye Bank

Reader
Department of Ophthalmology
Institute of Medical Sciences
B.H.U., Varanasi-221 005

सुप्रसिद्ध साहित्यकार प्रो. रामकुमार वर्मा का अभिमत प्रो. वासुदेव सिंह की पुस्तक पर

प्रोफ़ेसर रामकुमार वर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

भू० पू० हिन्दी प्रोफ़ेसर, मास्को (सोवियत् संघ)

'साकेत' : फोन नं० २८१६

हिन्दी विभाग,

विश्वविद्यालय, प्रयाग

१५-१०-१९६६

डा० वासुदेव सिंह द्वारा लिखित 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' नामक ग्रंथ उनके शोध प्रबन्ध का ही रूप है जिसे मैंने परीक्षक के रूप में देखा था। अन्वेषण की अन्तर्दृष्टि और स्वस्थ चिन्तन का प्रमाण इस ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर है। 'रहस्यवाद' की गंभीर अनुभूतियों का विश्लेषण करने में लेखक को सफलता मिली है।

हिन्दी साहित्य में इस ग्रंथ का महत्व असंदिग्ध है। मैं डा० वासुदेव सिंह जी को उनके गंभीर और व्यापक अध्ययन स्वरूप इस ग्रंथ-लेखन के लिए बधाई देता हूँ।

रामकुमार वर्मा

गुरुवर डॉ. जयदेव सिंह के चार पत्र
प्रो. सिंह के नाम

New Delhi-1.
Dated.6.4.61.

My dear Vasudev Singh,

I received your letter of 14th March on my return from a long tour to Gauhati and Shillong on 20th March. If Shri Munshi Ram Sharma has not been approved as your guide, you should apply afresh to the University to allow Dr.Hazari Prasad Dwivedi to act as your guide. You should also enclose with your application the consent of Dr. Hazari Prasad. The University would not take any action on its own initiative. When you have sent the application, you may send me a copy, and I shall then write to the Vice-Chancellor of the Agra University.

I am going to Japan on 14th April and shall return to Indian by 7th May.

With all good wishes,

Yours Sincerely,
Jaideva Singh
(Jaideva Singh)

---

c/o Pandit Shri Kanth Kaul,
Gupta ganga,
P.O. Brein
Srinagar (Kashmir)
29-9-'62

प्रिय व. वासुदेव सिंहजी,

शुभाशीष: । आपका २२ जुलाई का पत्र मिला ।

आपकी सफलता के लिए धन्यवाद ।

मैं ने निमन्त्रण से कोसों दूर हूं । मैं पीछे न तो किसी नेता का हाथ है, न साहित्यिक दल का । पता नहीं समिति के सदस्यों में कैसे याद आ गया ।

आशा है मैं २४ अगस्त को काशी पहुँच जाऊंगा ।

श्री सत्यनारायण सिंह से मेरा आशीर्वाद कहेयेगा ।

सस्नेह
जयदेवसिंह

जयदेव सिंह
Jaideva Singh

c/o Shri B. Varma (P),
D I G C R P, Raj bagh
Srinagar (Kashmir)
वी० ६१/२६ एफ, विश्राम कुटी
सिद्धगिरि बाग, वाराणसी-१
D. 61/26 F, VISHRAM KUTI
Siddhagiri Bagh, VARANASI-1

Date... X ... 4 ... 1974.

प्रिय व० वासुदेवसिंहजी,

शुभाशीष: । मैं यहां २७ अगैस्त को पहुंचा गया । प्रकृति ने अपना कारज सौन्दर्य इस बार को न्योछावर कर दिया है ।

छात्रों की पढ़ाई का काम कैसा चल रहा है ? प्रूफ को बड़ी सावधानी से देखियेगा । एक दोनों प्रूफ को देखते थे तो क्रम: रसी अशुद्धियां छोड़ जाती थीं । अब तो प्रूफ को आपको अकेले देखना है । बस लिए बड़ी सावधानी से देखियेगा ।

मैं इस समय अपनी नोबुकलेट के प्रूफ देख रहा हूं कौन Indian कवि रहा हूं । होनों बहुत्ती शुद्ध कोई कहासाध्य नहीं है । किन्तु उन्हें देखना तो है ही ।

आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे ।

सस्नेह,
जयदेवसिंह

Dralun Villa,
near Gupta-Ganga,
P.O. BREIN
Srinagar (Kashmir)
२९.७.'६२

प्रिय वासुदेव सिंहजी,

सस्नेह शुभाशीष: । आपका दिनांक १२ जुलाई का पत्र मिला ।

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कुलाधिपति ने आपका निर्णय आपके पक्ष में दे दिया है । हार्दिक बधाई ।

'शिवसूत्र' के तीन अध्यायों में मैं ने को का अनुवाद किया है और व्याख्यासहित को चुका हूं ।

तीनों अध्याय के ही सात सूत्रों का अनुवाद मैं चुका हूं । इसी प्रकार अध्याय में ३८ सूत्र व्याख्या सहित हो गये हैं ।

१२ अगस्त को यहां से दिल्ली जाने का विचार है । वहां ४ दिन रह कर १६ या २० अगस्त तक बनारस पहुंचूंगा । २८ अगस्त तक शिवसूत्र अनुवाद और तो सब समाप्त कर लेंगा ।

शेष बनारस में ही सब समाप्त करेंगा ।

मैं यहां लेखनी का पहले तिल भार करता हूं । गुरुवर अस्वस्थ चल रहे हैं, किन्तु यह लेखन का भोजन है । चाहता हूं कि अन्य व्यस्तताओं से इसे बचा उठाऊं । इसीलिए इतना परिश्रम कर रहा हूं ।

बाहें पैर भी छोटी की हुई फूल गई हैं । सूजे हैं । चलने में असमर्थ हूं, किन्तु सामान्यत: मेरा स्वास्थ्य अच्छा है ।

आशा है आपके ~~आपके~~ परीक्षा में सफल हो गये होंगे ।

सस्नेह शुभकामनाओं सहित,

सस्नेह,
जयदेवसिंह

गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कतिपय पत्र प्रो. सिंह के नाम

'रहस्यवाद' की व्याख्या में लिखा गया पत्र

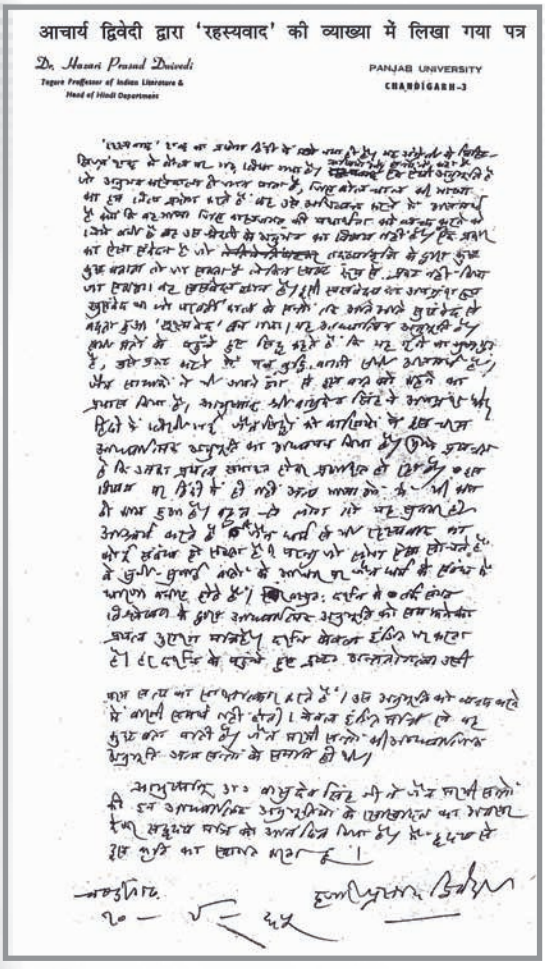

आचार्य द्विवेदी द्वारा 'रहस्यवाद' की व्याख्या में लिखा गया पत्र

Dr. Hazari Prasad Dwivedi
Tagore Professor of Indian Literature &
Head of Hindi Department

PANJAB UNIVERSITY
CHANDIGARH-3

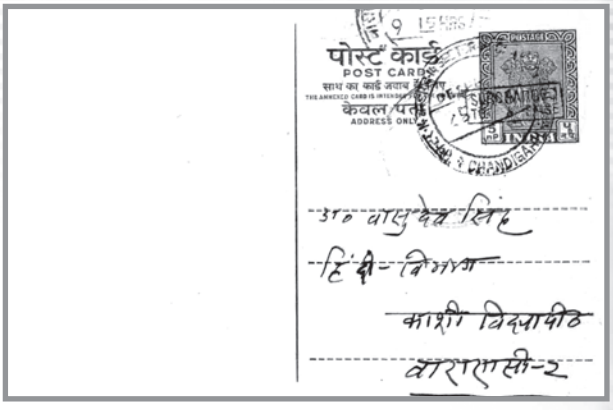

पोस्ट कार्ड
POST CARD
केवल पता
ADDRESS ONLY
INDIA

डा० वासुदेव सिंह
हिंदी-विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी-२

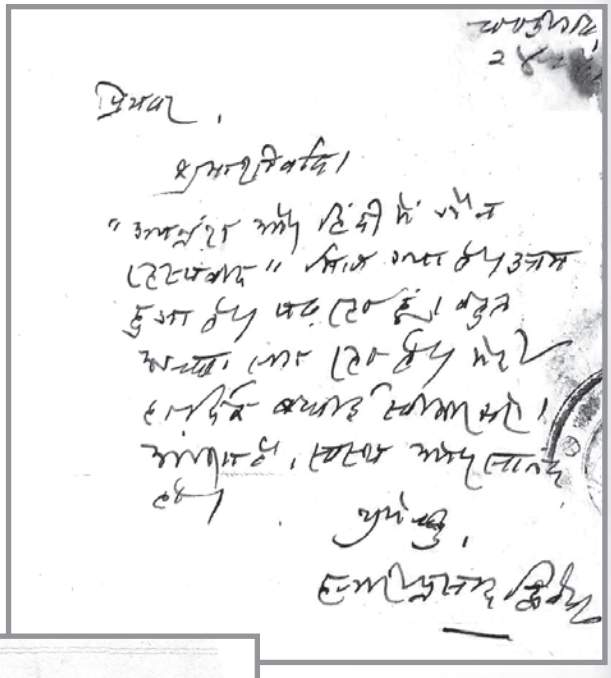

प्रियवर,

सप्रीति वंदे।

"अनुभूति और हिंदी के जैन रहस्यवाद" शीर्षक आपका शोध-प्रबंध पढ़ लिया है। बहुत अच्छा। आपने [illegible] परिश्रम किया है। बधाई। आशीर्वाद है, स्वास्थ्य अच्छा होगा।

शुभेच्छु,
हजारीप्रसाद द्विवेदी

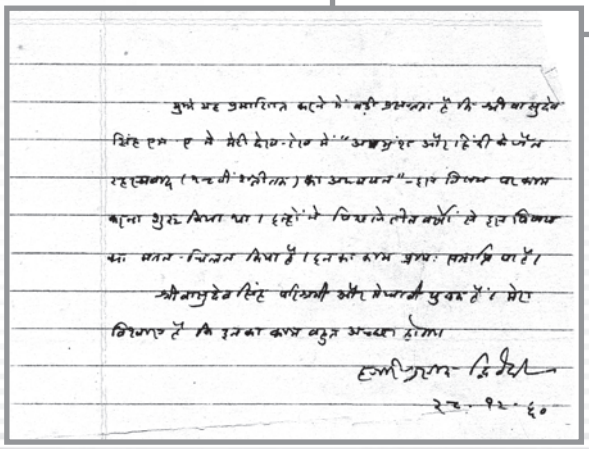

मुझे यह उपाधि ग्रहण करने में बड़ी असुविधा है। मैं श्री वासुदेव सिंह एम० ए० से मेरी दोस्ती में "अनुभूति और हिंदी के जैन रहस्यवाद (एक भौगोलिक) का अध्ययन" इस विषय पर काम करना शुरू किया था। इन्होंने विश्वविद्यालय से इस विषय का गहन चिंतन किया है। इनका काम अवश्य सफलता पाएगा।

श्री वासुदेव सिंह परिश्रमी और मेधावी युवक हैं। मेरा विश्वास है कि इनका काम बहुत अच्छा होगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
२८-१२-६०

युवराज दत्त महाविद्यालय (लखीमपुर खीरी) के हिन्दी विभागाध्यक्ष कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का विद्यार्थी वासुदेव सिंह के सम्बन्ध में प्रशस्ति-पत्र

कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह
एम० ए०
अध्यक्ष हिंदी विभाग

यु० द० (डिग्री) कालेज
लखीमपुर-खीरी

कतिपय अन्य प्रमुख उल्लेखनीय पत्र

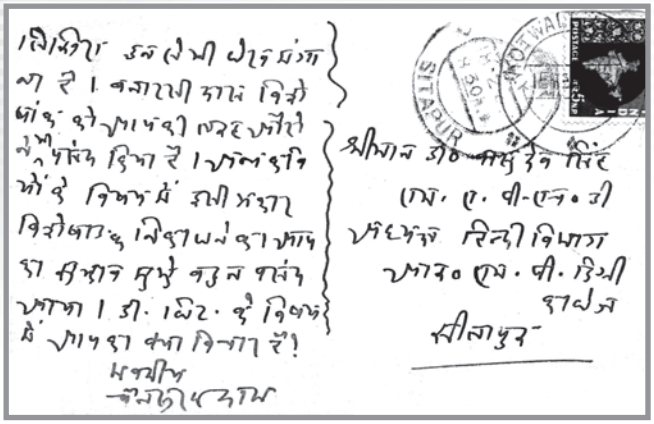

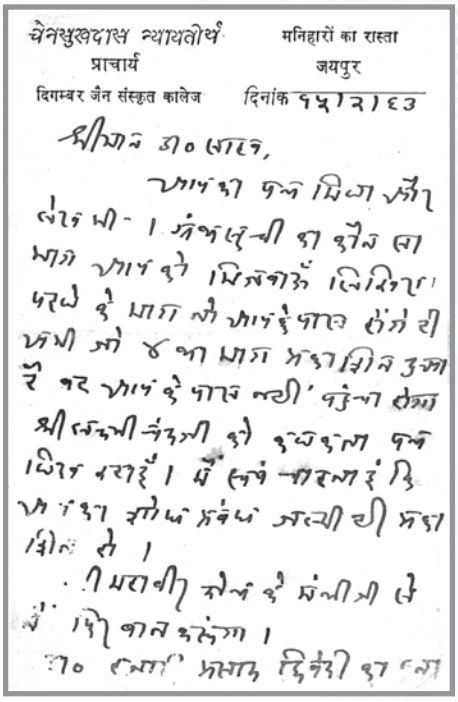

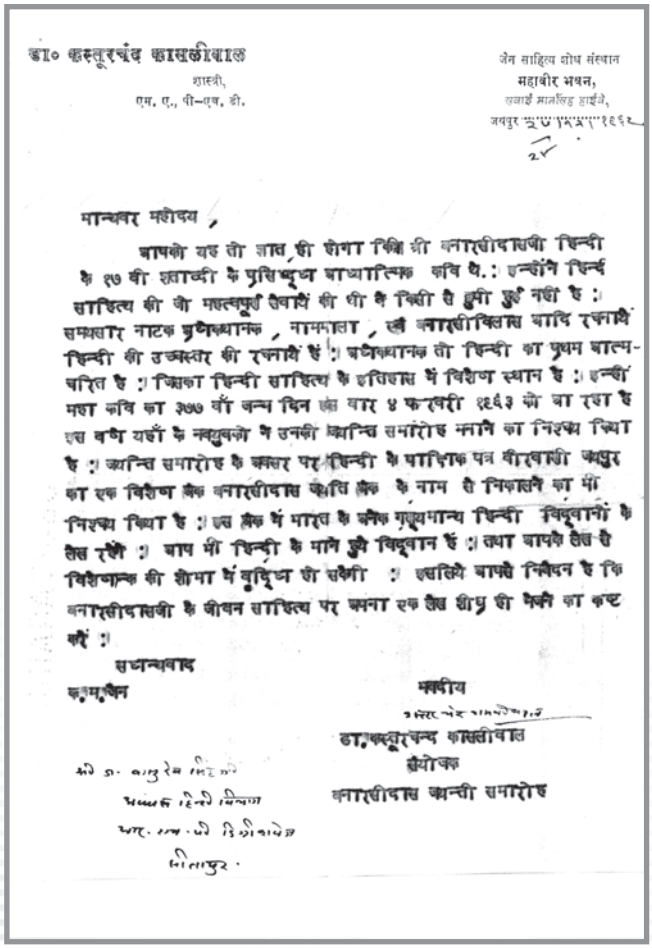

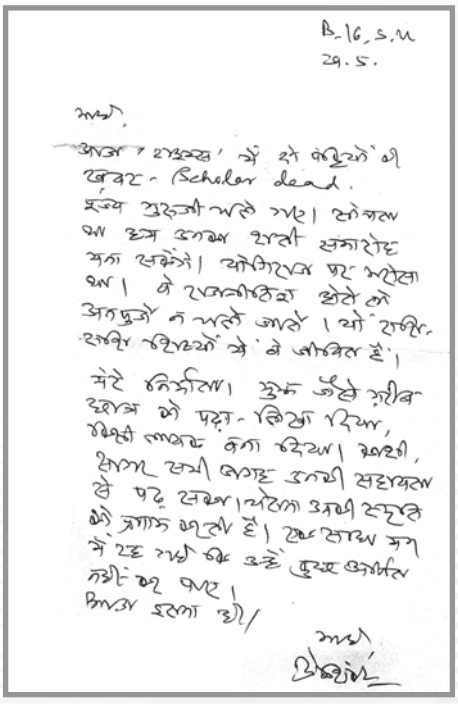

प्रो. भगवती प्रसाद सिंह (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, उ.प्र.) तथा डॉ. प्रेमशंकर (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.) के आत्मीय पत्र

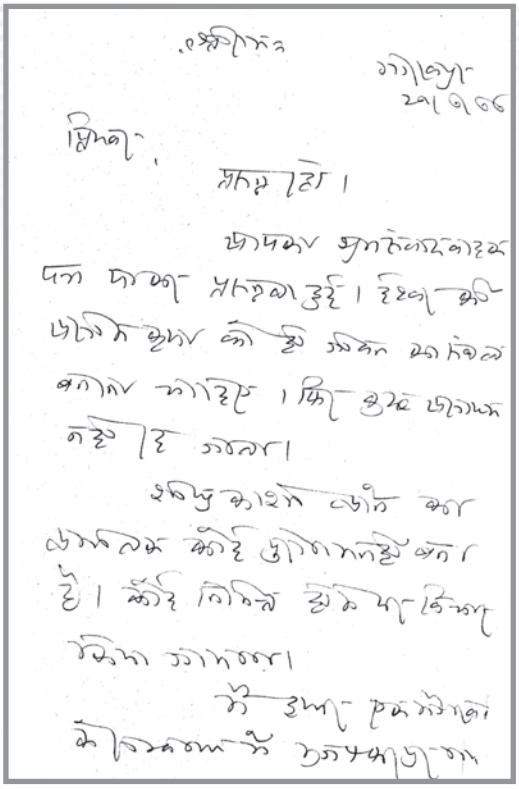

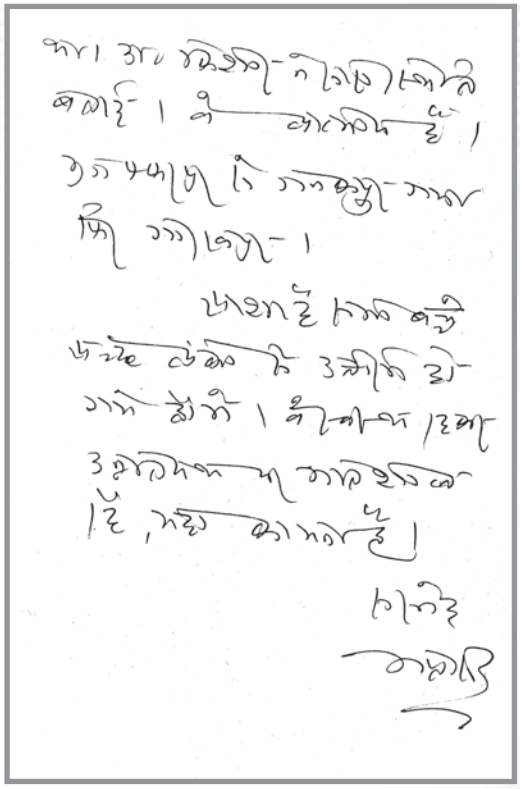

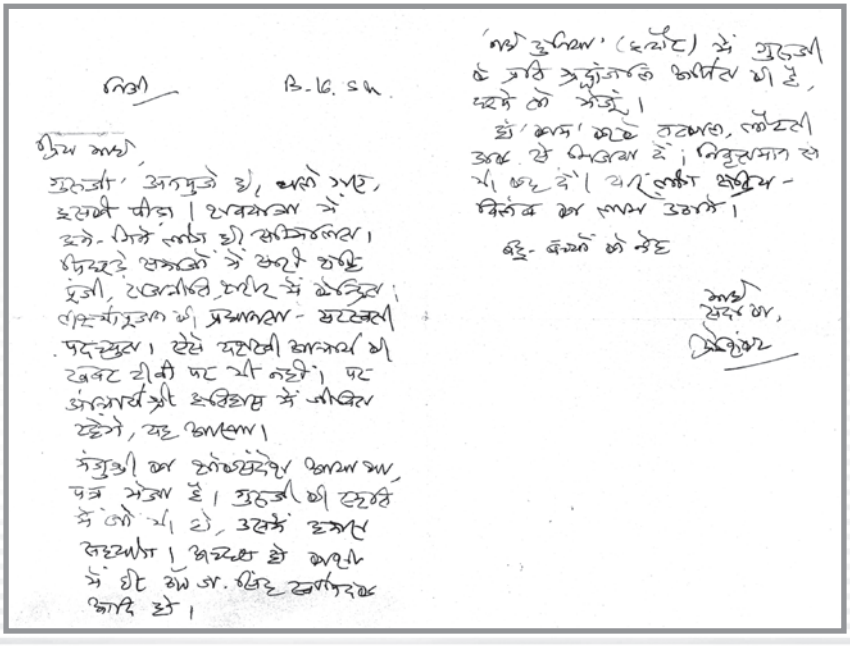

विद्यार्थी जीवन में प्राप्त कुछ प्रमुख प्रमाण-पत्र

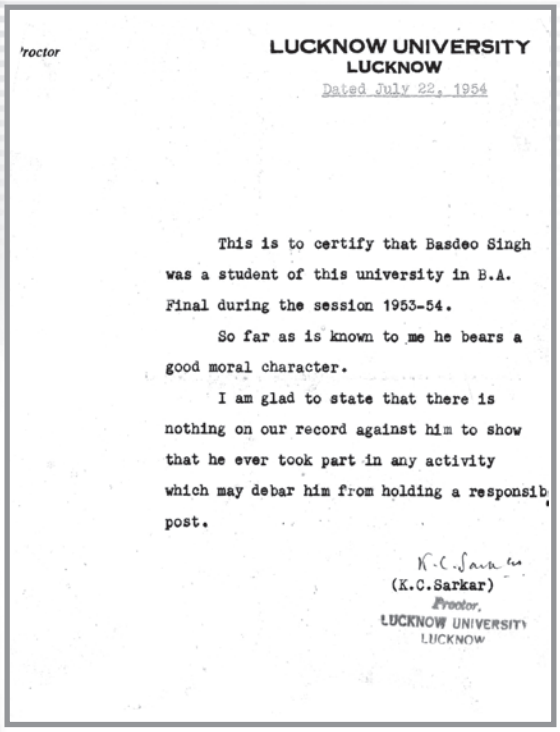

'roctor

LUCKNOW UNIVERSITY
LUCKNOW

Dated July 22, 1954

This is to certify that Basdeo Singh was a student of this university in B.A. Final during the session 1953-54.

So far as is known to me he bears a good moral character.

I am glad to state that there is nothing on our record against him to show that he ever took part in any activity which may debar him from holding a responsib post.

K.C. Sarkar
(K.C.Sarkar)
Proctor,
LUCKNOW UNIVERSITY
LUCKNOW

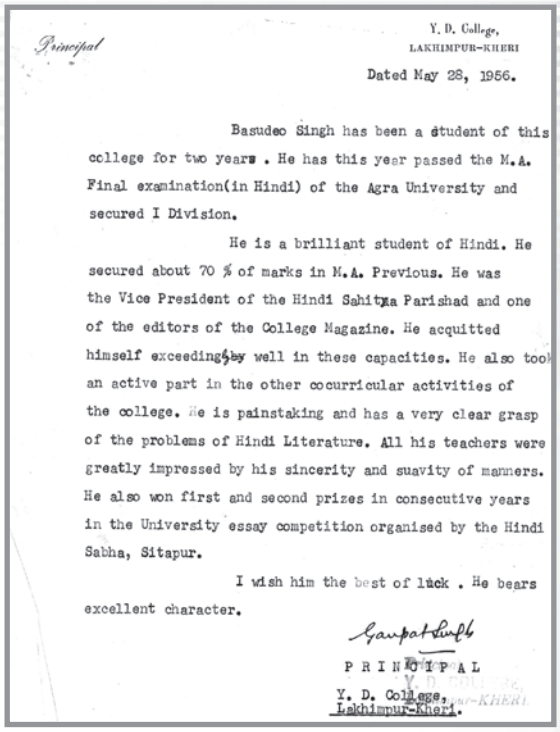

Principal

Y. D. College,
LAKHIMPUR-KHERI

Dated May 28, 1956.

Basudeo Singh has been a student of this college for two years . He has this year passed the M.A. Final examination(in Hindi) of the Agra University and secured I Division.

He is a brilliant student of Hindi. He secured about 70 % of marks in M.A. Previous. He was the Vice President of the Hindi Sahitya Parishad and one of the editors of the College Magazine. He acquitted himself exceeding~~ly~~ well in these capacities. He also took an active part in the other cocurricular activities of the college. He is painstaking and has a very clear grasp of the problems of Hindi Literature. All his teachers were greatly impressed by his sincerity and suavity of manners. He also won first and second prizes in consecutive years in the University essay competition organised by the Hindi Sabha, Sitapur.

I wish him the best of luck . He bears excellent character.

Ganpat Singh
PRINCIPAL
Y. D. College,
Lakhimpur-Kheri.

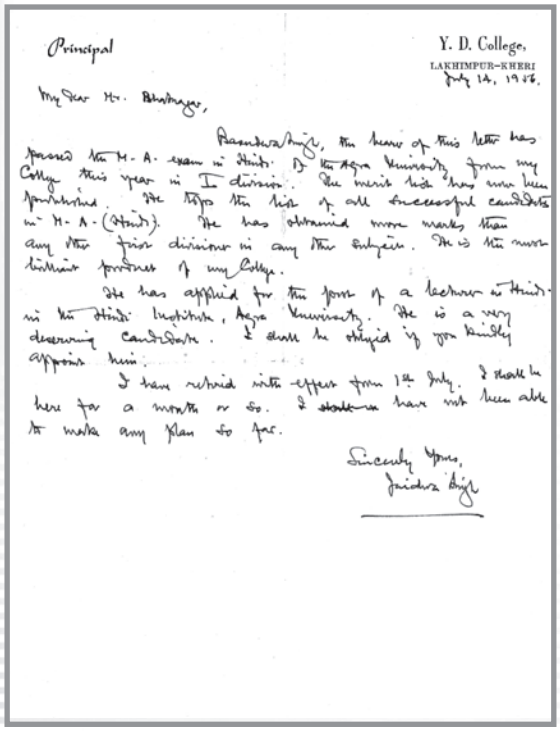

Principal

Y. D. College,
LAKHIMPUR-KHERI
July 14, 1956.

My Dear Mr. Bhatnagar,

Basudeva Singh, the bearer of this letter has passed the M.A. exam in Hindi of the Agra University from my College this year in I division. The merit lists have now been published. He tops the list of all successful candidates in M.A.(Hindi). He has obtained more marks than any other first divisioner in any other subjects. He is the most brilliant product of my College.

He has applied for the post of a lecturer in Hindi in the Hindi Institute, Agra University. He is a very deserving candidate. I shall be obliged if you kindly appoint him.

I have retired with effect from 1st July. I shall be here for a month or so. I shall have not been able to make any plan so far.

Sincerely Yours,
Jaidev Singh

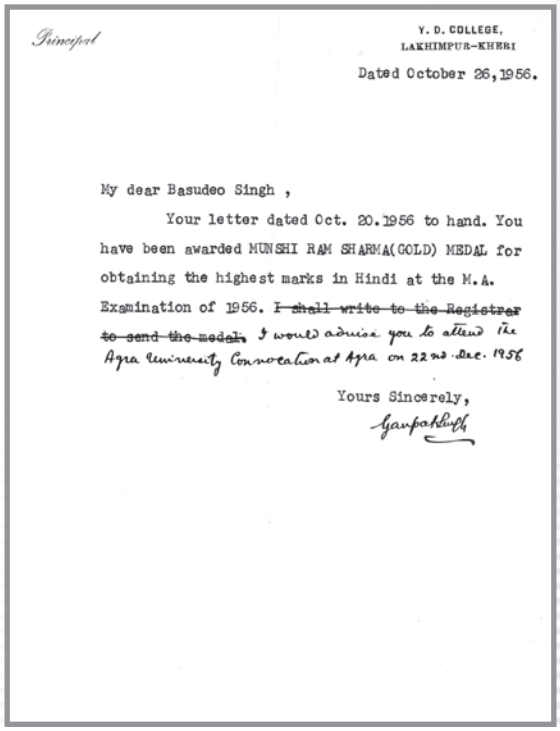

Principal

Y. D. COLLEGE,
LAKHIMPUR-KHERI

Dated October 26,1956.

My dear Basudeo Singh ,

Your letter dated Oct. 20.1956 to hand. You have been awarded MUNSHI RAM SHARMA(GOLD) MEDAL for obtaining the highest marks in Hindi at the M.A. Examination of 1956. ~~I shall write to the Registrar to send the medal.~~ I would advise you to attend the Agra Uniuversity Convocation at Agra on 22nd Dec. 1956

Yours Sincerely,
Ganpat Singh

AGRA UNIVERSITY

All communications should be addressed to *The Assistant Registrar, Confidential Deptt.*, Agra University, Agra.

TELE. { GRAM : ARGON / PHONE : 2748

No. CF 11116 *Dated Agra* 16/3/ *1962*

Sri Basdeo Singh,
Lecturer,
R.M.P. College,
Sitapur.

Dear Sir,

With reference to your letter dated 6-2-1962, I write to inform you that the Executive Council vide its Resolution No. 413 of 8-2-1962 have permitted you to carry on your research work for Ph.D.degree of this University on the subject proposed by you under the supervison of Dr. M.R. Sharma of D.A.V. College, Kanpur.

Curtailment of period for submission of your thesis is also allowed in your case.

Yours faithfully,

Asstt.Registrar (Conf.)
For Registrar.

SP/14-3.

15/3/62

Pratap Singh Chauhan
M. A.

Department of Hindi,
Y. D. Degree College,
Lakhimpur-Kheri.

ता० ३०-४-५६

मैं श्री बासुदेव सिंह जी को अत्यंत निकट से जानता हूँ। ये दो वर्ष (१९५४-५५ तथा १९५५-५६) तक मेरे एम० ए० के छात्र रहे हैं। दो वर्ष की इस लघु अवधि में ही, इन्होंने अपने सौजन्य, व्यवहार कुशलता, परिश्रम और प्रतिभा द्वारा प्रायः सभी प्राध्यापकों का घनिष्ठ आत्मीय जनों के रूप में अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इनके सहयोग से कालेज की हिन्दी साहित्य-परिषद को नई स्फूर्ति प्राप्त हो गई थी। इनके अतिरिक्त एम० ए० (प्रथम वर्ष) में इनको १०० प्रतिशत से भी अधिक अङ्क प्राप्त होना इनके परिश्रम और प्रतिभा का जीवन्त प्रमाण है।

मैं आशा करता हूँ कि जीवन में भी इन्हें इसी प्रकार की अपूर्व सफलता प्राप्त होगी। ये किसी भी साहित्यिक पूर्ण कार्य को सम्पन्न करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य के लिए हार्दिक कामना करता हूँ।

प्रतापसिंह चौहान

पुराना दल आफिस
लखीमपुर-खीरी

विद्यार्थी जीवन में प्राप्त कुछ प्रमुख प्रमाण-पत्र

विद्यार्थी राजकुमार वाजपेयी द्वारा गुरुवर वासुदेव सिंह को लिखा गया भावपूर्ण पत्र

श्रद्धेय गुरुवर!

असमान्यता की स्थिति में पड़ा हुआ हृदय कुछ कहना चाहता है परन्तु शायद एक दूसरे से विरोधी भावों की अभिव्यक्ति मेरे शब्द न कर पायें लेकिन आपकी सक्षम दृष्टि मेरे अन्तस्तल के भावों को अवश्य परख लेगी इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। हृदय में जहां एक ओर आपके जाने से निराशा छायी है वहां दूसरी ओर आपको उन्नति के शिखर की ओर जाते देख हर्ष और उल्लास भी है।

आप कहीं भी रहें परन्तु मुझे आपके 'शील,' 'प्रेम,' 'नय,' 'विनय' दया' आदि शुभतत्व आदर्शरूप में प्राप्त हैं जोकि ज्योतिरुप में मुझे हमेशा प्रकाश देते रहेंगे;

'दूर हैं हमसे हमारे चांद सूरज
किन्तु उनकी ज्योति
मेरे पास।
दूर होंगे आप, लेकिन
प्राप्त हमको
आपके शुभ सत्व।
हर निराशा दूर करने को
किरन का साथ
फिर मुझे क्यों छोड़
(हाय! मानव-मोह)'

इन मोहपाशों में जकड़ कहीं जीवन की सरल राह से न भटक जाऊं, इसके लिये मुझे आपकी कृपादृष्टि की आवश्यकता है आशा है मै इससे कभी वंचित न किया जाऊंगा।

इति. शत् शत् प्रणाम सहित.
आपका
राजकुमार वाजपेयी

दि० ४ नवम्बर १९६३.

विद्यार्थी राजकुमार वाजपेयी द्वारा
गुरुवर वासुदेव सिंह को लिखा गया भावपूर्ण पत्र

गन्ना उत्पादक महाविद्यालय, बहेड़ी (बरेली)
दिसम्बर १४, १९७८।

श्रद्धेय गुरुवर,

आपका कृपा पत्र मिला. आशा है कि मेरे शब्दों को औपचारिक परम्परा का निर्वाह भर न मान कर, इन्हें व्यक्ति-मन की सफल-असफल अभिव्यक्ति के रूप में ही लेंगे कि आपके पत्र ने अत्यन्त सहजता से मेरे आत्मविश्वास को बढ़ाया है. सामान्यतः बहिर्मुखी व्यक्तित्व का प्राणी होते हुए भी मैं कुछ आशंकाओं से जुड़ा अव्यवहारिक, अकुशल व्यक्ति हूँ इसलिए बहुधा सम्बन्धों को खो बैठता हूँ. जगदीश को पत्र देते हुए मैं अत्यन्त संकोच व द्विविधा में था परन्तु आपने जिस सहजता से मुझे आत्मीयता दी — उससे प्राप्त प्रसन्नता को कैसे कहूँ?

एम०ए० करने के बाद जिन्दगी को कुछ अपनी सफेदपोश आर्थिकतंगी, कुछ जिद, कुछ काशी विद्यापीठ की सनद के कारण अजीबोगरीब उलझन में पाया. बेसहारियों के बिना अपने पाँव रास्ता तय करने के अहंकार ने बहुत भटकाया. लक्ष्मण विश्वविद्यालय में स्वर्गीय त्रिलोकी नाथ चौबित के निर्देशन में 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया' पर शोधकार्य शुरू किया और पूरे दो वर्ष तक उनकी कृपा सहेजता रहा लेकिन परिणाम में सिर्फ पारखण्ड युक्त विद्वता का साक्षात्कार ही कर सका. नवम्बर ७० से अक्टूबर ७२ तक जी०एफ० कालेज शाहजहाँपुर में हिन्दी-प्राध्यापन किया, परन्तु उस मुस्लिम शिक्षा-संस्था को मैं रास ही नहीं आया फलतः वह अस्थाई नियुक्ति भी चली गई. फिर बेकारी व केवल सनद सहित साक्षात्कारों का एक भयानक दौर झेलते हुए जुलाई 1974 से यहाँ हूँ और अब नौकरी की ओर से प्रायः निश्चिन्तता है.

इस सबके बीच कविताएँ, नाटक, समीक्षाएँ आदि लिखता रहा जो कल्पना, चारित्र नई कहानी, प्रतिमान आदि में यदा-कदा छपीं — महत्वाकांक्षाएँ इधर ही केन्द्रित हैं. प्राध्यापकीय क्षेत्र केवल रोजी-रोटी का साधन है. शाहजहाँपुर से स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी जी के आशीर्वाद सहित 'कुटज' नाम से नई कविता की एक अनियतकालीन पत्रिका निकाली जो लघु पत्रिकाओं की नियति को प्राप्त हुई व आर्थिक हानि पहुँचा गई. अपने ही रेखाङ्कनों सहित एक लघु पत्रिका को कुछ कविताएँ दीं — जिन्हें छापने के बाद 'मार्ष' नामक उस पत्रिका का अगला अंक नहीं निकल सका — यानी यह उपलब्धियाँ हैं.

पिताजी — इसी वर्ष सेवामुक्त हुए हैं. और अपनी ईमानदारी की दृढ़न बटोरे ग्रामीण जीवन जी रहे हैं. 7 वर्ष पूर्व इलाहाबाद के एक कोयला व्यापारी की कन्या से विवाह हो चुका है लेकिन अभी भी हम दो ही हैं परिणामस्वरूप पत्नी उदास व अतिरिक्त संवेदनशील हो चुकी है. बहेड़ी — रुमालों की तराई का एक शैक्षणिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा कस्बा है जहाँ मेरी कोई गति नहीं. संस्कारहीन जाट-जुझौं लड़कों में अपनी मुखरता से नाम पास अकेला हूँ. डा० साहनी — यानी प्राचार्य महोदय का व्यक्तित्व सीतापुर में प्रो० बेसल द्वारा सताए जाने के परिणामस्वरूप अजीबोगरीब ढंग से परपीड़क हो चुका है फलतः उनकी विनम्रता, कार्य-कुशलता, सज्जनता सभी यहाँ सन्दिग्ध है. स्वामिकता के अभाव में गुण कैसे दोष बनते हैं, वह इसके अच्छे

उदाहरण हैं.

पत्र बेवजह लम्बा हो गया है लेकिन आपके पत्र की एक पंक्ति से प्रेरित हो मैंने 12 वर्षों की कथा कह डाली है.

पी-एच०डी० के लिए उत्सुक हूँ. लेकिन इस २० दि० तक पहुँचना संभव नहीं लगता. आज ही सूचना मिली है कि हरदोई में एक रिश्तेदार मुआ का निधन हो गया है — पारिवारिकता निभानी पड़ेगी. फिर विषय आदि को लेकर भी सोचना व आपसे दिशा लेना है. फरवरी में बनारस आकर आपकी निकटता प्राप्त कर अवश्य निश्चय करूँगा. चाहता हूँ कि कोई ऐसा विषय चुन सकूँ जिसमें शास्त्रीय गहनता की अपेक्षा सृजनात्मक मौलिकता हो ताकि शोधकार्य को लाइब्रेरी के शेल्फ के बजाय पाठक भी मिल सकें. आशा है कि आप मेरे स्वभाव का आकलन कर मुझे किसी ऐसे कार्य की ओर उन्मुख करेंगे जहाँ मैं अपनी पूरी संलग्नता समर्पित कर सकूँ. मैं जुट कर कुछ अच्छा करना चाहता हूँ क्योंकि पी-एच०डी० मेरे लिए अब नौकरी तक पहुँचने का साधन न होकर मेरे व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का उद्योग होगी.

शेष कुशल. आशा है कि आप स्वस्थ व सानन्द होंगे. आपकी दो पुस्तकें मेरी लाइब्रेरी में उन्नत प्रदेश हिन्दी रचनाओं के माध्यम से आ गई हैं; जिन्हें पढ़कर लालसा बढ़ी है.

जगदीश शर्मा के दो पत्र मिले. विद्यार्थी वह द्वितीय श्रेणी वाला ही है पर निराश्रित व शोषित है. कुसुमा-उसे सहारा दिये रहें- शायद आपके ही माध्यम से उसे जीवन-द्रव मिल जाय.

प्रणामनिवेदन सहित.

राजकुमार

सप्तम सोपान
छाया-चित्र

प्रो० वासुदेव सिंह तथा श्रीमती प्रेमलता सिंह के पाणिग्रहण-संस्कार का निमन्त्रण-पत्र

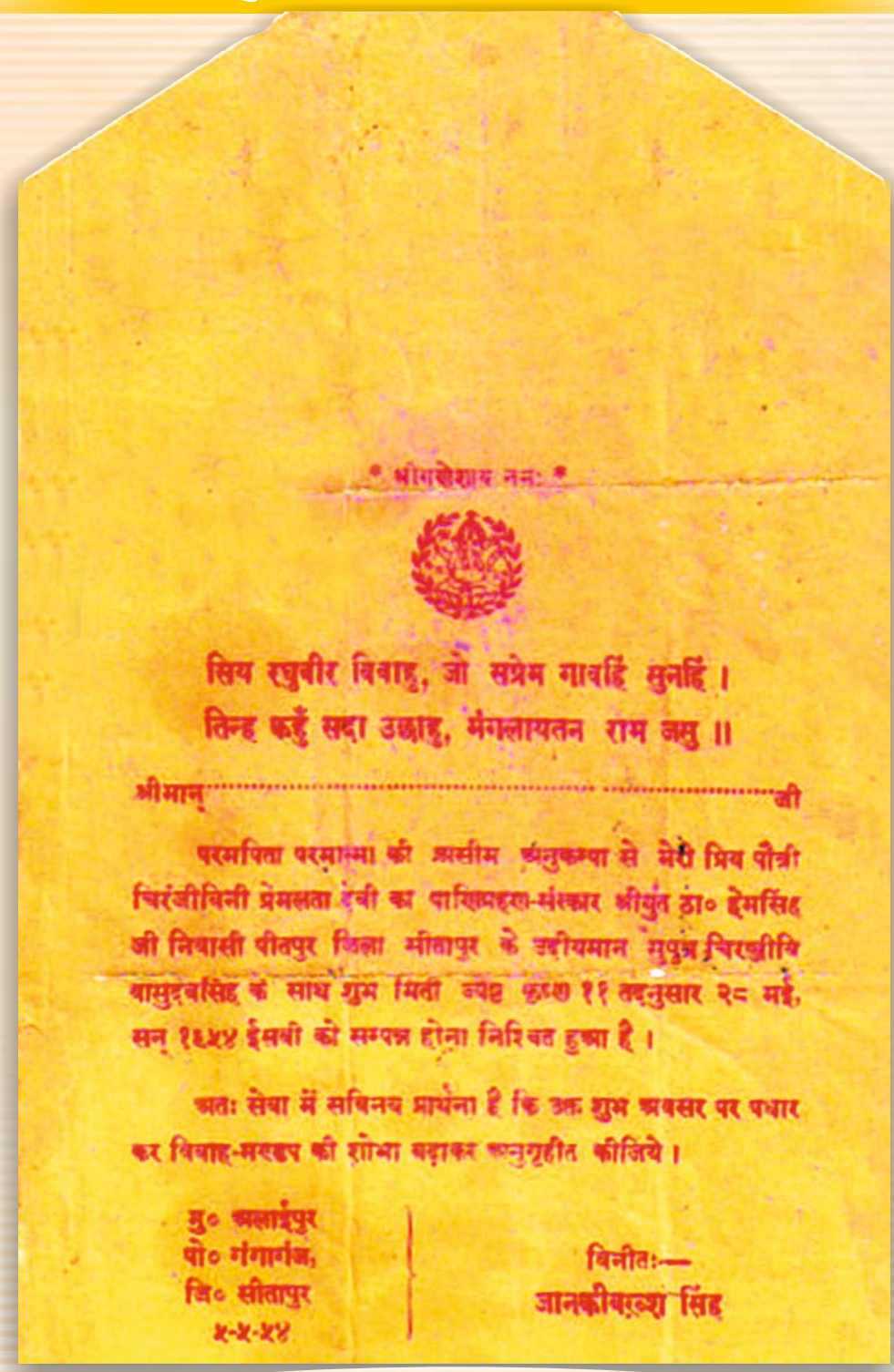

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सिय रघुबीर बिवाहु, जो सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जसु॥

श्रीमान्.....जी

परमपिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से मेरी प्रिय पौत्री चिरंजीविनी प्रेमलता देवी का पाणिग्रहण-संस्कार श्रीयुत ठा० हेमसिंह जी निवासी पीतपुर जिला सीतापुर के उदीयमान सुपुत्र चिरंजीवि वासुदेवसिंह के साथ शुभ मिती ज्येष्ठ कृष्ण ११ तदनुसार २८ मई, सन् १९५४ ईसवी को सम्पन्न होना निश्चित हुआ है।

अतः सेवा में सविनय प्रार्थना है कि उक्त शुभ अवसर पर पधार कर विवाह-मण्डप की शोभा बढ़ाकर अनुगृहीत कीजिये।

मु० अलाईपुर
पो० गंगागंज,
जि० सीतापुर
५-५-५४

विनीतः—
जानकीबख़्श सिंह

व्यक्ति एक : चित्र अनेक

स्नातकोत्तर कक्षा में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने पर मिला स्वर्णपदक

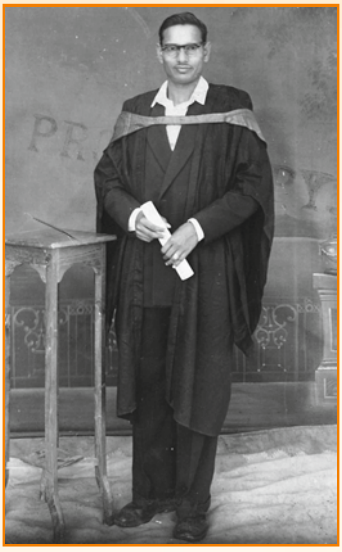

धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमलता सिंह के साथ कुछ आत्मीय चित्र

कतिपय पारिवारिक चित्र

विद्वान् मनीषियों के साथ

पं. सुधाकर पाण्डे तथा अन्य

'हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम' में विचार व्यक्त करते हुए पं. विद्यानिवास मिश्र। मंचासीन प्रो. रामकुमार त्रिपाठी, डॉ. वासुदेव सिंह तथा शुक्ल जी।

पं. विद्यानिवास मिश्र के साथ।

प्रो. उदयभानु सिंह (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) के साथ

प्रो. रामकुमार त्रिपाठी (कुलपति-म. गाँ. काशी विद्यापीठ) के साथ।

प्रो. भगवती प्रसाद सिंह (पूर्व आचार्य-हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) के साथ।

सुपुत्र सुधांशु तथा पुत्रवधु पद्मजा को
आशीर्वाद प्रदान करते हुए कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह,
श्री हेम सिंह, प्रो. विजयपाल सिंह तथा अन्य के साथ

प्रो. रामकुमार त्रिपाठी,
प्रो. विश्वनाथ पाण्डेय, प्रो. विजयपाल सिंह,
डॉ. गयाराम पाण्डेय के साथ

प्रो. सुप्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो. के. पी. सिंह के साथ।
साथ में; आशुतोष तिवारी, आनन्द वर्धन,
सुधांशु शेखर, श्रद्धा सिंह तथा हिमांशु शेखर सिंह।

नवगीत-प्रवर्तक डॉ. शम्भुनाथ सिंह,
डॉ. अशोक सिंह तथा
अन्य परिवारीजनों के साथ

प्रो. के. पी. सिंह, प्रो. रामकुमार त्रिपाठी,
प्रो. विजयपाल सिंह तथा
प्रो. विश्वनाथ पाण्डे के साथ

प्रो. शुकदेव सिंह,
प्रो. युगेश्वर तथा
डॉ. रविप्रकाश पाण्डे के साथ

शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों के साथ

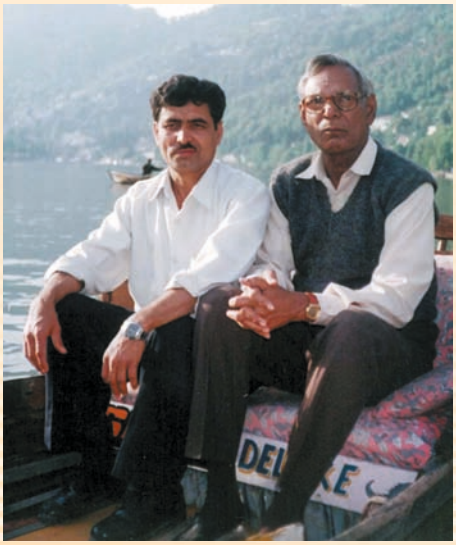

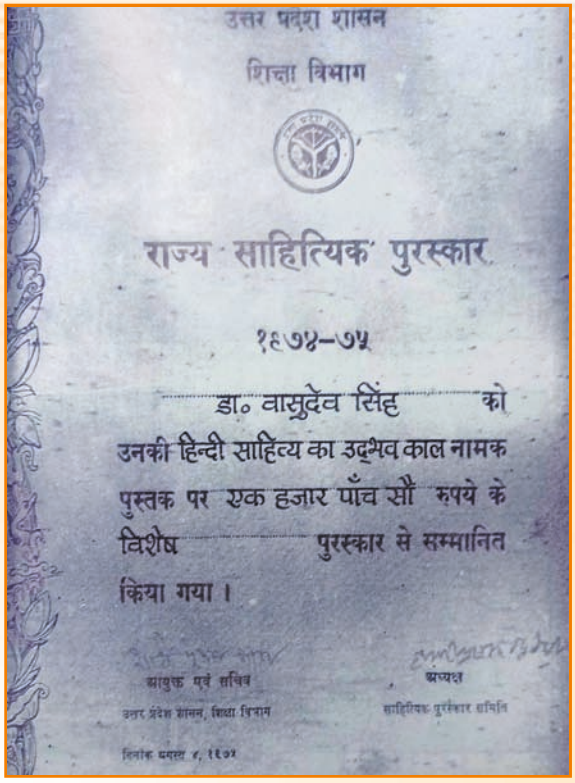

उत्तर प्रदेश शासन

शिक्षा विभाग

राज्य साहित्यिक पुरस्कार

१९७४–७५

डा० वासुदेव सिंह को

उनकी हिन्दी साहित्य का उद्भव काल नामक

पुस्तक पर एक हजार पाँच सौ रुपये के

विशेष पुरस्कार से सम्मानित

किया गया।

आयुक्त एवं सचिव
उत्तर प्रदेश शासन, शिक्षा विभाग

अध्यक्ष
साहित्यिक पुरस्कार समिति

दिनांक जनवरी ८, १९७५

कतिपय संग्रहणीय समूह चित्र

पुरुस्कार एवं सम्मान ग्रहण करते हुए।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी
सम्मानित करते हुए (३० मार्च, १९८४)

महामहिम वी. चेन्नारेड्डी द्वारा
राज्य साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त करते हुए

पुस्तक का विमोचन तथा पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सम्मान प्रदान करते हुए महामहिम आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

सम्मान प्रदान करते हुए प्रो. मुरली मनोहर जोशी।

महामहिम मोतीलाल बोरा द्वारा सम्मनित होते हुए

महन्त रामरूप गोस्वामी द्वारा सम्मान

विद्वानों के साथ हिमाचल राजभवन में

२७ जनवरी, २००८ को प्रो. वासुदेव सिंह की प्रथम पुण्यतिथि के अवसर पर **'प्रो. वासुदेव सिंह मार्ग'** का लोकार्पण तथा स्मृति-व्याख्यान के स्मरणीय छाया-चित्र

'प्रो. वासुदेव सिंह मार्ग' का लोकार्पण करने के पूर्व भूमि-पूजन तथा धार्मिक अनुष्ठान करते हुए वाराणसी के महापौर मा. कौशलेन्द्र सिंह। साथ में; क्षेत्रीय पार्षद डॉ. ओ. पी. सिंह, श्रीमती प्रेमलता सिंह, प्रो. योगेन्द्र सिंह, डॉ. शिव कुमार मिश्रा, श्री सुधांशु शेखर सिंह, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा स्थानीय निवासी और प्रबुद्ध जन।

'प्रो. वासुदेव सिंह मार्ग' के शिलापट्ट का अनावरण करते हुए महापौर मा. कौशलेन्द्र सिंह।

श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए उ. प्र. विधानसभा अध्यक्ष माननीय सुखदेव राजभर।

'प्रो० वासुदेव सिंह मार्ग' के शिलापट्ट का अनावरण करते हुए महापौर, पार्षद तथा अन्य विशिष्टजन

श्रद्धांजलि सभा में उपस्थित
प्रो. चौथीराम यादव,
प्रो. त्रिभुवन सिंह, प्रो. परमानन्द सिंह तथा
प्रो. सुरेन्द्र प्रताप (बाएँ से क्रमशः)

इस अवसर पर श्रद्धांजलि सभा में स्मारिका 'नमन' का विमोचन करते हुए म. गाँ. काशी विद्यापीठ के पूर्व कुलपति प्रो. त्रिभुवन सिंह (मध्य में) तथा डॉ. ओ. पी. सिंह (पार्षद), मा. कौशलेन्द्र सिंह (महापौर), सुप्रसिद्ध समीक्षक प्रो. चौथीराम यादव तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

अपनी भावांजलि व्यक्त करते हुए
प्रो. सदानन्द शाही।

इस अवसर पर उपस्थित डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डे, डॉ. रणजीत सिंह, डॉ. भानु प्रताप सिंह (प्रथम पंक्ति), डॉ. हरिहर शास्त्री, डॉ. योगेन्द्र सिंह, डॉ. राम सुधार सिंह (द्वितीय पंक्ति) तथा अन्य विशिष्टजन।

२७ जनवरी, २०११ को 'डॉ. राधाकृष्णन् स्मृति सभागार' (बी.एच.यू.) में
'भक्ति काव्य : परिधि और प्रवृत्ति' विषयक विचार-गोष्ठी के स्मरणीय छाया-चित्र

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए
प्रो. अवधेश प्रधान, डॉ. कन्हैया सिंह (आजमगढ़),
प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित (लखनऊ),
प्रो. राधेश्याम दुबे
(हिन्दी विभागाध्यक्ष-बी.एच.यू.),
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा
प्रो. श्रद्धा सिंह (दाएँ से क्रमशः)

लखनऊ विश्वविद्यालय के पूर्व
हिन्दी विभागाध्यक्ष
प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित अध्यक्षीय
उद्‌बोधन देते हुए।

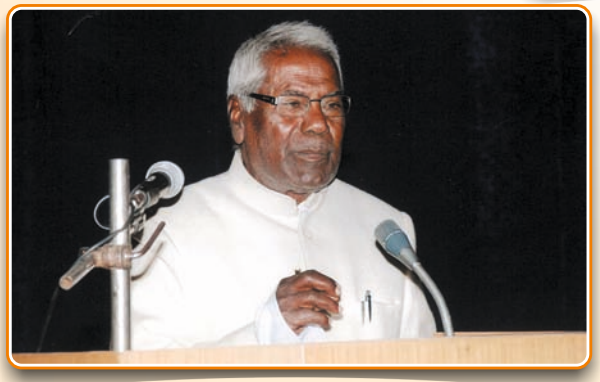

आजमगढ़ से पधारे डॉ. कन्हैया सिंह
मुख्य अतिथि के रूप में
विचार व्यक्त करते हुए।

प्रो. राधेश्याम दुबे
उद्‌बोधन करते हुए।

प्रो. अवधेश प्रधान
उद्‌बोधन करते हुए।

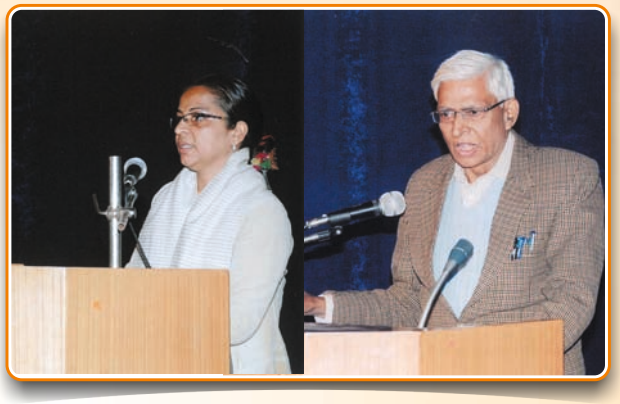

वरिष्ठ साहित्यकार
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डे तथा
प्रो. सुमन जैन वक्तव्य देते हुए।

प्रो. श्रद्धा सिंह तथा
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
अपनी बात रखते हुए।

विचार-गोष्ठी में उपस्थित सुधी
श्रोतागण का समूह चित्र।

२७ जनवरी, २०१२ को म. गाँ. काशी विद्यापीठ में '**सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और संतकाव्य**' विषयक संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए क्रमशः
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह, प्रो. सुरेन्द्र प्रताप, प्रो. श्रद्धानन्द, प्रो. रवि श्रीवास्तव (जयपुर), प्रो. चौथीराम यादव, प्रो. अवधेश प्रधान तथा प्रो. श्रद्धा सिंह (बाएँ से क्रमशः)

विचार व्यक्त करते हुए
प्रो. रवि श्रीवास्तव
(हिन्दी विभाग-राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

विचार व्यक्त हुए (दाएँ से)
प्रो. चौथीराम यादव तथा
प्रो. अवधेश प्रधान
(पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष-बी.एच.यू.)

प्रो. श्रद्धानन्द
(हिन्दी विभागाध्यक्ष-म.गाँ. काशी विद्यापीठ)
तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा
प्रो. सुरेन्द्र प्रताप के साथ
'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'
की संरक्षिका
श्रीमती प्रेमलता सिंह।

मुख्य अतिथि
प्रो. रवि श्रीवास्तव को
पुष्प-गुच्छ प्रदान कर
सम्मानित करते हुए
प्रो. श्रद्धा सिंह।

संगोष्ठी में उपस्थित विशिष्टजन।

२७ जनवरी, २०१३ को बी.एच.यू. के डॉ. राधाकृष्णन् सभागार में 'घनानन्द का काव्य-मर्म' विषयक संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

'नमन' का विमोचन करते हुए प्रो. सुधाकर सिंह,
डॉ. श्रद्धा सिंह,
डॉ. अवधेश सिंह, प्रो. रामदेव शुक्ल,
प्रो. पृथ्वीश नाग
(कुलपति-म. गाँ. काशी विद्यापीठ),
प्रो. बलिराज पाण्डे एवं
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह (बाएँ से क्रमशः)

मुख्य अतिथि प्रो. रामदेव शुक्ल
(पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय)
को स्मृति-चिह्न प्रदान करते प्रो. बलिराज पाण्डे।
साथ में; प्रो. अवधेश सिंह,
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह एवं प्रो. पृथ्वीश नाग।

विचार व्यक्त करते हुए
डॉ. श्रद्धा सिंह

संगोष्ठी में उपस्थित डॉ. जसमिन्दर कौर,
प्रो. सदानन्द शाही, प्रो. अवधेश प्रधान,
प्रो. भानुप्रताप सिंह, डॉ. उदय प्रताप सिंह,
डॉ. बिजेन्द्र पाण्डे तथा विद्वत्गण।

१४ सितम्बर, २०१३ को नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के शोध केन्द्र सभागार (जार्ज टाउन) में हिन्दी दिवस के अवसर पर आयोजित संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

'नमन' का विमोचन करते (बाएँ से क्रमशः) डॉ. हिमांशु शेखर सिंह, डॉ. एस.सी. तिवारी, प्रो. रामकिशोर शर्मा, प्रो. के.पी. मिश्रा, श्री रतन प्रकाश दीक्षित, प्रो. एस.जी. प्रकाश, डॉ. आशीष मिश्रा तथा पोलैण्ड से पधारी हिन्दी-प्रेमी मिस मोनिका।

विचार व्यक्त करते नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. के. पी. मिश्रा। मंचासीन डॉ. एस. सी. तिवारी (प्रति कुलपति) तथा प्रो. रामकिशोर शर्मा (इला. वि.वि.)

विमोचन-कार्यक्रम में विचार व्यक्त करते हुए डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

संगोष्ठी में उपस्थित श्री पंकज यादव, डॉ. बिरेन्द्र मणि त्रिपाठी, डॉ. आलोक त्रिपाठी, डॉ. ममता मिश्रा, डॉ. संतोष सिंह तथा अन्य (बाएँ से)

२७ जनवरी, २०१४ को म. गाँ. काशी विद्यापीठ में
'प्रो. वासुदेव सिंह की आलोचना दृष्टि और संत साहित्य' विषयक संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए प्रो. विनय सिंह,
प्रो. अवधेश सिंह (हिन्दी विभागाध्यक्ष-काशी विद्यापीठ),
प्रो. रतन कुमार पाण्डे (मुम्बई विश्वविद्यालय), प्रो. सुभाष चतुर्वेदी (प्रभारी कुलपति),
डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह, प्रो. राममोहन पाठक,
डॉ. राजीव द्विवेदी एवं श्रीमती प्रेमलता सिंह (दाएँ से क्रमशः)

विचार व्यक्त करते हुए (बाएँ से) प्रो. रतन कुमार पाण्डे (हिन्दी विभाग-मुम्बई विश्वविद्यालय)
तथा प्रो. सुभाष चतुर्वेदी (प्रभारी कुलपति-म.गाँ. काशी विद्यापीठ)

प्रो. राममोहन पाठक (निदेशक-मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान)
तथा प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी (संस्कृत विभागाध्यक्ष)

प्रो. ब्रह्मदेव मिश्र (पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष–गोवा विश्वविद्यालय)
तथा प्रो. विनय सिंह (बी.एच.यू.) विचार व्यक्त करते हुए (बाएँ से)

हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. अवधेश सिंह, डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र तथा
रामसुधार सिंह विचार व्यक्त करते हुए (बाएँ से)

प्रो. श्रद्धा सिंह तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह विचार व्यक्त करते हुए

उपस्थित श्रोत्रागण

२७ जनवरी, २०१५ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'डॉ. राधाकृष्णन् सभागार' में आयोजित संगोष्ठी एवं
प्रो. श्रद्धा सिंह की पुस्तक 'आधी आबादी : सन्दर्भ एवं प्रसंग' के लोकार्पण कार्यक्रम के स्मृति-चित्र

'नमन' का विमोचन करते हुए प्रो. उषा किरण राय,
प्रो. रीता सिंह, प्रो. महेन्द्र नाथ राय,
प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी (कुलपति-बी.एच.यू.),
प्रो. चन्द्रकला त्रिपाठी, प्रो. बलिराज पाण्डे,
प्रो. श्रद्धा सिंह, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
तथा डॉ. नीरज खरे (दाएँ से क्रमशः)

प्रो. श्रद्धा सिंह की पुस्तक
'आधी आबादी : सन्दर्भ एवं प्रसंग'
का विमोचन करते हुए विद्वत्जन

विचार व्यक्त करते हुए
प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी
(कुलपति-बी.एच.यू.)
तथा प्रो. बलिराज पाण्डे
(हिन्दी विभागाध्यक्ष-बी.एच.यू.)

प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी को सम्मानित करते हुए
डॉ. दिनेश कुमार सिंह, प्रो. महेन्द्र नाथ राय,
प्रो. श्रद्धा सिंह एवं प्रो. बलिराज पाण्डे।

प्रो. रीता सिंह एवं प्रो. नीरज खरे विचार व्यक्त करते हुए।

प्रो. श्रद्धा सिंह एवं डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

संगोष्ठी में उपस्थित विद्वत् समुदाय।

बी.एच.यू. के 'डॉ. राधाकृष्णन् सभागार' में २७ जनवरी, २०१६ को 'कविता का संगीत' विषय पर आयोजित 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति व्याख्यान' के कतिपय छाया-चित्र

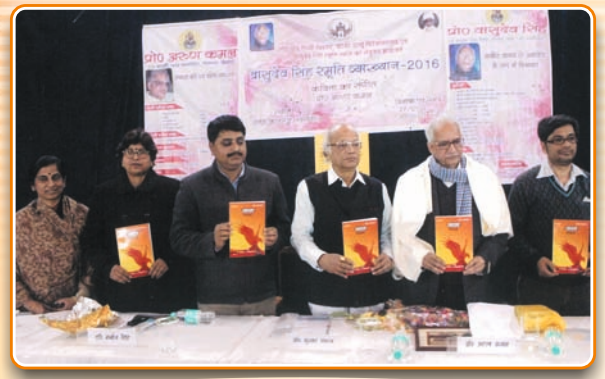

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए पद्मश्री प्रो. अरुण कमल (दाएँ से दूसरे), प्रो. आशीष त्रिपाठी, प्रो. कुमार पंकज (कला संकाय प्रमुख), प्रो. मनोज सिंह, प्रो. श्रद्धा सिंह तथा सुप्रसिद्ध गायिका डॉ. रेवती साकलकर।

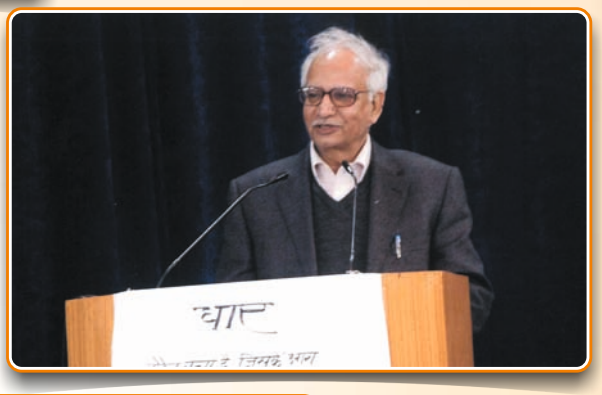

'कविता का संगीत' विषय पर बोलते हुए पद्मश्री प्रो. अरुण कमल।

विचार व्यक्त करते हुए प्रो. मनोज सिंह तथा प्रो. आशीष त्रिपाठी (बाएँ से)

प्रो. अरुण कमल को सम्मानित करते हुए प्रो. कुमार पंकज तथा पुष्प-गुच्छ प्रदान करते हुए श्री सुधांशु शेखर सिंह।

संगोष्ठी में उपस्थित प्रो. बलिराज पाण्डे,
प्रो. चम्पा सिंह, प्रो. सदानन्द शाही,
प्रो. अवधेश प्रधान, बास्केटवॉल की
राष्ट्रीय खिलाड़ी सोना चौधरी,
प्रो. अरुण कमल, प्रो. रामकली सराफ,
प्रो. श्रद्धा सिंह, डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र,
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा
आचार्य नरेन्द्र सिंह (बाएँ से क्रमशः)

प्रो. अरुण कमल के साथ डॉ. तरुण कुमार द्विवेदी,
श्री सुधांशु शेखर सिंह, डॉ. दिनेश कुमार सिंह,
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
श्री राजीव कुमार सिंह (दाएँ से क्रमशः)

प्रो. श्रद्धा सिंह, श्री सुधांशु शेखर सिंह तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह विचार व्यक्त करते हुए।

कार्यक्रम में उपस्थित सुधी श्रोतागण।

२७ जनवरी, २०१७ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'प्रेमचन्द सभागार' में 'कथा राम कै गूढ़' विषय पर आयोजित संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

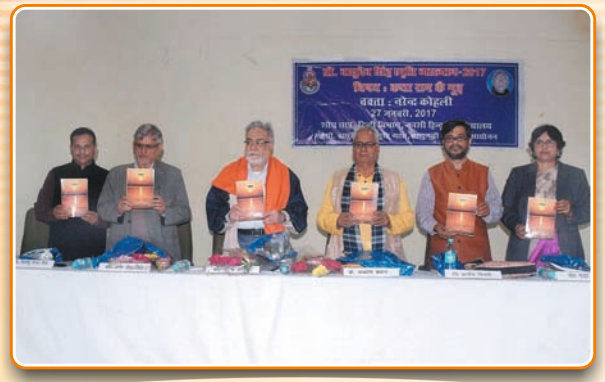

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए पद्मश्री प्रो. नरेन्द्र कोहली (बाएँ से तृतीय)। साथ में; डॉ. हिमांशु शेखर सिंह, प्रो. एम. के. सिंह (छात्र अधिष्ठाता), प्रो. अवधेश प्रधान, प्रो. आशीष त्रिपाठी तथा प्रो. श्रद्धा सिंह (बाएँ से क्रमशः)।

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह की पुस्तक **'तुलसीदास और विनय पत्रिका'** का विमोचन करते हुए।

मुख्य वक्ता के रूप में विचार व्यक्त करते हुए प्रख्यात् रामकथाकार प्रो. नरेन्द्र कोहली।

मंचासीन प्रो. आशीष त्रिपाठी, प्रो. अवधेश प्रधान, प्रो. नरेन्द्र कोहली (पद्मश्री), प्रो. एम. के. सिंह तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह (क्रमशः दाएँ से)

संगोष्ठी का दीप-प्रज्ज्वलन कर उद्घाटन करते हुए प्रो. नरेन्द्र कोहली, प्रो. अवधेश प्रधान, श्रीमती प्रेमलता सिंह तथा अन्य।

प्रो. नरेन्द्र कोहली को पुष्प-गुच्छ तथा स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित करते हुए डॉ. दिनेश कुमार सिंह तथा शोधार्थी देवी प्रसाद तिवारी।

विचार व्यक्त करते हुए प्रो. आशीष त्रिपाठी, प्रो. श्रद्धा सिंह एवं डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए संस्था के मंत्री डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा उपस्थित विद्वत्गण।

२७ जनवरी, २०१८ को म. गाँ. काशी विद्यापीठ में 'साहित्य और समाज का अन्त:सम्बन्ध' विषय पर आयोजित व्याख्यान एवं पुस्तक-लोकार्पण समारोह के छाया-चित्र

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए
प्रो. शिव कुमार मिश्र, प्रो. तीर्थेश्वर सिंह,
प्रो. पृथ्वीश नाग (कुलपति-म.गाँ. काशी विद्यापीठ),
डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र, डॉ. नीरजा माधव,
प्रो. श्रद्धा सिंह, प्रो. श्रद्धानन्द, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
तथा श्रीमती प्रेमलता सिंह (दाएँ से क्रमश:)

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह की पुस्तक
'भारतीय चिन्तन और कबीर'
का विमोचन करते हुए विद्वत्जन।

अध्यक्ष के रूप में विचार व्यक्त करते हुए
म. गाँ. काशी विद्यापीठ के कुलपति
प्रो. पृथ्वीश नाग।

मुख्य अतिथि
प्रो. तीर्थेश्वर सिंह
(अमर कंटक, म.प्र.) तथा
डॉ. नीरजा माधव
(कार्यक्रम निदेशक-
आकाशवाणी)
विचार व्यक्त करते हुए।

विचार व्यक्त करते हुए डॉ. जितेन्द्र नाथ मिश्र, प्रो. श्रद्धानन्द तथा डॉ. शिव कुमार मिश्र (बाएँ से)

प्रो. पृथ्वीश नाग को स्मृति-चिह्न तथा डॉ. नीरजा माधव को
पुष्प-गुच्छ प्रदान करते हुए डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा प्रो. श्रद्धा सिंह।

संचालन तथा धन्यवाद देते हुए क्रमशः प्रो. श्रद्धा सिंह तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह।

उपस्थित विशिष्ट श्रोतागण।

२७ जनवरी, २०१९ को बी.एच.यू. के 'प्रेमचन्द सभागार' में 'साहित्य और सिनेमा का अन्तर्सम्बन्ध' विषयक संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

प्रो. पुनीत बिसारिया
(बुंदेलखण्ड विश्वाविद्यालय, झाँसी)
मुख्य अतिथि के रूप में विचार व्यक्त करते हुए।

उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा
सेवा चयन बोर्ड के सदस्य
डॉ. हरेन्द्र राय विशिष्ट अतिथि के रूप में
विचार व्यक्त करते हुए।

प्रो. रामकली सराफ
(अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, बी.एच.यू.)
अध्यक्षीय उद्‌बोधन देते हुए।

विशिष्ट वक्ता के रूप में
विचार व्यक्त करते हुए
प्रो. प्रभाकर सिंह।

दीप–प्रज्ज्वलन कर कार्यक्रम का श्रीगणेश करते
प्रो. अनुराग दवे, डॉ. हरेन्द्र राय,
डॉ. आशीष त्रिपाठी, डॉ. प्रभाकर सिंह
एवं डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

विचार व्यक्त करते हुए क्रमशः
प्रो. अनुराग दवे, प्रो. आशीष त्रिपाठी
तथा प्रो. सुमन जैन (दाएँ से)

विचार व्यक्त करते प्रो. श्रद्धा सिंह एवं
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

संगोष्ठी में उपस्थित विशिष्टजनों एवं
सुधी श्रोताओं का समूह छाया–चित्र।

२७ जनवरी, २०२० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'डॉ. राधाकृष्णन् सभागार' में आयोजित
'काशी का संत साहित्य-समीक्षण एवं प्रो. वासुदेव सिंह' विषयक संगोष्ठी के स्मृति-चित्र

शोध-पत्रिका 'नमन' का विमोचन करते हुए
डॉ. उदय प्रताप सिंह, प्रो. टी. एन. सिंह,
श्रीमती प्रेमलता सिंह, डॉ. क्षमाशंकर पाण्डे,
प्रो. उमापति दीक्षित, प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह (लखनऊ)
तथा डॉ. हिमांशु शेखर सिंह (बाएँ से क्रमशः)

मुख्य अतिथि के रूप में विचार व्यक्त करते हुए
म. गाँ. काशी विद्यापीठ के कुलपति
प्रो. टी. एन. सिंह।

विचार व्यक्त करते हुए
हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयागराज)
के अध्यक्ष डॉ. उदय प्रताप सिंह।

विचार व्यक्त करते हुए
प्रो. ओम प्रकाश सिंह
(जे.एन.यू., दिल्ली)
तथा प्रो. उमापति दीक्षित
(केन्द्रीय हिन्दी संस्थान,
आगरा)

विचार व्यक्त करते हुए प्रो. सुरेन्द्र प्रताप तथा प्रो. मनोज सिंह (बाएँ से)

डॉ. क्षमाशंकर पाण्डे (प्रयागराज) तथा डॉ. राम सुधार सिंह (यू.पी.कॉलेज, वाराणसी) बोलते हुए (दाएँ से)

प्रो. उमापति दीक्षित को प्रो. श्रद्धा सिंह तथा प्रो. मनोज सिंह को श्री सुधांशु शेखर सिंह स्मृति-चिह्न प्रदान करते हुए।

धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा उपस्थित विद्वत्जन।

२७ जनवरी, २०२१ को महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के केन्द्रीय पुस्तकालय स्थित समिति कक्ष में आयोजित
'प्रो. वासुदेव सिंह का हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन : दृष्टि और सम्भावनाएँ'
विषयक एक दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी सह वेबिनार के स्मृति-चित्र

'नमन' का विमोचन करते हुए प्रो. अनुराग कुमार, प्रो. अवधेश सिंह, डॉ. उदय प्रताप सिंह, प्रो. टी. एन. सिंह, प्रो. उमापति दीक्षित, श्री पुरुषोत्तम कुमार, डॉ. क्षमाशंकर पाण्डे, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह (दाएँ से क्रमशः)

अध्यक्ष के रूप में विचार व्यक्त करते हुए म. गाँ. काशी विद्यापीठ के कुलपति प्रो. टी. एन. सिंह।

विचार व्यक्त करते हुए हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयागराज) के अध्यक्ष डॉ. उदय प्रताप सिंह तथा प्रो. उमापति दीक्षित (केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा)

विचार व्यक्त करते हुए क्रमशः
प्रो. अवधेश सिंह (पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष-काशी विद्यापीठ तथा विधायक-पिण्ड्रा विधानसभा) एवं प्रो. अनुराग कुमार (हिन्दी विभागाध्यक्ष-काशी विद्यापीठ)

प्रो. टी. एन. सिंह तथा डॉ. क्षमाशंकर पाण्डे को स्मृति-चिह्न प्रदान करते हुए
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह तथा श्री सुधांशु शेखर सिंह।

भारतीय सिन्धी परिषद के प्रतिनिधि श्री पुरुषोत्तम कुमार सुखवानी तथा श्रीमती ऊषा कुमार सुखवानी को
स्मृति-चिह्न एवं प्रो. श्रद्धानन्द को पुष्प-गुच्छ प्रदान करते हुए प्रो. श्रद्धा सिंह।

प्रो. श्रद्धा सिंह तथा
डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
अपनी बात रखते हुए।

संगोष्ठी में उपस्थित सुधी श्रोतागण।

२७ जनवरी, २०२२ को 'गूगल मीट ऐप' तथा 'फेसबुक लाइव' द्वारा

'स्वाधीनता-आन्दोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय'

विषय पर आयोजित वेबिनार के स्मृति-चित्र तथा मीडिया कवरेज

प्रो0 वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से उनकी 15वीं पुण्यतिथि पर ऑनलाइन संगोष्ठी सम्पन्न

हर बात भूपी

प्रयागराज। हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार, समीक्षक, शिक्षाविद, अनुसंधानकर्ता, इतिहासवेत्ता, कोशकार और भाष्यकार प्रो. वासुदेव सिंह की पन्द्रहवीं पुण्यतिथि पर प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से आयोजित संगोष्ठी 'स्वाधीनता आंदोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय' में बोलते हुए भारतीय जनसंचार संस्थान, नई दिल्ली के महानिदेशक प्रो. संजय द्विवेदी ने कहा कि हम आजाद भारत के एक ऐतिहासिक कालखंड से वाकिफ हो रहे हैं। आजादी के लिए हजारों भारतीय तपस्यारत रहे। आजादी का अमृत महोत्सव मनाना हमारे लिए गौरव का विषय है। पत्रकारिता दुनिया के सबसे पुराने कामों में से एक है। समाज में तीव्र परिवर्तन पत्रकारिता से ही सम्भव है। पत्रकारिता का उद्देश्य आम नागरिकों के हितों की रक्षा करना है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से ही मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इसलिए मीडिया की बदलते हुए विज्ञान के लोग देखते हैं। आज भूमण्डलीकरणी में पूरी दुनिया को बदल कर रख दिया है। मीडिया समय बदलाव का समय है। आज सकारात्मक खबरों की जरूरत है। सोशल मीडिया के दौर में सूचना और समाचार में अन्तर को हमें समझना पड़ेगा। सूचना पत्रकारिता नहीं है। उन्होंने पत्रकारिता के ऐतिहासिक पहलू पर भी प्रकाश डाला। वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव ने अपने उद्बोधन में कहा कि हर क्षण अपने समय का आकलन कर लेना चाहिए। सोशल मीडिया के बाजार पर भी है। सोशल मीडिया की प्रकृति अनियंत्रणीय है। पीस ट्रब्ल के इस दौर में पीस देखने की आ गए है, जिसका उपयोग करना हमें आना चाहिए। आज मुख्य मीडिया में एक बड़ा हिस्सा प्रायोजकीय और दूसरा हिस्सा विरोधकारित कर रहा है। मीडिया में सत्य प्रतिष्ठित होनी चाहिए। भारतीयों को बहुतायती और विविधताओं में जीने की आदत ही उसकी विशेषता है। राहुल देव ने भारत की कई पुरातियों को काटते हुए कहा कि हिन्दू-मुस्लिम, अगड़ा-पिछड़ा-दलित आदि विभाजनकारी देखते हैं। आज के भारत के प्रदेय से ही पत्रकारिता का प्रदेय तय होगा। प्रो. उमापति दीक्षित ने कहा कि स्वाधीनता आन्दोलन के समय पत्रकारिता अपने अमृत रूप में थी। पहले खबर को बताना पत्रकारिता थी, आज अपने अनुकूल खबर को बताना और दिखाना ही पत्रकारिता हो गई है। लेकिन सच एक ऐसा सिम्बोट है, जो बाहर आएगा ही। अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल के कुलपति प्रो. क्षेम सिंह डहेरिया ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि पत्रकारिता का जो सत्य स्वतंत्रता के पूर्व था, उसमें निरन्तर ह्रास ही रहा है। बाजारवाद के प्रभाव ने उसके आदर्श और नीतिक सत्यम की विकृत कर दिया है। आज मीडिया द्वारा चाय नहीं, चाय पर्दाय जा रहा है। पत्रकारिता कला पर बैठने और उतरने का माध्यम बनने लगी है। कार्यक्रम में प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास के सचिव डॉ. हिमांशु शेखर सिंह ने न्यास के कार्यों पर प्रकाश डाला। धन्यवाद ज्ञापन शुभांशु शेखर सिंह तथा संचालन प्रो. श्रद्धा सिंह और मानवेन्द्र प्रताप सिंह ने किया। इस अवसर पर पूर्वांचल केसर से सम्मानित वरिष्ठ पत्रकार 'नमन' का विमोचन भी किया गया। संगोष्ठी में प्रो. शिवप्रसाद शुक्ल, प्रो. भुवनेश सिंह, डॉ. किरण सिंह, डॉ. भारती सिंह, डॉ. संजय द्विवेदी, डॉ. रवीन्द्रनाथ उपाध्याय, डॉ. आलम खान, डॉ. प्रीति सिंह, पंकज कुमार यादव, डॉ. विष्णु प्रसाद शुक्ल, सूर्य नारायण सहित पत्रकारिता एवं हिन्दी साहित्य के प्रबुद्धजन और शोधछात्रों ने बड़ी संख्या में सहभागिता की।

प्रो. वासुदेव सिंह की 15 वीं पुण्यतिथि पर ऑनलाइन हुई संगोष्ठी

झूंसी (प्रयागराज)। हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार, समीक्षक, शिक्षक, इतिहासवेत्ता, कोशकार और भाष्यकार प्रोफेसर वासुदेव सिंह की पंद्रहवीं पुण्यतिथि के मौके पर प्रोफेसर वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से संगोष्ठी का आयोजन किया गया। स्वाधीनता आंदोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय विषय पर बोलते हुए भारतीय जनसंचार संस्थान नई दिल्ली के महानिदेशक प्रोफेसर संजय द्विवेदी ने कहा कि हम आजाद भारत के एक ऐतिहासिक कालखंड से वाकिफ हो रहे हैं। आजादी के लिए हजारों भारतीय तपस्यारत रहे। आजादी का अमृत महोत्सव मनाना हमारे लिए गौरव का विषय है।

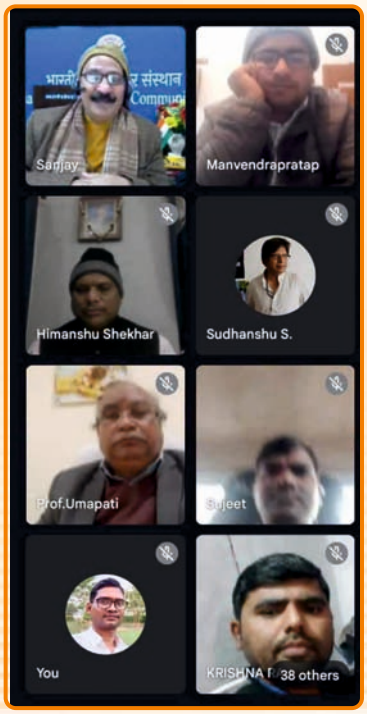

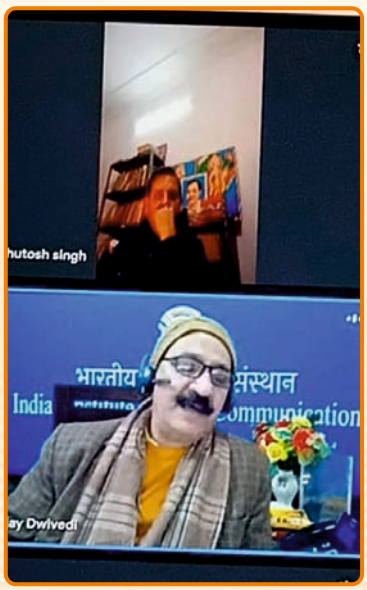

मीडिया में होनी चाहिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धा

झूंसी। हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकार प्रोफेसर वासुदेव सिंह की पंद्रहवीं पुण्यतिथि के मौके पर प्रोफेसर वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से संगोष्ठी का आयोजन किया गया। स्वाधीनता आंदोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय विषय पर भारतीय जनसंचार संस्थान नई दिल्ली के महानिदेशक प्रोफेसर संजय द्विवेदी ने कहा कि हम आजाद भारत के एक ऐतिहासिक कालखंड से वाकिफ हो रहे हैं। मीडिया में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होनी चाहिए।

वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव ने कहा कि हर क्षण अपने सफर का आकलन कर लेना चाहिए। सोशल मीडिया के स्याह पक्ष भी हैं। सोशल मीडिया की प्रवृत्ति अनियंत्रणीय है। पोस्ट ट्रूथ के इस युग में फैक्ट चेकर्स भी आ गए हैं, जिसका उपयोग करना हमें आना चाहिए। राहुल देव ने भारत की कई चुनौतियों को बताते हुए कहा कि हिन्दू-मुस्लिम, अगड़ा-पिछड़ा-दलित आदि विभाजनकारी रेखाएं हैं।

आज के भारत के प्रदेय से ही पत्रकारिता का प्रदेय तय होगा। प्रोफेसर उमापति दीक्षित ने कहा कि स्वाधीनता आंदोलन के समय पत्रकारिता अपने अमृत रूप में थी। पहले खबर को बताना पत्रकारिता थी। आज अपने अनुकूल खबर को बताना और छिपाना ही पत्रकारिता हो गई है। संवाद

समाज में परिवर्तन पत्रकारिता से ही संभव

प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से 15वीं पुण्यतिथि पर ऑनलाइन संगोष्ठी

वाराणसी (काशीवार्ता)। हिन्दी के सुप्रतिष्ठित साहित्यकार, समीक्षक, शिक्षक प्रो. वासुदेव सिंह की 15वीं पुण्यतिथि पर 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की ओर से आयोजित संगोष्ठी "स्वाधीनता आंदोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय" में बोलते हुए भारतीय जनसंचार संस्थान, नई दिल्ली के महानिदेशक प्रो. संजय द्विवेदी ने कहा कि हम आजाद भारत के एक ऐतिहासिक कालखण्ड से वाकिफ हो रहे हैं। आजादी का अमृत महोत्सव मनाना हमारे लिए गौरव का विषय है। पत्रकारिता दुनिया के सबसे पुराने कार्यों में से एक है। समाज में तीव्र परिवर्तन पत्रकारिता से ही सम्भव है। पत्रकारिता का उद्देश्य आम नागरिकों के हितों की रक्षा करना है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से ही मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इसीलिए मीडिया को बड़े विश्वास से लोग देखते हैं। वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव ने कहा कि हर क्षण अपने सफर का आकलन कर लेना चाहिए। सोशल मीडिया के स्याह पक्ष भी हैं। सोशल मीडिया की प्रवृत्ति अनियंत्रणीय है। पोस्ट ट्रूथ के इस युग में फैक्ट चेकर्स भी आ गए हैं, जिसका उपयोग करना हमें आना चाहिए। प्रो. उमापति दीक्षित ने कहा कि स्वाधीनता आन्दोलन के समय पत्रकारिता अपने अमृत रूप में थी। पहले खबर को बताना पत्रकारिता थी, आज अपने अनुकूल खबर को बताना और छिपाना ही पत्रकारिता हो गई है।

लेकिन सत्य एक ऐसा विस्फोट है, जो बाहर आएगा ही। आज मीडिया द्वारा सत्य नहीं, स्वाद परोसा जा रहा है। पत्रकारिता सत्ता पर बैठाने और उतारने का माध्यम बनने लगी है। कार्यक्रम में प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास के सचिव डॉ. हिमांशु शेखर सिंह ने न्यास के कार्यों पर प्रकाश डाला। स्वागत-भाषण श्री सुधांशु शेखर सिंह तथा संचालन प्रो. श्रद्धा सिंह और मानवेन्द्र प्रताप सिंह ने किया। इस अवसर पर यूजीसी केयर में शामिल शोध पत्रिका 'नमन' का विमोचन भी किया गया। संगोष्ठी में प्रो. शिवप्रसाद शुक्ला, प्रो. सुधाकर सिंह, डॉ. किरण सिंह, डॉ. भारती सिंह, डॉ. संध्या द्विवेदी, डॉ. वसुन्धरा उपाध्याय, डॉ. अलीम खान, डॉ. प्रीति सिंह व हिन्दी साहित्य के प्रबुद्धजन और शोधछात्रों ने बड़ी संख्या में सहभागिता की।

गाजीपुर में छत के मलबे में दबकर मजदूर की मौत, दो अन्य घायल

कासिमाबाद/गाजीपुर (काशीवार्ता)। सुकहा स्थित जूनियर हाईस्कूल के पुराना भवन ढहाने के दौरान छत के नीचे दबकर मजदूर की मौके पर ही मौत हो गई। घटना की सूचना मिलने पर पुलिस ने शव को कब्जे में लेकर पोस्टमार्टम के लिए भेज दिया। इस मामले को लेकर परिजनों ने सवाल उठाए हैं। साथ ही संबंधित के खिलाफ हत्या का मुकदमा दर्ज कराने की मांग की है। जूनियर हाई स्कूल के पुराने भवन को तोड़ने का काम तीन दिनों से चल रहा था। पूरा भवन टूट चुका था, केवल एक कमरा तोड़ना शेष था। बुधवार की शाम मजदूर रामअवध कन्नौजिया, शैलेंद्र कश्यप व यशवंत कश्यप निवासी बरौली सुलातान सिंह शादियाबाद छत पर जैसे ही चढ़े छत भरभराकर गिर गई, जिसमें दबकर रामअवध की मौके पर ही मौत हो गई। वहीं दोनों मजदूर शैलेंद्र कश्यप व यशवंत कश्यप घायल हो गए। राम अवध के बड़े भाई राम बचन कन्नौजिया लेखपाल और छोटे भाई राम प्यारे कनौजिया पूर्व प्रधान हैं। राम अवध दो पुत्र सौरभ, करन व एक पुत्री कंचन है। पिता झकड़ी कन्नौजिया, मां सुधा देवी व पत्नी मालती देवी का रो रोकर बुरा हाल हो गया था।

प्रो0 वासुदेव सिंह स्मृति न्यास की ओर से उनकी 15वीं पुण्यतिथि पर ऑनलाइन संगोष्ठी सम्पन्न

हर बात ब्यूरो

प्रयागराज। हिन्दी के सुप्रतिष्ठित साहित्यकार, समीक्षक, शिक्षक, अनुसंधायक, इतिहासवेत्ता, कोशकार और भाष्यकार प्रो. वासुदेव सिंह की पन्द्रहवी पुण्यतिथि पर 'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास' की ओर से आयोजित संगोष्ठी 'स्वाधीनता आंदोलन का अमृत महोत्सव और पत्रकारिता का प्रदेय' में बोलते हुए भारतीय जनसंचार संस्थान, नई दिल्ली के महानिदेशक प्रो. संजय द्विवेदी ने कहा कि हम आजाद भारत के एक ऐतिहासिक कालखण्ड से वाकिफ हो रहे है। आजादी के लिए हजारों भारतीय तपस्यारत रहे। आजादी का अमृत महोत्सव मनाना हमारे लिए गौरव का विषय है। पत्रकारिता दुनिया के सबसे पुराने कार्यों में से एक है। समाज में तीव्र परिवर्तन पत्रकारिता से ही सम्भव है। पत्रकारिता का उद्देश्य आम नागरिकों के हितों की रक्षा करना है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से ही मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इसीलिए मीडिया को बड़े विश्वास से लोग देखते है। आज सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरी दुनिया को बदल कर रख दिया है। मौजूदा समय बदलाव का समय है। आज सकारात्मक खबरों की जरूरत है। सोशल मीडिया के दौर में सूचना और समाचार में अन्तर को हमें समझना पड़ेगा। सूचना पत्रकारिता नही है। उन्होंने पत्रकारिता के ऐतिहासिक पहलू पर भी प्रकाश डाला। वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव ने अपने उद्बोधन में कहा कि हर क्षण अपने सफर का आकलन कर लेना चाहिए। सोशल मीडिया के स्याह पक्ष भी है। सोशल मीडिया की प्रवृत्ति अनियंत्रणीय है। पोस्ट ट्रूथ के इस युग मे फैक्ट चेकर्स भी आ गए है, जिसका उपयोग करना हमें आना चाहिए। आज मुख्य मीडिया में एक बड़ा हिस्सा प्रचारकारिता और दूसरा हिस्सा विरोधकारिता कर रहा है। मीडिया में स्वस्थ प्रतिद्वंद्विता होनी चाहिए। भारतीयों को बहुलताओं और विविधताओं में जीने की आदत ही उसकी विशिष्टता है। राहुल देव ने भारत की कई चुनौतियों को बताते हुए कहा कि हिन्दू-मुस्लिम, अगड़ा-पिछड़ा-दलित आदि विभाजनकारी रेखाएँ है। आज के भारत के प्रदेय से ही पत्रकारिता का प्रदेय तय होगा। प्रो. उमापति दीक्षित ने कहा कि स्वाधीनता आन्दोलन के समय पत्रकारिता अपने अमृत रूप मे थी। पहले खबर को बताना पत्रकारिता थी, आज अपने अनुकूल खबर को बताना और छिपाना ही पत्रकारिता हो गई है। लेकिन सत्य एक ऐसा विस्फोट है, जो बाहर आएगा ही। अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल के कुलपति प्रो. खेम सिंह डहेरिया ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि पत्रकारिता का जो स्वरूप स्वतंत्रता के पूर्व था, उसमें निरन्तर ह्रास हो रहा है। बाजारवाद के प्रभाव ने उसके आदर्श और मौलिक स्वरूप को विकृत कर दिया है। आज मीडिया द्वारा सत्य नही, स्वाद परोसा जा रहा है। पत्रकारिता सत्ता पर बैठाने और उतारने का माध्यम बनने लगी है। कार्यक्रम मे प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास के सचिव डॉ. हिमांशु शेखर सिंह ने न्यास के कार्यो पर प्रकाश डाला। स्वागत-भाषण सुधांशु शेखर सिंह तथा संचालन प्रो. श्रद्धा सिंह और मानवेन्द्र प्रताप सिंह ने किया। इस अवसर पर यूजीसी केयर मे शामिल शोध पत्रिका 'नमन' का विमोचन भी किया गया। संगोष्ठी मे प्रो. शिवप्रसाद शुक्ला, प्रो. सुधाकर सिंह, डॉ. किरण सिंह, डॉ. भारती सिंह, डॉ. संध्या द्विवेदी, डॉ. वसुन्धरा उपाध्याय, डॉ. अलीम खान, डॉ. प्रीति सिंह, पंकज कुमार यादव, डॉ. विष्णु प्रसाद शुक्ल, भूप नारायण सहित पत्रकारिता एवं हिन्दी साहित्य के प्रबुद्धजन और शोधछात्रों ने बड़ी संख्या में सहभागिता की।

प्रो० वासुदेव सिंह विरचित ग्रन्थ

प्रकाशक

प्रो० वासुदेव सिंह स्मृति न्यास

Design & Printed by : **DOT CREATION** # 9936171882